करुणापति त्रिपाठी
विजयशङ्कर मल्ल
बच्चन सिंह
शिवप्रसाद सिंह
व्रज विलास
वासुदेव सिंह

डॉ० शम्भु नाथ सिंह
व्यक्ति और स्रष्टा

डॉ० शम्भु नाथ सिंह स्वर्ण जयन्ती समारोह समिति

वर्तमान हिन्दी लेखकों की वह पीढ़ी जो १५-२० वर्षों पूर्व अत्यन्त विद्रोही और उग्रतावादी थी, अब प्रौढ़ होकर प्रतिरक्षात्मक बन गयी है और उसे एकदम नयी पीढ़ी के आक्रामक प्रयासों से बचने में ही अपनी सारी शक्ति लगानी पड़ रही है। उसी पीढ़ी के, किन्तु सब के साथ रह कर भी सब से अलग रहने वाले कवि डॉ॰ शम्भुनाथ सिंह के काव्य-व्यक्तित्व में ऐसी अनेक विशिष्टतायें है जिनके कारण वे उक्त प्रौढ़ पीढ़ी और वर्तमान नयी पीढ़ी के बीच सेतु बन गये हैं। उनके व्यक्तित्व और कृतियों का निष्पक्ष और सही मूल्यांकन करने के लिए ही प्रस्तुत ग्रन्थ 'डॉ॰ शम्भुनाथ सिंह व्यक्ति और स्रष्टा' का प्रकाशन हो रहा है। २९ अक्टूबर १९६७ को काशी में आयोजित डॉ॰ सिंह की स्वर्णजयन्ती के अवसर पर यह ग्रन्थ श्रीमती महादेवी वर्मा द्वारा उन्हें समर्पित किया गया था। किन्तु केवल इसी कारण इसे परम्परागत ढंग का अभिनन्दन ग्रन्थ समझना भ्रम होगा। इस ग्रन्थ का संयोजन व्यक्ति-पूजा की भावना से नहीं, साहित्यकार के व्यक्तित्व और कर्तृत्व के सम्यक् मूल्यांकन की दृष्टि से हुआ है। इसीलिए आधुनिक हिन्दी साहित्य के अध्येताओं और पाठकों के लिए इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक मूल्य है।

एक सूचना और। डॉ॰ शम्भुनाथ सिंह-स्वर्णजयन्ती समारोह-समिति ने काशी में एक 'अखिल भारतीय साहित्यकार-सहायता न्यास' स्थापित करने का निश्चय किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की समस्त आय उसी न्यास को देदी जायेगी।

स्वर्ण-जयन्ती समारोह की ओर
से

प्रो. रतनलाल शांत

को

सादर

राम चोर शर्मा
सह मंत्री
५-४-६२

अत
त्म
से
पी
क
वि
न
क
ड
२
स्व
उ
प
ग्र
के
इस
लि

स
सह
ग्र

डॉ० शम्भुनाथ सिंह : व्यक्ति और स्रष्टा

सम्पादक-मण्डल

•

करुणापति त्रिपाठी
विजयशंकर मल्ल
बच्चन सिंह
शिवप्रसाद सिंह
व्रजविलास
वासुदेव सिंह

प्रकाशक :
डॉ० शम्भुनाथ सिंह-स्वर्ण-जयन्ती-समारोह-समिति, वाराणसी
की ओर से
• वितरक
लोकभारती प्रकाशन
१५ ए, महात्मागान्धी मार्ग, इलाहाबाद

• स्थानीय वितरक
• समकालीन प्रकाशन,
सी० १४।१६० बी २ सत्याग्रह मार्ग, वाराणसी—२

प्रथम संस्करण :
१९६८
मूल्य : १५·००

मुद्रक :
न्यू किरण प्रेस,
जगतगंज, वाराणसी

हमारी दृष्टि

आज बड़े हर्ष और उत्साह के साथ हम यह ग्रंथ—"डॉ० शम्भुनाथ सिंह—व्यक्ति और स्रष्टा" उपस्थित कर रहे हैं। यह संकलन चार खण्डों में विभाजित है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर उनके अभिनन्दन-क्रम में इस ग्रन्थ की संरचना हुई है। उसी अवसर के अनुरूप इस ग्रन्थ के चारों खण्डों की योजना रखी गई है। प्रथम खण्ड का शीर्षक है 'मूल्यांकन'। इस खण्ड में शम्भुनाथ सिंह जी के साहित्य-सम्पृक्त कृतित्व और व्यक्तित्व को समझने का प्रयास किया गया है। उनकी साहित्यिक यात्रा के विकास की नमनीयता और युगानुकूल बोध की गतिशीलता किन सोपानों पर चढ़ती चली है—इसे समझने में इस ग्रंथ से पर्याप्त सहायता मिलेगी। साहित्य के नाना संदर्भों और साहित्यिक युग-बोध के विविध परिवेशों के विभिन्न चेतना-स्तरों का कैसा और कितना विकास श्री शम्भुनाथ सिंह में हुआ है—इसे निकटता के साथ देखने का इस खण्ड में प्रयास किया गया है जिससे उनकी कवित्व की शक्ति, युगचेतना-सम्पृक्त बोध के साथ 'स्व' को अनुकूलित और संवादी बनाये रखने की क्षमता, व्यक्तिगत प्रकृति और आचरण से प्रतिध्वनित साहित्य-सृष्टि की उन्मुखता, विकासगतिक चेतनाबोध, पूर्वाग्रह और मतवादीय आग्रह से दूरता आदि गुणों की जानकारी होगी और डॉ० शम्भुनाथ सिंह की उपलब्धियों और साहित्यिक अर्जना का कुछ व्यापक और गहराई के साथ परिचय मिल जायेगा। काव्य-रचना की विभिन्न रूप-शैलियों, धाराओं और स्तरों के समर्थ सर्जक होने के साथ-साथ वे किस सीमा और धरातल तक आलोचनात्मक प्रज्ञा से सम्पन्न हैं—इसका भी पता चल जायेगा। वे साहित्य की अनेक विधाओं और प्रकारों की सर्जन-प्रतिभा से सम्पन्न और समीक्षात्मक प्रेक्षा से आलोकमय होने के साथ-साथ गद्य और पद्य—उभयविध भाषा-शैली की रचना के समर्थ कलाकार भी हैं, इसे स्पष्ट करने का यहाँ प्रयास किया गया है।

दूसरा खण्ड उनकी पुस्तकों की समीक्षा से सम्बद्ध है। उनकी छायालोक, रूप-रश्मि, उदयाचल, रातरानी, मन्वन्तर, दिवालोक, माध्यम मैं, समय की शिला पर, खण्डित सेतु, छायावादयुग, हिन्दी महाकाव्य का

स्वरूप-विकास, प्रयोगवाद और नयी कविता आदि सर्जनात्मक और समालोचनात्मक पुस्तकों की इस खंड में समीक्षा की गई है। इस खण्ड की पुस्तक-समीक्षाओं से साहित्यकार के स्रष्टा और समालोचक, दोनों प्रकार के कृतित्व का आभास मिल जाता है। शम्भुनाथ सिंह के साहित्यकार व्यक्ति की उपलब्धि, अर्जना और विकासोन्मुख बोध को निकट से देखने का यहाँ अवसर मिलता है। इस खण्ड के लेखों से शम्भुनाथ जी की कारयित्री और भावयित्री--उभयविध प्रज्ञा को समझने में पाठकों को सहायता मिलेगी। निश्चय ही यदि उनके आलोचनात्मक और सर्जनात्मक ग्रन्थों का पाठक स्वयं अध्ययन करें तो उनके कृतित्व का अधिक स्पष्ट चित्र अंकित होगा। फिर भी इस खण्ड के समीक्षाकारों ने सारांश रूप में कृतिकार की उपलब्धि से अपने-अपने निबन्धों मे पाठकों को परिचित कराने का प्रयास किया है।

तीसरे खण्ड का शीर्षक है "व्यक्तित्व"। इस अंश के द्वारा लेखों के माध्यम से शम्भुनाथ सिंह के व्यक्तित्व का स्वरूप गढ़ने की चेष्टा हुई है। यह विवाद का विषय है कि साहित्यकार के कृतित्व पर उसके व्यक्तित्व और जीवन का स्पष्ट प्रभाव पड़ता है या नहीं। कलाकार का व्यक्तित्व एकरूपात्मक होता है या द्विरूपात्मक अर्थात् जीवन के आचार-विचार और व्यवहार के माध्यम से उनके बाह्य व्यक्तित्व की जैसी अभिव्यक्ति होती है, कला के माध्यम से वैसी ही अभिव्यक्ति उसके आन्तरिक व्यक्तित्व की भी होती है--यह निश्चित नहीं है। अनेक कलाकारों और साहित्यकारों के आचार-विचार और आहार-विहार के साथ उनकी कलाकृति, साहित्य-सृष्टि और लिखित पुस्तक के विविध पक्षों में पर्याप्त भेद, विसंगति और कभी-कभी गहरा विरोध भी दिखाई देता है। अत: व्यक्तित्व का परिचय सर्वदा कृतित्व के परिज्ञान में सहायक नहीं हो सकता। दूसरे प्रकार से यह भी कहा जा सकता है कि कृतित्व में कलाकार या ग्रंथ-निर्माता जिन सिद्धान्तों, आस्थाओं, मूल्यों और आदर्शों की प्रतिष्ठा करता है, स्वयं 'स्वजीवन' में उनको व्यवहार में पूर्णता के साथ संगत नहीं कर पाता। कलाकार की "डुयेल परसनालटी"--द्विरूपात्मक व्यक्तित्व--भी बड़े आग्रह के साथ समर्थित किया जाता है। इस संदर्भ में हम प्रसंग भाव से कहना चाहें तो कह सकते हैं कि लोक-व्यवहार के पथ पर चलने वाले मानव का सामान्यत: आचार और विचार पूर्णत: एक-सा नहीं होता। जो बहुत ऊंचा और महामानव या महात्मा है उसके कर्म, विचार और मन में एकरूपता होती है; या जो परम दुरात्मा और निकृष्ट कोटि के व्यक्ति होते हैं उनके बचन, कर्म और शायद

विचारों में एकरूपता होती हो। पर इन दोनों कोटि के मध्य वाले मानवों का व्यक्तित्व प्रायः और सामान्यतः--कम-से-कम व्यावहारिक जीवन में--द्विविध होता है। सामान्य व्यक्ति जो विचार करता है, उसकी जो आस्था होती है, उसके अनुसार वह कार्य कर नहीं पाता, चल नहीं पाता और विचार को कार्य में अनुसरित करने में असमर्थ रह जाता है। इस प्रकार कदाचित् सामान्य लोगों के सामाजिक और व्यावहारिक जीवन का व्यक्तित्व सामान्यतः आंशिक रूप में द्विरूपात्मक होता है। द्विरूपात्मक क्या, अनेक अवसरों पर सामाजिक मान्यताओं और औपचारिक आग्रह के कारण हमारा व्यक्तित्व त्रिरूपात्मक भी होता है। हम मन में सोचते और मानते कुछ हैं, मुख से कहते कुछ हैं, कभी-कभी मन की बात से भिन्न बात कहते हैं और आचरण में कुछ अन्य काम कर जाते हैं। इस प्रकार के त्रिविध या उससे अधिक विध व्यक्तित्व का दर्शन हम स्वयं अपने में भी, जागरूक रहने पर, कर सकते हैं। इतना सब कुछ कहने का आशय इतना ही है कि व्यक्तित्व और कृतित्व की विचार-मान्यताओं और आचरण-धाराओं में सर्वथा और सदैव अभेद नहीं रहता, पूर्णतः ऐक्य और तादात्म्य नहीं होता। फिर भी दोनों में अन्तर और कभी-कभी विरोध के रहने पर भी बहुत से स्थलों और अवसरों पर दोनों में अत्यन्त निकट की घनिष्ठता रहती है। इस कारण यदि मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का विवेक लेकर कलाकार या ग्रन्थकार के व्यक्तित्व और कृतित्व का सहसम्बद्ध अध्ययन किया जाय तो निश्चय ही परस्पर का प्रभाव और एक दूसरे में क्रिया-प्रतिक्रियाजन्य समरूपता बहुत से अंशों और पक्षों में दिखाई देगी। कलाकार के व्यक्तित्व और उसकी सर्जना में अनेक अंशों की विसंगति और विरोध के बावजूद संगति और साम्य दिखाई पड़ता है। इसी दृष्टि से व्यक्तित्व-सम्बद्ध खण्ड का अध्ययन डा० शम्भुनाथ सिंह की साहित्यकारमूर्ति का अधिक स्पष्ट दर्शन करने में सहायक हो सकता है।

चतुर्थ खण्ड में शम्भुनाथ सिंह की कतिपय प्रतिनिधि रचनाओं का संकलन किया गया है। इसमें सभी प्रकार की रचनायें नहीं आसकी हैं। बड़े ग्रंथों का भी संकलन यहाँ सम्भव नहीं था। फिर भी अनेकविध सर्जनात्मक और आलोचनात्मक एवं कृतिनिष्ठ निबन्ध का प्रतिनिधिपरक परिचय यहाँ मिल जाता है, विशेष रूप से डॉ० शम्भुनाथ की रचनात्मक प्रतिभा और कविरूप का सामान्य ज्ञान इस खंड से हो जाता है। उनके साहित्य-निर्माण को सामर्थ्य और शक्ति का अच्छा परिचय—पूर्ण न सही—कराने की यहाँ चेष्टा की गई है।

आज-कल अभिनंदन-ग्रन्थों का बहुत अधिक प्रचार हो गया है। बहुधा निहित-उद्देश्य या प्रचार की 'भावना से कतिपय निकट के व्यक्तियों द्वारा इस कोटि के ग्रन्थों का निर्माण होता है। पर यदि विशेष लोगों का वर्ग स्वार्थ-सिद्धि की भावना को लक्ष्य न बनाकर अभिनंदन-ग्रन्थों की योजना बनाये तो उसका समाज के निमित्त लाभकर परिणाम भी हो सकता है। ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में जिन विद्वानों, कलाकारों, अनुसंधायकों और शोधकर्ताओं ने अपने-अपने क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हुए नयी उपलब्धि समर्पित की है—अवश्य ही उनका अपने अपने क्षेत्र में महत्त्व होता है। जिज्ञासु और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में रुचि रखने वाले लोगों को उनका परिचय रुचिकर ही नहीं, ज्ञानवर्धक एवं सहायक भी होता है। जिन ग्रंथों में कृतिकार अथवा समाजसेवी की अर्जनाओं और आचारों का निष्पक्ष भाव से और यथार्थ रूप में—बढ़ा-चढ़ा अथवा अतिशयतापूर्ण नहीं—मूल्यांकन केवल वास्तविक परिचय के लिये दिया जाता है, निश्चय ही उनसे व्यक्ति का भी और कुछ अंशों में समाज का भी, लाभ ही होता है।

शोध-प्रबन्धों या आलोचना-ग्रन्थों में कृतिकार की समग्र रचनाओं एवं नाना पक्षों का बहुधा पूरा परिचय नहीं मिल पाता। पर इस प्रकार के ग्रन्थों से—जैसा आपके हाथों में हम उपस्थित कर रहे हैं—साहित्यकार के व्यक्तित्व और कृतित्वका अपेक्षाकृत व्यापक फलक पर अधिक स्पष्ट चित्र अंकित हो जाता है। कलाकार के जीवन की घटनाओं और चरित को जानने के साथ-साथ हम उसकी प्रतिभापरिधि एवं सर्जनात्मक उपलब्धि-स्तरों को अधिक निकटता से देख और समझ सकते हैं। इसी उद्देश्य से यहाँ विविध कोणों और विभिन्न दृष्टियों से रचनाकार के नानाविध कृतित्व का मूल्यांकन और विश्लेषण किया गया है। मित्रों और सुहृदों द्वारा आयोजित इस योजना में किसी प्रकार के प्रचार का लक्ष्य न होकर इतना ही उद्देश्य रहा है कि अपने एक साहित्यकार मित्र की उपलब्धियों का यथासम्भव सही मूल्यांकन करते हुए उसका अपेक्षाकृत व्यापक परिचय दिया जा सके। आशा है, हमारा उद्देश्य सफल होगा। साहित्यकार के व्यक्तित्व और कर्तृत्व की उपलब्धि के जिज्ञासु अनुशीलकों को तोषप्रदान करने में यह ग्रन्थ—व्यक्ति और स्रष्टा—समर्थ होगा।

—**करुणापति त्रिपाठी**

प्रकाशकीय

डॉ० शम्भुनाथ सिंह हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार हैं। वे न केवल नव नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के धनी कवि हैं, बल्कि आधुनिकतावादी नाटककार, सुधी समीक्षक और नयी कहानी के सर्जक भी हैं। युगीन सन्दर्भों से जीवन को जोड़कर साहित्य-रचना करने वालों में वे प्रथम पंक्ति के कवि हैं। विगत तीस वर्षों में उन्होंने साहित्यिक गुटबन्दियों से अलग हटकर अपनी प्रतिभा और मेधा के बल पर अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण किया है।

ऐसे निस्पृह और साधक साहित्यकार के ५१ वें वर्ष-प्रवेश के उपलक्ष्य में उनकी स्वर्ण जयन्ती के माध्यम से उनका समादर करना व्यक्ति शम्भुनाथ सिंह का नहीं, सरस्वती के उन सभी वरद पुत्रों का सम्मान करना है जो पूर्व युगों में इस प्रकार के सम्मान के योग्य थे और वर्तमान समय में भी इसके अधिकारी हैं। इसी उद्देश्य से २९-३० अक्तूबर, १९६७ को काशी में उनकी स्वर्ण-जयन्ती का द्विदिवसीय समारोह आयोजित किया गया था जिसकी अध्यक्षता हिन्दी के वयोवृद्ध साहित्यकार श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढब' बनारसी ने तथा उद्घाटन श्रीमती महादेवी वर्मा ने किया। उस अवसर पर महादेवी जी द्वारा श्री शम्भुनाथ सिंह को जो ग्रन्थ भेंट किया गया, प्रस्तुत ग्रन्थ उसी का परिष्कृत और परिवर्धित रूप है।

इस सम्बन्ध में यहाँ यह कह देना उचित होगा कि जो साहित्यकार अपनी साहित्यिक साधना के कारण सार्वजनिक रूप मे सम्मानार्ह हैं उन्हें उनका प्राप्य भागधेय न देना सामाजिक आलस्य का द्योतक है। हम इस पुण्य-कार्य को व्यक्तिपूजा नहीं, सामाजिक दायित्व मानते हैं।

१९ वीं शती में इस देश में धार्मिक पुनरुत्थान का वेग प्रबल था जिससे सुधारवादी आन्दोलनों ने समाज को जाग्रत किया। बीसवीं शताब्दी में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन समाज की नसों में प्राणशक्ति का संचार करते रहे। दुर्भाग्यवश स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद पुनर्जागरण और राष्ट्रीयता का उत्साह

प्राय: समाप्त हो गया और देश में सांस्कृतिक ह्रास और जीवनी शक्ति के दुरुपयोग—जन्य क्षय के लक्षण अधिक दिखलाई पड़ते हैं । ऐसी स्थिति में यह बहुत आवश्यक है कि समाज में पुन: प्राणशक्ति और लक्ष्य-निष्ठा उत्पन्न करने के प्रयत्न किए जाँय । पुनर्जागरण, धार्मिक आन्दोलन और राजनीतिक संघर्ष का उत्साह क्षीण हो जाने के कारण जो स्थिति उत्पन्न हो गयी है उसमें एकमात्र साहित्य, कला और संस्कृति के सूत्रों द्वारा ही देश की बिखरी शक्तियों को संग्रन्थित किया जा सकता है । साहित्यकार देश की विकासमान संस्कृति का पुरोधा होता है । अत: उसके कर्तृत्व का उचित मूल्याङ्कन तथा व्यक्तित्व का समादर भी ऐसे सांस्कृतिक कार्यक्रमों का अङ्ग होना चाहिए ।

प्रस्तुत ग्रन्थ—'डॉ० शम्भुनाथ सिंह : व्यक्ति और स्रष्टा' के प्रकाशन के पीछे भी यही उद्देश्य रहा है । इतने कम समय में इतना वृहद् ग्रन्थ प्रकाशित करके शम्भुनाथ सिंह को भेंट किया जा सका, यह हम लोगों के लिए सचमुच गहरे सन्तोष और गौरव की बात है । एक मास के भीतर ही इस ग्रन्थ के लिए लेखकों से लेख लिखवाने और ग्रन्थ छपवाने का कार्य सम्पन्न हुआ । इस कारण जो लेखक सहज उपलब्ध हो सके उन्हीं की रचनाएँ इसमें आ सकी हैं । अधिक समय मिलने पर हिन्दी जगत के अन्य वरिष्ठ और ख्यात समीक्षकों के निबन्ध प्राप्त होते, किन्तु समयाभाव के कारण हमें इस लाभ से वंचित रहना पड़ा । फिर भी जैसा और जिस रूप में यह ग्रन्थ आपके सम्मुख है, वह हमारी दृष्टि में किसी भी अर्थ में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है । इन लेखों के लेखक अधिकतर नयी पीढ़ी के ऐसे विद्वान हैं जिन्होंने शम्भुनाथ सिंह के जीवन को निकट से देखा है और उनके साहित्य का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया है । अत: उनके निबन्धों में औपचारिकता नहीं, ईमानदारी और सही मूल्याङ्कन है । हम अपनी ओर से भी इस ग्रन्थ को अभिनन्दन-ग्रन्थ या प्रशंसा-ग्रन्थ का रूप नहीं देना चाहते थे । हमारा लक्ष्य श्री शम्भुनाथ सिंह की स्वर्ण-जयन्ती के माध्यम से एक ऐसा आकलन-ग्रन्थ प्रस्तुत करना था जो उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर सही और पूर्ण प्रकाश डाल सकें । हमें इस बात का सन्तोष, हर्ष और गर्व है कि हमें अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई है । जिन विद्वान लेखकों ने इस ग्रन्थ के लिए इतने अल्प समय में कठिन श्रम करके महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखे हैं हम उनके अत्यन्त आभारी हैं । उनकी तत्परता और सहयोग के बिना यह कठिन कार्य किसी भी तरह पूर्ण नहीं हो सकता था । डा० शम्भुनाथ सिंह के प्रति उनकी सहृदयता और आस्था का ही यह परिणाम था कि यह वृहद् मूल्याङ्कन-ग्रन्थ पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है ।

जिन लोगों ने आर्थिक सहायता तथा शारीरिक श्रम द्वारा इस ग्रन्थ के प्रकाशन में योग दिया है, उन सबके प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

अन्त में, हम यह भी घोषित कर देना चाहते हैं कि डा० शम्भुनाथ सिंह की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर एक लाख रुपये का 'साहित्यकार-सहायता-न्यास' स्थापित करने का निश्चय किया गया है जिसका उद्देश्य समस्त भारतीय भाषाओं के असहाय पीड़ित एवं रुग्ण साहित्यकारों की सहायता करना है। प्रस्तुत ग्रन्थ की समस्त आय उसी न्यास को समर्पित की जायेगी।

राजाराम शास्त्री
अध्यक्ष

सागर सिंह
मंत्री

स्वर्ण-जयन्ती-समारोह-समिति

अनुक्रम

प्रथम खण्ड : मूल्यांकन

द्वितीय खण्ड : पुस्तक-समीक्षा

तृतीय खण्ड : व्यक्तित्व

चतुर्थ खण्ड : प्रतिनिधि रचनाएँ

कविताएँ

नाटक

कहानी

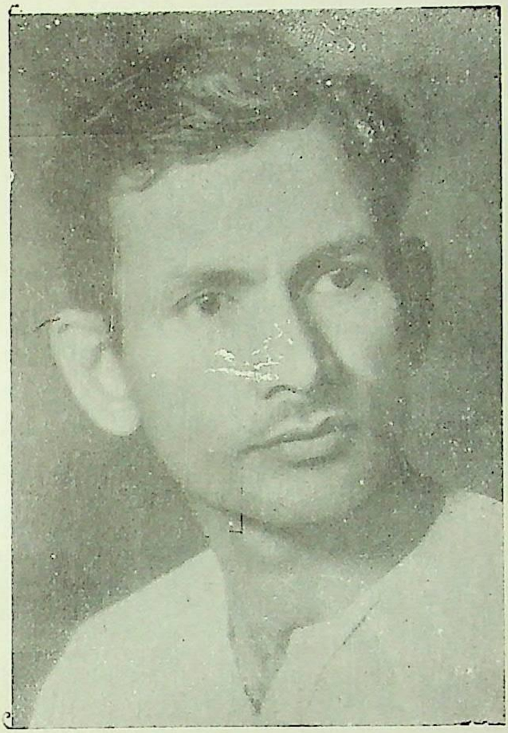
निबन्ध

परिशिष्ट

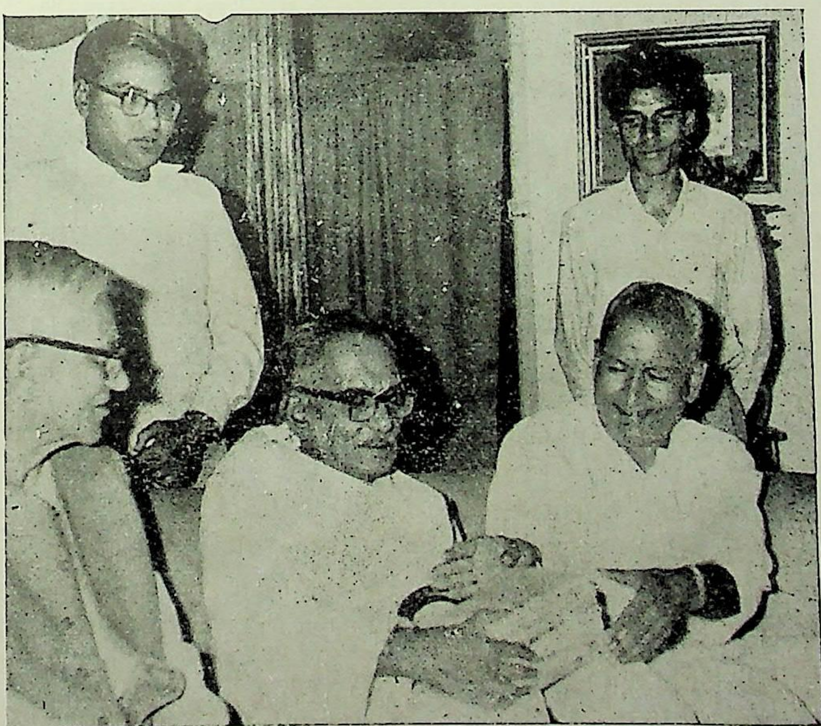
•

प्रथम खण्ड

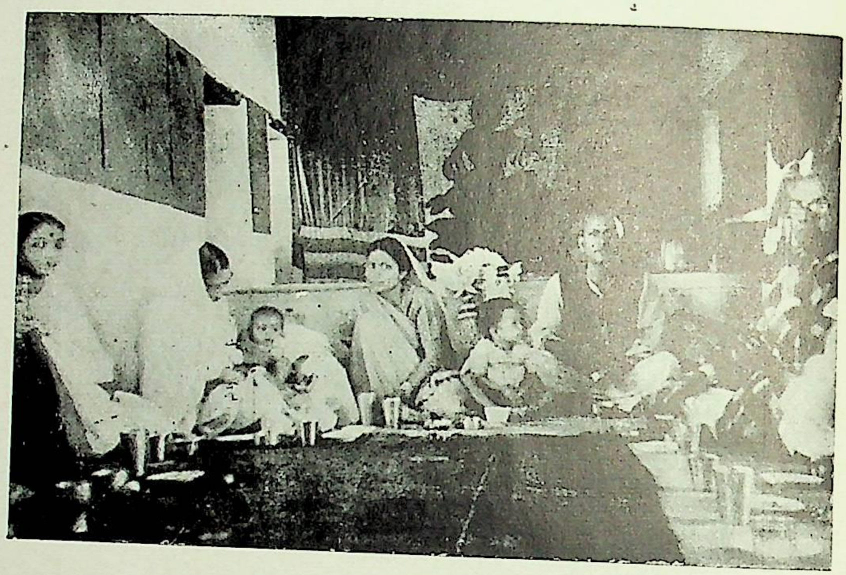
मूल्यांकन



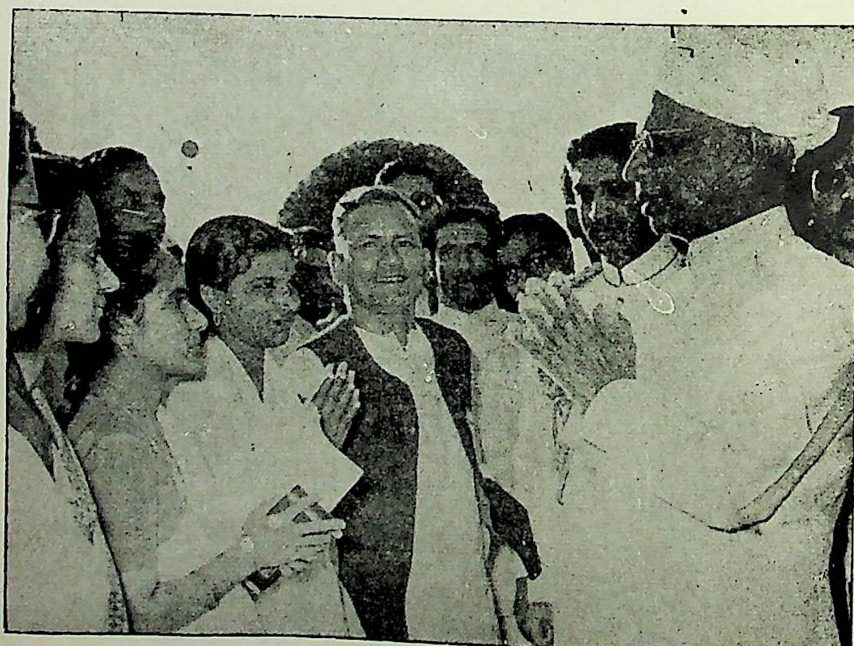
मेरे मन, ओ एकाकी मन !



डॉ० संपूर्णानन्दजी को ग्रंथ समर्पित करते हुए



ताकुला में महादेवी वर्मा के साथ सपरिवार



डॉ० राधाकृष्णन के साथ प्रसन्नमुद्रा में

शंभुनाथ सिंह की काव्य-यात्रा

●

डॉ० रामदरश मिश्र

शंभुनाथ सिंह की काव्य-यात्रा की सबसे बड़ी विशेषता है उनकी सतत् नवचेतना-ग्रहण-शीलता। वे उन काव्य यात्रियों से तो भिन्न हैं ही जो किसी एक विन्दु पर आकर ठहर जाते हैं और अपने द्वारा सर्जित मायालोक में मुग्ध भाव से विचरते हैं, अपने को दुहराते हैं, वे उनसे भी भिन्न हैं जो सदैव नये काव्य-फैशनों की दौड़ में आगे रहना चाहते हैं। शंभुनाथ सिंह ने निरन्तर युग की आवाज को पहचाना है, उसकी चेतना को अपने भीतर महसूस किया है और आत्मविश्लेषण की तीव्र ज्योति से अपने द्वारा निर्मित मायालोक को भंग किया है, एक संसार के बाद दूसरे संसार की रचना के लिये अपने पूर्ण रूप को अस्वीकार किया है तथा नयी शक्ति संचित की है। इस प्रकार अस्वीकार और स्वीकार के द्वन्द्व से गुजरने वाले कवि ने निरन्तर अपने को रचना की पीड़ा से अर्थवान किया है। शंभुनाथ सिंह में उनकी पीढ़ी के लोगों की तरह ठहराव नहीं आया और न उन्होंने प्रचार-प्रवाह में प्रवाहित फैशनेबुल ढंग से नवता का नया-नया तट छूने वालों की तरह अपने को अपने हाथ से छोड़ा ही। वे रचना की सार्थकता का हमेशा अनुभव करते रहे हैं।

शम्भुनाथ सिंह की काव्यगत उपलब्धियों की विवेचना करते समय उनकी काव्य-यात्रा के विविध सोपानों की लाया नहीं जा सकता। यद्यपि काव्य-यात्रा और काव्योपलब्धि दोनों दो वस्तुएँ हैं किन्तु वे एक दूसरे को समझने में सहायक हैं। कवि की काव्य-यात्रा की मुख्य तीन मंजिलें देखी जा सकती हैं:—(१) उत्तर छायावादी व्यक्तिपरक प्रेम गीत, (२) लम्बी प्रगतिवादी कविताएँ तथा सामाजिक संवेदना वाले गीत, (३) नयी कविता तथा उसके गीत।

उत्तर छायावादी व्यक्तिपरक प्रेम-गीत छायावाद की अस्पष्ट और मिश्रित प्रेम-संवेदना तथा दुरूह रहस्यात्मक शैली की प्रतिक्रिया में स्पष्ट, तीव्र, और खुले हुए प्रेम-संवेग तथा सरल, प्रत्यक्ष वेगवान अभिव्यक्ति लेकर उभरे थे। युवा हृदय अपने प्रेम और सौन्दर्य के अनुभवों और आवेगों को छिपाने, रहस्यात्मक रूप देने या आदर्शों का जामा पहनाने के स्थान पर उन्हें स्वच्छन्द रूप से गा

पड़ने की तड़प लिये आया था। इसलिए इस धारा के कवियों ने भाषा को अनावश्यक छद्मता, दुरूहता और आभिजात्य से आवृत न कर उसे सहज सरल रूप में पहचाना और अपनाया। कुछ हद तक उनकी भाषा लोकभाषा की ओर भी उन्मुख हुई। इस धारा के कवियों में बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, अंचल और शंभुनाथ सिंह के नाम विशिष्ट हैं। यदि शंभुनाथ सिंह को इस धारा के अन्य विशिष्ट कवियों की सापेक्षता में परखा जाय तो कुछ बातें अधिक साफ हो उठती हैं। जहाँ तक संवेदना का प्रश्न है इन सभी कवियों में प्रेम की, विशेषतया उसके विरह-जन्य दर्द की प्रधानता है। किन्तु बच्चन ने अपेक्षाकृत अन्य कवियों के जीवन के अन्य संदर्भों को भी लिया है, उनमें एक साथ स्वीकृति-अस्वीकृति, जिजीविषा और मृत्युबोध का ऐसा मिश्रित रूप मिलता है कि उनकी प्रेम संवेदना अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक व्यापक हो उठती है। निजी पीड़ा की अभिव्यक्ति के साथ-साथ इन चारों ने सामाजिक विसंगतियों पर चोटें भी की हैं। शंभुनाथ सिंह में सामाजिक चेतना, वैयक्तिक चेतन के समानान्तर वर्तमान थी और अब भी है। अन्य कवियों में यह बात कम मिलती है।

शंभुनाथ सिंह की प्रारम्भिक कविताओं में विशेषतया विरह और अभाव की तड़पन है। जगह-जगह मिलन की कल्पना की गयी है। विरह और मिलन का कोई प्रत्यक्ष या निश्चित आलंबन होता है, तब प्रेमी उसके साहचर्य्य में आकर उसके सौन्दर्य को उसके पूरे व्यक्तित्व के साथ संपृक्त करके देखता और अनुभव करता है, उसका अभाव उसके पूरे व्यक्तित्व का अभाव होता है और वह हृदय में बहुत गहराई और प्रामाणिकता से अनुभव की अनेक संश्लिष्ट रेखाएँ और बिम्ब उभारता है। अन्य कवियों के साथ शम्भुनाथ सिंह भी इन कविताओं में किसी निश्चित प्रेम-आलंबन के अभाव में हर सौन्दर्य के पीछे प्यासे-प्यासे भागते और फिर एक काल्पनिक मिलन की योजना कर लेते प्रतीत होते हैं। इसीलिए इन गीतों में प्रेम के अतिरेक के बावजूद प्रेम का कोई गहरा संश्लिष्ट और विशिष्ट बिम्ब नहीं उभर पाता। उसके बाद की कविताओं में प्रेम का वायवी नहीं, मांसल रूप उभर कर व्यक्त हुआ है। उदाहरण के लिए शम्भुनाथ सिंह का बहुचर्चित गीत 'किसी के रूप के बादल' लिया जा सकता है। पूरी कविता उत्तेजना के स्तर पर सर्जित है। या प्यार की प्रतिक्रिया सम्बन्धी कविता 'तुम्हारे प्यार के ये क्षण' ली जा सकती है। सौन्दर्य और प्यार किस प्रकार एक किशोर मन को मादक उत्तेजना से तथा एक मोहक 'इल्यूजन' से भर देता है, इसकी अनुगूंज इस कविता में है। उनकी कविताओं के विस्तार में इसी प्रवृत्ति की ऐसी कविताएँ भी देखी जा सकती हैं जिनमें

प्रकृति की मनोरम पृष्ठभूमि तथा प्रतीकों के द्वारा व्यापक और संश्लिष्ट स्मृति चित्र उभारे गये हैं—

भर गया सजल घन से नभ का सूना आँगन
सूने नयनों में उमड़ पड़े दो भरे नयन
बिजली बन चमके चपल चरण दो रागारुण,
रिमझिम बूँदों में बरस पड़ी पायल रुनझुन,
मृत मन को जिला गया सुधि का विषमय दंशन
रीते नयनों में ढुलक पड़े मधु भरे नयन।

कहीं-कहीं सुन्दर रूमानी बिम्ब उभरे हैं—

हैं झर रहे फूल बीते क्षणों के
तेरी चकित दृष्टि
करती सुधा वृष्टि
छिप कर घने कुंज में गत दिनों के।

कहीं-कहीं सुन्दर बिम्बों से या विरोधाभास की उक्तियों से मन के गहन रूमानी सत्यों की व्यंजना की गयी है—

तुम्हारे पास ज्यों-ज्यों आ रहा मैं
स्वयं से दूर होता जा रहा मैं
चलीं उद्दाम तुम निर्झर-लहर बन
गिरा तट पर खड़ा मेरा विटप मन
लता पर छूट वह मुझ से गयी क्यों
बने वरदान जिसके बाहु बन्धन
कहीं मुझको बहाती जा रही तुम
मगर निज को डुबोता जा रहा मैं

कहीं कहीं खुद बहुत परिचित और समर्थ लोक उपमानों के द्वारा प्यास और अतृप्ति की बहुत सुन्दर व्यंजना हुई है :—

धारा सी प्रीति बह रही।
बन कगार गीति रह रही

× × ×

बालू की भीत ढह रही
धारा सी प्रीति बह रही

कहीं प्रेम की तन्मयता और बेसुधी बहुत समर्थ रूप में व्यक्त हुई है :—

प्रिये प्राण में चांदनी छा रही है

वैसे देखा जाय तो शंभुनाथ सिंह के ये गीत इस धारा के तत्कालीन हिन्दी गीतों की सभी प्रवृत्तियों को थोड़ा बहुत समेटे हुए हैं जैसे रूप, प्रेम, व्यथा, निराशा के मुख्य स्वर के साथ कहीं कहीं काल्पनिक शौर्य भी उभरता है—

तुम्हें लहर पुकारती

कहीं निराशा में जिजीविषा का आरोपण है—

तुमने मानली क्या हार ?
जीवन का प्रलय पगचाप
प्रलयंकर बनो तुम आप
सोचा था सरल क्या काम
लेना सिन्धु उर को नाप

शंभुनाथ सिंह की उस काल की कविताओं में एक बहुत बड़ी विशेषता दिखाई पड़ती है जो बच्चन और नरेन्द्र शर्मा की तुलना में उन्हें विशिष्टता प्रदान करती है। वह है मर्यादित अभिव्यंजना, अनुभव औरभाषा, बिम्ब और पृष्ठभूमि सभी क्षेत्रों में। कहा जा सकता है कि शंभुनाथ के गीत इन अनेक कवियों की अपेक्षा अधिक परिमार्जित, अभिजात, संतुलित, शब्द-गुंफित तथा सम हैं। वे गीत की प्रकृति के अधिक समीप हैं तथा आकार में भी अपेक्षाकृत छोटे और कटे-छँटे हैं। उस सरलीकृत लोकोन्मुखता का उनमें अभाव है जिसके कारण बच्चन, नेपाली या नरेन्द्र शर्मा को उस समय अत्यधिक लोकप्रियता मिली थी। इसीलिए उन कवियों के तत्कालीन गीत एक समय में काफी रस, गूंज-अनुगूंज पैदा कर सकने के बावजूद आज के पाठकों को पकड़ नहीं पाते, उनमें विशिष्ट अनुभव-कोण नहीं उभार पाते। किन्तु शम्भुनाथ सिंह के प्रेम-गीत अपने भाव गाम्भीर्य तथा मर्यादित अभिव्यंजना के कारण आज भी गम्भीर काव्य-प्रेमियों के लिये ग्राह्य और सुधी समीक्षकों द्वारा मान्य हैं।

कवि के दूसरे चरण का प्रतिनिधि काव्य 'मन्वन्तर' है। मन्वन्तर की कविताओं की भूमिका 'उदयाचल' में ही बन चुकी थी। 'उदयाचल' की कविताओं में निराशा, विषाद और अभाव की ओर से आशा विश्वाश और शक्ति की ओर यात्रा लक्षित होती है। किन्तु यह विश्वास और शक्ति व्यक्तिगत सीमा में ही सीमित है। युग और समाज को बदल कर नये जीवन-मूल्यों की स्थापना 'मन्वंतर' की कवि-

ताओं का उद्देश्य है। कवि ने 'मन्वंतर' की भूमिका में यह घोषणा की है। कवि ने विषय के साथ-साथ छन्द को भी बदला है अर्थात् गीतों का छन्द छोड़ कर मुक्त छन्द को अपनाया है। कवि ने लोक-जीवन के व्यापक फलक पर सामान्य जनता के चित्र उतारने चाहे हैं, उसके प्रति अपनत्व दिखाया है, अपने गांव-घर, कल-कारखानों के संघर्षमय ममत्वशील जन-जीवन को उभारना चाहा है। युग के संदर्भ में उभरी हुई अनेक राजनीतिक विसंगतियों तथा जन-जीवन की विवशताओं, नये विश्वासों आदि को कवि ने व्यापक ढंग से चित्रित किया है। किन्तु कवि के ये प्रयास काव्यात्मक उपलब्धि की दृष्टि से तत्कालीन प्रगतिवादी कवियों के प्रचारात्मक प्रयास जैसे ही हैं। वे कविताएं अपनी रचनात्मक सार्थकता प्रमाणित करती हुई भी अपनी प्रचारात्मक, उद्बोधनात्मक, विवरणात्मक प्रवृत्ति के कारण तथा यथार्थ के गहरे स्तरों को बिम्बों के माध्यम से न उभार पाने के कारण अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकी हैं। कवि के इस धारा के लिखे गये कुछ गीत काव्यात्मक प्रभाव से 'मन्वंतर' की कविताओं से बेहतर लगते हैं। 'द्वार द्वार पर अमन्द यह दिया जले', 'कब तक तुम मौन रहोगे ओ जन देवता' 'उषा को करो नमन', आदि गीत इस दृष्टि से देखे जा सकते हैं।

वास्तव में कवि की काव्य-यात्रा की तीसरी मंजिल ही अधिक प्राणवान है। इसका कारण युग की विकसित दृष्टि और स्वयं कविकी निरंतर विकासशील शक्ति है। यह नयी कविता का युग है। इसने अनुभव की प्रामाणिकता और कृति के साहित्यिक व्यक्तित्व पर अधिक जोर दिया। यथार्थ का साक्षात्कार बौद्धिक दृष्टि, उत्तरदायित्व बोध और बिम्ब ग्रहण पर विशेष बल देने वाली नयी कविता ने सीधे जीवन से रस ग्रहण किया और अनेक आरोपित आदर्शों, मूल्यों, नैतिकताओं, विश्वासों को साहित्य की प्रकृति के बाहर की चीज मान कर अस्वीकार किया। इस प्रकार पहली बार यथार्थ इतने संश्लिष्ट और गहन रूप से परखा तथा उद्घाटित किया गया तथा जीवन-यातना के बीच से मूल्यों की खोज हुई और व्यक्ति की संवेदना तथा युगीन-सामाजिक परिवेश के सम्बन्धों को इतना महत्व दिया गया।

इस दौर में जहाँ ईमानदार कवि या सर्जक अपने परिवेश से जुड़े हुए अपने जीवन के अनुभव जगत को, नवीन चिन्तन और संबन्धों को, लोक-जीवन में फैले बिम्बों के माध्यम से स्वर देने के लिए आकुल है, वहीं दूसरी ओर फैशनपरस्त कवि आधुनिकता के नाम पर नकली संत्रास, मृत्यु-बोध और अतिरिक्त कुंठा को जटिल आकार देने के प्रयत्न में है। वे न तो अपनी दुनिया

से परिचित हैं न अपने परिवेश से। ऐसे 'फेक' कवियों के कारण नयी कविता अपनी रचनात्मक सार्थकता ही खो बैठती है। शंभुनाथ सिंह की नयी कविता और उनके नये गीत उनके अनुभव और चिन्तन के परिणाम हैं। शं नाथ की पीढ़ी के अन्य कवि, जो कई अन्य पिछले काव्य संस्कारों के कवि रह चुके हैं, या तो नयी कविता के समर्थक होकर उसके संस्कार को पा ही नहीं सके हैं या नयी कविता को बकवास समझ कर अपना पुराना राग ही अलाप रहे हैं। किन्तु शंभुनाथ सिंहने न केवल अपनी पिछली यात्राओं के काव्य-सौन्दर्य-भ्रम को तोड़ कर नयी कविता को स्वीकारा है वरन् उसे अनुभव और चिंतन के संस्कार में पचाया भी है। शंभुनाथ को इस बात का तीव्र अहसास है कि पिछली काव्य-यात्राएँ अपनी प्रकृति और उपलब्धि दोनों में बहुत महत्वपूर्ण नहीं रही हैं। इसीलिए वे इतनी ताजगी से नयी कविता को अपना सके हैं।

शंभुनाथ सिंह अपने नवीन काव्य को लोक जीवन के बीच प्रतिष्ठित करने में प्रयत्नशील रहे हैं। उन्होंने एक ओर (विशेषतया अपने गीतों में) ग्रामीण जीवन की संवेदना, परिवेश और स्वर से अपने काव्य को जीवंतता और आदिम गंध दी है, दूसरी ओर नगर-जीवन की यांत्रिकता, अकेलेपन और संत्रास को जटिल और बौद्धिक बिम्बों द्वारा उभारा है। इनमें से कोई भी अनुभव झूठा नहीं है। शंभुनाथ जैसे अनेक कवि हैं जो नगर और लोक दोनों के जीवन-अनुभवों के बीच से गुजरे हैं गुजर रहे हैं। कवि अपने को माध्यम मानता है उन अनेक सत्यों को व्यक्त करने का जो उसके परिवेश के हैं और जो उसके व्यक्तित्त्व में आकार पा रहे हैं। इस सत्य-यात्रा में वह कभी गाँव की संवेदना से, कभी शहर की संवेदना से, कभी अपने राष्ट्रीय सामाजिक परिवेश से, कभी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों और धारणाओं के बीच से गुजरता है। इसलिए कभी तो वह अपने अनुभवों में बने बिम्बों को उभार कर जीवन प्रस्तुत करता है, कभी प्रश्नों या धारणाओं को उभारने के लिए बिम्ब गढ़ता है।

ऊपर कहा गया है कि कवि शहर और गाँव दोनों की संवेदनाओं और परिवेश से जुड़ा हुआ है, अतः वह दोनों के जीवन-अनुभवों को रूप देने वाले बिम्बों से परिचित है। कवि ने अपने नये गीतों में इन दोनों जीवन-अनुभवों को बहुत सुन्दर बिम्बों द्वारा बड़ी संश्लिष्टता और सघनता से उभारा है। ये गीत कवि के पहले के गीतों की तरह उत्तेजना और भावुकता की अस्पष्ट स्पष्टता से निर्मित न होकर गहन अनुभवों, चिन्तन और दृष्टि की स्पष्ट सघन संश्लिष्टता से रचित हैं। कवि ने इनमें लोक-जीवन या लोक-परिवेश के साथ गहरा तादात्म्य स्थापित किया है; भाषा खुल कर अधिक व्यंजक हो गयी है:—

मन का आकाश उड़ा जा रहा
पुरवैया धीरे बहो
मैं वह पतझर जिसके ऊपर से
धूल भरी आँधियाँ गुजर गयीं
दिन का खंडहर जिसके माथे पर
अंधियारी साँझ की ठहर गयी
जीवन का साथ छुटा जा रहा
पुरवैया धीरे बहो

या

उस पार पहाड़ों के मेरा मन रहता है
जब दिन का गरुड़ पहाड़ों पर मँडराता है
काफलपक्कू सन्नाटे को दुहराता है
कच्चे पहाड़ सा मन दुहरा हो ढहता है

नगर जीवन की जटिल और विसंगतिपूर्ण स्थितियों-मनःस्थितियों के कुछ चित्र ये हैं :—

माथे पर लटक रही नंगी तलवार
झूलते हुए पुल के ऊपर हैं पाँव
जिन पर हैं टूटी जंजीरों के घाव
नंगे तन पर बीते कल का अखबार
एक हाथ में टूटा सदियों का शंख
एक में लिए लीला–कमल गंधहीन
कंधों पर मरे देवदूतों के देख
(तस्वीर)

अगणित पगध्वनियों की छाप यहाँ मुद्रित है
अनगिनत प्रतीक्षाएं बालू पर अङ्कित हैं
छूट गयीं इस सूने तट पर जो अनजाने
शाप ग्रस्त परियों सी भटक रहीं वे तानें
(जुहू तट पर आधी रात)

नगर बोध को भी इस कवि ने गीतों और नयी कविताओं दोनों में मुखर किया है किन्तु कवि ने इस बात का ध्यान रखा है कि गीतों के मूल में गीतात्मक

चेतना ही रहे। उसने गीतेतर कविता के कथ्य को गीत की वैसाखी पर खड़ा नहीं किया है जैसा कि कई नव-गीतवादी कर रहे हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि कवि ने अपने राष्ट्रीय सामाजिक परिवेश में यात्रा करते हुए अपने जीवन के अनुभूत संश्लिष्ट सत्यों को जीवन्त बिम्बों के माध्यम से चित्रित किया है। 'माध्यम मैं' की अधिकांश कविताएँ और 'खण्डित सेतु' की 'नीला समुद्र', 'पार्क से गुफा तक की एक यात्रा' आदि कविताएँ इस संदर्भ में देखी जा सकती हैं। कवि का बोध-क्षेत्र बहुत व्यापक है जो केवल अनुभव से ही नहीं बना है, बल्कि आधुनिक चिन्तन, धारणाओं और समस्याओं से भी बना है। जाहिर है, अपने परिवेश और अनुभव से निर्मित कविताएँ अधिक सजीव और विश्वसनीय होती हैं जबकि चिन्तन या धारणामूलक कविताएँ ठंढी और दुरूह हो जाती हैं। ये दोनों बातें शंभुनाथ जी की इन कविताओं में लक्षित होती हैं। जहाँ 'माध्यम मैं' में अधिक अनुभूतिप्रबल कविताएँ हैं वहाँ 'खंडित सेतु' में अधिक धारणामूलक। चिंतन प्रधान या धारणामूलक कविताएँ रचना की दृष्टि से सार्थक हैं या नहीं यह प्रश्न उठ सकता है। मेरा ख्याल है उन्हें सर्जन की सार्थकता से काटा नहीं जा सकता। आज के विचार जगत् में इतनी उथल-पुथल हो रही है कि हम उन्हें अपने संस्कारों से ग्रहण न करते हुए भी उनका अस्तित्व स्वीकार करते हैं और उन्हें व्यक्त करने के लिए हम बिम्ब या तो गढ़ते हैं या उनके सत्य के स्वरूप को समझाने वाली पुस्तकों से लेते हैं। स्पष्ट है कि अनुभव की आँच न पाकर ये गढ़े हुए या पुस्तकों से लिए गये बिम्ब संश्लिष्ट जीवन के स्थान पर जीवन के किसी बद्ध सत्य का उद्‌घाटन करते हैं। यही वजह है कि जब पश्चिम के कवियों द्वारा जीवन का भोगा हुआ यथार्थ व्यक्त किया जाता है तो प्रामाणिक और प्रभावशाली लगता है, किन्तु दूसरे प्रकार का जीवन जीते हुए भारतीय कवियों द्वारा जब वह यथार्थ लिया जाता है तब अप्रामाणिक, प्रभावहीन और फैशन लगता है। किन्तु कुछ 'कान्सेप्ट' ऐसे हैं जो भले ही भारतीय जीवन में उभर न सके हों किन्तु वे कान्सेप्ट के रूप में सार्वभौम हैं और आज का जागरूक कवि (चाहे वह कवि 'क' हो) इन्हें स्वीकार किये बिना रह नहीं सकता। शंभुनाथ सिंह अनुभवप्रवण कवि के साथ-साथ बहुत जागरूक कवि हैं, इसलिए उन्होंने आज के बहुत से विचारों तथा सिद्धान्तों को खुलकर लिया है तथा उन्हें व्यंजित करने के लिए उपयुक्त बिम्बों की रचना की है। जहां कहीं वे 'थाट इमेज' अनुभव का स्पर्श पा गये हैं वहाँ बहुत प्रभावशाली हो गये हैं जैसे एक कविता है 'कहीं नहीं'। यह एक 'थाट इमेज' है। किन्तु कवि ने इसे अनुभव-बिम्बों के द्वारा (गाड़ी के बिम्बों द्वारा) सजीव

रूप प्रदान किया है। इसी प्रकार 'मातृभाषा' शीर्षक कविता भी है। किन्तु जहाँ बिम्बों के बावजूद धारणाएँ अनुभवों के निकट जाती हैं वहाँ वे प्रधान होकर अपने को दुहराने लगती हैं और विस्तार में खो जाती हैं। 'प्रतिश्रुति' कविता का अन्तिम अंश इसी प्रकार का है। 'निकोलस रोरिक का चित्र देखकर' कविता आज की फैशनवादी परम्परा की एक कड़ी है। इस तरह की कविताएँ लिखने का रिवाज आधुनिक होने के तकाजे से पूरा करता है। एक गाय की वसीयत, तीन सुरंगें जैसी कविताएँ शुद्ध रूप से धारणात्मक हैं।

शंभुनाथ सिंह मूलत: सौन्दर्य और अनुभव के कवि हैं। इसीलिए उनकी कविताओं की रचनात्मक उपलब्धि इन्हीं कविताओं में खोजी जा सकती है। नयी कविता-काल में इनकी सौन्दर्यवादी कविताएँ अधिक गहरे अनुभवों, चिंतन और परिवेश से जुड़ कर अधिक प्राणवान और मूर्त हुई हैं। वास्तव में शंभुनाथ का वैशिष्ट्य इन्हीं कृतियों में है। उनकी कुछ अनास्थामूलक कविताएँ भीड़ में खो जाती हैं, किन्तु अनुभव, सौन्दर्य वाली कविताएँ उन्हें भीड़ से अलगाती हैं और पाठकों के अनुभव को समृद्ध करती हुई सौन्दर्यबोध को तृप्त करती हुई तथा अनुभव सौन्दर्य के माध्यम से विचारों को उत्तेजित करती हुई अपनी पूर्ण रचनात्मक सार्थकता प्रदर्शित करती हैं। 'पलाश वन', 'वन—एक दर्पण', 'नया जन्म', 'जुहू तट परआधीरात', 'ज्वालामुखी में एक दिन', 'डल झील की शाम', आदि कविताएँ इस सन्दर्भ में देखी जा सकती हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान देने की है कि अनुभवप्रवण कविताओं की भाषा और बिम्बों में घनत्व के साथ खुलापन है जबकि शुद्ध धारणामूलक कविताओं की भाषा और बिम्ब दुरूहता की सृष्टि करते हैं। 'नयी कविता' के कवियों में शंभुनाथ सिंह का विशिष्ट स्थान है और वह इसीलिए है कि उन्होंने आज के जीवन के जटिल, गहरे अनुभवों और चिंतन से संश्लिष्ट सौन्दर्य-बोध को समृद्ध किया है।

बदलती स्थितियों के बीच कवि शंभुनाथ सिंह

•

डॉ० शिवप्रसाद सिंह

शंभुनाथ सिंह का व्यक्तित्व असामान्य गरिमामय न होते हुए भी अपनी कुछ विशेषताओं के कारण मुझे हमेशा आकृष्ट करता रहा है। उनके साथ बैठ कर बातें करना अच्छा लगता है। कारण शायद यह कि शंभुनाथ के भीतर वे आदतें बिल्कुल नहीं हैं जिनके चलते बहुत से लोग अपने व्यक्तित्व को दूसरों पर थोपने का प्रयत्न करते रहते हैं। वे इस अर्थ में काफी आधुनिक आदमी हैं। अपने से बड़े और समवयस्कों के साथ ही नहीं, बल्कि अपने से उम्र में छोटे लोगों के साथ भी वे इस तरह तादात्म्य प्राप्त कर लेते हैं कि उनका अलग व्यक्तित्व झलकता ही नहीं। इस अद्भुत गुण के कारण वे पुरानी और नई दोनों ही पीढ़ियों के बीच समान भाव से संतुलन बनाये रखते हैं।

शंभुनाथ जी के साहित्यिक विकास को मैं पिछले बीस वर्षों से नजदीक से देखता रहा हूँ। गीतकार से नई कविता के कृति और व्याख्याता तक, स्फुट सामयिक टिप्पणियों के लेखक से साहित्येतिहासकार तक, भावुक छायावादी कथाकार से आधुनिक टोन के नाटककार और कथाकार तक उन्होंने कई मंजिलें पार की हैं। बहुधा उनकी नई कविता, आलोचना, नई या सामयिक कहानियां यानी उनके निकटतम अतीत के समूचे साहित्य के बारे में यह शंका उठाई जाती है कि यह नया किन अर्थों में है और कितना है? मैं इस तरह की शंका को महत्व नहीं देता। साहित्य की उच्चता के मापक अनेक मानदण्ड होते हैं, सिर्फ आधुनिकता ही नहीं। मैं तो शंभुनाथ जी की उस शक्ति और क्षमता की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूं जो पुरानी पड़ कर भी पुरानी पड़ना नहीं जानती, जो पिछड़ कर भी नहीं पिछड़ती और जो उनके व्यक्तित्व में "शनैः-शनैः वार्धक्यं कृतं पदं" के तथ्य को निरन्तर झुठलाती रहती है। शंभुनाथ जी के भीतर व्यक्तित्व की यह नमनीयता उस शक्ति की जननी है जो उन्हें निरन्तर समय के प्रत्येक पदनिक्षेप के साथ पैर मिला कर चलने का संबल प्रदान करती है।

जिन दिनों मेरा उनसे परिचय हुआ, वे 'समय की शिला पर मधुर चित्र

कितने' वाली कविता के प्रसिद्ध गीतकार के रूप में जाने जाते थे। और आज शंभुनाथ जी "वे यात्राएं करने लगे हैं जिनसे लौटने के बाद शक्लें बदल जाती हैं।" पर मुझे इस तरह का भ्रम नहीं होता। मैं शंभुनाथ जी के पूरे अविच्छिन्न विकास को देख पाता हूं। बदलती स्थितियों के बीच भी उनमें कुछ ऐसा है जो नहीं बदलता। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्हें वर्षों बाद भी देखिये तो विश्वास न होगा कि यह आदमी बदल गया है। ऐसा सान्द्र आत्मीयता भाव बहुत कम व्यक्तियों में इस तरह बरकरार रह पाता है।

उनके व्यक्तित्व में, जो जितना परिचित १९४७ में लगता था, उतना ही परिचित १९६७ में भी और इसमें तो कोई शक ही नहीं कि कथ्य और शैली शिल्प दोनों में शंभुनाथ जी के दो दशक पहले और आज के लिखे साहित्य में बहुत अन्तर है; तो भी वह कौन सी चीज है जो इन प्रत्यक्ष लक्षित अन्तरों और भेदों के भीतर अन्तःसलिला की तरह प्रवाहित है और जो बाह्य उपलक्षणों के पूर्णतः बदल जाने पर भी भीतर की एकतानता और तारतम्यता को बनाये हुए है। वह चीज है कवि की रागात्मकता। शं नाथ जी आधुनिक परिस्थितियों म बौद्धिक होने का जितना भी प्रयत्न करें, (उन्होंने किया है और उसका परिणाम, सुष्ठु परिणाम, उनकी थीसिस, लेखों और वैचारिक समीक्षाओं आदि में दिखाई पड़ता है) पर उनके मानस की मूल प्रवृत्ति रागात्मक ही है और बौद्धिक क्रियाकलापों तथा आधुनिकतावादी गतिविधियों में श्रेय प्राप्ति के बावजूद, उनका जो कुछ भी प्रभावशाली और स्वीकार्य है वह उसी रागात्मक प्रवृत्ति का नाना रूपों में स्फुरण है, इसमें सन्देह नहीं।

उनकी रागात्मक प्रवृत्ति भावुकता का पर्याय पहले भी न थी और आज भी नहीं है। उन्होंने निरन्तर, कभी जाने कभी अनजाने, इस प्रवृत्ति को सामयिक परिवेश और बौद्धिक मतवादों के भार से धीर-गम्भीर बनाने और मर्यादित रखने का प्रयत्न किया है। मैंने पहले कहा कि व्यक्तित्व की नमनीयता शंभुनाथ जी का बड़ा गुण है। वे इसके कारण निरन्तर अपने को बदली हुई परिस्थितियों में ढाल लेने में समर्थ होते हैं। वे नई चर्चित चीजें पढ़ने, अपनी ही रचनाओं की प्रतिकूल समीक्षाएं सुनने, तथा जल्दी स्वीकृति न पाने की खीझ से अपने को बचाये हुए परिवर्तित माहौल को पूरी तरह आत्मसात् करने में कभी भी आलस्य का अनुभव नहीं करते। उनकी यह निष्ठा और टेक उन्हें समय से कभी पिछड़ने नहीं देती। इसी कारण उनकी रागात्मिका वृत्ति भावुकता का शिकार नहीं हो सकी। "समय की शिला पर" की कविताओं में छायावादी रंगीनी थी, मधु था, राग और स्वर की मादकता थी, वायवी जगत् का इन्द्रजाल था, पर

अपरस भावों की वह बिछलन नहीं थी जिसपर उनके अनेक समसामयिक कवि फिसल कर महाधारा के पेट में समा गये। उस समय भी शंभुनाथ को याद था कि कठोर शिला पर लिखे मधुरतम चित्र भी मिटाये जाते हैं, सम्पूर्ण व्यथा को प्रकट करने वाले आँसू सिर्फ दो बूंद बन कर रह जाते हैं। इसीलिए उस भावभीनी किरण बेला में भी कवि को धरती की वास्तविकताएँ भूली नहीं। छायावादी दौर बीता तो प्रगतिवाद के मशाल-फूल चतुर्दिक खिल उठे। प्रगतिवाद के इस नये दौर में भी शंभुनाथ जी की रागात्मिका वृत्ति ही प्रधान रही। यह सही है कि 'उदयाचल', 'मन्वन्तर' तथा तत्कालीन अन्य संग्रहों में उनकी ऐसी भी कविताएँ मिल जायेंगी जो उपदेशात्मक भी नारेबाजी का शिकार हो गई हैं; पर शंभुनाथ जी की प्रगतिशील कविताओं में भी बदली हुई रागात्मिकता प्रधानता है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। बीच के अर्से में जब प्रयोगवादी दौर चला शंभुनाथ जी मौन हो गये। आज उसको वे 'फिलसोफाइज़', करते हुए भले कहें कि प्रयोगवाद ने अपील नहीं किया; पर सत्य है कि प्रगतिवादी युग के शंभुनाथ प्रयोगवाद के साथ घिसट न सके। यदि वे चुप रह जाते तो मानना पड़ता कि अब तक ऊपर मैंने उनकी जिन खूबियों की चर्चा की है, वे उनमें न थीं। पर शंभुनाथ की नमनीयता और निष्ठा इतने शीघ्र समाप्त होने वाली न थी। यह सही है कि नये मोड़ ने उन्हें करारा झटका दिया, कुछ क्षणों के लिए वे छिटक कर अलग जैसे भी हो गये; पर एक बार उन्होंने फिर कमर कसी और नई कविता के मोड़ पर आते आते वे फिर महायान पर सवार दिखाई पड़े। इसे मैं उनकी अप्रतिम जिजीविसा मानता हूँ और उनके व्यक्तित्व के इस गुण की कद्र करता हूँ।

शंम्भुनाथ जी के रचना विकास की उपर्युक्त रेखा ज्यादा साफ और सही ढंग से उनकी काव्यालोचनाओं को समानान्तर रखकर समझी जा सकती है। 'छायावाद युग' तथा 'प्रयोगवाद और नई कविता,' ये दो पुस्तकें उनके काव्ययात्रा की साक्षी हैं। साक्षी उस रूप में नहीं कि ये पुस्तकें छायावाद और छायावादोत्तर आधुनिक हिन्दी कविता की क्रान्तिकारी व्याख्याएँ हैं, बल्कि इस अर्थ में कि छायावाद से नई कविता तक पहुँचने के प्रयत्न में शंभुनाथ जी ने कितना पढ़ा सीखा और दिया है। इन अध्ययनों की राशि में छिपी एक बात का बहुत महत्व है। शंभुनाथ जी नये से नये दौर में दाखिल होते रहे पर कुछ ऐसा उनके भीतर भी था जो कहीं भी बेखबर नहीं था और अपनी इसी बद्धमूल प्रवृत्ति के कारण वे हर दौर में गुजरते वक्त कहीं भी अतिवादिता के शिकार नहीं हुए। छायावादोत्तर रोमानी कवि थे पर पिच्छल नहीं बने, वे प्रगतिवादी

थे पर झंडाबरदार नहीं हुए, अग्निरस का स्वाद तो लिया पर मशाल नहीं उठाया, प्रयोग किये; पर मैनेरिज्म से बचे रहे, नई कविता लिखी सही; पर नग्नता, सेक्स और फूहड़पन को स्वीकार नहीं किया। मैं नहीं जानता कि उनके भीतर इन अतिवादी छोरों से बचने की कोई चेतना विद्यमान रही है या नहीं। शायद जागरूक भाव से नहीं ही। यह उनके उसी व्यक्तित्व का नतीजा है जो नमनीयता, जिजीविषा के साथ संस्कारिता को भी लिए हुए चलता है। यह चेतना उसी की स्वाभाविक-सहज प्रवृत्ति है।

उनके व्यक्तित्व के ये गुण उनके साहित्यलेखन से भिन्न क्षेत्रों में भी अपना विस्तार उसी प्रकार करते दिखाई पड़ते हैं। शंभुनाथ सिंह ने एक गीत में लिखा है :—

> चल रहा सुनसान पथ पर मैं अकेला,
> छोड़ पीछे आ रहा रंगीन मेला !

ऐसी झूठी पंक्तियां मैंने आजतक नहीं देखीं। शम्भुनाथ जी अकेले रहने वाले आदमी हैं ही नहीं। अकेलापन उनके कमरे में और कभी कभार मन में जरूर रहता होगा, क्योंकि वे लिखने-पढ़ने वाले आदमी हैं; पर जीवन में वे मेले के बीच चलने वाले 'शोशल' व्यक्ति हैं। सिर्फ 'सोशल' ही, नहीं आवश्यक मौकों पर संगठन करने वाले, स्वयं उत्साह मय और दूसरों को उत्साह देने वाले भी। इसी कारण चीनी आक्रमण के दिनों में उनकी भूमिका दूसरे तथाकथित आधुनिकों से बिलकुल भिन्न रही। उन्होंने जनचेतना गोष्ठी में सक्रिय भाग लिया। यह सिर्फ एक उदाहरण है। वस्तुतः शंभुनाथ जी का व्यक्तित्व अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों से निरन्तर समृद्ध होता रहा है और वे अपनी सामाजिकता से कभी भी उदासीन नहीं हुए।

आज वे पचास वर्ष के हो गये, ऐसा विश्वास नहीं होता; पर जब सब लोग कहते हैं तो जरूर ही हुए होंगे। मैं उनके चिरायु होने की शुभकामना करता हूँ।

——

निजीपन की निरन्तर खोज के कवि

विजयमोहन सिंह

सामान्यतः किसी भी रचनाकार के विकास की 'स्थितियाँ' नियत रहती हैं। वह प्रायः स्थितियों के इस क्रम को थोड़ा-बहुत ही भंग कर पाता है या कभी-कभी स्थितियों का यह क्रम तब पूरी तरह भंग हो पाता है जब वह (रचनाकार) सहसा किसी दूसरी विधा में प्रवेश कर पाता है। कम से कम आधुनिक कविता के इतिहास में इने-गिने कवि ही ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपने सम्बन्ध में की गई समस्त घोषणाओं के बाहर जाकर 'नियत स्थितियों' के इस क्रम को पूरी तरह छिन्न-भिन्न कर दिया है : डब्लू० बी० ईट्स इस संदर्भ में सबसे पहले आता है। कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था (स्वयं ईट्स भी नहीं—शायद इसीलिए वह रहस्य और चमत्कारों में विश्वास करने लगा था) कि एक औसत रोमैंटिक कवि अचानक अपने उत्तरार्द्ध में पूरी शताब्दी का प्रतिनिधि कवि बन जायेगा। आधुनिक समीक्षा जैसे-जैसे 'रिव्यू' से मूल्यांकन की ओर बढ़ती गई वैसे-वैसे ईट्स का महत्व भी बढ़ता गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इसी के समानान्तर टी० एस० ईलियट का महत्व घटता गया।

पाल वेलरी भी एक ऐसा ही कवि रहा होगा जो १५–२० वर्षों तक कविता लिखना छोड़ कर 'सिमेट्री बाई दी सी' का इन्तजार करता रहा और जब यह लम्बी कविता लिखी गई तो वेलरी के अत्यंत निकटस्थ व्यक्तियों आन्दे जीद आदि ने भी अपरिचय से चमत्कृत होकर उसे देखा। प्रतीकवादी आन्दोलन की चाहे सभी कवितायें भुला दी जायें, पर 'सिमेट्री बाई दी सी' को शायद न भुलाया जा सके।

तमाम 'गुलाबों' से अपने को सजाने के बाद अंत में 'रिल्के' ने 'दूनो एलजिज' लिखी तब भी लोग इसी तरह चमत्कृत हुए थे। केवल अंग्रेजी कविता के द्वारा रुचि भ्रष्ट किये हिन्दी पाठकों को शायद 'दूनो एलजिज' का महत्व उतना न समझ में आये पर स्वयं अंग्रेजी कविता के सभी पाठक और आलोचक अच्छी तरह जानते हैं कि 'दूनो एलजिज' जैसा उनके आधुनिक साहित्य में कुछ नहीं लिखा गया।

आधुनिक कविता के इतिहास में ये ऊदाहरण इने-गिने हैं, इने-गिने ही हो सकते हैं। लेकिन कविता का इतिहास ऐसे ही इने-गिने उदाहरणों से बनता है: कोई कवि जब अपने बारे में अपनी और दूसरों की सारी घोषणाओं को गलत सिद्ध करके-बल्कि अपनी तथाकथित 'प्रौढ़ता' को भी झूठा करके एकदम नये रास्ते पर निकल पड़ता है तभी वह 'मेजर पोपट' के रूप में सामने आता है।

हिन्दी के किसी आधुनिक कवि के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती क्योंकि हिन्दी की आधुनिक कविता का इतिहास 'मामूली प्रयत्नों' का इतिहास रहा है। इस क्षेत्र में ज्यादातर 'अनूदित' और 'प्रतिबिम्बित-प्रतिभाओं' की ही भीड़ रही है। लेकिन हिन्दी में भी अपनी सम्भावनाओं को अतिक्रमित करने लक्षणों को खोला जा सकता है और यह खोज भी औसत स्तर की प्रतिभाओं में ही की जा सकती है—'उत्सव घोषित' प्रतिभाओं मे नहीं।

डॉ० शंभुनाथ सिंह का नाम कवियों की इसो कोटि में आता है: उनके पुराने और परिचित पाठक जानते हैं कि वे दिनकर, बच्चन, अंचल और नेपाली वाली उत्तर छायावादी गीतधारा के कवि रहे हैं। इन कवियों में भी बच्चन को छोड़-कर किसी के भी गीतों ने वह कंठप्रियता और मंचप्रियता नहीं प्राप्त की जो शम्भुनाथ सिंह 'रसिक' के गीतों ने प्राप्त की थी। 'तुमने मान ली क्या हार', 'समय को शिला पर मधुर चित्र कितने, 'किसी के रूप के बादल मुझे सोने नहीं देते, दूर निशा के कुंजों में छिपकर रजनी गंधा न पुकारो मुझको' और 'पाषाण मत बनो तुम' आदि गीतों के धुनों और भावनाओं से, ४० और, ५० के बीच के पाठक का पूरा बोध-विकास जुड़ा हुआ है।

यह कम नहीं था कि शम्भुनाथ सिंह 'समय की शिला' के ही गीतकार और 'रसिक' बने रहते जैसे दिनकर दिनकर रहे, बच्चन बच्चन रहे, अंचल-अंचल रहे। लेकिन केवल शम्भुनाथ सिंह ही ऐसे हैं जो 'रसिक' नहीं रहे। यह बेहद बाहरी और छोटा परिवर्तन ही शम्भुनाथ सिंह को इन कवियों की जमात से अलग कर देता है: शम्भुनाथ सिंह ने 'रसिक' उपनाम हटाने की जरूरत समझी क्योंकि उन्होंने साहित्य की परिवर्तित संवेदना और प्रवृत्तियों को समझा। मानों, उपनामों का युगविशेष की रुचि और संवेदना से गहरा सम्बन्ध होता है। उन्हें 'निरर्थक' समझ कर भी ओढ़े रहना और उन्हें 'लज्जाजनक' पाकर उतार फेंकना ये दोनों बिलकुल अलग-अलग बातें हैं।

डॉ० शम्भुनाथ सिंह के काव्य-साहित्य को पढ़कर यह सन्देह हो सकता है कि उनकी कविता में 'उपजीविता' है। यह सच है कि जब वे गीतकार रूप में

लोकप्रियता के शिखर पर थे उस समय उनके गीतों पर बच्चन, दिनकर, भगवती चरण वर्मा और अंचल के गीतों का प्रभाव था[1] और जब उन्होंने प्रयोगशील रचना प्रारम्भ की तब भी उनकी कविताओं में अज्ञेय, नरेश मेहता आदि कवियों की भी प्रतिध्वनियां थीं इस संदर्भ में अनेक 'समानान्तर उदाहरण' दिये जा सकते हैं। किन्तु उन्हें देना मैं आवश्यक नहीं मानता। वस्तुतः प्रत्येक कवि की आरंभिक रचनाओं में 'उपजीविता' वर्तमान रहती है। धीरे-धीरे वह कम होती जाती है और कवि अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्मित कर लेता है। शम्भुनाथ सिंह की प्रारम्भिक कविताओं में भी एक निजी स्वतंत्र और एकान्त व्यक्तित्व का अभाव था। लेकिन इसी से सम्बद्ध यह एक आश्चर्य की ही बात है कि चाहे छायावादी युग हो या प्रगतिवादी युग, प्रयोगवाद हो या नई कविता—उन्हें किसी भी वाद, प्रवृत्ति या दलविशेष के साथ जोड़ कर नहीं देखा जा सकता। 'वादों' की उपलब्धियों को स्वीकार करके भी उन्होंने उनके 'आग्रहों' और 'सीमाओं' को कभी नहीं स्वीकारा।

इस रूप में वे बराबर 'असंपृक्त कवि' रहे हैं। उनकी रचनाओं का 'निजीपन' किसी वाद या प्रवृत्ति का 'निजीपन' नहीं रहा है—बल्कि वे 'व्यक्तित्व' और 'नीजीपन' की निरन्तर तलाश में रहे हैं। यह 'निजत्व' अभी पूरी तरह बन नहीं पाया है, इसीलिए वह 'जारी' है—उनके समकालीन अधिसंख्य कवियों की तरह स्थिर, 'रूढ़' और चुका हुआ नहीं है।

इलाहाबाद से डा० जगदीश गुप्त आदि के सम्पादन में निकलने वाली 'अनियमित' पत्रिका 'नई कविता' सम्भवतः पहली पत्रिका थी जिसके माध्यम से नई कविता को प्रयोगवादी कविता से अलगाने की कोशिश की गई थी। लेकिन पत्रिका 'नई कविता' के पाठक जानते हैं कि उसमें नई कविता की नई संवेदना के नाम पर तोता होता, सूरज फैला-फैला और सुबह का तारक लुप्त जैसी शाब्दिक चमत्कार वाली प्रयोगवादी-कवितायें प्रकाशित होती थीं—जबकि इस तरह की कवितायें अज्ञेय वर्षों पहले लिख चुके थे ('अल्ला दे अल्ला, क्यों हुआ मनुष्य में, होता करमल्ला) स्वयं जगदीश गुप्त 'अर्थ की लय' तलाश रहे थे जो प्रकारान्तर से शाब्दिक और शिल्प सम्बन्धी प्रयोगों की ही पुष्टि करती थी।

---

१. जिस समय मैंने लिखना प्रारम्भ किया, छायावादोत्तर नये कवियों—दिनकर, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, अंचल और नेपाली की धूम थी। कवि-सम्मेलनों के माध्यम से ख्याति प्राप्त करने वाले ये नवयुवक कवि मेरे आदर्श बने।

(प्राक्कथन—समय की शिला पर)

जहाँ तक मुझे स्मरण है, लगभग उन्हीं दिनों पहली बार डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने ही विष्णुचन्द्र शर्मा के सम्पादन में निकलनेवाली छोटी पत्रिका 'कवि' '५७ में 'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता' में अन्तर को स्पष्ट करते हुए 'नयी कविता' की विस्तार से चर्चा की थी।

१९५७ में ही प्रकाशित उनका कविता-संग्रह 'माध्यम मैं' एक ऐसा संग्रह था, जिसमें छायावाद, प्रयोगवाद और नयी कविता आदि सभी प्रवृत्तियों के अलग-अलग रूप एक साथ देखे जा सकते हैं। उसमें एक खंडित संवेदना के विविध रूप हैं। एक ओर 'ओ अनामे, मैं तुम्हारा प्यार हूँ' और 'उभर आ दर्द मेरे गीत कोई गा' जैसे छायावादी गीत हैं तो दूसरी ओर प्रयोगवादी अज्ञेय की प्रतिध्वनियाँ हैं : 'डाक सुनो प्रात का', 'वही रात कतकी पूनो की' आदि। 'प्रयोगवाद' के साथ लोकगीतों और प्रकृति चित्रों के नवोत्थान की जो लहर आई थी 'माध्यम मैं' पर उसका विशेष प्रभाव है : 'टेर रही प्रिया तुम कहाँ', 'पुरवैया धीरे बहो', 'मेरा मन रहता उस पार पहाड़ों में'।

लेकिन 'माध्यम मैं' की एक अलक्षित विशेषता है, विविधता की इस चित्रशाला से बाहर आने की एक बेरोक कोशिश। यह 'कोशिश' डूबा नगर, अनस्तित्व की खोज, सूरज और छाया आदि जैसी कविताओं और शार्क, स्लेज, हिम मानव, ईगल, मीनार आदि सामयिक बिम्बों में दिखाई पड़ती है। इन कविताओं पर स्पष्ट रूप से बिम्बवादी आन्दोलन का प्रभाव है तथा कहीं एक ही कविता (दिन डूबे) में 'सोने का ईगल' और 'सिवान' जैसे दो छोरों के शब्द हैं, जो विस्तार और वैविध्य तो दिखलाते हैं, लेकिन 'फार्म' बनने लायक संगठन का अभाव भी प्रदर्शित करते हैं।

डॉ० शम्भुनाथ सिंह अपनी नयी कविताओं में मूलतः प्रतीकों और बिम्बों के कवि रहे हैं। हिन्दी की नयी कविता का सर्वोत्तम बिम्ब विधान शमशेर बहादुर सिंह और केदार नाथ सिंह की कविताओं में दिखाई पड़ता है। शम्भुनाथ सिंह के बिम्ब-विधान की प्रक्रिया भी इन्हीं कवियों से जुड़ी हुई है—लेकिन जहाँ शमशेर और केदार प्रायः अपने 'फार्म' या शिल्प के साथ जल्दी कोई खतरा उठाने को तैयार नहीं होते—वहाँ शम्भुनाथ सिंह की नयी कविता में बिम्ब या प्रतीक निर्वाह के अलावा फार्म या शिल्प का कोई आग्रह नहीं दीखता। वे 'गीत मुक्त' होते ही 'लय-मुक्त' भी हो जाते हैं। आन्तरिक लय की जो सूक्ष्म अन्तर्धारा शमशेर और केदार की कविताओं में बराबर वर्तमान रहती है, वह शम्भुनाथ सिंह की कविताओं में बिलकुल नहीं रहती। उनकी कवितायें उनके

'कॉसेप्ट' से जुड़ी रहती हैं और प्रतीक तथा बिम्ब उस 'कॉसेप्ट' की व्याख्या बनते हैं। शमशेर की आ ओ, शाम, टूटी हुई बिखरी हुई, केदार की शाम एक आदिम मन:स्थिति, दिग्विजय का अश्व, एक दिवास्वप्न, आदि की तुलना अगर शम्भुनाथ सिंह की पार्क से गुफा तक एक यात्रा, रूपान्तर, घर और रास्ता, बर्बर स्थितियों के बीच-से करें तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

एक संवेदना में प्रयत्नपूर्वक जुड़ना और पूरी तरह जुड़ने से पहले ही उसी तरह प्रयत्नपूर्वक झटके देकर उससे अपने को तोड़ लेना—यह 'अस्थिरता' ही शम्भुनाथ सिंह की कविताओं की 'स्थायी' विशेषता है। वे वस्तुत: 'राहों के अन्वेषी' नहीं 'केवल अनवरत यात्री हैं।'

उनके बिम्ब या प्रतीक जहाँ किसी 'कॉसेप्ट' की व्याख्या नहीं करते, वहाँ वे एकत्र होकर 'फॅन्टेसी' बन गये हैं। उनकी इधर की कविताओं में यह विशेषता ज्यादा देखी जाती है। उनकी 'एक क्षण की बात' सहसा व्यापक होकर 'कालातिक्रमण' करने लगती है :

(१) 'एक महक है
जो नस-नस में
बिजली-सी कौंध जाती है
पहाड़ी झील के सोये जल-सी,
आँखों का दर्पण
समय की गहराइयों में प्रकाश फेंकता है,
सदियों की गुफायें रौशन हो जाती हैं,
··· ... नीचे वर्जनाओं की टूटी मेड़ें,
और रोशनी की बाढ़ में डूब कर मरे—
एक अजगर की सड़ी लाश
जिसपर अनजाने पाँव पड़ते ही,
सारी देह सिहर उठती है।'

(आदिम उत्पीड़न)

(२) 'तभी यह आकर्षक रंगमंच घूम जाता है,
सहस्राब्दियाँ पीछे छूट जाती हैं,
और हम दर्शकों की आँखों से ओझल होकर—
रंग कक्ष में पहुँच जाते हैं।
जहाँ तुम्हारे मुख की ओढ़नी हर जाती है,

और मेरे लकड़ी के झूलते हाथ-पैर
मानवीय बन जाते हैं।
मेरी आँखों में फिर से रोशनी आ जाती है
और मैं देखता हूँ कि ये अनगिनत रास्ते
मुझमें ही आकर समा जाते हैं,
और यह गोल रंग मंच तुममें,
और फिर
एक आदिम झरना—
हम दोनों के भीतर से फूट पड़ता है।'

'आदिम' के प्रति यह आकर्षण जो शम्भुनाथ सिंह जी की इधर की कविताओं में बार-बार व्यक्त हुआ है, उनका 'फैन्टेसी प्रेम' ही व्यक्त करता है। यह 'यथार्थ' को ही एक' 'अजनबी कोण' से देखने की कोशिश है।

शम्भुनाथ जी की 'नई कवितायें—ऐसे कवि की कवितायें हैं, जिससे सामान्यत: किसी समीक्षक को कोई शिकायत नहीं हो सकती। वे प्रयत्नों के कवि हैं और इन प्रयत्नों के भीतर एक विचारवान्-'बैरोमीटर' भी बराबर उनका साथ देता रहता है। इसलिए उनकी कविताओं में यदि नीला समुद्र, जल चित्र, पलाश वन, डल झील, सुबहें और शामें हैं तो ईसा की हजारवीं मौत तथा घोर बर्बर स्थितियाँ भी हैं। 'सामयिकता' उनका एकमात्र घोषणा वाक्य है और उनकी 'आधुनिकता' 'निरन्तरता' में जीवित रहती है।

जेट, मिग, राडार, ह्वेल, ईगल, जंगली बिल्ला आदि पाश्चात्य शब्द-बिम्बों को अपना कर भी शम्भुनाथ जी की सामयिकता भारतीयता से बँधी हुई है :

'.........यह शाम जो पश्चिम की
लहरों पर तिरती हुई आई है,
सहसा भभकेगी,
फिर धीरे-धीरे सभी दिशायें
किन्तु नहीं, तनिक पूरब की खिड़की तो
खोल दूँ,
भूली-भटकी कोई किरण
कौन जाने इधर से ही आ जाये।'

किन्तु ऐसी भारतीयता-बोधक पंक्तियाँ प्रायः अनभ्यस्त कर्तव्य-भाव से लिखी गई हैं, जो सपाट चिपकाई स्थितियाँ ही बनाती हैं।

नई कविताओं में 'कॉंसेप्ट' के कवि होने के कारण उनके यहाँ आक्रोश-युक्त—बेचैन स्थितियाँ प्राय: नहीं मिलती। आज के 'संकट-बोध (सेंस ऑफ क्राइसिस) को वे दूसरे धरातल पर झेलते हैं। उनकी सभी 'नई कविताओं' में केवल 'बर्बर स्थितियों के बीच' ही इसका अपवाद-उपस्थित करती है—जहाँ उनकी अभिव्यक्ति नये-रचनाकारों के विरोध में होते हुए भी अपने-आक्रोश में उनके समानान्तर आ जाती है :

अगर यह सच है कि युद्ध की
बर्बर स्थितियाँ तुम्हारी चेतना को झिंझोड़ती नहीं,
तो भी मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ—
वैसे ही जैसे उस वेश्या को—
जो बार-बार घर्षित होकर भी
उत्तेजित नहीं होती।'

सामयिक होना उनकी बाध्यता है और यह सामयिकता ही उनकी कविता को कभी 'रूढ़' नहीं होने देती। वे अब भी अपनी अपेक्षाकृत सरल आकांक्षाओं के 'गीतों' के माध्यम से व्यक्त कर लेते हैं, किन्तु 'नयी कविता' में वे नयी कविता की संवेदना के साथ ही पूरी तरह व्यक्त होते हैं। उनकी 'निजत्व' की यह खोज अभी जारी है, और आश्चर्य नहीं कि यह 'खोज' विकास की तथाकथित क्रमपूर्ण स्थितियों का कभी अतिक्रमण कर जाये।

●

युगबोध के संवाहक कवि

•

डॉ० ब्रजविलास

शम्भुनाथ सिंह हिन्दी के उन सशक्त कवियों में हैं जिनकी प्रतिभा ने आधुनिक हिन्दी कविता की दो पीढ़ियों को नवीन काव्य-संवेदनाओं और कलात्मक मूल्यों से युक्त करके नयी दिशा देने में महत्वपूर्ण योग दिया है। मेरा अभिप्राय यहाँ कालानुसरण की क्षमता से नहीं है। यह क्षमता समकालीन काव्य-प्रवृत्तियों और मूल्यों के— प्रायः स्थूल ग्रहण—तक ही सीमित होती है, जैसा कि मैथिलीशरण गुप्त और कुछ अंशों में (नयी कविता के प्रसंग में) सुमित्रानन्दन पन्त या दिनकर की कविताओं में दिखलाई पड़ता है। अपने परवर्ती युगों की काव्य-चेतना के निर्माण और काव्यात्मक उपलब्धियों में इनका कोई विशिष्ट योग नहीं माना जा सकता। शम्भुनाथ सिंह ने इसके विपरीत दोनों पीढ़ियों के काव्य-संस्कार के निर्माण में मौलिक ढंग से योग दिया। छायावादोत्तर गीत-कविता में राग-बोध और व्यंजना के नये स्तर के निर्माण में बच्चन और शम्भुनाथ सिंह का योग सबसे अधिक माना जायगा।

आधुनिक कविता को छायावाद के कल्पना-लोक से हटाकर पार्थिव लोक में ले आने का श्रेय बच्चन को है। कविता को यथार्थ भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित करने और सहज जीवनानुभूतियों से युक्त करने का कार्य उन्होंने ही किया, भले ही वह यथार्थ अत्यधिक वैयक्तिकता के कारण कवि के व्यक्तिगत सुख-दुःख तक ही सीमित रह गया हो। बच्चन के साथ ही गीतों में व्यक्तिगत यथार्थ की नयी प्रवृत्ति आयी। इस नयी प्रवृत्ति ने हिन्दी कविता में अनुभूति और अभिव्यक्ति की सहजता की प्रतिष्ठा की। किन्तु इस सहजता ने बाद में कलात्मक परिष्कार के अभाव में व्यक्तिगत राग-विराग के स्थूल निवेदन का रूप ग्रहण कर लिया। परिणामस्वरूप इन प्रणय-गीतों में स्थूल शारीरिक प्रेम, अतृप्ति और दमित वासना की सीधी अभिव्यक्ति प्रारम्भ हो गई। इसी समय शम्भुनाथ सिंह ने बच्चन के व्यक्तिगत यथार्थ को कलात्मक ऊँचाई देकर गीत-कविता के एक नये स्तर का प्रवर्तन किया। बच्चन और शम्भुनाथ सिंह के कलात्मक स्तर में ही अन्तर नहीं है, बल्कि अनुभूतियों और संवेदनाओं के स्तर में भी भिन्नता है। बच्चन की अनुभूतियाँ अधिक सामान्य

हैं, व्यक्तिगत जीवन की सामान्य अनुभूति को भी उन्होंने व्यक्त किया है। कविता में वस्तु का चुनाव और उसका कलात्मक स्थापन अत्यन्त आवश्यक होता है। शम्भुनाथ सिंह के गीत बच्चन के गीतों से इसी कारण भिन्न स्तर के मालूम होते हैं, कि उनमें अनुभूतियों का चुनाव और उनका कलात्मक रूपायन हुआ है।

यद्यपि शम्भुनाथ सिंह का कवि के रूप में उदय और विकास उपर्युक्त गीत-परम्परा में हुआ किन्तु उनकी काव्य-प्रतिभा की प्रौढ़ता उनकी वर्तमान काव्य-रचनाओं में ही दिखलाई पड़ती है। १९५४ के बाद से ('माध्यम मैं' में संग्रहीत) उनकी काव्य-प्रवृत्ति में गुणात्मक परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। ध्यान देने की बात है कि १९५० से ही आधुनिक हिन्दी कविता में भी उस परिवर्तक के लक्षण दिखलाई पड़ने लगते हैं, जिसे किसी प्रवृत्तिगत आन्दोलन अथवा वाद के अभाव में नयी कविता के नाम से अभिहित किया गया। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है, कि सन् ५० के बाद ही हिंदी कविता में कुछ ऐसी स्पष्ट प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं, जो उसे प्रयोगवाद से भिन्न काव्य-भूमि पर प्रतिष्ठित करती हैं। प्रयोगवाद मनोवैज्ञानिक यथार्थ की एक विशेष दृष्टि लेकर आया था और यथार्थ को ज्यों का त्यों अभिव्यक्त करने और अक्षुण्ण रूप में पाठकों तक पहुँचाने की विवशता ने रूप-शिल्प सम्बन्धी प्रयोगों के लिए प्रयोगवादी कवियों को बाध्य किया। जिस प्रकार अंग्रेजी साहित्य में (विशेष रूप से काव्य-कथा में) एक्सपेरिमेण्टलिज्म मनोविश्लेषणशास्त्र का देन है, उसी प्रकार हिन्दी कविता में भी मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रभाव से टेकनीक सम्बन्धी प्रयोगों की अनिवार्यता उत्पन्न हुई। प्रयोगवाद छायावादोत्तर कविता के यथार्थ की ओर विकास का तीसरा चरण है।

सन् १९४० तक हिंदी कविता बच्चन के वैयक्तिक यथार्थ से सामाजिक यथार्थ तक, जिसमें प्रगतिवादी आंदोलन ने बहुत योग दिया पहुँच चुकी थी। सन् ४० के बाद अज्ञेय ने 'तार-सप्तक' में मनोवैज्ञानिक यथार्थ की भूमिका प्रस्तुत की। किन्तु अज्ञेय से प्रभावित होकर नये प्रयोग करने वाले अधिकांश कवियों ने उस मनोवैज्ञानिक तथ्य या 'सत्य' की अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग नहीं किया। उन्होंने अज्ञेय के शिल्पगत प्रयोगों को ही साध्य समझ कर निरुद्देश्य प्रयोग ही अधिक किये। प्रयोगवाद के नाम पर सीधे से सीधे और सहज से सहज कथ्य को भी मुक्त आसंग (फ्री एसोसिएशन) की पद्धति से व्यक्त करने की प्रवृत्ति इस बात का प्रमाण है। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप शुद्ध शिल्पगत चमत्कार दिखलाने वाली अर्थहीन और निरुद्देश्य कविता ही अधिक लिखी गई। कथ्य की ईमानदारी को लेकर चलने वाले अज्ञेय के प्रयोग का यह दुर्भाग्यपूर्ण अन्त था।

किन्तु प्रयोगशीलता ने एक ओर जहाँ अनुकर्ताओं के लिए कवि-कर्म को सरल बना दिया, वहीं दूसरी ओर मौलिक कवियों के लिए वस्तु और शिल्प, दोनों स्तरों पर नये आयामों और नयी सम्भावनाओं की ओर बढ़ने का दायित्व भी दिया। अज्ञेय से मुक्त होकर काव्य की नयी संभावनाओं की ओर स्वतन्त्र रूप से बढ़ने के प्रयास के परिणामस्वरूप नयी कविता की नयी प्रवृत्तियाँ सामने आईं। मौलिक प्रतिभा से सम्पन्न और विकसनशील कवि होने के कारण शम्भुनाथ सिंह ने भी स्वतंत्र रूप से उन नयी सम्भावनाओं में गहराई से उतरने की आवश्यकता को समझा और इस दायित्व को ध्यान में रख कर इस दिशा में जो महत्वपूर्ण प्रयोग उन्होंने अब तक किये हैं और आज भी कर रहे हैं, वे उनकी ही नहीं, आज की हिंदी कविता की भी महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। आज मानव परिवेश और व्यक्तित्व को विविध कोणों और आयामों से देखने का जितना अधिक प्रयास शम्भुनाथ सिंह की इधर की कविताओं में दिखलाई पड़ता है, उतना आज के अन्य कवियों में कदाचित् ही मिले। वैसे वर्तमान हिंदी कविता के लिए सबसे दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि धर्म और राजनीति की तरह इस क्षेत्र में भी महन्ती की प्रवृत्ति पैदा हो रही है और जिनमें वास्तविक काव्य प्रतिभा का ही अभाव है, ऐसे कुछ लोग नयी कविता के महन्त बन बैठे हैं। सही अर्थ में नयी कविता का भविष्य निर्माण वे स्वतन्त्र प्रतिभायें ही कर रही हैं जो किसी साहित्यिक दल या महन्ती की प्रवृत्ति से ग्रस्त नहीं हैं।

शम्भुनाथ सिंह के काव्य की नयी भूमिका सबसे पहले उनके लोकगीतों के तत्वों को लेकर लिखे गये गीतों में दिखलाई पड़ी। लोक-जीवन और लोक-भावों की सहज अभिव्यक्ति के लिए इस सशक्त माध्यम का प्रयोग उनकी मौलिक प्रतिभा की सूझ है। साथ ही आवेगों और संवेदनाओं के उद्दाम और सहज रूप को अधिक पूर्णता से अभिव्यक्ति देने के लिए उन्होंने लोक-गीतों के लोक-तत्वों का प्रयोग किया। लोक-तत्वों ने गीतों में नवीनता और सहजता का सौन्दर्य तो उत्पन्न किया ही, साथ ही उनके प्रतीकात्मक महत्व ने नये सन्दर्भ में और नये अर्थ में उनके प्रयोग की सार्थकता भी सिद्ध कर दी। आज की कविता की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उसने भावनाओं और संवेदनाओं को ही नहीं प्रत्युत उनके भावों और क्रियाओं के सूक्ष्म अन्तर तथा एक ही भाव के विभिन्न पक्षों को भी व्यक्त करने की क्षमता उत्पन्न कर दी है। इन सूक्ष्म अन्तरों और चित्रों को व्यक्त करने में लोक-तत्वों के नये प्रयोग बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं। शम्भुनाथ सिंह के साथ ही धर्मवीर भारती, ठाकुरप्रसाद सिंह, केदारनाथ सिंह आदि ने

भी अनेक स्थितियों और भाव-दशाओं की अभिव्यक्ति के लिए लोक-गीतों के उपयोगी तथ्यों का प्रयोग किया। इस प्रयोग की सफलता का ही परिणाम है कि आज हिन्दी कविता में नवगीत नाम की एक भिन्न धारा ही चल पड़ी है। यद्यपि इस दिशा में अनेक कवि आगे बढ़े पर इनमें से अधिकांश ने केवल फैशन के रूप में लोक-तत्वों को ग्रहण कर अपनी अनुकरणात्मक प्रवृत्ति का ही परिचय दिया।

लोक-गीतों के पैटर्न के अतिरिक्त भी अन्य कई महत्वपूर्ण प्रयोग उन्होंने गीत रूप में किये हैं। अनेक भावों और उनकी आड़ी-तिरछी रेखाओं को सफलता-पूर्वक व्यक्त करने का गीत अत्यन्त उपयुक्त माध्यम है, यह कवि के इधर के नये गीतों से प्रमाणित हो जाता है। जो लोग गीत नामक काव्य रूप को आज की कविता के अनुकूल नहीं समझते, उनके लिए कवि के ये गीत चुनौती है। इन गीतों के लोक-प्रतीकों के साथ ही आज के मानव-परिवेश और उनके व्यक्तित्व को विविध कोणों से अंकित करने के लिए कवि ने आदिम चित्रों (आर्कीटाइपल इमेजेज़) और निजन्धरी तथा पौराणिक प्रतीकों (लजेण्ड्री ऐण्ड माइथोलाजिकल सिम्बल्स) को लेकर 'माध्यम मैं' में अनेक कवितायें लिखी है। ये कवितायें हिन्दी के लिए बिलकुल नयी हैं। कहीं तो इन प्रतीको के द्वारा आज की वास्तविकता और युग-बोध के विशिष्ट क्षणों और विचार-तरङ्गों को व्यक्त किया गया है और कहीं ये प्रतीक मानव-मन की गहन और जटिल संवेदनाओं की अभिव्यक्ति तथा व्यक्तिगत मिथ (परसनल माइथोलाजी) के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। 'माध्यम मैं' की ये कवितायें कवि की उस गहन जीवन-दृष्टि की भूमिका है, जो उसकी आज की कविताओं में विशिष्ट जीवन-दर्शन के रूप में अधिक स्पष्ट रूप से हमारे सम्मुख आ रही हैं। सहजात कल्पना और आदिम बिम्बो के कारण ये कविताएँ कला की दृष्टि से एक नवीन रोमैण्टिक वातावरण की सृष्टि करते हैं और अपने शुद्ध प्रतीकात्मकवाद (निओसिम्बोलिज्म) को जन्म देती है। नवस्वच्छन्दतावाद और नवप्रतीकवाद शम्भुनाथ जी की नवीनतम रचनाओं की एक मौलिक प्रवृत्ति है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ हिन्दी में नयी है और नयी कविता के स्वरूप-निर्धारण में इनका महत्वपूर्ण योग है।

शम्भुनाथ सिंह की ये आधुनिकपावादी कविताएँ मुझे अंग्रेजी की एपोकलिप्टिक धारा की काव्य-प्रवृत्तियों की याद दिलाती हैं। अति यथार्थवाद और मार्क्सवाद की यान्त्रिकता से कविता को मुक्त करने के लिए १९३६ में निकालस मूर, हेनरी ट्रीस, जे० जे० हैण्ड्री तथा जी० एस० फ्रेजर आदि कवियों ने 'दी न्यू एपोक्-

लिप्स' की स्थापना की। इन कवियों ने सिद्धान्त रूप में जिन मौलिक तथ्यों को स्वीकार किया, वे ही तथ्य शम्भुनाथ सिंह की नयी कविताओं के भी आधार मालूम पड़ते हैं। वस्तुतः स्वतंत्र रूप से लिखने वाले इधर के अनेक कवियों की वास्तविक कवितायें अंग्रेजी की इसी धारा के समानान्तर चलती हुई मालूम पड़ती हैं। इस धारा के अनुसार आज के मानव को यंत्रों की जटिलता से उत्पन्न अमानवीयता और यान्त्रिक सभ्यता के संत्रास और चिन्तन से मुक्त करके आर्थिक और कलात्मक दृष्टियों से अधिक स्वतन्त्र बनाने की आवश्यकता है और इस उद्देश्य की पूर्ति किसी भी वर्तमान राजनीतिक प्रणाली और कला संबंधी आदर्श से सम्भव नहीं है। उनके अनुसार यांत्रिक युग ने कला को आवश्यकता से अधिक प्रभावित करके उसे विकृत कर दिया है और मानव के व्यक्तिगत विकास में अवरोध उत्पन्न किया है। व्यक्तित्व की विश्लिष्टता को दूर कर उनमें पुनः संश्लिष्टता ले आने के लिए व्यक्तिगत साधन के रूप में मिथ बहुत उपयोगी हैं। हेनरी ट्रीस की कविताएँ इस दृष्टि से विशेष महत्व की हैं और आदिम बिम्बों के प्रयोग की दृष्टि से शम्भुनाथ सिंह की कविताएँ हेनरी ट्रीस की कविताओं के समकक्ष रखी जा सकती हैं।

आधुनिक युग-बोध और मानव-व्यक्तित्व की एकता की खोज शम्भुनाथ सिंह की इधर की कविताओं में कई रूपों में व्यक्त हुई हैं। आधुनिक युग-बोध समसामयिक स्थितियों और वास्तविकताओं का ही बोध नहीं है, बल्कि इस बोध की प्रतिक्रिया से उत्पन्न चेतना की वह दृष्टि भी है जो कवि को कभी-कभी दार्शनिक भूमिका में ले आ देती है। अतः मानव के आधुनिक परिवेश और व्यक्तित्व के साथ उसकी प्रतिक्रिया से उत्पन्न चेतना पर मौलिक दबाव का दुहरा बोध ही सही अर्थ में युग-बोध कहा जायगा। यह गहरा दबाव ही कवि को चेतना की वह दृष्टि देता है जिससे वह मानव व्यक्तित्व को अबूझ गहराइयों में उतरने की विवशता का अनुभव करता है। शम्भुनाथ सिंह की कविताओं में आज के मानव के खंडित व्यक्तित्व और उसके अर्थहीन जीवन-मूल्यों के साथ ही कवि की आकुलता, पीड़ा, और विवशता का बोध भी बहुत तीखे और मार्मिक ढंग से व्यक्त हुआ है। इस बोध की चरम परिणति कवि की उस मानसिक स्थिति में होती है, जिसमें वह इस संसार में अपने को अजनबी (आउट साइडर) अनुभव करता है। शम्भुनाथ सिंह का कवि कालीन विलसन का वह अजनबी (आउट साइडर) है जिसकी युगातीत जीवन-दृष्टि में आज का संसार मूल्यहीन और अस्तित्व रहित मालूम पड़ता है। कहा जा सकता है कि यह युग-बोध की निष्क्रिय प्रतिक्रिया है जो अनास्था को जन्म देती है। निश्चित रूप से कवि की

यह मन:स्थिति उसे अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन की ओर ले जाती है और वह अस्तित्ववादी शैली में ही अपने को व्यक्त भी करता है। किन्तु यह दर्शन उसके वर्तमान के प्रति असंतोष तक ही सीमित है। जहाँ तक आज के युग के विश्लेषण और मूल्यांकन का प्रश्न है, अस्तित्ववाद एक प्रगतिशील और मानवतावादी जीवन-दर्शन है क्योंकि आधुनिक मानव की यांत्रिक परवशता और व्यक्तित्वहीनता की तीखी वेदना के कारण ही वह अजनबी की मन:स्थिति में पहुँचता है। शम्भुनाथ सिंह का कवि अस्तित्ववाद के सभी निष्कर्षों को नहीं स्वीकार करता है। सही अर्थ में यह उस अजनबी का दृष्टिकोण है, जो मानव व्यक्तित्व की स्वतंत्रता के लिए वर्तमान में न जाकर भविष्य में जा रहा है, शम्भुनाथ के सद्य: प्रकाशित काव्य संकलन 'खण्डितसेतु' की अनेक कविताओं में उनकी यह जीवन-दृष्टि बहुत स्पष्ट रूप से व्यक्त है। अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन को लेकर लिखी गई उनकी 'एक गाय की वसीयत' शीर्षक कविता से यह भी स्पष्ट है कि वे सार्त्र के अस्तित्ववाद से किसी सीमा तक अवश्य प्रभावित हैं। इस प्रसंग में यह बता देना आवश्यक समझता हूँ, कि इस प्रकार की उनकी बहुत-सी कवितायें गीत के रूप में भी लिखी गई हैं। ये गीत इस बात के प्रमाण हैं कि खंडित-अखंडित सभी प्रकार के बिम्बों, चेतना-प्रवाहों तथा अन्तर्दृष्टि मूलक कल्पनाओं आदि को व्यक्त करने के लिए गीत भी सशक्त माध्यम बन सकता है, हाँ, कथ्य के स्वरूप को ध्यान में रख कर गीतों के शिल्प में परिवर्तन और प्रयोग अवश्य करना पड़ेगा।

नये रूप-शिल्प और नयी-प्रतीक-योजना की दृष्टि से गद्य-गीतों के रूप-शिल्प को लेकर लिखी गई कवि की कुछ कविताएँ ('इन्द्रधनुष' तथा 'मातृ-भाषा') आदि नयी कविता के लिए शिल्प सम्बन्धी नयी सम्भावना प्रस्तुत करती हैं। यद्यपि कवि ने अपनी उपर्युक्त जीवनदृष्टि की अभिव्यक्ति के लिए ही इस माध्यम को चुना है, किन्तु यह माध्यम अन्य जीवनदृष्टियों और वस्तु तत्वों की अभिव्यक्ति का भी माध्यम हो सकता है। कलात्मक स्तर पर इन गीतों में नवीन प्रतीकवादी पद्धति को अपनाया गया है। शम्भुनाथ सिंह के ये आदिम, निजन्धरी तथा मनोवैज्ञानिक प्रतीक एक ओर जहाँ पाठक को सौन्दर्य-बोध के नये स्तरों की ओर ले जाते हैं, वहीं दूसरी ओर गहरी अर्थ-व्यंजकता, प्रसंगगर्भत्व और सांकेतिकता के कारण उसकी संवेदनाओं और विचार तरंगों में दूर तक हलचल पैदा कर देते हैं।

शम्भुनाथ सिंह के काव्य-विकास और उनकी नवीनतम काव्य-प्रवृत्तियों के विवेचन के संदर्भ में उनके कवि-व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने पर कवि की

जागरूकता और मौलिकता के साथ ही उसके विकास की असीम संभावनाओं का संकेत मिलता है। यद्यपि वर्तमान यांत्रिक युग की मूल्यहीनता के कारण वह अपने आपको इस संसार में अजनबी और भीड़ में खोया हुआ अस्तित्वहीन अनुभव करता है और कभी-कभी यह अनस्तित्वबोध उसकी आस्था तक को हिला देता है किन्तु मन:स्थिति पीड़ा और परवशता के साथ ही उस अनागत का बोध भी उत्पन्न करती है, जो उसे नहीं तो उसके पुत्रों को इस परवशता से अवश्य मुक्त कर देगा।

राहें भी बहुत हैं
किन्तु उस सूर्यध्वज शिखर की
दिशा में जाने वाली राह कौन
जिस पर से होकर मेरा बेटा गुजरेगा ?

आस्था के इन स्वरों से यह विश्वास होता है कि कवि अस्तित्ववाद की उस सीमाकी ओर नहीं जाएगा, जिसकी अन्तिम परिणति शून्यवादी जीवन-दर्शन में होती है।

यात्रा : गीत से नई कविता तक

•

डॉ० त्रिभुवन सिंह

छायावाद-युग की आग्रहपूर्ण दार्शनिक-भंगिमा के प्रति सहजशंका के साथ उपस्थित होने वाले 'बच्चन', 'दिनकर', नरेन्द्रशर्मा, 'सुमन', भगवतीचरण आदि कवियों के समीप प्रतिष्ठित डॉ० शम्भुनाथ सिंह का 'कवि' प्रथम वार 'रूप-रश्मि' की रचनाओं में अभिव्यक्त होता है। यद्यपि इसमें पूर्व-स्वीकृत मान्यताओं को सही अर्थों में कड़ी चुनौती न दे पाते हुये भी, इतना प्रयास तो अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि 'रूप' से कवि की लौकिकता एवं 'रश्मि' से उसकी आन्तरिकता के उभय पक्षों का सन्तुलन हो जाय। 'रूप-रश्मि' के गीतों में कवि के तरुण हृदय के छायावादी अनुभूति के कुहासे से बाहर आकर मुक्त-दृष्टि के सहज रश्मि-आलोक में जीवन और मानव को देखने-परखने का नूतन प्रयास किया है।' डॉ० शम्भुनाथ में रूप एवं प्रेम-सुख के लिए दुर्दान्त प्यास की ज्वालाओं का अतुष्ट हाहाकार, नैराश्य का कुहान्धकार और भोग की एकान्त लालसा की चटकार नहीं मिलेगी। 'बच्चन' ने छायावादी अतिवायवीयता एवं पलायनशील आकाश-यात्रा के विरुद्ध विद्रोह तो किया; पर उनके विद्रोह में जवानी की उन्मत्त निरंकुशता और असफलताओं के साथ भयावह निराशा की भ्रान्त पुकार भी सुनाई पड़ती है। 'बच्चन' का विद्रोह जड़ीभूत रूढ़ि-चट्टानों पर सर पटकती हुई भोग-तृषित जवानी का विद्रोह है, इसीलिए उसमें धूम-धुन्ध की मार्ग-रोधी कुज्झटिका भी स्पष्ट है। शम्भुनाथ में भी रूप की लालसा, सुख-भोग की तृष्णा एवं प्रेम की पुकार है, पर यह तृषा और पुकार कल्पनाओं के रमणीय चित्रों, प्रकृति के मोहक रूपों एवं आसक्ति-अनासक्ति के बीच एक जीवनवाही प्रवृत्ति की प्रेरणाओं से संपोषित होकर जहाँ एक ओर पाठकों को छायावाद के अस्पष्ट अनुभूति-मंडल से उतार कर जानी-पहचानी भाव-भूमि पर ला खड़ा करती है, वहीं अत्यन्त सुपरिचित जीवन-सम्पर्कों एवं समाज-सम्बन्धों को भी भाव-कल्पना की आन्तरिक फुहारों से रंगीन एवं रसमय बना देती है। 'रूप-रश्मि' के कवि ने छायालोक में आकर छायावाद की 'छाया' में छिपे 'आलोक' को प्रसारित एवं प्रसाधित किया है। इस गीत-संग्रह में 'पास' और

'दूर' तथा 'आकाश' और 'धरती' दोनों ही जीवन-छोरों को अपने कल्पना-पाश एवं अनुभूति-आभोग में सन्तुलित किया गया है। 'प्राण तुम दूर भी प्राण तुम पास भी'—प्रतीक वाले गीत में नारी के माध्यम से जीवन के इन्हीं दो छोरों का समालिंगन किया गया है। 'समय की शिला' प्रतीक वाला गीत कवि की तत्कालीन मनोभूमि का पूर्ण प्रतिनिधि-गीत माना जाना चाहिए।

डॉ० शम्भुनाथ के गीतों की विशेषताओं में कल्पना की रंगमयी सचित्रता, अनुभूति-ऐन्द्रियता एवं भाषा की अकृत्रिम तत्समता प्रमुख है। उनमें कल्पना का एक सरस एवं चित्रात्मक प्रवाह विद्यमान है। यह कल्पना गीतों में भाव या अनुभूति की ऊष्मा से विरहित होकर सक्रिय नहीं हुई है, उसे भावों एवं अनुभूतियों का समर्थन प्राप्त है। यह कल्पना छोटे-बड़े रंगीन चित्रों में प्रस्फुरित होती चलती है, और प्रकृति के रूप-संसार में जाकर वहाँ से 'मधुमाखी' की भाँति सुन्दर-सुन्दर दृश्यों, घटनाओं तथा रमणीय दशाओं का चयन कर गीतों में उन्हें सजाती चलती है। ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ इन चित्रों में रूप, रस, गन्ध, वर्ण एवं स्पर्श की तन्मात्राओं का रंगीन संगुम्फन होता है। नीचे की पंक्ति में दिन और रात को किस प्रकार कुछ चुनी दशाओं में आकलित किया गया है—

'दिन थे प्रणव-हास, निशि प्यार के पाश !'

('छायालोक')

प्रकृति का एक अन्य कल्पना-प्रधान चित्र—

"गगन ने प्रणय-चित्र खींचे नयन में,
उतरती हुई उर्वशी देख घन में,
अचल किन्तु चलचित्र थे हो न पाये,
कि सहसा बुझी रूप की ज्योति छन में।"

(समय की शिला, 'छायालोक')

'शिल्प' में ढीलापन होते हुए भी, कवि का द्रष्टा-रूप अवश्य ही सराहा जायगा। वैसे कहना न होगा कि यहाँ कौतूहल और विस्मय (कांस्टर्नेशन) का भाव ही उभर सका है, 'तन्मयता' कम है—जिसके लिए यह क्षिप्र झाँकी यथेष्ट थी। (इसी प्रकार कवि 'स्मृतियों' में डूब नहीं जाता, प्रत्युत दूर से उनका साक्षात्कार कर संत्रस्त होता है—'सो नहीं पाता', 'रो नहीं पाता' !)

डॉ० शम्भुनाथ जी के गीतों की दूसरी विशेषता है—ऐन्द्रिय अनुभूति। उनकी चेतना में ऐन्द्रियता की अनुभूति बड़ी सजग है। रूप, रस, गन्ध आदि से सम्बद्ध इन्द्रियों द्वारा वे अपने चतुर्दिक जगत् की तीव्र अनुभूति रखते हैं।

उनकी कल्पना उनकी इन्द्रियानुभूति के इसी भण्डार से उपादान लेकर गीतों में उत्तेजक एवं प्रभावक चित्रों की नियोजना करती है। यह ऐन्द्रियता ही उनकी अभिव्यक्ति को इतनी चित्रात्मकता प्रदान कर सकी है। 'पुरवैया धीरे बहो'—जैसे गीत उनकी ऐन्द्रिय चित्रात्मकता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। 'मैं वह खण्डहर जिसके मांथे पर अँधियाली साँझ की उतर गई'—जैसी पंक्तियाँ आँखों के सामन छाये निराशा-भार के खण्डहर पर उतरे सन्ध्यान्धकार का प्रभावक चित्र साकार (अनुभूति-प्रत्यक्ष) कर देती हैं। शम्भुनाथ सिंह में दृष्टि-चेतना एवं गन्ध-चेतना से सम्बन्धित चित्र प्रधानतर हैं।

'भाषा की सहज-सरस तत्समता' कवि के गीतों की तीसरी प्रमुख विशेषता है। उर्दू के शब्दों का आत्यन्तिक अभाव एवं भाव-सम्पृक्त तथा कल्पना-सिक्त पदों का चयन इनके गीतकार को 'बच्चन' के अभिधा-प्रधान एवं चित्रविहीन भाव-संयोजन से सर्वथा भिन्न और विशिष्ट स्थिति प्रदान करता है। 'बच्चन' की भाषा में उर्दू-शब्दों का बाहुल्य है। डॉक्टर साहब की भाषा चित्रात्मक, लाक्षणिक, मसृण एवं रसार्द्र है। तत्समता के बावजूद क्लिष्टता का सर्वथा अभाव द्रष्टव्य है। अप्रस्तुत-विधान एवं बिम्ब ग्रहण में कवि नवीनता-मौलिकता की वीथियों में गया है। गृहीत उपमानों में अनुभूति के मर्मोद्घाटन की क्षमता है।

श्री शम्भुनाथ जी का 'मानववाद' 'बच्चन' जी के मानववाद से भिन्न है। 'बच्चन' का 'मानव' हर ओर से असन्तुष्ट है, विक्षुब्ध है—

"आओ, सो जाएँ, मर जाएँ।
स्वप्नलोक से हम निर्वासित,
कब से गृह-सुख को लालायित,
आओ, निद्रापथ से छिपकर हम अपने घर जाएँ!"

'बच्चन' : निशा-निमन्त्रण

समाज के वृद्धजनों को उसकी 'मस्ती' अखरती है, उसका स्पष्ट-वाद और सहज ग्रहण चुभता है, परन्तु बच्चन का 'मानव' तब भी अपने रास्ते पर अडिग है; इस घोषणा के साथ :

"कल सुधारूँगा हुई संसार में जो भूल
कल उठाऊँगा भुजा अन्याय के प्रतिकूल
आज तो कह दो कि मेरा बन्द शयनागार
सुमुखि, ये अभिसार के पल चल करें अभिसार!"

'बच्चन' : मिलन-यामिनी।

दूसरी ओर शम्भुनाथ जी का 'मानव' अधिक स्वस्थ, प्रकृतिस्थ एवं कलात्मक रूप में प्रस्तुत है। बात यह है कि उनके सामने वैसी प्रतिरोधी अवस्थिति नहीं है, या यदि है भी तो वे उतने तीखे रूप में प्रतिक्रियमाण नहीं हैं? इसी से वे समाज पर व्यंग्य नहीं करते, वरन् अपने गीतों में प्रीति-प्रणय-भाव को सुव्यवस्थित एवं परस्पर सुनियोजित करने की दिशा में अधिक सचेष्ट दिखलाई पड़ते हैं। 'बच्चन' का 'प्रणयी' भी शम्भुनाथ के 'प्रणयी' से मेल नहीं रखता। शम्भुनाथ जी का प्रेमी 'प्राप्त' को ही अधिक प्राप्य और सुन्दरतर बनाने को समुत्सुक है। कदाचित् इसीलिए वह, प्यास को मधुरतर बनाता और भूख को परिशोधित करता दिखाई पड़ता है।

गीतों में अटूट आस्था रखते हुये भी गीत उनके लिये 'नियति' नहीं बन गये। डॉ० शम्भुनाथ की अपने व्यक्तिगत पर्यावरण तथा देश-कालगत परिस्थितियों के प्रति अतिशय जागरूकता उनकी सर्जनात्मकता को नित्य नये और जीवन्तबोध से जोड़ती रही है। समय-समय पर उन्होंने चतुर्दशपदियों और मुक्त-वृत्तों में अगीतात्मक अनुभूतियों को बाँधने की सफल चेष्टा की और उनकी उपयोगिता को पूर्णरूप से स्वीकारा। वे ध्वनियों और लयों के निरन्तर अन्वेषी और उत्तम उपयोक्ता रहे। कला-प्रदर्शन में भी अपनी अद्भुत 'स्वर-साधना' से उन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित की। छोटी-मोटी गोष्ठियों से लेकर भीम (चाहें तो 'विराट्' भी कह सकते हैं) कवि-सम्मेलनों तक और पत्रों से लेकर पत्रिकाओं तक वे बराबर सम्मानित होते रहे हैं। मंच के कवियों में शम्भुनाथीय 'टेर' का जो महत्व है, उसे सुधी लोग अच्छी तरह जानते होंगे। 'बरगद की छाँह' और 'चैता के गीत'; 'बैरी के काँटे' और 'केले के पात' (टेर : माध्यम में) के प्रति क्या अब शम्भुनाथ जी का 'अनाहत यायावर मन' (अवान्तरता) भीतर से भी उतना ही विरक्त है, जितना बाहर से प्रतीत होता है—क्या पता इसका।

शम्भुनाथ जी के 'गीतों के दिन' बीत गये। उनकी रचनाओं में घटित राह परिवर्तन 'आकस्मिक' नहीं है। किसी हद तक यह अन्तर कवि का अपने 'कर्म' के प्रति दायित्ववान होना सूचित करता है। छायावादी आध्यात्मिक आत्मवाद 'बच्चन' आदि की पार्थिवचेतना से उपजे वैशक्तिक विद्रोह से सिर्फ हिल भर सका, असल में उसके मूल पर गहरा आघात किया उन कवियों ने, जो आगे चलकर 'प्रगति' के नाम पर शुद्ध मार्क्सवादी बन गये और राजनीतिक नारों में गहरी आस्था रखते हुये मार्क्स-लेनिन के सूत्र-वाक्यों के व्याख्याता हो गये। प्रगतिवाद की 'मानव' के प्रति स्थूल वस्तु-दृष्टि और समूह-भावना अधिक दिनों तक अपना आवरण सुरक्षित न रख सकी, अथवा—गिरजाकुमार माथुर के शब्दों में—

"हुआ यों कि यह धारा जब उत्कर्ष की ओर बढ़ी कि उसका "मानव" भी "समूह" के निर्गुण, निराकार सागर में डूब गया। कल्पना युक्त अनन्त रेशमी पर्दों का पिछला अवगुंठन जैसे ही हटने लगा कि एक नया पर्दा पड़ गया और वह "मानव" विशेषीकृत होते-होते रूपगुणहीन समूह-व्यक्तित्व में लुप्त हो गया।"—गिरजा कुमार माथुर—'नयी कविता'।

उदार-मानववादी धारा की अप्रतिहत यात्रा का प्रारम्भिक बिन्दु इसी संक्रान्त ऐतिहासिक परिपार्श्व पर अंकित है। सन् '४२ के आसपास 'अज्ञेय' के सम्पादन में 'तारसप्तक' का प्रकाशन निश्चय ही एक युगान्त की सूचना के साथ-साथ एक नये युग (प्रयोगयुग) की प्रतिष्ठा भी करता है, जिसका दौर तीसरे सप्तक (१९५९ में प्रकाशित) के कवियों तक आकर पूर्ण होता है। यह लम्बा अभियान 'कहानी' बनकर नहीं रह गया, प्रत्युत नव-अन्वेषण में प्राप्त बौद्धिक मूल्य-दृष्टि और व्यक्ति-मानव के उपेक्षित अस्तित्व की विशेष प्रयोजनीयता का तथ्य भी स्थापित हो गया। इसका साक्षी है अज्ञेय का वह विश्वासी स्वर, जो 'तीसरे सप्तक' की भूमिका में प्रोद्भासित हुआ है ; 'तारसप्तक' एक नयी प्रवृत्ति का पैरवीकार माँगता था, इससे अधिक विशेष कुछ नहीं। 'तीसरा सप्तक' तक पहुँचते न पहुँचते प्रवृत्ति की पैरवी अनावश्यक हो गई है, और कवियों की पैरवी का तो सवाल ही क्या है ?"—'अज्ञेय': तीसरा सप्तक: भूमिका।

इस विवेचन से संक्षेप में इतना तो प्रकट ही हो जाता है कि गीतों का संकुचित दायरा सजग दृष्टि के लेखक को असुविधाजनक, अतएव त्याज्य लगने लगा। युगीन परिस्थितियों से पल्लवित मशीनी संस्कृति की दुर्निवार शर्तों में यापित होने वाले 'नये मानव' की संवेदनाएँ, आहत आकांक्षाएँ, वर्जनाओं से आक्रान्त पर्यस्त व्यक्तित्व की रक्त-गाथाएँ—इन सबके साथ डॉ० शम्भुनाथ के लेखक (पुराने गीतकार) का मन एक नई चीज अनुभव करने के लिये, एक नये आह्वान की ओर गतिशील होने के लिये विवश है। 'पूर्व-मन' 'उत्तर-मन' के लिए स्थान छोड़ने को बाध्य है :

"बीत गये मन, वे दिन बीत गये !
रंगों के क्षण अनगिन बीत गये !
फूलों की हथकड़ियाँ टूट गईं
कोसों पीछे वन की राहों पर—
चन्दन की गन्ध कहीं छूट गई !
वह बूझी-अनबूझी बात गई,
वे गाये-अनगाये गीत गये !"

यहाँ यद्यपि 'चन्दन की गन्ध' के प्रति 'मोह' ज्यों-का-त्यों है, कदाचित् इसलिए कि इन पंक्तियों का लेखक अभी 'मुरदों के नगर' की सड़ाँध से होकर गुजरा नहीं है। परन्तु अधिक देर नहीं—कवि ने देख लिया कि 'रूढ़ियाँ' हार गईं और अब उसे आगे बढ़ने के लिये अपरिचित रास्तों पर चलना होगा—शायद मार्ग-निर्माण भी स्वयं करना होगा—

"पथ के पहचाने पद हार गये,
पद के अनजाने पथ जीत गये !
बीत गये मन वे दिन बीत गये !

'अनजाने पथ' की जीत होनी ही थी और डॉ० शंभुनाथ को अँधेरे में टटोल-टटोल कर पाँव बढ़ाना ही था। इस मोड़ तक आकर 'उर्वशी' से मुलाकात होने के बजाय, एक ऐसा दृश्य दिखाई पड़ने वाला था जिसमें 'अभिराम इन्द्रजाल' का सुख 'चमगादड़ों की फड़फड़ाहट' से भंग हो जाता है :

"...मैं किन्हीं अज्ञात सीढ़ियों के रास्ते बीच वाली
वृत्ताकार गुफा में पहुँच जाता हूँ।
यहाँ भयंकर अन्धकार में जुगनुओं के जलते-
बुझते प्रकाश, चमगादड़ों की फड़फड़ाहट
और अजगरों की सरसराहट के बीच एक
विचित्र मायालोक मेरी आँखों के
सामने प्रकट हो जाता है !"

—शंभुनाथ सिंह : 'खण्डित सेतु'।

'तिलिस्म' गढ़ने का यह 'मुक्तिबोधीय पैटर्न' शंभुनाथ जी को देर से प्रभावित कर सका, यह सही है, परन्तु इसमें टँगा हुआ एक 'वक्तव्य' उन्हें एक नये बोध से संयुक्त करता है : "मैं नंगा नहीं, पारदर्शी हूँ; अश्लील नहीं, सत्य हूँ !"—('मातृभाषा' : खण्डित सेतु।) इसी तरह लक्ष्मीकान्त वर्मा ने भी एक 'वक्तव्य' पेश किया है, परन्तु दोनों वक्तव्यों में फर्क यह है कि जहाँ शंभुनाथ जी अपने अश्लील न होने की सफाई देना चाहते हैं, वहाँ लक्ष्मीकान्त सिर्फ आत्म-परिचय देकर रह जाते हैं—

"मैं भूत नहीं, प्रेत नहीं, उच्छिष्ट नहीं
एक रचना-क्रम की कड़ी हूं

अन्तिम कड़ी
जो समूचे जंजीर के बढ़ते ठहराव से
चुप चाप रिस गई
छूट गई, टूट गई।''—(रचना क्रम में छूट गई एक कड़ी का आह्वान)
लक्ष्मीकान्त वर्मा—'पत्तों की आवाज' से।

शंभुनाथजी का आधुनिक व्यक्ति 'ऐकान्तिक' न होकर, 'सामान्य' के बीच पर्यटन करता दीखता है, यहाँ तक कि 'जहाँ कोई रास्ता नहीं जाता वहाँ भी एक घर है' और 'वह घर आदमी है जो सबका अपना घर है।'—'घर और रास्ते।' इस तरह की उक्तियों में वे सभी प्रमाण अन्तर्निहित हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि कवि ने जो क्षण जिया है, व्यापक स्तर पर जिया है। जहाँ तक वह दूसरों में प्रविष्ट होता है, वहाँ तक दूसरों को अपने में प्रवेश की अनुमति भी देता है। रह जाता है 'मजबूरियों का दर्द' परन्तु इससे बचाव तो संभव ही नहीं। यह 'दर्द' जब श्री विजयदेवनारायण साही को नहीं छोड़ सका तो भला औरों को ग्रसने में कब चूकेगा—

''और कब तक धमनियों के अन्ध में धारे रहूँ
यह दर्द की देवापगा ?
और कब तक मुक्ति-प्यासी अस्थियों की चीख
भी सुनता रहूँ ?

—दर्द की देवापगा : विजयदेवनारायण साही।

'धर्मयुग' में सवक्तव्य प्रकाशित अपनी तीन कविताओं के सिलसिले में डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने 'सर्जना' का व्यक्तिगत दृष्टिकोण उद्घाटित करते हुए लिखा है--

''काव्य-रचना मेरे निकट एक निजी जैवी धर्म है।'' परन्तु आज की पीढ़ी के अन्य लेखकों की तरह 'गहन-अनुभूति और कमजोर-भाषा' की शिकायत डॉ० शंभुनाथ जी को भी है--''जब भी मैंने कुछ कहने का प्रयास किया है, हरबार उसमें से बहुत कुछ अनकहा ही रह गया है। जो अनकहा रह गया, शायद उसके लिए अभी तक शब्दों का निर्माण नहीं हो सका है। इस तरह आत्माभिव्यक्ति के तीव्र संवेग और भाषा के अधूरेपन के संघर्ष को झेलने का दर्द बार-बार भोगना पड़ता है। वह बाहरी दबाव और कसाव, जो मुझे मेरे

भीतर ढकेलता है, मुझको कुछ ढूँढ़ निकालने के लिए प्रताड़ित करता है। भीतर के घने अन्धकार में मेरा अर्जित सब कुछ बन्द है, जिसके ऊपर एक भयंकर सन्नाटा मँडराता है। उस बाहरी दबाव और कसाव के साथ भीतर के सन्नाटे का जो संघर्षण होता है, उसकी आवाजें ही सुन पाता हूँ। क्या इन आवाजों में वह 'कुछ' है, जिसे खोजना और पाना मेरी या किसी भी कवि की नियति है ?''––आशय यह कि कवि जितना कुछ कहना चाहता है, कह नहीं पाता ! जहाँ एक ओर वह घुटन की स्थिति में है, वहीं इस सारी खोज—प्रक्रिया में डूबने-उतराने के कठिन श्रम का 'महत्व' भी जानने को वह आकुल है।

कवि एक ऐसे घेरे में अपने को पाता है, जो विस्तृत है—'शहर' की तरह, परन्तु उस शहर में किसी ''भयंकर विस्फोट ने सब की सूरतें बदल दी हैं''—या कवि वह 'मुर्दा शहर' है :

''कल शहर की नींद खुलेगी
और भीड़ों की नसों का
मुर्दा शहर जी उठेगा।''

—कल की प्रतीक्षा, 'धर्मयुग' में प्रकाशित।

जिस 'कल' की 'प्रतीक्षा' थी, वह 'खण्डित-सेतु' में 'आज' बनकर उपस्थित हो गया है —जिसके साथ नत्थी है कवि का 'आभार' !

''कल का मुर्दा शहर जी उठा है
और सड़कों पर बहती भीड़
मोरचे की ओर दौड़ती
रेजिमेण्ट बन गई है।''

'हम सब आभारी हैं' : खण्डित-सेतु।

इन तनावपूर्ण मन:स्थितियों में कितने पुराने घाव हैं, कितने नये—पर यहाँ तो सबकी एकरूपता ही देखनें को मिलती है। डॉ० शंभुनाथ सिंह का सफर लम्बा रहा है—वे काफी दूर से चलकर यहाँ तक (नयी कविता तक) आये हैं। वहाँ तक जाना है उन्हें—अपना 'गन्तव्य' वे स्वयं नहीं जानते और न उसकी कोई आवश्यकता ही समझते हैं। परन्तु एक तथ्य यह ध्यातव्य है कि वे अपनी विपुल अनुभव-राशि का लघुतम अंश ही हमारे सामने प्रस्तुत कर सके हैं। इतना आश्वासन अवश्य है कि कभी वे अपना सब कुछ हमें बता देंगे—

अपना ही क्यों, हमारा भी--क्योंकि हम उनके साथ 'साधारणीकरण' के नियमों में बँधने को प्रस्तुत हैं। आशा है, वे अपनी 'प्रतिश्रुति' का अवश्य निर्वाह करेंगे--

"अगर कह सका तो
कहूँगा,
जीवन के अन्तिम क्षणों तक
कहूँगा मैं वे असंख्य बातें
जिन्हें मैं और केवल मैं जानता हूँ
और कह सकता जिन्हें
मैं ही,
केवल मैं ही।"

—'प्रतिश्रुति' : खण्डित सेतु की अन्तिम कविता।

शंभुनाथ सिंह का काव्यगत पर्यवेक्षण

•

जितेन्द्रनाथ पाठक

[१]

व्यक्तित्व और दृष्टिकोण प्रायः अभिन्न हैं। दृष्टिकोण के विकास के साथ साथ कवि के व्यक्तित्व के भी नये आयाम उभरते हैं। परंपरायें, व्यक्तित्व और दृष्टिकोण को दूर तक प्रभावित करती हैं। लेकिन इसके रूप-निर्माण में समकालीनता का योग सबसे अधिक होता है। किसी भी पिछले युग की अपेक्षा आज के किसी भी सचेत और विकासशील कवि के निर्माण में परंपरा की तुलना में समकालीनता का दवाव अधिक है। बीसवीं शताब्दी के पाँचवें दशक और उसके बाद की हिन्दी कविता के विकास में तीव्रता से होने वाले इन परिवर्तनों को लक्षित किया जा सकता है। राजनीतिक गतिविधि, सांस्कृतिक-सामाजिक विचार और चिंतन में तीव्रता से होने वाले संक्रमण इसके पीछे कारणभूत हैं।

किसी कवि के काव्यगत दृष्टिकोण पर विचार करने का तात्पर्य यह है कि उसके समग्र काव्य में प्रतिफलित दृष्टिकोणों का उसके पूरे विकास-क्रम में अध्ययन-विश्लेषण किया जाय। कवि के बाह्य प्रभावों और उसके अन्तर व्यक्तित्व का, जिनका सम्मिलित निष्कर्ष ही उसका काव्य होता है, काव्यगत प्रतिफलन देखना ही समीचीन होता है।

डॉ० शम्भुनाथ का काव्य-विकास एक दृष्टि से विशिष्ट है। यह विकास छठें दशक के उन कृतिकारों जैसा नहीं है जो नवीनतम या स्वोद्भावित आन्दोलन के जनक बनकर रातोंरात पैदा हो गये और जिनके हाथों में पहले ही दिन क्रान्तिध्वज और कन्धों पर नेतृत्व भार आ गया। शम्भुनाथ जी सन् ४०, से लगातार अपनी काव्य साधना के पथपर पूर्वग्रह-शून्य होकर नयी परिस्थितियों और अनुभव की नयी भूमियों के अनुरूप प्राचीन के विगत मूल्यों को छोड़ते और नवीन के ग्राह्य को ग्रहण करते हुए बढ़ते रहे। इसलिये यह मान लेना उनके प्रति न्याय नहीं होगा कि वे ध्वजवाहकों के काफिले में अन्तिम ध्वजवाहक थे।

वास्तविकता यह है कि वे अनुकर्त्ता न होकर अपने समीक्षणशील बौद्धिक सामर्थ्य और पूर्वार्जित साहित्य-संस्कारों से चालित होकर नवीन दिशा-प्रवृत्तियों को तभी स्वीकार करते हैं जब वे उनकी अनुभूति का अङ्ग बन जाती हैं।

शम्भुनाथ सिंह का काव्य-लेखन चौथे दशक के उस अन्तिम चरण में आरम्भ हुआ जब हिन्दी में प्रसाद कामायनी लिख चुके थे और पन्त और निराला यथार्थ की नयी भूमियों की ओर पदार्पण कर रहे थे। महादेवी, रामकुमार वर्मा, बच्चन, अञ्चल, नरेन्द्र शर्मा आदि छायावादोत्तर विशेषताओं वाले कवि कविता की मुख्य भूमि में प्रभावशाली रङ्ग से प्रतिष्ठित हो रहे थे। महादेवी, तथा रामकुमार वर्मा तो अपने काव्य शिल्प और कथन-शैली में नितान्त छायावादी थे। लेकिन बच्चन, अञ्चल, नरेन्द्रशर्मा आदि जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति की ओर आकृष्ट हो रहे थे। बच्चन जहाँ तक मधुपायी निराश जीवन की सीधी अभिव्यञ्जना कर रहे थे वहीं पर अञ्चल उद्दाम प्रणय के व्यापारों की निर्बाध-चटुल अभिव्यक्ति की ओर आकृष्ट थे। नरेन्द्र शर्मा की मध्यवर्त्ती स्थिति थी। सन् ३६ में ही प्रगतिशील आन्दोलन एक संघ के रूप में जन्म ले चुका था। यह अवश्य था कि प्रगतिशील जीवन-मूल्यों से सम्पृक्त होते हुये भी वह उस समय 'साम्यवादी' नहीं हुआ था। देश में कांग्रेस के राजनीतिक आन्दोलनों के साथ-साथ किसान मजदूरों के आन्दोलन भी भड़क उठे थे, और तेजी से देश के विचारक काल्पनिक आदर्शों की ओर से यथार्थ की भूमियों की ओर आ रहे थे।

लगभग इसी समय (१६३६-४०) शम्भुनाथ सिंह कविता के क्षेत्र में आये। महादेवी जी, डा० रामकुमार वर्मा और बच्चन उनके प्रमुख प्रेरणा स्रोत रहे। कवि के काव्य का अन्तर्बाह्य छायावादोत्तर रूप-शिल्प से सम्बद्ध होते हुये भी कई अर्थों में अपने पुराने कवियों विशेषतः महादेवी, रामकुमार वर्मा और बच्चन से बहुत अधिक प्रभावित था। इसीलिये शम्भुनाथ सिंह और अन्य छायावादोत्तर कवियों में विशेष अन्तर दृष्टिगोचर होता है। यदि हम कवि की आरम्भिक कृतियों—रूपरश्मि, छायालोक और उदयाचल—को ध्यान से देखें तो पता चलेगा कि उनमें कवि युवकोचित वैयक्तिक (निजी) सौन्दर्य की प्रतिक्रियाओं तथा रागोद्वेलनों के अङ्कन के साथ-साथ किसी अप्राप्त, अदृश्य प्रिय के आकर्षण का भी अनेक बार आख्यान करता है। वस्तुतः इसे कवि के छूटते प्रभावों का आलेख मानना चाहिये। वस्तुत: उनका आरम्भ छायावादोत्तर कवियों के काव्य-संस्कारों की छाया में ही हुआ। छायावदोत्तर कवियों की प्रमुख विशेषता थी निराशा, नियतिवादिता, निजी जीवन की आत्मीयतामूलक अभिव्यक्ति,

भाषा का ऋजु संगीतात्मक विन्यास, प्रगीतात्मकता आदि। छायावादी कवियों में भी निराशा थी। लेकिन वह उनकी सुख-दुख की समन्वयात्मक चेतना का अंग थी। नियतिवादिता भी थी, लेकिन वह कई बार सांस्कृतिक धरातल पर संघर्ष और निर्माण के स्वरों से भी आबद्ध हो जाती थी, नीजी जीवन की अभिव्यक्तियाँ थीं लेकिन वे परोक्ष असीम सत्ता के रहस्यवादी आवरण में ढकी हुई थीं, उन्हें वैयक्तिक कहना भी सम्भवत: मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के खरे अर्थों में सही था। वे सामान्यतया आध्यात्मिक और रहस्यवादी कही गयीं। शम्भुनाथ सिंह ने छायावादी-रहस्यवादी आन्दोलन के अन्तिम चरण में लिखना आरम्भ किया। अतः कम-से-कम दो कवियों अर्थात् महादेवी और रामकुमार वर्मा से इन्हें कथ्य कम, कथन शैली के अर्थ अधिक मिले। रामकुमार वर्मा के गीतों की गेयता ने जहाँ कवि को प्रभावित किया वहीं महादेवी के गीतों की भावात्मक गंभीरता, प्रतीकात्मकता और प्रेम-निवेदन की भावसान्द्रता ने उन्हे मार्ग दिखाया। बचन ने कवि को वैयक्तिक जीवन की अनुभूतियों का ऋजु कथन दिया। यह अवश्य है कि शंभुनाथ सिंह ने बच्चन की तरह एकदम सीधी-सादी शैली में कहने की अपेक्षा महादेवी और रामकुमार वर्मा की तरह उसे प्रतीकात्मक सुगेय स्वरों में प्रस्तुत किया।

[२]

कवि मूलतः ग्रामवासी रहा। ग्रामीण प्रकृति और ग्रामीण जन-जीवन से इसका सम्बन्ध द्रष्टा मात्र का न होकर भोक्ता का भी था। प्रयाग के अध्ययन—काल में हरिजन आश्रम के निवास ने आपमें सामाजिकता का एक उदार स्वरूप प्रतिष्ठित किया। 'रूप-रश्मि' में ग्राम्य प्रकृति और उसके जन-जीवन दोनों को ही पूर्ण प्रतिष्ठा मिली है। ग्राम-श्री तथा जन जीवन का यह आकर्षण कवि की कविता में शुरू से ही वर्तमान है और तेजी से होने वाले उसके काव्य-विकास के परिवर्तनों से सम्बद्ध है। परिवर्तन के हर चरण मे प्रकृति की सम्मोहक भंगिमायें कवि के उत्तरोत्तर परिस्कृत और गम्भीर होते हुए सौन्दर्य-बोध की साक्षी रहीं। बीसवीं शताब्दी का पाँचवाँ दशक हिन्दी कविता के इतिहास में संक्रमण का काल था। इस दशक में नयी चेतना की अनेक धारायें हिन्दी काव्य में तेजी के साथ सामने आयीं। नयी चेतना की अग्र धाराओं के आरम्भ होने के बाद भी अंग्रेजी साम्राज्यवाद, रूढ़िवादी, सामाजिक मर्यादावाद, दो महायुद्धों के बीच की और दूसरे महायुद्ध काल की व्यापक आर्थिक विशृंखलाओं की तिहरी मार में कवि अपनी अंतर्मुखता नहीं छोड़ सका और वहीं से वह

निजी असंतोष की वैयक्तिक प्रतिक्रियायें स्वरबद्ध करता रहा। उत्साह और संघर्ष की वाणी अभी सिर उठा रही थी। लगभग इसी समय शंभुनाथसिंह का 'रूपरश्मि' नामक संग्रह कैशोर्य और यौवनावस्था के सौंदर्य निर्माण से संबंधित मांसल अभिव्यक्तियों से युक्त गीतों को लिए प्रकट हुआ। ये कविताएँ प्रचलित छायावादोत्तर व्यक्तिवादी गीतधारा से अधिक संबद्ध थीं। लेकिन अपनी संस्कारगत समाजोन्मुखता के कारण वह बहुत दिनों तक समाजवादी आंदोलन से पृथक नहीं रह सका और उसका सीधा संबंध समाजवादी आंदोलन से हो गया। इसी बीच वह काशी में प्रगतिशील लेखक संघ का—जब उसके अध्यक्ष आचार्य नंददुलारे वाजपेयी थे ('४३–'४६) मंत्री हो गया। निश्चय ही प्रगतिशील लेखक संघ उस समय समाजवादी आधार पर गठित उदारवादी साहित्य-स्रष्टाओं का संगठन था लेकिन कालान्तर में चलकर यह संगठन जब विशुद्ध रूप से साम्यवादी शिविर में आ गया तो वह उससे अलग हो गया। यह वह युग था जब कि भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी को देश के अनेक विचारकों ने देशहित के विरुद्ध बताया था। इसी समय कवि आचार्य नरेन्द्रदेव और जयप्रकाशनारायण जैसे नेताओं के सम्पर्क में आया। कवि जिस उदार समाजवादी भूमिका पर तब से प्रतिष्ठित हुआ उसी पर आज भी है। प्रगतिशील लेखक संघ से अलग होने के बाद उसने 'चेतना'—नाम की एक संस्था वाराणसी में गठित की जिसके अंतर्गत ऐसे लोकतांत्रिक समाजवादी विचारधारा की पुष्टि में वह लगा जिसमें व्यक्ति की स्वाधीनता को स्वीकृति प्राप्त थी। बहुत दूर तक सौन्दर्यवादी मूल्यों और काव्य के नवागत मूल्यों का भी इस संगठन से विरोध नहीं था।

[३]

'रूपरश्मि' कवि के किशोर चित्त की अभिव्यक्ति है जिसमें रूपासक्ति ही अनेक स्वरों में प्रस्फुटित होती है। रूपासक्ति मांसल सौंदर्य के प्रति जितनी होती है उससे कम प्रकृति के तदनुरूप सौंदर्य के प्रति भी। जीवन के प्रति देखने की दृष्टि एक भावात्मक, रंगीन, वायवीय परिप्रेक्ष्य से निर्मित होती है। विषयिनिष्ठता यथार्थ की ओर जाने और वस्तुन्मुखी होने से बराबर रोकती है। अनुभूतियों की अपरिपक्वता जीवन को एक विशेष वृत्त में ही यों दिखाती है गोया वहीं इत्यलम हो। लेकिन 'छायालोक' में जाकर कवि स्वीकार करता है 'जीवन के प्रथम प्रभात में जीवन और जगत के सौंदर्य की जो रंगीनी 'रूपरश्मि' में चित्रित हुए, यौवन की चढ़ती वेला में सत्य की प्रखर किरणों ने उसे मिटा दिया।' सत्य की प्रखर किरणों (यथार्थ) और सौंदर्य की रंगीनी (रोमानी मन) का द्वन्द्व

यहीं से शुरू होता है। वह क्रमशः बढ़ता जाकर उसकी विज्ञानपरक नवगीतों और यथार्थवादी दृष्टि वाली कविताओं के रूप में प्रतिफलित होता है। लेकिन यह होने के पूर्व वह द्वन्द्व को एक लम्बी प्रक्रिया से गुजरता है।

'छायालोक' में 'रूपरश्मि' का रोमान नहीं है पर कड़ुई अनुभूतियों की काली छायाएँ मँडराती हुई दिखलायी पड़ती हैं। कवि की आत्मस्वीकृति है 'छायालोक में उन्हीं श्रम और विश्राम के क्षणों की विविध अनुभूतियाँ अभिव्यक्त हुई हैं। ये कविताएँ जीवन के मीठे कड़ुए सत्यों की स्वप्निल छायाएँ हैं।' 'छायालोक' छायावादोत्तर प्रभावों से पूर्णतः प्रभावित है। वह आदर्शवादी प्रेम और चिरन्तन विरह-मिलन का गान करता है :

बँधा मुक्त घन मैं
भरा रिक्त मन मैं
चिरन्तन विरह से
बना चिर मिलन मैं
मधुर बन्धनों पर अमिट छाप बनकर
गगन चंद्रिका आज मुसका रही है

लेकिन वह पथ के छलावों के प्रति शंकित होते हुए भी इस धरती पर चलना चाहता है :

चला जा रहा हूँ
न इस राह का आदि मैं जानता हूँ
न इस राह का अन्त मैं मानता हूँ

प्यार के क्षण उसे अमर वरदान अनायास ही नहीं लगते। इतना निश्चित है कि उसमें चिरन्तन विरह-मिलन की आवाज धीमी और हाड़ मांस के प्रेम की आवाज सबल पड़ती गयी और उसका कटुताओं का भोगी मन खुली धरती के नंगे काँटों वाले मार्ग पर आ गया। मधुगान उसे भूला नहीं है लेकिन जागरणगान अब उस पर विजयी हो चुका है :

मेरे जागरण के गान
ये न स्वप्न-प्रदेश वाले
ये न रेशम वेश वाले
ये उषा के दान, निशि की—
भूल की पहचान

वह लोकोन्मुख होकर केवल अपनी नहीं, सबकी बात कहता है–'रह न जाय गतिलय से रहित चरण कोई'। 'उदयाचल' कवि की इसी प्रगतिकामी निर्बाध लोकोन्मुख चेतना की अभिव्यक्ति है। लोकोन्मुखता की यह अभिव्यक्ति उसकी चेतना के महत्त्वपूर्ण मोड़ का सूचक है :

मैं देख रहा जग का जीवन
मैं ढूँढ रहा जग सुख साधन

× × ×

मेरे उर को निर्भय जानो
पिछले जीवन को भ्रम मानो

यहाँ तक आकर क्रान्ति और समाजवाद उसकी कविता के बीज मंत्र बन जाते हैं। इतिहास की निर्भय प्रक्रिया उसकी संवेदन-प्रक्रिया का अंग बन जाती है। धर्म और ईश्वर की छलनाओं के प्रति वह सचेत हो जाता है। जनगण शोषण अब उसके लिए असह्य हो जाता है। वह स्पष्ट घोषित करता है :–

यह परिवर्तन क्षण की हलचल
करने को वर्ग श्रेणि समतल
होने को है विस्फोट प्रबल

× × ×

आसन्न क्रान्ति की लपटों में
मिटने को रूढ़ि विकार सकल

लेकिन 'उदयाचल' की ओर उन्मुख कवि 'आशा, उत्साह, कर्म विद्रोह, संघर्ष और क्रान्ति की भूमियों पर पाँव जमाता हुआ भी किसी शिविर के प्रति प्रतिबद्ध नहीं दिखलाई पड़ता। वह स्पष्ट ही कहता है 'उदयाचल से फैलते हुए प्रकाश की किरणों में कल्पना के उभरे हुए इन्द्रधनुसी रंग शायद कम हों किन्तु साथ ही काव्य के मूलगत सौन्दर्य को किसी वाद-विशेष के चौखटे में कसकर अप-रूप कर देने अथवा व्याख्यानदाता और उपदेशक बनकर किसी राजनीतिक मंच से उछलकूद करने की स्थूल कला भी इन कविताओं में नहीं मिलेगी। मुझे कुछ यों भी समझ में आता है कि कवि द्रष्टा ही होता है, नेता नहीं और यही समय है जब उसका व्यक्तित्व स्वातंत्र्योत्तर आशा और उल्लास के वातावरण में एक ओर दिवालोक में अपने व्यक्तित्व की पूर्ण स्थापना में संलग्न दिखलाई पड़ता है, दूसरी ओर उसका समाज चिन्तन शोषित, पीड़ित मानवता का व्याख्यान

बनकर 'मन्वन्तर' में प्रकट होता है। एक ओर 'दिवालोक में यदि कवि की अंतः संज्ञा मन चाही रीति से चलना चाहती हुई अपने को संस्थापित करती है तो दूसरी ओर उसका बहिर्मुख मन जीवन और समाज की विसंगतियों को प्रगतिशील भाषा और छंद-शैली में मन्वंत्तर में व्यक्त करता है। यही वह बिन्दु है जहाँ वह अपनी सार्थक विकसनशीलता की शक्ति प्रदर्शित करता है। 'दिवालोक उसके प्रेम को भाषा देता है जो उसके व्यक्तित्व का सबसे सार्थक अंश है। इसे छायावादी तत्व मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। कवि का यह प्रेम नारी के साथ है, प्रकृति के साथ है और पथ के साथ है। नारी और पथ दोनों ही एक रूप हो जाते हैं :—

जब-जब मुझे ध्यान आया तुम्हारा
मुझको नई मंजिलों ने पुकारा
+ + +
जब हार कर बन गया आत्महारा
तुमने मुझे चेतना-तीर मारा

उसके 'बढ़ रहे चरण' 'निज अनगढ़ साँचे में, 'युग छवि' को गढ़ने के लिए प्रतिश्रुत हैं। स्वतंत्रता के पहले प्रभात की रचना 'दिवालोक' है। नई आशा, नए उल्लास, आदर्शों में अजस्र निष्ठा ही दिवालोक की किरणें बनीं। 'तमसो माँ ज्योतिर्गमय' घनान्धकार के पराजय का उद्घोष है। उसकी सुस्पष्ट घोषणा है—'पथ ही अखिल सत्य का द्वार। युगों से मौन जन देवता को स्वतन्त्रता के इस प्रभात पर वह जागने के लिए आवाहन करता है। 'मुक्ति मिली पर न कटी शृंखला' की स्थिति के प्रति वह ललकार भरी वाणी में कहता है :—

क्रान्ति शान्ति समता आनन्द हेतु क्या कहो
प्रलयंकर रुद्र न होंगे ओ जन देवता

'दिवालोक' शंभुनाथ सिंह की गीतपंरपरा का कलात्मक मूल्योस्थापक, साप अनुभूति विपुल, सहजोद्दसित, सार्थक रचना संकलन है। मन्वन्तर कलात्मक आवरणों को उतार फेंकता है और अपना लक्ष्य घोषित करता है 'युग और समय को वदलकर नए जीवन मूल्यों की स्थापना करना ही इन कविताओं का उद्देश्य है, जिसका नाम है मन्वत्तर जो कागज पर होकर भी इस्पात की है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'मन्वत्तर' में कवि का एक दम परिवर्तित रूप दिखलाई पड़ता है। लेकिन इस परिवर्तित रूप के भीतर भी उसका वह पूर्वपरिचित रूप अभंद है जो सामाजिक पीड़ा का अन्यतम द्रष्टा है। लेकिन यह द्रष्टा जितना दैनिक जीवन की

विसंगतियों के बारे में इस कृति में प्रत्यक्ष मुखर हो सका है उतना और कृतियों में नहीं। कुछ लोग इसे अत्यंत वस्तुमुखी अभिव्यक्ति भी कह सकते हैं लेकिन मैं एक नए सवाल को इसमें उभरता हुआ देखता हूँ कि क्या कविता की कोई निर्विवाद परिभाषा दी जा सकती है। अनेक परिभाषाओं के होते हुए भी हिन्दी रससिद्ध कवि शम्भुनाथ सिंह के परवर्ती विकास को देखते यही कहना उचित होगा कि कविता अपरिभाषित ही रहेगी शायद एक युग आएगा जब उसकी व्याख्या से शब्द भी झड़ेगा और रमणीय अर्थ भी। बचेगी केवल अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति छायावाद से नव्यतम काव्यान्दोलन तक यही तत्व तमाम परिधानों को छोड़ने के बाद भी नहीं छोड़ा जा सका। वह इस कृति में अपने भाव अर्थात भारत के लाख-लाख गाँवों के 'जड़ भरत' से तो सम्बद्ध है ही मार्क्सवाद के दर्शन को भी अनेक अंशों में स्वीकार करते हुए भी स्टालिन पर व्यंग्य करना नहीं भूलता। कुल मिलाकर इसमें कवि का काव्यगत दृष्टिकोण परिवर्तित दिखलाई पड़ता है।

यही वह समय है जब वह प्रयोगवादी और प्रगतिवादी प्रवृत्तियों के संश्लेष पर आश्रित नई कविता के आन्दोलन की भूमिका को परीक्षित करता हुआ प्रवृत्तियों की दृष्टि से नवाभिमुख होता है। उसकी नवाभिमुखता अनुसरण नहीं है इसीलिए मैं शंभुनाथ सिंह को कालानुशरणशील कवि नहीं मानता। अपनी बदलती परिवृत्ति और विकसनशील प्रत्रबोध का रचनात्मक स्तरों पर एहसास अनुसरण से कुछ अधिक प्रामाणिक है। हिन्दी के अनेक शिविरों में अकवियों का क्रान्तिकारी कवि कहा गया और इन्हीं गुटोद्भूत पद्त्रीपरस्त लोगों ने कई बार शंम्भुनाथ सिंह को नई कविता के नुस्खे जानकर काव्य लिखने वाला कहा। मैं फिर दुहराऊँगा कि बदलती परिवृत्ति के दबाव को संवेदना के स्तर पर महसूस करके कुछ लिखना न तो फैशन को अङ्गीकार करना है न ही पिछलग्गू होना। फिर शंभुनाथ सिंह के पास कुछ ऐसा भी था जो औरों से भिन्न था। भावतरल प्रज्ञा और लोक परिवेश की अनेकमुखी काव्यसंपदा। लोकगीतों ने जहाँ उनके नए कविरूप को नए सरल छन्द दिए वहाँ एक नव स्वच्छदतावादी (नियोरोमैंटिसिज्म) कथ्य भी। भावतरलता ने जहाँ युगबोध को एक काव्योचित आधार दिया वहीं प्रज्ञा ने नए मनुष्य के जटिलतर पक्षों का एक अतलस्पर्षी अंकन। 'माध्यम मैं' कवि के एक ऐसे ही व्यक्तित्व का स्वीकार है जिसमें उसके युग का समूचा संत्रास पूरी सचाई के साथ आस्था और आशा के दामन से बँधा रहता है। उसकी जड़ता, अवसाद और

वितृष्णा की छायाएं उसके अंतर्हित विवेक, उसके सूरज का साथ नहीं छोड़तीं। उसने तमाम आधुनिकता के तल में पैठकर 'मैं और मैं' जैसी कविताएं भी इस संग्रह में लिखी। वह अपना दर्द यों व्यक्त करता है:

एक अजन्में जीवन के सुख की आशा में।
लड़ने का यह दुख मैं गाऊँगा गाऊँगा ।।

और यह कहने के प्रभूत कारण 'माध्यम मैं' प्रस्तुत करता है कि आधुनिकता के अर्थों को ग्रहण करने के लिए आवश्यक नहीं है कि परंपरा के ग्राह्य को भी छोड़ दिया जाय।

कवि की अबतक की प्रमाणित रचनाओं में अंतिम 'खंडित सेतु' कवि के पैने होते आधुनिकता-बोध का सबूत बनकर प्रकट हुआ है। जैसा कि कहा जा चुका है 'माध्मम मैं' में नयी कविता का वह रूप प्रकट हुआ था जिसमें कवि की मौलिक प्रतिभा नए परिवर्तनों से प्रस्पन्दित जीवन के बहुविध पक्षों के भीतर पैठती रही है। 'खंडित सेतु' उनके पुराने काव्य-संस्कारों को परोक्ष श्रद्धाञ्जलि देता हुआ नए विज्ञानाभिमुख आधारों पर युग की तमाम जटिलताओं में अकेले और अजनबी बनते व्यक्ति को भाषा दी है। सेतु पुराने थे और वे टूट गए थे। कवि की आस्था नए सेसुओं का निर्माण करेगी। लाख-लाख, किस्म-किस्म के खण्डों को जोड़ने वाले सेतु, दिशा और काल के खण्डों के सेतु, मनुष्य और मनुष्य, राष्ट्र और राष्ट्र, जीवन और शरीर, युग और आदमी, नया और पुराना, तुम और मैं, दृश्य और अदृश्य, आगत और अनागत, उपलब्ध और अनुपलब्ध, यहाँ और वहाँ, वर्तमान और भविष्य सबके बीच के सेतु कब कहाँ टूट जायेंगे, कितने टूटे हुए हैं, कितने टूट रहे हैं कौन जानता है और तमाम आधुनिकतावादी काव्य प्रयत्न यदि इन खण्डित सेतुओं की कथा को नहीं कहता, नहीं उसको जोड़ने में अपने को आहुत कर देता तो भला इन्हें क्या कहा जाए। अस्तित्ववादी दर्शन, कीर्केगार्द, काफ्का, काभू, सार्त्र, कालिन विल्सन ने भी तो पहचाना था इन टूटे सेतुओं के बीच चुकते और अजनवी पड़ते होते आदमी को। आधुनिकता यदि कोई सार्थक संज्ञा है तो जर्मनी, आस्ट्रिया, फ्रान्स, इंग्लैण्ड, अमेरिका; भारत अलग कैसे हैं। आधुनिकता को शत शतरूपों में प्रस्फुटित करती हुई स्वर की गति से भी तेज दौड़ती हुई सभ्यता भला आदमी को कितना पीछे नहीं छोड़ देगी। क्या ताज्जुब यदि ऐसे में अनास्था, संशय, संत्रास की अनुभूति पूरे समाज का लक्षण बन जाय। शम्भुनाथ सिंह ने इस दर्द को किसी से कम नहीं महसूस किया है। वह भी औपचारिकताओं, विवशताओं में कहीं छूट गया

है वहाँ भी नहीं हैं, कहीं नहीं है। तेज रफ्तार वाली जमाने की गाड़ी की जंजीर कोई मला खींच देता वह पावदान पर टँगा है जाने कब भूपतित हो जाय। समय एक नीला समुद्र बनकर लहरा रहा है। उद्देश्यहीनता उसके अजनबी की पहचान बन गई है। तमाम सम्पृक्त ही अवान्तर हो गया है। 'बर्बर स्थितियों के बीच' वह मानव-नियति की संकट ग्रस्तता का भोक्ता है। आदिम संवेदनाएँ तमाम काल-क्रम को भूलकर आज भी उसे संक्रान्त करती हैं और वह मैं और तुम की संज्ञाओं में उन्हें मार्मिक और सहज संवेद्य भाषा और बिम्ब देता है। प्रकृति यहाँ भी उसके साथ है और जीवन अपने जटिल परिवेश में भी अपने अजनबीपन के परिप्रेक्ष्य से उसे देखता है और कभी उसी में से होकर उसे देखता है और उसकी अन्तिम प्रतिश्रुति है :—

अगर कह सका तो
कहूंगा मैं
वे सारी अनकही गाथाएँ
वे अपौरुषेय मंत्र
वे असंख्य बातें
जिन्हें मैं
और केवल मैं जानता हूं
यद्यपि यह सत्य है कि
ऐसी भी असंख्य बातें
जिन्हें मैं
और केवल मैं जानता हूं।
यद्यपि यह सत्य है कि
ऐसी भी असंख्य बातें
अपौरुषेय मंत्र और अनकही कथाएँ
जिन्हें मैं तो नहीं, दूसरे ही जानते हैं
कहें उन्हें वे ही
जो कि जानते हैं

शंभुनाथ सिंह के गीत-काव्य का विकास

•

श्रीपालसिंह क्षेम

कवित्व एक विशिष्ट सम्वेद्य स्वभाव का फल है। जीवन तो सभी जीते हैं और बहुत से लोग एक समान परिस्थिति में, यत्किंचित भेद और अन्तर-अवान्तर के साथ, जीवन-यापन करते हैं; पर सबकी प्रतिक्रियाओं और उसी परिस्थिति में उत्पन्न संवेदनाओं में बहुत कुछ अन्तर होता है। जीवन वाह्य भौतिक परिस्थितियों और उनसे उत्पन्न प्रतिक्षण संवेदनाओं के बीच की एक ऐसी चेतन धारा है जो मध्यवर्तिनी होकर बनती है और बनाती एवं सँवारती चलती है। ये अनुपल उठती-जगती संवेदनाएँ और उनके सामूहिक एवं विशिष्ट प्रतिक्रिया-संक्रिया से निर्मित भाव-समष्टि कवि को एक विशिष्ट और अ-सामान्य व्यक्तित्व प्रदान करती हैं। गीत काव्य की एक विशिष्ट विधा है, जिसमें अन्य काव्य-रूपों (विधाओं) की अपेक्षा इन संवेदनाओं और भाव-प्रवेगों की अन्यतम प्रधानता होती है। जैसे मानव की कोई भी अन्तर्वाह्य क्रिया बुद्धि-विरहित होकर स्वस्थ और उचित नहीं कही जायगी, वैसे ही कविता की कोई विधा भी बुद्धि-विद्रोहिणी अथवा बुद्धि-विकास से सर्वथा निरपेक्ष नहीं हो सकती। अथवा-विकास से सर्वथा निरपेक्ष नहीं हो सकती। कविता में संवेदनों की अभिव्यक्ति और भाव की अभिव्यंजना ही अभिव्यंजक का मुख्य ध्येय होती है। विचार कविता के अन्तराल में होते हैं और संवेदनाओं तथा भावों की अभिव्यंजना के पश्चात् परिणाम-स्वरूप कुछ विचार अथवा नूतन विचार उद्भूत होते हैं, पर वह मूल रूप में भाव-संवेदनों के माध्यम से ही जीवन की अभिव्यक्ति मानी जाती रही है। गीत में भावों और संवेदनों की यह आन्तरिकता और सम्प्रभुता और अधिक आवश्यक मानी जाती है। वह प्राणों में अन्तरतम का स्वर और भाव-संवेदनों की मधुरतम एवं सूक्ष्मतम वाणी होती है। कवि-प्रतिभा में जब भाव-संवेदनों की यह विवशता जागरूक होती है तो गीतकार का जागरण होता है। गीत में परोपदिष्ट और पर-भुक्त की अपेक्षा स्वयंभुक्त और स्वयं-आस्वाद्य की ही प्रमुखता होती है, इसी से वह अन्य काव्य-विधाओं की

अपेक्षा अधिक मौलिक और निजता-सम्पन्न बन जाता है। वह आत्मा का द्रवण, हृदय की तरलता तथा मन की वेदना का चिर-संगीत होता है। गीतकार बाह्य प्रतिक्रियाओं की अपेक्षा अपनी अन्तरानुभूतियों का चिर-प्रहरी और उनकी अभिव्यक्ति का चिर-समर्थक होता है। गीतकार का 'पर' भी 'स्व' में घुल कर विलीन हो जाता है और प्रबन्धकार का 'स्व' 'पर' में परिणित होकर अभिव्यक्त होता है। डाक्टर श्री शम्भुनाथ सिंह मूलतः और स्वभावतः एक गीत-स्वभावी कवि हैं और लेखक का यह दृढ़ अभिमत है कि उनके साहित्यकार की महत्तम उपलब्धि उनकी गीतकारिता ही है।

'समय की शिला पर' नामक अपने स्व-संकलित गीत-संचयन के प्राक्कथन में उनकी अग्र-लिखित पंक्तियाँ लेखक की उपर्युक्त स्थापना का ही प्रमाण और स्वयं कवि-कोण से प्रकट स्वीकारोक्ति है— 'काव्य रचना मेरे निकट एक निजी गँवी धर्म है। मैं नहीं जानता कि मैं क्यों लिखता हूँ पर यह सत्य है कि मैं लिखे बिना उसी तरह नहीं रह सकता, जैसे खाये या साँस लिये बिना नहीं रह सकता। यह अनिवार्यता एक आन्तरिक विवशता है जो मेरे साथ किशोरावस्था में ही लग गयी थी। यह विवशता की स्थिति कभी बहुत ही आह्लादपूर्ण प्रतीत होती है और कभी अत्यन्त त्रासद। पर लिख लेने के बाद हर बार एक आनन्द-मय मुक्ति का अनुभव होता है।' आत्मोपलब्धि, आत्मान्वेषण और मनकी अंधेरी गुफाओं में अन्तर्धान होने की प्रिय अनुभूति-प्रवृत्ति भीतर के वातायन के रन्ध्रों से अलम लाने वाली सूक्ष्म प्रकाश-रश्मियों की पकड़ का प्रयास, और अभिव्यक्ति के पश्चात् भी अधूरी अभिव्यक्ति अथवा अपूर्ण अभिव्यंजना के अनुभव से उत्पन्न असंतोष—सभी कुछ उनके मूल गीतकार-स्वभाव के द्योतक और प्रमाणक हैं। बाहरी दबाव और कसाव के भीतर झेले जाने वाले दर्दों के प्रति चिर सजगता, परिवेश की आन्तरिक प्रतिक्रियाओं और परिणतियों में जीने की जटिल प्रक्रिया का दूसरा नाम है, गीत-प्रजनन की पीड़ा और गीतकार की अनिवार्य विवशता की उपसंज्ञा है।

डॉ० शम्भुनाथ सिंह का काव्य-क्षेत्र में आविर्भाव छायावादी परिवेश की ही पीठिका है। स्वयं, श्री शम्भुनाथ सिंह और हिन्दी के अनेक आलोचक इस काल को हिन्दी-कविता का 'छायावादोत्तर-काल' मानते हैं। जब से हिन्दी-कविता में नित्य नवीन धाराओं की स्वतन्त्र स्थापना और नव-युग-निर्माण की घोषणाओं को अधिक महत्त्व मिलने लगा है, नवीन शोध-कर्ता-जन भी इसे इसी जैसे नामों से अभिज्ञात कराते हैं, पर अपनी स्थापना अथवा व्यक्तिगत मान्यता के अनुसार

मैं इसे छायावादी काव्य-चेतना की व्यापक भावभूमि का 'तृतीय उत्थान' अथवा 'तीसरा चरण' मानता हूँ। इसका आधारभूत कारण यह सत्य है कि 'मध्य-युग' और 'द्विवेदी'-युगीन 'पुनरुत्थान-मूलक रचनाओं के बाद, हिन्दी-कविता में कवि के निजी व्यक्तित्व की जिस अन्तर्प्रतिष्ठा को प्रमुखता मिली, उसका तारतम्य आज तक बना हुआ है : वस्तु-व्यंजकता के स्थान पर आत्म-व्यंजकता की वह मर्यादा आज भी निर्वाहित है। लोकतांत्रिक नव-संस्कृति के जिस जीवन्त संस्पर्श ने हिन्दी काव्य को वस्तु-परिधियों से मुक्त कर मन-प्राणों की गहनतम गहराइयों और भाव-कल्पना के विस्तृत आकाशों में फैला दिया, वह प्रेरणा आज भी प्रवाहमान है। छायावादी कविता के 'प्रथम उत्थान' के कवि, शतियों के बाद हिन्दी की कविता को, शरीर से मन-प्राण, बुद्धि-विकार से हृदय की भावोष्मता और पार्थिव प्रत्यक्षता की ओर से चाक्षुष सूक्ष्मता (अमूर्त्त-मूर्त्तीकरण) की इन्द्र-धनुषी रंगिमाओं की ओर तो आये, पर उनके सामने अनेक सामाजिक प्रतिबन्ध, सांस्कृतिक अवरोध, मानसिक भित्तियाँ तथा आन्तरिक, कुण्ठाएँ थीं जिनके बीच से उन्हें अपना मार्ग प्रशस्त करना पड़ा। रीति-परिपाटियों, परम्परागत प्रेम-पद्धति, भाव-वर्जनाओं और मन के निषिद्ध उड्डयन स्तरों के समक्ष, मन के सहज प्रकाशन और हृदय की मुक्त अनुभूति-व्यंजनाओं में रहस्यात्मकता का पुट और शिल्प-संगुम्फन का सहारा भी लेना पड़ा। इस काल की छायावादी रचनाओं के धुंधलेपन और रहस्यमयता का यही मूल कारण है। 'प्रसाद', 'निराला' और 'पन्त' की त्रयी इस उत्थान का मूल स्तम्भ है। महादेवी, भगवतीचरण वर्मा और 'बच्चन' छायावाद के दूसरे उत्थान के आधार कवि हैं। महादेवी तो अनन्त-प्रणय-वेदना में ही अनुभूतियों का एकान्त परिशोध करती रहीं, पर भगवती बाबू और बच्चन ने कला की सूक्ष्म संगुम्फना और अनुभूति-कुहासा के भीतर से निकाल कर हिन्दी कविता को मानव की सहज-भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया। इनमें छायावादी अति-सूक्ष्मता और रहस्यमयता के प्रति उसी तरह प्रतिक्रिया थी, जैसे ब्रजभाषा-काव्य की पौराणिकता अथच लौकिक नग्नता एवं 'द्विवेदी-युग' की यथातथ्य उपदेशमयता के विरुद्ध स्वयं प्रसाद, पन्त और निराला में थी। जिस प्रकार 'द्विवेदी'युगीन स्थूल उपयोगितावाद के विरुद्ध सजग रूप से प्रतिक्रियामाण होने के कारण प्रसादादि अति सूक्ष्म हो गये और स्थूलता के विरुद्ध सूक्ष्मता के विद्रोह का नारा लगा, उसी तरह छायावाद के प्रथम चरण की अस्पष्टता और अपेक्षाकृत दुर्बोध वाणी के विरुद्ध प्रतिकृत होकर भगवतीचरण और उससे भी अधिक बच्चन जी ने निरावरणता और अभिधेयात्मकता की ओर अतिरेक किया। 'दिनकर', नरेन्द्र

शर्मा, अंचल और नेपाली भी अनावरण की दिशा के ही पथिक कवि बनकर अवतरित हुए। मांसलता, वासनोद्वेग, रूप-लिप्सा और अनर्गल अभिव्यक्ति ही युग धर्म बनने लगी। धरती और मानव के गान और जवानी की अभिप्रशंसन के उत्साह ने न केवल अध्यात्मिकता और कल्पनात्मकता के आवरण को कविता से उतार फेंका, वरन् अनर्गल भोग, समाज निरपेक्ष व्यक्तिवादिता और मांसल रसिकता के साथ असन्तुष्ट अहम् की रुष्टता और दायित्वरहित उच्छृङ्खलता भी कवि के लिए आवश्यक समझी जाने लगी। प्रसादादि के भीतर का एक अन्तर्मन्थन तथा आत्मोपलब्धि की एषणा दहकती दिखाई पड़ती थी। वे अन्तर्वाह्य के संघर्षों की पीड़ा से परिसिक्त थे और उनकी रचनाओं में, भुक्तभोगी के संघर्ष के बीच में से लपटों को झेलते हुए एक प्रकाशकामी की अन्तस्साधना का दाह था। 'द्वितीय उत्थान' के कवियों में (महादेवी को वहुलांश में अपवाद मान कर) इस साधना और मुक्त संघर्ष की प्रकाश-तृषा का स्थान येन-केन-प्रकारेण प्राप्त वैयक्तिक सुख-मोह, क्षणिक उन्मुक्ति-प्रेम, वासना-तोष और व्यक्तिगत-रुचि रोचन ने ले लिया। कृत्रिम मस्ती, हाला, प्याला, मधुशाला और मांसल प्रेम-संगीत के क्रोड़ में क्षणिक विस्मरण की वृत्ति प्रधान हो उठी। भावानुभूति और शिल्प की कान्ति भी विखण्डित हो गयी। दूसरे शब्दों में कथ्य और कला दोनों ही क्षेत्रों में अराजक उच्छृङ्खला की आशंका उठ खड़ी हुई। हिन्दी गीत-धारा की इसी पृष्ठभूमि में श्री शम्भुनाथ सिंह के गीतकार का अवतरण हुआ। दुरूहता और सूक्ष्मता के विरुद्ध प्रतिक्रिया में हिन्दी-गीत सरलता के दूसरे छोर पर आ गये थे। कोई भी घरेलू अकथ्य और स्थूलतम वस्तु अपनी सामान्य संवेदना में कथ्योपयुक्त मान ली गयी थी। परिणामतः भाव-गाम्भीर्य और सूक्ष्मता काव्य से छूट-सी गयी।

प्रथम चरण—

सन् १९४० के बाद छायावादी काव्य के 'तृतीय उत्थान' का आरम्भ हुआ और अतिसामान्यता के अतिरेक की ओर बढ़ गयी हिन्दी गीत-धारा, जिसे छायावादी काव्य का 'द्वितीय उत्थान' कहा जा सकता है, 'मध्यम मार्ग' की ओर उन्मुख हुई। गीतकारों का ध्यान इस तथ्य की ओर गया कि गीत के कथ्य में छायावाद के 'प्रथम उत्थान' की रहस्यात्मकता और दुरूहता भी न हो, और साथ ही 'द्वितीय उत्थान' के गीतों की भाँति वाच्यार्थ-मूलक अतिसामान्यता, निराश घुटन, अनावरणता और अति-वाह्यात्मकता से भी बचा जा सके। संक्षेप में गीत में काव्यत्व की रक्षा की प्रचेष्टा आरम्भ हुई। सच तो यह है

कि काव्य अति-सामान्यता और स्थूल तथ्यात्मकता में नहीं, विशिष्टता में ही निहित होता है। सामान्य भी कवि के विशिष्ट रागात्मक बोध और सौन्दर्य्यात्मिक स्पर्श से ही काव्य-कोटि में अन्तर्भुक्त होता है। सच्चे काव्य में सामान्य के भीतर भी एक असामान्य गहराई का उद्घाटन होता है। छायावाद के 'द्वितीय उत्थान' के अंतिम चरण में आकर 'तृतीय उत्थान के साथ चलने वाले 'दिनकर' और हंसकुमार तिवारी की गीत-शैली में भी एक प्रकार का प्रबन्धत्व पाया जाता है और इन कवियों में अधिकांशतः आत्माभिव्यंजन के स्थान पर बाह्याभिव्यंजन ही प्रधान रहा है; ढाँचा भले ही गीत का है। इस मध्यम मार्ग के पुरस्कर्ता के रूप में श्री शम्भुनाथ सिंह का नाम विशेष अग्रगण्य है। इस धारा को ही वस्तुत: प्रसादादि की धारा का अग्र-विकास कहा जाना चाहिए और इसी धारा के सहयात्री रूप में जानकी बल्लभ शास्त्री, रुद्र, भारती, क्षेम, महेन्द्र, विजयदेव नारायण साही, जगदीश गुप्त, गिरिधर गोपाल, रमानाथ, वीरेन्द्र मिश्र और रूपनारायण त्रिपाठी, आदि को भी ग्रहण करना चाहिए। 'नीरज' तो 'बच्चन' और नरेन्द्र शर्मा की धारा को ही सिनेमा और लोकप्रिय उर्दू-छन्दों की ओर ले जाने वाले गीतकार के रूप में, उपरिकथित मध्यममार्गीय गीतधारा से विलग चले जाते हैं। 'प्रसाद', 'पन्त' और 'निराला' की परम्परा को अतिरेकमयी प्रतिक्रियाओं से बचाकर जो धारा श्री शम्भुनाथ और उनके सहयात्रियों के साथ आगे बढ़ी, आज का 'नवगीत' उसी का अग्र-विकास है।

'रूप-रश्मि' श्री शम्भुनाथ जी की सर्वप्रथम गीत-रचना है जो १९४१ ई० में प्रकाशित हुई। अब उदासी, कड़वी निराशा, साँझ का-सा धुँवासापन कवि-चेतना से उठने लगा था। जीवन के स्वस्थ आस्वादन की सहजेच्छा स्फुरित हो उठी थी। कवि पिछले काव्य की मानसिक ग्रन्थियों का समाधान ढूँढ़ने लगा था; घुटन के प्रति एक गीतात्मक विद्रोह जग पड़ा। जीवन की मांसल-प्रवृत्तियों को सहज, स्वस्थ और पुरुषोचित रूप में भोगने और ग्रहण करने की प्रवृत्ति प्रांजल हुई। छायावाद के 'प्रथम उत्थान' में 'द्विवेदी'-युगीन अस्पष्ट तथा दूरारूढ़ आदर्शवादिता एवं प्राण-शोषी नीतिवादिता के विरुद्ध जो मानवीय भावात्मक विद्रोह गतिमान हुआ था, वह अब और स्पष्ट, तीव्र और मुखर होने लगा था। 'रूप-रश्मि' का गीतकार जीवन में निराशा, कुण्ठा और विकलता की स्थितियों को 'स्वीकार तो करता है, पर उनकी अभिव्यक्ति उच्छृङ्खल तोषणा को ही वह कवि-कर्म मानता नहीं दिखलाई पड़ता। वह स्वप्नों में यथार्थ और यथार्थ में स्वप्न की रेखाएँ आलोकित करता है। यही कारण है कि शम्भुनाथ सिंह के नये गीतकार ने अपने समय में हिन्दी के बाल, युवक एवं उदीयमान कवियों को

अत्यधिक आकृष्ट किया। मोती बी० ए० भी कवि के साथी ही थे, पर ऐन्द्रिय तृषा और प्रेमोद्वेग के कुछ गीत गाकर वे चलचित्र की ओर मुड़ गये। यह शंभुनाथ सिंह के गीतकार का कैशोर था। ये किशोर-काल और यौवन के प्रथम उत्थान की अनुभूतियाँ हैं। रूप-रस और प्रेम-विरह से ऊष्म इन गीतों की ऐन्द्रियता बड़ी हृदय-स्पर्शिणी है। इन गीतों में भी स्वभावतः परिपक्वता का अभाव और रोमानी भावुकता की प्रबलता है, पर इनमें क्षणिक आवेग और क्षयी भावुकता की प्रवृत्ति नहीं दिखलाई पड़ती। किशोर कल्पनाशीलता और स्पृहाओं के इच्छा चिन्तन का इनमें भी अभाव नहीं है, पर निर्बन्ध भावुकता और अन्धोद्वेग के स्थान पर इन आरम्भिक गीतों में भी यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि विषय और कथ्य के साथ गीतकार का गहरा तादात्म्य और रागात्मक एकता है; अतएव इसे अप्रामाणिक भावना अथवा क्षणिक आवेग कहकर नहीं टाला जा सकता। सबसे बड़ी और लक्षणीय बात यह है कि कवि न तो अपनी भावनाओं में उच्छृङ्खल है, न अनुभूतियों में दायित्वहीन और न जीवन के प्रति आत्मैकरागी। जीवन-प्रेम, संसार को सुखद बनाने की कामना और आशावादी स्वर इन गीतों को छायावाद के 'द्वितीय उत्थान' के गीतों से स्पष्टतः अलग कर देते हैं। इनमें उपरितलीय आसंग और छिछले विद्रोह के स्थान पर जीवन और काव्य, दोनों को ही संवारने की एक आकांक्षा तथा स्वस्थ-सहज जीवन की प्यास स्पष्ट है। इन गीतों की आसक्ति अतिशयता और 'द्वितीय उत्थान' की उदग्र आसक्तिमयता में जो अन्तर है, वह निम्न पंक्तियों—जैसे गीतांशों से उदाहरणीय है :—

मेरे मन कोई हो भी तो।
मैं राधा बन किस पर मर लूँ,
मनमोहन कोई हो भी तो।

किसी मन-मोहन पर राधा बन मर मिटने की आकांक्षा और 'चाँदनी' में जो करो, सब कुछ क्षमा है।' के संकल्प का अन्तर सुस्पष्ट और विवेच्य है। कथ्य में जहाँ सन्तुलन और संयम पाने की दृष्टि प्रमुख है, वहीं इन गीतों की रूप-कला और अभिव्यंजना-शैली को भी देख कर यह साफ हो जाता है कि कवि वाच्यार्थ की नग्नता और निश्चित्र अभिधेयात्मकता से अलग जाकर गीत-भारती के स्वरूप को भी सँवारने की दिशा में यथेष्ट रूप से प्रयत्नशील है; पर यह प्रयत्नजन्य कृत्रिम और श्रम-साध्य नहीं, अनुभूतियों के क्रोड़ से अंकुरित और प्रामाणिक भाव-भूमि में पल्लवित है : कथ्य और अभिव्यक्ति का सम्बन्ध

बाह्यारोपित नहीं है। 'रूप-रश्मि' के सभी गीत भाव-पेशल, कल्पनातरल और संगीतप्रवण हैं। इनकी तन्मयता में तटस्थता और आत्म-शोध की वेदना विद्युत्वत् प्रसृत है। 'मैं किस बन्धन में बँध जाऊँ? चिरबन्धन कोई हो भी तो!'—पंक्ति कवि का आदर्श प्रवृत्ति दिशा कही जा सकती है। ये रचनाएँ यह सिद्ध कर देती हैं कि कवि में वास्तविक भावों की समृद्धता, अनुभूतिनिष्ठा और कृत्रिमता या अतिसामान्य एवं अतिसारल्य से विलग, काव्य की 'मध्यमा प्रतिपदा' का संकल्प प्रत्यक्ष है। इसी से वह चपलता में भी अमरता के संधान का आकांक्षी है:—

रोम-हारों में बँधी पुलकन अमर हो।
विरह-सिंचित प्रेम-अंकुर
पल्लवित हो जाय आतुर;
स्वप्न के भी मिलन में उर का चपल स्पन्दन अमर हो।

द्वितीय चरण :—

इस प्रकार गीत में 'मध्यमा प्रतिपदा' के नवीन राही श्री शम्भुनाथ सिंह ने चिर-सत्य और जड़ तथ्य के बीच से, मानवीय अनुभूतियों में संयत भोग सहज संवेदना और लोक-निकट परिमार्जित अभिव्यंजना के गायक के रूप में एक विकसित दिशा के संधान में आगे प्रयाण किया और सन् १९४५ ई० में उनका दूसरा गीत-संग्रह 'छायालोक' प्रकाशित हुआ। 'छायालोक' में न बाह्य की छाया का अभाव है और न आत्मान्तर के आलोक का ही। मूल मानवीय प्रवृत्तियों का उच्छल आवेग स्वस्थ सहजता और सन्तुलन की ओर बढ़ता गया है। ऐन्द्रिय भूख और कैशोर भावुकता अब प्रेम की प्रगाढ़ता और जीवन के गम्भीरतर स्तरों की ओर आगे बढ़ी। यौवन की कामना-तरंगित पुकार में प्रौढ़ता विकसित होती गई। कथ्य में परिपक्वता और भाव-बोध में प्रगाढ़ता का विकास होता गया। प्रेमानुभूति के आयामों में विविधता, विस्तार और गहराई स्पष्टतर होने लगी। 'रूप-रश्मि' में गीतकार ने रूप-सौन्दर्य के आलोक के कल्पना की चूड़ाओं पर नाचते और उड़ते छवि-चित्रों को दूरी से ही विह्वल होकर पुकारा था, पर 'छायालोक' में कवि ने रूप और प्रेम को जीवन की धारा में प्रतिबिम्बित देखा है। आविष्ट क्षणों की अनुभूतियाँ अब स्थायी मनोदशाओं के रूप में परिणत होने लगीं। कवि का सौन्दर्य-द्रष्टा और प्रेमी अब रूप की गहनताओं और हृदय के गहरे स्तरों पर प्रतिष्ठित हो गया। यही

कारण है कि हिन्दी गीत-गंगा में आज पर्याप्त जल बह चुका है, पर परिवर्तित परिस्थितियों और बदली मनोदशाओं में भी उनमें इतनी शक्ति है कि हमें आज भी भीतर से झंकृत कर देते हैं।

यह हिन्दी गीतों का वह समय था, जब विशिष्ट कथ्य और विशिष्ट अभिव्यक्ति का आग्रह लेकर चलने वाले हिन्दी कवि एक ओर प्रगति-प्रयोग की काव्य धारा में बह रहे थे तो दूसरी ओर व्यक्तिवादी व्यंजना के प्रवाह के पथिक बन गये। श्री शम्भुनाथ सिंह के गीत इन दोनों धाराओं के बीच की सामंजस्य-कड़ी कहे जा सकते हैं। मूलत: गीतात्मक प्रतिभा के कवि होकर भी शम्भुनाथ सिंह ऐकान्तिक गीतकारों की परिधि में ही बन्दी नहीं रहे। सामाजिक यथार्थ और बहिर्जगत् की गति-प्रगतियों के प्रति भी वे सचेत रहे। 'उदयाचल' और 'छायालोक' की कविताएँ समानान्तर ही लिखी गई हैं, पर दोनों ही प्रकार के कथ्यों को एक-मिश्रित न कर, इन्होंने दोनों प्रकार की रचनाओं को अलग-अलग ही रखा : एक का दूसरे में आश्लेषण नहीं होने दिया। १९४६ में 'उदयाचल' और १९५० ई० में 'मन्वन्तर' के काव्य-संग्रह प्रकाश में आये। 'उदयाचल' में प्रगतिवाद का प्रभाव स्पष्ट है, पर छिछले प्रचार का अभाव है। इनकी तुलना में 'मन्वन्तर' की कविताएँ अधिक लम्बी, गीत-तत्व के अभाव से ग्रस्त, समाजवाद-साम्यवाद (मार्क्सवाद) के सैद्धान्तिक आग्रह से लिप्त तथा प्रचारात्मक भी हो उठी हैं। 'उदयाचल' की 'तुम्हें लहर पुकारती' कविता में गीत-तत्व का भी सुन्दर स्पर्श है, पर 'मन्वन्तर' में इसका ह्रास हुआ है।

प्रकृत विषय के अनुरोध से, इन पर अधिक विचार न कर गीत-संकलनों पर ही केन्द्रित रहना अधिक समीचीन होगा। यहाँ इतना ही कहना अलम् होगा कि 'तुमने मान ली क्या हार', 'हिले चरण, डुले चरण' और 'मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई' – जैसी रचनाएँ वस्तु-मुखी होकर भी गीत-विधा के सौन्दर्य से पेशल और लयात्मक हैं। इनसे छिछले प्रचारात्मक और सिद्धान्ताग्रही कविताओं को भी एक दिशा मिलती है और सामाजिक कथ्य की अभिव्यक्ति के लिए भी कवि-सुलभ सहानुभूति और हार्दिक निष्ठा का द्वार प्रशस्त हुआ है। इन रचनाओं का कवि न तो कोरी भावुकता का कवि हो कर रह गया है और न कोरे सिद्धान्तवाद का प्रचार-पोषक माध्यम ही; वह सामाजिक तथ्य को भी कवि-कोण से देखने और चुभीला बनाने का स्वस्थ उपक्रमी सिद्ध हुआ है।

'छायालोक' के गीत शम्भुनाथ सिंह के रागात्मक व्यक्तित्व के उच्चतर और पुष्टतर रूप हैं। 'समय की शिला', रूप के बादल' और 'उर के खुले के खुले ही रहे द्वार' जैसी रचनाएँ उनके गम्भीर चिन्तन सौन्दर्यासक्ति और प्राणों में बिंधी पीड़ा का सफल परिचायक और प्रमाणक हैं। ऐन्द्रियता की तीव्रतम अनुभूति, प्रभविष्णु चित्रमयता, झेली गयी व्यथा की ऊष्मा के साथ सहज व्यंजना, इन गीतों की अपनी विशेषता है। 'रूप-रश्मि' की रूपातुर प्रेम-विह्वलता 'छाया-लोक' में सो नहीं गयी है, वरन् और तेज, कान्ति तथा गहराई के साथ रूपायित हुई है। 'मेरे पंख ये झर जाये' 'उर के खुले के खुले ही रहे द्वार', 'प्रिय मैं जी सकूँ चुपचाप', 'मेरी अमिट भूख, मेरी अमर प्यास'—आदि गीतों में जहाँ आसक्ति की चरमता दिखाई पड़ती है, वहीं अंत:-स्पर्शी भावमयता, भावनाओं की सन्निष्ठता के साथ मानव-हृदय और प्रेम-जीवन के अन्त:शोध की पीड़ा भी वर्तमान है। छिछली भावुकता और मरणकामी उन्माद का वह प्रवेग, जो इनके कुछ पूर्ववर्ती, समवर्ती, और परवर्ती मंच-प्रिय हिन्दी-गीतकारों की एकान्त विशेषता रही है, इन गीतों के मूल-प्राण से सर्वथा विलग दिखलाई पड़ता है। जीवन-प्रेम, मानवीय आदर्शों की प्रतिष्ठा और सन्तोलक सामाजिकता को गीत-कार ने कभी भी उपेक्षित नहीं किया है। जीवन के एकान्त भोग और आध्या-त्मिक रहस्यमयता के बीच का जो स्वस्थ मध्यम मार्ग 'रूप-रश्मि' में अंकुरित-प्ररोहित हुआ था, वह 'छायालोक' के गीतों में विकसित होता हुआ 'दिवालोक' की रचनाओं में पूर्ण परिस्फुटता को प्राप्त हुआ है।

'उदयाचल' और 'मन्वन्तर' की रचनाएँ 'रूप-रश्मि', 'छायालोक' और 'दिवालोक' से भिन्न हैं। श्री शम्भुनाथ सिंह की कवि-चेतना अन्तर सत्यों और हृदय के गहन अनुभूति-स्तरों को ही अलोकित कर नहीं रह जाती; उनकी कवि-चेतना का एक छोर आरम्भ से ही वाह्य सत्यों और सामाजिक यथार्थों के प्रति जागरूक रहा है। इसी का यह परिणाम है कि 'उदयाचल' और 'मन्वन्तर' में बहिरंग समाज के राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक पक्षों को भी सच्ची कवि-सुलभ सहानुभूति प्राप्त हुई है। हाँ, यह अवश्य है कि जिस प्रकार अपने गीती में, उसी प्रकार अपनी सामाजिक-सांस्कृतिक रचनाओं में भी शम्भुनाथ सिंह ने छिछली अनुभूतियों, क्षण-व्यापी संवेदनाओं और निरी सैद्धान्तिक प्रचार-वादिता को कहीं भी स्थान नहीं दिया है। समाजवाद और मार्क्सवाद के स्पष्ट प्रभाव के स्थल भी निरे प्रचार से कुछ ऊपर और भावात्मक हैं। 'दिवा-लोक' की रचना 'कबतक तुम मौन रहोगे ओ जन-देवता' जैसे राजनीतिक रचनाओं में भी कवि के बिधेपन और चुभन से स्पष्ट झलकता है कि केवल

युग-प्रवाह और गड्डलिका-वृत्ति से न लिख कर अन्तःप्रेरणा से हिलकर लिखता है। 'दिवालोक' परवर्ती गीतों का संकलन है। यहाँ आकर कवि का उच्छल आवेग सन्तुलित हो गया है। इसमें दिन के प्रकाश की गरिमा और तीव्रता का प्रसार हुआ है : आवेग का स्थान सूक्ष्म तीव्रता ने ले लिया है। प्यार, विरह और स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों की विविध जटिलताओं की गीतों के माध्यम से अभिव्यंजना हुई है और प्रेम का द्वन्द्वात्मक स्वरूप इन रचनाओं में पिछली रचनाओं की अपेक्षा अधिक निखरा रहता है। गीतकार कवियों में रूप और प्रेम (सौंदर्य और प्यार) के प्रति सहज प्रवणता होते हुए भी, शम्भुनाथ सिंह उन गीतकारों में हैं जो रूप-सौन्दर्य के चित्रण से अधिक, अपने हृदय में बिंधे प्रेम और उसकी वेदना की अभिव्यक्ति में ही अधिक तन्मय रहते हैं। उनके अधिकांश गीतों में उनकी प्रेमानुभूति और अन्तरीण प्रीड़ा ही प्रधान पीड़ा दिखाई पड़ती है और प्रेरक रूप एवं प्रभावी सौन्दर्य पृष्ठ भूमि की ही शोभा बढ़ाते हैं। यह उनके कवि-स्वभाव की मूल अन्तर्मुखीनता का ही प्रमाण है। 'भर गया सजल घन से नभ का सूना आंगन'—गीत में जिस प्रकार नारी-रूप स्पष्ट रूप से चित्रित हुआ है, वैसा बहुत ही कम गीतों में हुआ है—

चपला-से चमके चपल चरण दो रागारुण,
रिमझिम बूंदों में बरस पड़ी—पायल रुनझुन।

रूप-चित्रण की अपेक्षा रूप के मन पर भिने हुए प्रभाव का अभिव्यंजन ही कवि को अधिक अभिप्रेम रहा। स्वभावतः अपने प्यार को वे किसी देवता से कम नहीं समझते।

प्यार किस देवता से कम मेरा।
प्यार की आरती है गम मेरा।

× × ×

जिन्दगी की अंधेरी गलियों में,
इसकी पूजा है हर कदम मेरा।

हृदय के अन्तरतम के गहरे स्तरों में यही प्यार और इसका गम (वेदना) 'रूप-रश्मि' से ही कवि को लिखते रहने के लिए व्याकुल और व्यथित करता आ रहा है; किन्तु गीतकार का 'गम' श्मशान का एकान्त रुदन अथवा जीवन से निराश व्यक्ति का उद्‌भ्रान्त रुदन अथच गलदश्रु भावुकता नहीं है : अपनी वेदना से वह प्यार की आरती करता है और अपने 'मरण' का उसे सदैव

ध्यान रहा है। इस प्यार को उनका गीतकार अपनी अन्तिम साँसों तक साथ लिये चलेगा और स्यात् प्रेम के प्रति उसकी यही निष्ठा उनके गीतों का प्राण और जीवन है। स्वभाव से रोमानी और राग-मूल प्रवृत्ति के होते हुए भी शम्भुनाथ सिंह के प्यार में एक संयम तथा समाज और व्यक्ति के बीच एक सन्तुलन रहा है। मरणशील वियोग और क्षयिष्णु आतुरता के छोर से न चलने के कारण ही ऐसा सम्भव हुआ कि हिन्दी-कविता में हर दशक पर एक वाद-गत लहर के चलायमान रहने पर भी, उनकी गीत-निष्ठा बनी हुई है और उनकी प्यास पुरानी नहीं हो पाती—

'वन्दिनी अबतक जवानी हो न पायी;
प्यास प्राणों की पुरानी हो न पायी।'

उनके गीतकार के अजस्र-उत्साह-उत्स का भी यही मूल रहस्य तथा प्रेरणा के नित्य नव-नव उन्मेषों की यही प्रभाव-भूमि है—

'आयी थी बहकी-बहकी हवा
नया अर्थ देती-सी शाम को;
नया रूप देती हर रूप को,
नया नाम देती हर नाम को।'

श्री शम्भुनाथ सिंह के गीतों में प्रकृति-चित्रण की प्रवृत्ति आरम्भ से ही बहुत कम रही है। 'प्रसाद' जी की भाँति वे भी प्रकृति को मानव-सापेक्ष और मानवीय भावनाओं की चित्रपटी मानते दिखलाई पड़ते हैं। महादेवी जी की भाँति, प्रकृति में भी वे प्रिय की रूप-झलक देखते और सारी प्रकृति को अपने भीतर के भावों से ओतप्रोत देखते रहे हैं—

बँधा मुक्त घन में,
भरा रिक्त मन में;
चिरन्तन विरह से
बना चिर मिलन में;

मधुर बन्धनों पर अमिट छाप बन कर
गगन-चन्द्रिका आज मुसका रही है।
प्रिये, प्राण में चाँदनी छा रही है।

इस गीत की अभिव्यंजना यद्यपि छायावादी और महादेवी जी के अधिक निकट है, पर इसकी अनुभूति रहस्यवादी न होकर शुद्ध मानवीय और मनो-

वैज्ञानिक है। इसी प्रकार 'आज स्वर के दीप का लघु दान मेरे देवता लो'— गीत भी व्यंजना में छायाभासी होकर भी मानवीय सहजोन्मुख है। 'सागर से पूनम चाँद मिला' जैसे प्रकृति-परक गीत श्री शम्भुनाथ सिंह ने बहुत कम ही लिखे हैं; इस गीत में भी प्रकृति-सौन्दर्य के प्रति 'पन्त'-सी आनन्दमयता तो है ही, अभिव्यक्ति में मानवीयता के संस्पर्श और प्रकृत के प्रति रहस्येतर आनन्द का आन्तर आवेग, इसे 'पन्त' के बाद के युग-विकास में ही प्रतिष्ठित कर देता है और रचना अतीत का पिष्ट-पेषण अथवा परम्परित रीति-वाद से कहीं ऊपर उठ जाती है। फिर भी शम्भुनाथ जी को प्रकृति कवि कहना ठीक नहीं। प्रकृति को उन्होंने सोद्देश्य रूप से ग्रहण किया है और प्रकृति के उपादान उपकरण-रूप में तथा 'उद्दीपन'–वृत्ति से चुने गये हैं। सच तो यह है कि 'आलम्बन-रूप' में प्रकृति गीत के लिए होती भी नहीं, वह 'प्रबन्ध-काव्य' के लिए ही उपयुक्त होती है। कुछ गीतकार प्रकृति-सौन्दर्य की पीठिका पर अपने प्रेम-सौन्दर्य को अधिष्ठित करते हुए भी गीत लिखते हैं, पर श्री शम्भुनाथ सिंह ने प्रकृति को प्रतीक, उपलक्षण और अप्रस्तुत'— रूप में ही मूलतः ग्रहण किया है। 'समय की शिला पर' नामक कवि-संगृहीत संकलन के 'मृण्मय छवि' खण्ड की रचनाएँ प्रकृति-पृष्ठभूमि के अधिक निकट हैं, पर इनमें भी शुद्ध प्रकृति-चित्रण-जैसी वस्तु नहीं मिलेगी। शम्भुनाथ सिंह के द्वितीय विकास-चरण के गीतों में पर्याप्त सुस्पष्टता, कथ्य की सघनता, अनुभूति की प्रगाढ़ता एवं संवेदनों की गम्भीरता आ गई है। सूक्ष्म अनुभूतियाँ भी मांसल 'अप्रस्तुतों' एवं एन्द्रिय अभिव्यक्तियों की चाक्षुषता से सुग्राह्य हो गई हैं। संयमपूर्ण भोग और भोग-सिक्त संयम की मणि कंचनता हिन्दी गीतों के ऐतिहासिक विकास का शिला चिह्न (माइलस्टोन) बन गई है। सन् १९५० के बाद सम-विषम काल में शम्भुनाथ सिंह के गीत ही हिन्दी की प्रतिनिधि गीत-धारा के परिचायक कहे जायेंगे। गीतों को कथ्य-गत कुहासा एवं अभिव्यक्तिगत रहस्यात्मकता तथा नग्न अभिधेयता से मुक्त कर उसे मानव-भावों की सहज गम्भीरता एवं स्वस्थ भावना-भूमि पर प्रतिष्ठित करने वाले गीतकारों में उनका कृतित्व ऐतिहासिक महत्व का अधिकारी है। उन्होंने हिन्दी-गीतों में सीमान्तवादिता से सन्तुलन, अश्लील नग्नता से सुशील सज्जता और निर्बन्ध आवेश से भावोष्म सानुभूतिकता की परिसाधना की है : गीतों में सहज, स्वस्थ, सुसंस्कृत और मानवोचित भाव-संवेदनों की अभिव्यक्ति का नूतन द्वार खोला है। सन् १९४० से सन् १९६७ ई० तक वे अकेले ऐसे महान् गीतकार हैं, जिनके गीतों से पाठकों और आलोचकों की गीत-आस्था अक्षुण्ण रही है।

तृतीय चरण :—

एक सजग एवं सजीव इकाई की भाँति वे युग से सर्वथा निरपेक्ष कभी भी नहीं रहे। 'माध्यम मैं' सन् १९५७ ई० में प्रकाशित उनकी नवीन रचना है। 'प्रयोगवाद' की स्थापना हो चुकी थी और 'तार-सप्तक' की उद्घोषणा के साथ गीतों के प्रतान (पैटर्न) को बासी और कृत्रिम कहा जाने लगा था। इसके बाद 'द्वितीय सप्तक' भी आया। साहित्य के सभी रूपों और विशेषकर कविता में 'प्रयोग' 'नये मार्ग के शोध' और 'आत्मान्वेषण' की दुन्दुभी बजने लगी। नयी पीढ़ी ने 'प्रयोग-पुरोधा' से स्वीकृति पा लेने के बाद 'प्रयोग' को भी पिछड़ी रचना घोषित कर 'नयी कविता' की अवतारणा की। आधुनिकता के नाम पर अमेरिकन-इंग्लिश कवियों के काव्यानुवाद, भावानुवाद, छायानुवाद और भाषानुवाद युग-धर्म विज्ञापित हुए। मन की क्षणानुभूतियों, संगुम्फित मनोदशाओं, ग्रंथिल बोधों, खंडित बिम्बों, असम्बद्ध चित्र-विन्यासों, चौंका देने वाली और आघातकारी मौलिक अप्रस्तुत-योजनाओं और अब तक अकाव्योपयुक्त माने जाने वाले शब्द-समूहों एवं सौन्दर्य-विरहित प्रतीकों की बाढ़ में हिन्दी-कविता-सुन्दरी ने अपने कुन्तल उन्मुक्त कर दिये। 'गीत' से 'अगीत' और 'कविता' से 'अकविता' की ओर हिन्दी का नवीन कवि सन्धान कर चुका है। श्री शम्भुनाथ सिंह भी इससे अछूते और अप्रभावित रह गये हों, वह भी नहीं है। उन्होंने भी नये कवियों के स्वर में स्वर मिला कर अपने पिछले सह-यात्रियों और सहवर्ती गीतकारों को रीतिबद्ध, बासी, कृत्रिम और पुराना (अनाधुनिक) घोषित किया। सन् १९६७ ई० में 'खंडित सेतु' नाम से उनकी 'नयी कविता' की रचनाओं का नया संकलन प्रकाशित हुआ। 'माध्यम मैं' में गीत नहीं, प्रयोगवादी ढंग की रचनाओं की ही प्रमुखता थी। 'हाँ, चार खण्डों में से एक खण्ड लोक-गीतों से अवश्य अनुरागित है। 'टेर रही प्रिया तू कहाँ ?' नामक गीत इसी संकलन का है। यहाँ कवि केवल एक माध्यम है। तांत्रिक के पंजे की तरह, कवि के अन्तर की गहनतम गुहा में संगृहीत और मुक्त अनुभूतियाँ (कवि के अनुसार) बन्द हो जाती हैं और बाद में एक रहस्यमय प्रक्रिया में, कवि के माध्यम से और कवि के अनजाने में, वे व्यक्त हो उठती हैं। कवि की मान्यता के अनुसार 'माध्यम मैं' की रचनाओं का इसी प्रक्रिया में जन्म हुआ है। अन्य विधा की रचनाओं को छोड़ कर यदि प्रकृत गीत-विषय ही सोचा जाय तो कहा जायगा कि कवि ने गीतों को परम्परा-रूढ़ि और बासीन से मुक्त करने के लिए प्रतान (रूपाकार : पैटर्न) के नवीनता हेतु लोक-गीतों का विधान भी प्रयोग-भुक्त किया है। 'विरहिन की आँखे हैं, मावस की रात रे'--जैसी सहजाभिव्यक्ति

और लोक-मार्मिक अप्रस्तुत-प्रतीकों की संस्पर्शिता गीतों के नवीन विकास के लिए यदि राजपथ नहीं तो नवीन सम्भाव्य दिशा का सूचना-संकेत अवश्य है। समाज-शास्त्र के प्रति बढ़ती रुचि और नूतनता की खोज ने हिन्दी-गीतकारों का ध्यान लोकगीतों की ओर भी आकृष्ट किया, और जहाँ अनेक कवि खड़ी बोली छोड़कर लोकभाषा में ही कविता करने लगे, वहाँ श्री शम्भुनाथ सिंह जैसे अनेक गीतकार भाव और विधान, दोनों ही की दृष्टियों से लोकगीतों की विशेषताओं को खड़ी बोली के गीतों में ही उतारने का प्रयास करने लगे। सहजतर अभिव्यक्ति की दिशा में यह एक नवीन चरण और अतिरेक-अपवाद के साथ अभिनन्दनीय प्रयास कहा जायगा।

'माध्यम मैं' की ये रचनाएँ ग्राम्य वातावरण और जीवन-विधि को भी पकड़ने की तरफ बढ़ी हैं। 'बजता है ढोल कहीं, पूजा के बोल' 'नीम का हिंडोला औ' मालिन का द्वार, एक बूँद की प्यासी माँ रही पुकार' जैसे अंश ग्रामजीवन की मान्यताओं और विश्वासमयी परम्पराओं को भी, निजी विश्वास के नाते अपनी आस्था के रूप में नहीं, वरन् जन-जीवन की आस्थाओं के रूप में उनके सहज संवेदन-सौन्दर्य को उतारने की भी चेष्टा हुई है। ये गीत व्यक्तिपरक गीत न होकर लोकपरक गीत हैं और इनमें आत्माभिव्यंजन के स्थान पर लोकाभिव्यंजन की प्रधानता है। इनमें लोकगीतों की 'विरहिन प्रियाओं' की-सी टीस भी उतारी गयी है और कवि ने उसके साथ तादात्म्य भी किया है। पिछले गीतों में यदि 'पर' 'स्व' में डूब गया था तो यहाँ 'स्व' ही 'पर' में विलीयमान हुआ है। 'मावस की रात', 'बनपाँखी', 'बीन-ठगा साँप', 'अधरतिया में बेला' 'दिन-दोपरी' आदि नये प्रतीक अवश्य ही संवेदक और हृदयस्पर्शी हैं। 'रात बीत गई', 'ऋतुमती कातिक की धरती', 'छिप-छिप कर चलती पगदंडी धनखेतों की छाँव में', 'करती नृत्य सुनहरी बाली' आदि गीत लोकगीत के तंत्र और कथ्य को छोड़ कर, एक नागरिक कवि की दृष्टि से देखे गये ग्राम-सौन्दर्य से सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार 'मन का आकाश उड़ा जा रहा, पुरवैया धीरे बहो।' गीत में संगीत तो लोक-गीत का है, पर आगे समस्त कथ्य कवि की निजी और आत्मनिष्ठ अनुभूति तथा प्रयोगवादी और 'नये कवि' का स्वान्तः प्रकाशन है। इस प्रकार श्री शम्भुनाथ सिंह ने सन् १९५० के पश्चात् लोकगीतों की विधा, अभिव्यक्ति और संगीत से भी कुछ नयी संभावनाओं को लेकर हिन्दी गीतधारा को सौंपा है, जिसका पूर्ण आंकलन भविष्याधीन है।

श्री शम्भुनाथ सिंह के गीतों ने इधर एक नवीन दिशा अपनाई है। उनके

पिछले गीतों की भाषा संस्कृतमय और तत्सम-प्रधान होती थी। नवीनतम गीतों की भाषा बहुत सरल, तद्भव-गर्भित, घरेलू और बोलचाल के उर्दू-अंग्रेजी शब्दों को भी अपना लेती है। इनमें वातावरण के चित्रण, पर्यावरण के अङ्कन और कुछ घरेलू तथा चिरपरिचित उपस्करों के द्वारा गहरी अनुभूति और आन्तर संवेदनों को व्यंजित करने का सुन्दर प्रयास हुआ है। 'आवो कुछ बात करें घर की' टेक वाला गीत बड़ा प्रभावमय और आधुनिक जीवन की जटिलता में आत्मान्वेषण की एषणा का अत्यन्त व्यंजक प्रयास है। 'अन्तर्यामा' गीत जहाँ-जहाँ मानव-जीवन और उसकी बुद्धि-कल्पना के निरन्तर फैलते आयामों के प्रति मानसिक आकुलता का प्रमाण है वहीं 'बादल को बाँहों में भर लो' गीत इस वैज्ञानिक युग में भी रोमान का नूतन आयाम है।

श्री शम्भुनाथ सिंह, प्रसन्नता और सन्तोष की बात है कि 'नयी कविता' और 'अकविता' की ऊसर-भूमियों से गुजर कर भी, गीत-रस से रहित नहीं हो सके। उनकी सामाजिक यथार्थ से सम्बन्धित कवि-चेतना तो राष्ट्र, समाज, राजनीति, संस्कृति और प्रगति-प्रयोग के शास्त्रार्थों को सुनती-गुनती रही, पर उनकी मूल-रिरंसा-मयी गीत-चेतना सर्वत्र और सर्वकाल में अपना पोषण करती गयी है। उसने 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला' और महादेवी से प्रेरणा ली, भगवती चरण वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र और अंचल से आत्म-संशोधन किया, प्रगति और प्रयोग से' नये उन्मेष लिये और लोक-गीतों से नवीन लय-विधा ग्रहण की। परम्परागत अप्रस्तुत-विधान और प्रतीक योजना से आरम्भ महादेवी के छन्दोबद्ध एवं एक-लयात्मक गीतों से चलकर गजलों, लोकगीतों और अनेक-छन्द-मिश्र प्रतान-विधानों तक अपनी रूप-परिसाधना की। इस सभी के बीच जो सबसे बड़ा ज्वलन्त सत्य है, वह यह कि श्री शम्भुनाथ सिंह की निजकता कभी नहीं खोई और अपने वातावरण-पर्यावरण से पूर्ण जीवन-रस लेकर भी उन्होंने अपने व्यक्तित्व की मौलिकता को नहीं खोया। रागात्मकता, झेली हुई अनुभूति, भोगी हुई सम्वेदना और अन्तः-दृष्ट कथ्य के साथ भाषा, कला और अभिव्यक्ति के परिष्कार को भी यदि ढूँढ़ना है तो श्री शम्भुनाथ सिंह के गीत, सन् १९४२ से लेकर सन् १९६७ ई० तक के संक्रान्ति और वैषम्यन के काल में सबसे प्रमुख आधार और स्रोत हैं। 'लघु मानव', 'भूखी पीढ़ी', 'क्रुद्ध पीढ़ी', 'सांस्कृतिक गत्यवरोध', 'उपेक्षित अहम्' और 'संकीर्ण व्यक्ति परिधि' आदि सभी दिशाओं की गूँज इनके गीतों में अपने ढंग से झंकृत मिलेगी।

छन्द : शास्त्र के छन्द एक बने-बनाये पूर्ववर्ती प्रतान होते हैं, पर उनके

साथ-साथ कवि जीवन में गूँजते छन्दों को भी पकड़ता है और यह पकड़ एक महत्वपूर्ण बात है। यह छन्दोग्रहीति जब सप्रयास, सश्रम और कृत्रिम होती है तब अभिव्यक्ति और प्रभाव की सहजता में बाधा पड़ती है। यह छन्दोग्रहीति अनायास और सहज होनी चाहिए, कथ्य तो ढाँचा स्वयं लेकर आता है और कथ्यानुभूति में उगा ढाँचा ही सहज सौन्दर्य-युक्त तथा उपकारक होता है। ढाँचे को पहले ही ढूँढ़ने वाले मैथिलीशरण गुप्त के दोष के भागी बन जाते हैं। श्री शम्भुनाथ सिंह 'बच्चन' और 'अंचल' की तरह छन्दों का एकतान रीत्यानुकरण करते नहीं दिखाई पड़ते। उनके छन्द अनुभूतियों में 'पनपे' और स्वयं कथ्य द्वारा आनीत लगते हैं। इसी से एक ही तरह के सौ गीत (बच्चन की तरह एक ही छन्दोविधान के) इनमें नहीं मिलते। एक छन्द:-प्रतान पर २-३ बड़ी कठिनाई से ढूँढ़ने पर मिल सकेंगे। नये-नये छन्दों, लयों और टेकों को उद्भावित करने में इनकी प्रतिभा बड़ी उर्वर है। भावानुकूल रूप से एक ही गीत में छोटे और बड़े चरण बड़ी कुशलता और तदनुकूलता के साथ योजित हुए हैं। प्राचीन छन्दों, लोकगीतों, गजलों और जन-धुनों की गूँजों को अपनी संगीत-चेतना में घोलकर एक नया प्ररूप निकाल देने की, इनमें अद्भुत क्षमता दिखलाई पड़ती है। इसीलिए इन्हें छन्दों की पुन:-पुन: आवृत्ति के द्वार नहीं जाना पड़ा है। हिन्दी के बहुत ही कम आधुनिक गीतकारों में इतना छन्द-वैविध्य मिलेगा।

प्रतीकों के चयन में भी श्री शम्भुनाथ सिंह की संकल्पना बड़ी सक्षम है। आरम्भ में तो उन्होंने भी छायावादी प्रतीक-परम्परा का सहारा लिया, पर धीरे-धीरे व्यक्तिगत प्रतीकों के सुन्दर चयन की दिशा में वे आगे बढ़ते गये। प्रतीक संकेत के ही रूढ़ रूप होते हैं। शम्भुनाथ सिंह में प्रतीकों से अधिक संकेत प्रयुक्त हुए हैं। पुराने प्रतीकों में आंसू, शलभ, शिखा और पूनम कवि के प्रिय प्रतीक रहे हैं। 'समय की शिला' गीत पूर्णत: सांकेतिक गीत है। रूपकों में अप्रस्तुतों की नवीन योजना और व्यधिकरण आरोप से बने रूपकों के प्रयोग से नवीनता की सृष्टि हुई है। 'तिमिर सर में ज्योति के जलयान मेरे देवता लो' पंक्ति में ताजापन है। 'तिमिर-सर' में समानाधिकाकरण-आरोप से रूपक का प्रयोग किया गया है, अत: यहां पुराने प्रकार का 'रूपक' है; पर गीतों के लिए 'ज्योति के जलयान' का अप्रस्तुत उपचार-वक्रता से नवीनतर और प्रभावपूर्ण हो गया है। 'प्रस्तुत' के लिए जब 'अप्रस्तुत'-रूप में सीधे कोई पदार्थ आता है तो दोनों में अन्योन्यस-सीमता आ जाने से प्रभाव भी सीमित हो जाता है, पर प्रतीक-रूप में आये पदार्थ से सीमितता का परिहार हो जाता है। 'रूपक' में कठोरत: एकार्थ-

बद्धता आ जाती है। कवि का लक्ष्य तो 'प्रस्तुत' (कथ्य) ही होता है; जहाँ वह कथ्य 'प्रस्तुत' से अधिक प्रभावशालिता और विस्तार के साथ 'अप्रस्तुत' द्वारा व्यंगित किया जाता है, वहां सफल प्रतीकत्व की सृष्टि होती है। प्रतीक-योजना के लिए प्रतीक-योजना अनावश्यक जटिलता और दुर्बोधता उत्पन्न करती है। जहां तक गीतों का सम्बन्ध है, श्री शम्भुनाथ सिंह जी ने अनावश्यक प्रतीक-विधान और अलंकार-योजना को बचाया है, पर 'चपला-से चमके चपल चरण दो रागारुण'-जैसी पंक्तियों में जहाँ अनायास ही औपम्य और अनुप्रास फूट पड़े हैं, वहाँ बोझ के लिए नहीं, वरन् शोभा और प्रभाव-वृद्धि के लिए ही अलंकारों का सदुपयोग हो गया है।

इस प्रकार श्री शम्भुनाथ सिंह की कवि-प्रतिभा मूलतः गीतात्मक है और स्वभाव गीतोचित रोमानी। ऐन्द्रिय संवेदनों की प्रियता ने उनके कथ्य-चित्रों को इन्द्रिय-ग्राह्य और सहज-बोध्य बना दिया है। कथ्य और शिल्प के बीच सहज सम्बन्ध की स्थापना करते हुए वे जिस प्रकार कला के क्षेत्र में अतिरेकों से बचे हैं, उसी प्रकार जीवन में सीमान्तवाद से मुक्त रहे हैं। वे इधर-उधर की बातों में भी कभी-काल उलझे हैं, पर 'इधर-उधर' की बातें छोड़कर अनति विलम्ब में ही वे 'घर की बात' की तरफ मुड़ कर अपना सहज पथ पकड़ लेते हैं। प्रगति, प्रयोग और नयी कविता के तटों पर भी वे रुक गये, रुके और घूमें हैं, पर अतिरेकों पर उनकी सहज शीतल प्रतिभा टिक ही नहीं सकती। छायावाद के 'तृतीय उत्थान' के वे सर्वश्रेष्ठ और मार्ग-दर्शक गीतकार हैं। वे रूढ़ि और रीति-बद्धता में जीने वाले कवि भी नहीं, अतः अपने देश-काल की स्वस्थ परिणतियों और प्रति प्रतीतियों के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रतिक्रियात्मक और आक्रोशात्मक नहीं रहा; इसी से यदि वे हिन्दी की 'नव-गीत'—धारा का भी अग्र-नयन को तो कोई अस्वाभाविक नहीं। उनके गीतकार का हिन्दी को अभी पूर्णदान नहीं मिल सका है; अभी हिन्दीगीतों को उनसे और भी आशाएँ तथा अपेक्षाएँ हैं।

नवगीत के उन्नायक कवि

•

उमाशंकर तिवारी

नवगीत संक्रान्त नयी कविता की ही एक विशिष्ट विधा है। नयी कविता के कथ्य को व्यापक बनाने वाली विधा होने के कारण ही वह वर्तमान हिन्दी कविता की उपलब्धि बन गयी है। यह 'पापुलर' गीत से परे 'मुक्त श्रासंग' का गीत है। इसमें उपचेतन के भोगे हुये सत्य अनुभूति के स्तर पर खण्डित बिम्बों का रूपाकार ग्रहण कर स्वतः स्फूर्ति होते हैं। इसके पास 'दस्तावेजी घोषणा-पत्र' नहीं हैं, न तो 'नयी कविता' के फैशन वाले 'माडेल'। यह रचना के स्तर पर भरपूर अर्थबोध और युग-सापेक्ष्य स्वर से समन्वित सम्भावनाओं वाली 'नयी कविता' में नवीन रक्त का संवाहक है। 'नयी कविता' के पुरस्कर्ताओं ने प्रारम्भ से ही इस ढंग की कविताएँ लिखनी शुरू कर दी थीं। सम्भवतः उन्हें 'नयी कविता' की आसन्न जड़ता का आभास हो गया था। ऐसे सृजन-हस्ताक्षरों के क्रम में डॉ० शम्भुनाथ सिंह की उत्कृष्ट भूमिका रही है। कविता की राजनीति के नाते कुछ लोग भले ही न स्वीकारें पर यह ज्वलन्त सत्य है कि ईमानदारी के स्तर पर इस जड़ता का पूर्वभास जैसा डॉ० शम्भुनाथ सिंह को हुआ था, वैसा किसी अन्य कवि को नहीं। 'आधुनिकता' की दृष्टि से वैज्ञानिक उपलब्धियों की अभिव्यक्ति का कार्य सर्वप्रथम डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने किया। उनका 'अन्तर यात्रा' शीर्षक 'नवगीत' इस दावे का ज्वलन्त प्रमाण है। इस तरह गीत विधान में नेवोन्मेष ले आने के कारण शम्भुनाथ सिंह नव गीत के उन्नायक कवि हैं। वस्तुतः नव गीत को नयी कविता के भीतर स्थापित करने वाले कवियों में उनका प्रथम स्थान है।

नयी कविता के सन्दर्भ में नवगीत का महत्त्वपूर्ण लक्षण है' 'गीतात्मकता' (संगीतात्मकता नहीं)। मैं इश मान्यता को विस्थापित या अतिरेक पूर्ण तथा आरोपित मान्यता मानता हूँ कि 'आधुनिक बोध' गीतात्मक काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं हो सकता। गीतात्मकता मानव-मन की एक सहज प्रवृत्ति है जिसे कभी भी छिन्न नहीं किया जा सकता। वह एक ऐसी शृंखला है जो

आधुनिक व्यक्तिमानव को आदिम व्यक्तिमानव से जोड़ती है। जब कभी आधुनिकता के दबाव से मानवीय भावधारा की परम्परा में रिक्तता और विशृंखलता आने लगती है, क्रान्तदर्शी कवि शिष्ट काव्य को लोक-जीवन के नए तन्तुओं से जोड़ते हैं। लोक काव्य का अधिकांश गेय होता है और इस दृष्टि से उपयोगी भी। 'नवगीत' का प्रारम्भिक स्वरूप बहुत कुछ लोक गीतों के इन्हीं सजीव तन्तुओं से जुड़ा हुआ है। इस प्रक्रिया में परम्परा से प्रयुक्त गीत-पद्धति नव्य स्वरूप के साथ स्वतः प्रतिष्ठित हो जाती है। इसलिए विभिन्न युगों में लिखे गए इस प्रकार के गीत 'नवगीत' की सीमा में आ सकते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि लोक-जीवन की अभिव्यंजना 'नवगीत' की अनिवार्यता है। 'नवगीत' की कायिक स्थिति में नवीन रक्त भरने की प्रक्रिया समकालीन परिवर्तित जीवन-दृष्टि को अपनाने से तथा सूक्ष्म एवं गहरी अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति से उद्धत होती है। समकालीन आधुनिकता के इस स्तर पर विभिन्न शताब्दियों की वे सम्पूर्ण गीत-कृतियाँ 'नवगीत' हैं जिनमें नवीन अप्रस्तुत योजना तथा प्रतीक विधान को अपनाया गया हो। इसी क्रम में भारतेन्दु, प्रेमघन, श्रीधर पाण्डेय, मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी की ताजगी और नव्य उपमानों वाली कुछ कविताओं को 'तत्कालीन नवगीत' कहा जा सकता है।

फिर भी जिस अर्थ में आज हम 'नवगीत' का प्रयोग करते हैं या जिस आधुनिक बोध की विद्रोहपूर्ण स्थापना के साथ चर्चा करते हैं, उसका प्रारम्भ हमें निराला की 'मातृ वन्दना' (१९२०) से मानना होगा। 'अनामिका' का 'बहुत दिनों के बाद खुला आसमान' बोल-चाल की भाषा के निकट होने के नाते एक शक्तिपूर्ण नवगीत है। इसी प्रकार 'बेला' का एक गीत 'अकेलापन' की अभिव्यक्ति' होने के कारण आधुनिक अस्तित्ववाद के अत्यन्त निकट है।

निराला के बाद मूर्धन्य प्रयोगवादी 'अज्ञेय' इस दिशा के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। उनके काव्य संग्रह 'इत्यलम' (१९४६) में छन्दों की लय के स्थान पर अनुभूतियों की लय पकड़ी गई है तथा गीतात्मक अभिव्यक्ति के नए आयाम प्रस्तुत किए गये हैं। उनका 'पानी बरसा' गीत लोकगीतों की सांकेतिक व्यञ्जना पद्धति में स्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्त होने के नाते एक प्रभावपूर्ण नवगीत है।

१९५० के कुछ पूर्व सहजोच्छ्वास के रूप में गीतों का नव्य शिल्प प्रकाश में आया था, विशेषतः केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर, भवानी प्रसाद मिश्र और शम्भुनाथ सिंह के गीतों में। इन लोगों ने गीतों के

क्षेत्र में नये प्रयोग किये। सामाजिक चेतना के लौकिक सुखदुख की अनुभूतियों से पूर्ण नये चित्र और बिम्ब भी संयोजित किये गये। भाषा के एक निर्धारित स्वरूपों को समाहित किया गया। डॉ० शम्भुनाथ सिंह इस नवगीत परम्परा से बीज रूप में सम्बद्ध हैं। उनके कई गीत ऐसे हैं जिनका रचना काल १९४० से १९५५ ई० तक की कालावधि के बीच का है और जो इस काव्य-प्रवाह में प्रवाल द्वीप बनकर प्रतिष्ठित है।

'दिवालोक' (१९५३) के 'घिरो न इस द्वार' तथा 'धारा सी प्रीति बह रही' गीत अपनी गहन भावत्मकता तथा उलझी संवेदनशीलता के कारण नये गीत हैं। 'हाल बीच सन्नाटे में ज्यों गूंज उठी आवाज' तथा 'काँपती पुकार मौन हो गई' कविताएँ अपने समय से बहुत बाद तक की सम्भावनाओं को समेटे हुए नये आयाम खोलती जान पड़ती हैं। इन्हें तत्कालीन गीत-कविता के प्रतिमान का ऐतिहासिक अभिलेख कहा जा सकता है। इसी क्रम में 'तुम्हारे पास ज्यों-ज्यों आ रहा मैं', 'हैं झर रहे फूल बीते क्षणों के' शीर्षक गीत अपने स्वस्थ रोमान, आदिम उत्पीड़न एवं प्रोज्वलित क्षणानुभूति के उदग्र चिन्तन के कारण ऐतिहासिक दाय की शाश्वत उपलब्धियाँ हैं। वे सत्य की प्रकाश-रेखाओं' को पकड़ लेने की क्षमता के कारण जीवन्त और ताजा गीत हैं। 'माध्यम मैं' (१९५७) संग्रह के 'सीधी प्रतिध्वनियाँ' उपशीर्षक में निबद्ध गीत-रचनाएँ लोक-गीतों के ताजे सम्वेदनों से सम्पृक्त होने के कारण तथा कोमल लोक-तन्तुओं से दो क्षितिजों को जोड़ने के कारण अत्यन्त मूल्यवान हैं साथ ही आधुनिक और ताजा भी। यों तो 'उदयाचल' (१९४६) के 'तोड़ो काश तोड़ो', 'तुम्हें लहर पुकारती' आदि गीत भी नवगीत के प्रथम सोपान की रचना के उदाहरण है पर वस्तुत: 'दिवालोक' की कविताएँ ही वर्तमान नवगीत के विकास की दिशा में प्रारम्भिक मील के पत्थर जैसी दिखाई पड़ती हैं। 'दिवालोक' के बाद 'माध्यम मैं' में नवगीत का निखरा रूप सामने आता है। इस संग्रह के कुछ गीतों की निम्नलिखित पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं :—

रात बीत गयी।
जाड़े का मुखर प्रात
टना-टन कर बजे सात
एक साथ कई।
रात बीत गयी।

× × ×

कट गये पर हैं,
अगम इस शून्य में
उल्का सदृश
गिरते हुए मुझको
कहीं आश्रय नहीं है।

× × ×

शब्द हैं,
स्वर है,
सजग अनुभूति भी
पर लय नहीं है।

× × ×

'माध्यम मैं' में कई गीत ऐसे भी हैं जो मुक्त छन्द में होते हुए भी गेय और लय-युक्त हैं। ऐसे गीतों में भावुकता का अभाव और चिन्तन की मात्रा अधिक है पर रागात्मकता से संपृक्त होने के कारण विशुद्ध गीत की कोटि में आते हैं। एक उदाहरण—

मैं अधूरा रह गया।
टूट शाखा से गिरा।
मैं विवश था,
देख सब चुप रह गया
सब सह गया।
मैं अधूरा रह गया।
पूर्णता का स्वप्न
मुझको छोड़
पंख मरोड़
वन तूफान
मेरे शीश पर से बह गया।
मैं अधूरा रह गया।

वस्तुत: सन् १९५७ के आस पास 'नवगीत' 'नयी कविता' के साथ-साथ विकसित होने लगा था उसमें एक ओर लोक चेतना के सहजोच्छ्वास की अभिव्यक्ति है तो दूसरी ओर नागरिक चेतना का भाव बोध। 'नवगीत' का यह विकास बिलकुल 'नयी कविता' के समानान्तर हुआ। नयी कविता का १९५७ के

पूर्व का रूप भी या तो प्रयोगप्रधान था या रोमानी व्यक्ति-बोध से आक्रान्त। उसी तरह १९५७ के पूर्व के नवगीत भी प्रयोगमूलक और लोकगीतात्मक दोनों प्रकार के हैं। नगर-जीवन में व्याप्त कड़ुवाहट, धुंध, ऊब और अकेलापन न तो पूर्ववर्ती नयी कविता में था, न नवगीत में। १९५७ में प्रकाशित 'माध्यम मैं' में जो रचनाएँ नवगीत की कोटि में आती हैं उनमें उपर्युक्त दोनों प्रकार के भाव-बोध वर्तमान हैं उनके लोकतत्वों से प्रभावित गीत अपनी गहरी अन्तर्वेदना तथा अनुभूत सत्यों को कोमल भाव-चित्रों में प्रस्तुत करते हैं।

मन का आकाश उड़ा जा रहा,
पुरवैया धीरे बहो।
बीती बातों पर सिर टेक कर
टेर रहा मन भूली नींद को,
धूप छाँह की गंगा यमुना में
डुबो रहा हँस-हँस उम्मीद को।
अपना विश्वास लुटा जा रहा—
मैं वह पतझर जिसके ऊपर से
धूल भरी आँधिया गुजर गईं
दिन का खंडहर जिसके माथे पर
आँधियारी साँझ भी ठहर गई।
जीवन का साथ छुटा जा रहा
पुरवैया धीरे बहो।

× × ×

पिया न आये, आमों में,
आ गया टिकोरा रे!
साँझ सकारे चम्पा फूले
अधरतिया में बेला
दिन दोपहरी डह-डह डहके,
दुपहरिया अलबेला!
एक मौन जपता
विरहिन का यौवन कोरा रे!

सन् १९५७ के बाद डा० शम्भुनाथ सिंह के गीतों में फिर एक नया मोड़ आया। अब वे लोक गीतों और व्यक्ति बोध को छोड़कर गहरी सम्वेदना तथा

यथार्थ जीवन के संघर्षों को गीतों के माध्यम से व्यक्त करने लगे। इन गीतों के साथ डॉ० शम्भुनाथ सिंह एक ऐसे विन्दु पर पहुँचते हैं जहाँ विगत और अनगत का द्वंन्द, भाव एवं शिल्प दोनों स्तरों पर तीव्र हो उठता है। द्विधा उनसे प्रश्न कर उठती है।

ये गीत और वे गान निमंत्रण दोनों का,
ओ मस्त बहारों, कहो, किसे स्वीकर करूँ,
कल छोड़ी इनमें जो कागज की नौकायें
उनमें ही चढ़कर लौट प्रश्न मेरे आये,
उन नौकाओं से ही मैं सागर-सेतु रचूँ
या इन लहरों का और परिधि-विस्तार करूँ ?
वे कुहरे, ये तूफान, निमंत्रण दोनों का,
टूटी तलवारों, कहो, किसे स्वीकार करूँ ?

पूर्ववर्ती रोमानी जीवन का कुहरा और वर्तमान जीवन का यथार्थ संघर्ष इन दो में से कवि को किसी एक का चुनाव करना है। वह दूसरे को--तूफान को-- चुनता है। बीते युग और बीती अनुभूतियों को वह सहर्ष छोड़ कर जीवन के क्रियाशील मोड़ पर अपने द्वन्द्व को अपने ही भीतर पकाता है।

बीत गये मन, वे दिन बीत गये।
रंगों के क्षण अनिगिन बीत गये।
फूलों की हथकड़ियाँ टूट गईं
कोसों पीछे वन की राहों पर
मेरी छाया मुझसे छूट गयी।

× × ×

माथे पर मँडराती चील गयी
सोने के रँग डूबी शामों को
अजगर सी अंधियारी लील गयी
सूखे सागर की इस रेती में
मेरे रस के बादल रीत गए।

डॉ० शम्भुनाथ सिंह का कवि सन् ६० के बाद नवगीतों की आधुनिक भावभूमि में पहुँच जाता है। निजी उपलब्धियों के आविष्कृत द्वीप में पहुँचकर वह व्यापक आयामों वाले मानव-मन की अतल गहराइयों में उतरता चला जाता

है। वहाँ उसे मिलते हैं टूटे शंख, उजड़ी मीनारें और खण्डित परकोटे। इन्हें वह निजी तथा आदिम प्रतीकों के रूप में ग्रहण करता है और खण्डित बिम्बों एवं विश्लिष्ट चित्रों के माध्यम से व्यक्त करता है। घरेलू जीवन के प्रतीक, वैज्ञानिक उपलब्धियों के संवाहक, प्रतीक, ऊब एवं सन्त्रास के प्रतीक तथा छन्दों के विविध शिल्प-प्रयोग उसे ऐसी गीत-रचनाएँ प्रस्तुत करने का सामर्थ्य देते हैं जिनके आधार पर उसे नवगीतों का उन्नायक हस्ताक्षर माना जा सकता है। विभिन्न सन्दर्भों के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं जिनमें आधुनिकता-बोध के कई आयाम खुलते हैं :—

(१) वैज्ञानिक सन्दर्भ

टूट गये बन्धन सब, टूट गये घेरे।
और कहाँ तक ले जाओगे मन मेरे !

देख रहा मैं अथाह नीली गहराई
उसमें ही डूब गई मेरी परछाईं;
डूब गये रूप और रंग के बसेरे।

× ×

काल की तरंगों में बह गई दिशायें,
प्राण कहाँ पर ठहरें और किधर जायें।

भारहीन तिरता मैं आज शून्य में रे।
और कहाँ तक ले जाओगे, मन मेरे।

(२) राजनीतिक सन्दर्भ

छोड़ों बातें दुनियाँ भर की !
आओ कुछ बात करें घर की !

गमलों को धूप से हटा दो
बुझी हुई अँगीठी जला दो

गर्द झाड़ दो इन पर्दों की
बिस्तर की सलवटें मिटा दो।

लहरों में डूब दोपहर की।
आओ कुछ बात करें घर की।

× ×

बादल को बाँहों में भर लो।
एक और अनहोनी कर लो !

× ×

(३) नगर सन्दर्भ

जादूगरनी इस नगरी की रातें
कर देती हैं ऐसा जादू-टोना।

जो छूने जाता, पत्थर बन जाता,
जो छू जाता है, बन जाता सोना,

पर एक तिलिस्मों के सौदागर से
ये छाया-छवियाँ बेगानी सी हैं।

(४) दार्शनिक सन्दर्भ

रेल के किनारे
एक टीले पर बैठ कर
घंटों की तितलियाँ उड़ाता रहा,
ट्रेन के गुजर जाने पर
इंजिन की सीटी दुहराता रहा,
निरुद्देश्य।

और इसी बीच
एक अचीन्हा अबूझा स्वर
आता रहा,
लगातार जाता रहा
यही तो नहीं है वह
जो मुझको जीवन भर
लक्ष्यहीन यात्री सा यूँ ही भटकाता रहा,
निरुद्देश्य !

इधर की एकदम ताजा कविताओं में नगर-बोध उन्हें फुटपाथों पर कीलों की तरह जड़ देता है—

फुटपाथों की दीवालों पर,
कीलों से जड़ दिया गया हूँ।

मन्दिर के घेरे के बाहर,
एक शिला खण्ड सा गड़ा हूँ।
मरा हुआ देवता बना मैं,
सब कुछ को झेलता खड़ा हूँ।

मूर्ति निराकृति मैं, बालू के
पत्थर से गढ़ दिया गया हूँ।

कानों में डालकर उँगलियाँ,
सुनता हूँ दूर के धड़ाके।
आँख बन्द कर मैं सहता हूँ,
बेतों के बेरहम सड़ाके।

भाग कर कहाँ जा सकता हूँ,
हवा में जकड़ लिया गया हूँ।

बेमतलब बोलती जुबाँ है,
अनचाहे घूमती नजर है।
कत्लगाह को जाने वाली,
पिंजड़ागाड़ी मेरा घर है।

लावारिस कुत्ते सा यूँ ही,
सड़क पर पकड़ लिया गया हूँ।

—धर्मयुग—**२५** जून, १९६७

'कत्लगाह को जाने वाली पिंजड़ागाड़ी मेरा घर है, आधुनिक व्यक्तिमानव का यथार्थ प्रतिवेदन है। सचाई यही है कि सन् १९५७ के बाद की विकसित नवगीत-विधा की संरचना को तथा रचनाकारों को डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दोनों रूपों में प्रभावित किया है। यद्यपि यह सच है कि डा० शम्भुनाथ सिंह उम्र की दृष्टि से पिछली पीढ़ी के कवि हैं और सन् १९६० के बाद वाले नवगीत के रचनाकारों के क्रम में डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव, ओम प्रभाकर, नरेश सक्सेना, नईम, देवेन्द्र कुमार, शलभ श्रीराम सिंह, चन्द्रदेव सिंह उमाकान्त वर्मा, महेन्द्रशंकर, श्रीकृष्ण तिवारी, माहेश्वर तिवारी आदि ने पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली है, पर आधुनिकता बोध की तीव्रता में शम्भुनाथ सिंह के गीत आज भी सबसे आगे हैं।

उपर्युक्त सभी कवि 'नवगीत' और 'नई कविता' में तत्वतः कोई भेद नहीं मानते। इन्होंने गीति-शैली को अनिवार्य और काम्य मानकर अपनी सहजानुभूतियों को गीत के माध्यम से तथा उलझी मनोदशाओं को चित्र के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इनके यहाँ घरेलू भाव-चित्र, संकट-कालीन अध्याय अनास्था, ऊब, टूटने और घुटने को अच्छी अभिव्यक्तियाँ दी गई हैं। उनकी स्थिति को निम्न पंक्तियाँ स्पष्ट करती हैं—

कहाँ देवदारू की भुजाएँ,
कहाँ मोह-भंग समस्याएँ !
अनफूले फूल इस सदी के।
अन डूबे पाट हम नदी के।

डा० शम्भुनाथ सिंह इन सभी युवक नवगीतकारों के अग्रज और प्रेरक कवि रहे हैं। इन कवियों ने उनसे न केवल प्रेरणा और दिशा-निर्देश पाया है बल्कि सक्रिय सहयोग और स्नेहपूर्ण प्रोत्साहन भी पाया है। उनके सम्पादन में 'नवगीत दशक' नामक एक काव्य-संकलन शीघ्र ही प्रकाश्य है, उनके इन प्रयत्नों के कारण ही आज नवगीत हिन्दी कविता की एक विशिष्ट और स्वीकृत धारा के रूप में स्थापित हो सका है। वस्तुतः नयी कविता की स्थापना और उन्नयन करने वालों में जो स्थान अज्ञेय को प्राप्त है, नवगीतकारों में वही स्थान डॉ० शम्भुनाथ सिंह का है। छायावादोत्तर रोमानी गीत-काव्य और प्रगतिवादी काव्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बना लेने के बाद डॉ० शम्भुनाथ सिंह अन्य अनेक ख्याति प्राप्त कवियों की तरह अपनी जगह पर ठहर नहीं गये। वे निरन्तर आगे बढ़ते हुए नयी कविता के क्षेत्र में भी अग्रणी बने। यद्यपि अज्ञेय ने उन्हें 'सप्तकों में स्थान न देकर, पुष्करिणी' में स्थान दिया, (जिसमें श्रीधर पाठक से लेकर हंसुमार तिवारी और शिवमंगल सिंह सुमन तक संकलित किये गये हैं) और इस तरह यह सिद्ध करना चाहा कि शम्भुनाथ सिंह परम्परागत छायावादी धारा के कवि हैं, किन्तु उनके इस प्रयत्न के बावजूद डॉ० शम्भुनाथ सिंह नयी कविता के एक महत्वपूर्ण कवि के रूप में मान्य हुए। यही नहीं उन्होंने नयी कविता के कवियों से कई कदम आगे बढ़ कर 'नवगीत' की विधा को निश्चित रूप दे कर उसका सर्वाधिक उन्नयन भी किया। वे नवगीत के रचनाकार ही नहीं, व्याख्याकार भी हैं। 'कविता' के 'नवगीत' विशेषांक में उनका लेख इस दृष्टि से सबसे अधिक मूल्यवान है। अतएव उन्हें नवगीत का उन्नायक कवि कहना सर्वथा समीचीन है।

●

रचनाकार और समीक्षक : शम्भुनाथ सिंह

परमानन्द श्रीवास्तव

जिन लेखकों ने रचना और समीक्षा का दुहरा धर्म निभाते हुए समकालीन साहित्य के बारे में चलनेवाली बहसों में गम्भीर रुचि से हिस्सा लिया है और उसके प्रकाश में अपनी रचनात्मक चेतना का समय-समय पर सच्चे आत्मालोचन की दृष्टि से विचार किया है उनमें डॉ० शम्भुनाथ सिंह का नाम महत्व के साथ लिया जायेगा। शम्भुनाथ जी के लिए न केवल स्वाभाविक बल्कि जरूरी भी था कि 'रचना' और 'समीक्षा' के दुहरे स्तरों पर वे अपनी रचना प्रक्रिया के विश्लेषण की ओर झुकते। अपने समय के प्रभाव के कारण ही, पहले ही उन्हें लोकप्रियता और आन्तरिक संघर्ष की आपसी टकराहट का सामना करना पड़ा। उन्होंने स्वीकार किया है कि रचनात्मक लेखन के प्रारम्भिक दिनों में कवि-सम्मेलनों के माध्यम से ख्याति प्राप्त करने वाले युवा कवि दिनकर, बच्चन, नरेन्द्र आदि उनके आदर्श बने। शम्भुनाथ जी के अनुसार इन कवियों में 'अन्तर आलोक' और 'आत्मान्वेषण' की पीड़ा नहीं थी—जिधर मुड़कर ही लेखन के दूसरे दौर में उन्होंने रचना की अधिक सार्थक और प्रामाणिक जमीन की तलाश की। 'आन्तर आलोक' और 'आत्मान्वेषण' इतने 'गोले' शब्द हैं कि उन्हें लेकर अंधेरे में भी दूर तक बहस चलायी जा सकती है और दिनकर या बच्चन को सहज ही आपत्ति हो सकती है कि उपर्युक्त विशिष्टताओं से उनका काव्य-जगत् वंचित था। मेरे लिए इससे ज्यादा साफ और गहरा अन्तर शम्भुनाथ जी और उनके आदर्श कवियों में यह था कि 'रचना' की जरूरतों का विस्तार अपने काव्य-जगत में उन्होंने नहीं किया था। वे शुरू से ही उसे सरलीकरण या सामान्यीकरण की ओर ले जा रहे थे—जबकि शम्भुनाथ जी का झुकाव अपने बाद के लेखन-वर्षों में विशेषीकरण की ओर हुआ और आश्चर्य नहीं कि इधर उनके आदर्श कवि उनके समकालीन या अग्रणी कवि न होकर नये कवि ही हों जिन्होंने रचना की आन्तरिक विवशताओं को नये सिरे से पारिभाषित किया और जो 'नयेपन' की सच्ची सार्थकता को भी नयी दृष्टि से पहचान सके। इन पहलुओं पर ध्यान देने की जरूरत इसलिए है कि इनकी छाप शम्भुनाथ जी की

समूची रचनायात्रा पर है। उन्होंने कितनी ही बार में अपनी साहित्यिक मान्यताएँ बदली हैं और रचना का माध्यम भी उन्होंने कम नहीं बदला है। यह इसी से स्पष्ट है कि इन दिनों वे नाटक जैसी विधा की आन्तरिक संश्लिष्ट सम्भावनाओं की खोज कर रहे हैं और प्रकाशित नाटकों के परिप्रेक्ष्य में उनकी आन्तरिक रचनात्मक बेचैनी को नये सिरे से समझा जा सकता है।

कहाँ तो 'समय की शिला पर' शंभुनाथ जी के पुराने गीत (जिन्हे कवि-सम्मेलनों के अभ्यस्त श्रोता सुनते नहीं थकते) कहाँ उनके नए गीत (जिनमें नया संगीत, नये बिम्ब, नयी स्थितियाँ और अब तो विज्ञान के भी कुछ नए चमत्कारों पर आधारित नया रागाश्रित विवेक.........या फिर सबका ही मिला-जुला संस्कार है) ... कहाँ 'खंण्डित सेतु' की नयी कविताएँ (जिनमें हमारे समय की जटिल मानव नियति को अभिव्यक्ति दी गई है और चीजों को उनके 'सही नामों से' पुकारा गया है) .. एक 'विविधता' शंभुनाथ की काव्य यात्रा का खास गुण है जो उनकी रचना को समय समय पर परिष्कृत करती रही है और उनके ज्ञानात्मक संवेदन को बदलती रही है। यदि शंभुनाथ जी ने रचना की नयी जमीन और भाषा न खोज ली होती तो बड़ी आसनी से इस 'विविधता' को कुछ पंत जी वाली विविधता से जोड़ दिया जाता—आखिर मान्यताएँ तो उन्होंने भी बदली हैं। हां, लेकिन मान्यताएँ ही। किसी तरह शंभुनाथ जी की तरह पंत जी आज नाटक लिखने चलें तो वे आज के नाटक तो नहीं ही हो सकेंगे और सब मिलाकर 'रजत शिखर' ही साबित होंगे। जाहिर है कि शंभुनाथ जी के नये रचनात्मक विवेक और भाषा के पीछे नवलेखन के संस्कार हैं ... 'संस्कार' इसे रेखांकित करना जरूरी है क्योंकि नवलेखन के विकारों से शंभुनाथ जी को खास शिकायत और परहेज है।

शंभुनाथ जी के लिए—

......जहाँ कोई रास्ता नहीं जाता
वहाँ भी एक घर है
जिसमें दरवाजे और खिड़कियां
और दीवालें और छत नहीं हैं।
उस घर में कोई नहीं रहता।
वह घर आदमी है
जो सबका अपना घर है।

और यह अकारण नहीं कि शंभुनाथ जी सबसे पहले अपने समय के 'आदमी' को ही पहचानना चाहते हैं ··· किशोर जीवन की धड़कनों में जीने वाले स्वप्नशील 'आदमी' से लेकर विज्ञान के युग में अंतरिक्ष यात्रा करने वाले 'आदमी' तक ··· ··· ··· यह पहचान समकालीन परिस्थितियों की समझ से समृद्ध होती गई है।

शंभुनाथ जी की समीक्षा-प्रवृत्ति पांडित्यधर्मी अर्थात् स्थिर नहीं है। उनमें पुस्तक-पकी आखें ही नहीं अपने समय का साक्षात्कार करने वाली दृष्टि भी झलकती है। पर यह शंभुनाथ जी का स्वाभाविक क्षेत्र नहीं है — विवशता का क्षेत्र है। अपने समय एवं साहित्य की सम्वेदना को नजदीक से देखने के लिए उन्होंने समूची साहित्य परम्परा और उसके आधुनिक परिदृश्य को लेकर अपने समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं। 'छायावाद-युग' नाम से प्रकाशित शंभुनाथ जी का शोधग्रन्थ भी साहित्य के मूल्यांकन-संसार में रमने वाले पाठकों एवं अध्येताओं में काफी ख्याति पा चुका है। छायावाद के मूल्यांकन में भी वे जिस नई दृष्टि और सहृदयता का परिचय दे सके हैं या फिर उस युग की सामाजिक विसंगतियों को पारिभाषित कर सके हैं उसे उनकी रचना-यात्रा के विकास के साथ ही देखा जा सकता है। जैसा उन्होंने स्वीकार भी किया है, उनके समीक्षात्मक निबन्धों में 'नवीन साहित्यिक मूल्यों की खोजबीन' और 'वर्तमान वैज्ञानिक प्रगति के परिप्रेक्ष्य में आधुनिक हिन्दी साहित्य की कुछ उपलब्धियों का अध्ययन' किया गया है। उन्हीं के शब्दों में उनका दृष्टिकोण यहां 'लोकतांत्रिक' और सामाजिक' है।

शंभुनाथ जी का झुकाव 'रचना' से 'समीक्षा' की ओर है— 'समीक्षा' से 'रचना' की ओर नहीं। दूसरे शब्दों में उनकी समीक्षा-प्रवृत्ति रचनाधर्मी समीक्षा-प्रवृत्ति के ही निकट है। स्पष्ट है कि यहां कुछ 'अधूरे संकेत' ही दिए जा सके हैं —जो शंभुनाथ जी के साहित्य में रचनाकार और समीक्षक के अन्तसम्बन्ध की व्याख्या में सहायक हो सकते हैं। कभी विस्तार से यह व्याख्या भी की जा सकेगी—और तब उनके सम्पूर्ण कृतित्व की अधिक गहरी अंतर्यात्रा करनी होगी।

●

ऊलजलूल नाटक की शुरूआत

●

डा० बच्चन सिंह

हिन्दी साहित्य में नाटक की विधा सबसे ज्यादा कमजोर है। योरप और अमरीका में आज की जिन्दगी को जितनी व्याप्ति और गहराइयों में नाटक में अङ्कित किया गया है उतनी अन्य किसी विधा में नहीं। हमारे साहित्य में इस कार्य को मुख्य रूप से कहानी और कविता के माध्यम से किया जा रहा है। नाटकों की ओर से हम उदास हैं। यह उदासी रंग-मंच के अभाव के कारण भी हो सकती है और दृष्टिगत पैनेपन की कमी के कारण भी। इधर जो कुछ नाटक लिखे गये हैं वे किसी क्रान्तिकारी कदम के द्योतक नहीं हैं। डॉ० शम्भुनाथ सिंह की नजर इधर गई है और उन्होंने कुछ एकांकी और एक नाटक लिख कर हिन्दी नाट्य साहित्य की नवीन सम्भावनाओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। यों मूलतः वे रोमेंटिक कवि हैं, यद्यपि उन्होंने नई कविता लिखने की कोशिश भी की है। किन्तु उनके नाटकों को देखकर यह कहा जा सकता है कि यदि उन्होंने इस दिशा में जम कर कार्य किया तो कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हाथ लग सकती हैं।

उनके इधर के नाटकों से मेरा मतलब ऊलजलूल यानी 'ऐब्सर्ड' नाटकों से है। पिछले डेढ़ दशकों में ऊलजलूल थिएटर ने दुनियाँ को चौंकाया ही नहीं बल्कि हक्का-बक्का कर दिया। लोगों के देखते-देखते नाटक के पुराने प्रतिमान ढह गये, वर्गीकरण के पुराने खाते बन्द हो गये, तकनीक के सुनिर्णीत तन्त्र व्यर्थ सिद्ध हुए, आदि-मध्य-अन्त के फार्मूले कथावस्तु-चरित्र-चित्रण आदि की पुरानी पहचान नाम शेष रह गए। नाटककारों का उद्देश्य दर्शकों-पाठकों को कोई हल थमाना, नुस्खा बताना नहीं रह गया। दर्शकों और कवि में तादात्म्य द्वारा रसानुभूति की निष्पत्ति भी उनके लिए व्यर्थ थी। अब आस्वाद का धरातल ही बदल गया। इस परिवर्तन को समझने के लिए ऐब्सर्ड थिएटर को किंचित् विस्तार में समझना होगा।

पहले तो यही प्रश्न उठता है कि यह ऐब्सर्डिटी क्या है ? क्या यह जीवन की व्यर्थता, अर्थहीनता और निर्मूल्यता का द्योतक है ? क्या यह जीवन और मौत के चौराहे पर गुमराह मनुष्य के नैराश्य, घुटन और व्यथा की कथा है ? क्या यह अपने ही कन्धे पर अपनी लाश ढोते हुये ऐसे आदमी की कहानी है जो दुनियाँ में 'मिसफिट' और 'आउट साइडर' है ? क्या यह भाषा-हीन मनुष्य के मौन का आख्यान है ? क्या यह भाषा की असंप्रेषणशीलता का व्याख्यान है ?

कामू ने 'मिथ आफ सेसिफस' में 'ऐब्सर्डिटी' की तर्कसंगत और मूल्यपरक व्याख्या की है। उसका कहना है कि इसका प्रादुर्भाव तब होता है जब आदमी अपने यान्त्रिक जीवन को ढोने और बर्दाश्त करने में असमर्थ हो जाता है। इस स्थिति पर वह बार-बार प्रश्नचिह्न लगता है और उसकी मुद्रा में 'क्यों ?' बन जाता है। यह मुद्रा ही जिन्दगी को उबार सकती है, यद्यपि मनुष्य परिस्थितियों के सामने अक्सर हथियार डाल देता है।

मनुष्य को पहला एहसास मौत का होता है। जन्म लेने वाले की मृत्यु ध्रुव है। मृत्यु उसका अनिवार्य दुश्मन है। मौत के प्रति यह चेतना कि जीवन का कुछ आनन्द लेकर वह मर जायगा ऐब्सर्डिटी की पहली सीढ़ी है। इसके बाद वह प्रकृति से अपने सम्बन्धों की खोज करता है। नवयुवक प्रायः वर्डस्वर्थ या कौसानी के पन्त के स्वर में स्वर मिलाकर पेड़ों, पौधों, जंगलों, पहाड़ों, हरे-भरे मैदानों, चहकते पक्षियों आदि से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। किन्तु सहसा उसे लगता है कि प्रकृति के पंजे में मनुष्य का खून लगा हुआ है अथवा उसके प्रति कोई लगाव नहीं रखती, उसकी कोई चिन्ता नहीं करती। कामू के शब्दों में वह खुद 'प्लेग' है। आदम के पुत्रों के लिए वह नीरस, कठोर और ठंडी है। ऐब्सर्डिटी का यह दूसरा सोपान है। अब वह राहत की तलाश में अपनी ओर लौटकर और भी अधिक निराश होता है। उसकी मानवता, कुछ भी वरण कर सकने की स्वतन्त्रता, आन्तरिक शक्तियों को क्रियाशील बनाने की क्षमता उसको मुँह चिढ़ाने लगती है। वह देखता है कि वह मशीनी जिन्दगी बिता रहा है, उसकी अपनी आकांक्षाओं और दुनियाँ की इच्छाओं के बीच दुर्लंघ्य खाईं है। उसके रंगीन सपने की जगह मौत, अकेलापन और यान्त्रिक जड़ता उसके स्वागत को तैयार मिलती हैं। मतलब यह कि उसकी आकांक्षित जिन्दगी और वास्तविक जिन्दगी में गहरा अन्तराल पड़ जाता है।

बेकेट के 'वेटिंग फार गोदो' में इसी अन्तराल को आंका गया है। आइनेस्को भी बहुत दूर तक बेकेट का साझीदार है। पर उसकी मुख्य समस्या प्रेषणीयता

की है। उसके अनेक नाटकों में इसे लिया गया है। या तो पात्र के पास प्रेषित करने के लिए कुछ है ही नहीं या यदि है तो उसको दूसरा समझ नहीं पाता। 'सोप्रेनो' भाषा की ट्रेजिडी है। 'लेसन' 'चेयर' आदि में भी किसी न किसी रूप में इसे लिया गया है। 'लेसन' में 'भाषाविज्ञान' को बहुत खतरनाक बताया जाता है। 'चेयर' का वक्ता मूक है। बेकेट और आइनेस्को से जिनेत सर्वथा भिन्न है। वह उनकी धारणाओं को उलट देता है। बेकेट और आइनेस्को के पात्र आसुरी शक्तियों से लडने की कोशिश करते हैं, लेकिन जिनेत उनसे हाथ मिलाता है, उनका स्वागत करता है। अगर संप्रेषणीयता संभव नहीं है तो वह असंप्रेषणीयता में आनन्द लेगा। यदि मनुष्य अपनी ईमानदारी, आस्था, भिन्न लैंगिक प्रेम में निराश है तो जिनेत उसे चोरी, धोखा और समलैंगिक प्रेम की और ले जायगा बेकेट का गोदो न आए, न दिखाई दे, कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि उसके स्थान पर मनुष्य की अभ्यर्थना शैतान कर लेगा।

ऐब्सर्ड नाटकों पर नीत्शे के उस कथन का भी गहरा प्रभाव है कि 'ईश्वर मर गया।' बेकेट का ईश्वर से गहरा संबंध है। वह बाइबिल के ईश्वर की मौत को स्वीकार कर लेता है लेकिन ईश्वर-तत्व की मौत उसे स्वीकार नहीं है उसके नाटकों में बाइबिल के संदर्भ प्रायः मिलेंगे। आइनेस्को इस बहस में नहीं पड़ता। जिनेत की शून्य की अवधारणा बौद्धों के निर्वाण से मिलती जुलती है।

इन नाटकों में आज के जीवन को गहरे अर्थ में लिया गया है। किसी भी नाटक के पात्र और परिवेश से हम तादात्म्य नहीं कर पाते, क्योंकि पात्र मनुष्य के कैरीकेचर होते हैं, संवाद में तर्कानुमोदित अनुक्रम नहीं होता। इसीलिए प्रारम्भ में मैंने कहा है कि आज आस्वाद का धरातल ही बदल गया है। नाटककार अपने 'विजन' को व्यक्त करता है, क्योंकि वैसा करने के लिए वह विवश है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह के नाटकों में भी नाटक के पूर्वनिश्चित प्रतिमान खण्डित हो गए हैं, क्योंकि ये ऊलजलूल परम्परा के नाटक हैं। उनके ऊलजलूल नाटकों पर आइनेस्को और बेकेट का विशेष प्रभाव है। इसीलिए ऊलजलूल नाटकों को किंचित विस्तार में विवेचित करना पड़ा।

'कल्पना' में प्रकाशित 'दीवार की वापसी' में यान्त्रिक जीवन की जड़ता को चित्रित किया गया है। इसमें मध्यवर्गीय जीवन का जो कैरीकेचर खींचा गया है वह ट्रैजिडी-कामेडी है, अधिक गहरे अर्थ में ट्रैजिडी है। लेकिन इस प्रकार का कोई शब्द इसे ढँक नहीं पाता। इसलिए इसे ऊलजलूल एकांकी कहना बेहतर है।

पात्रों के नामों का न होना इस बात का द्योतक है कि उनका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। उन्हें जिस साँचे में ढाल दो ढल जायेंगे। अपनी यांत्रिकता से ऊब कर 'क' ज्यों ही 'क्यों' की मुद्रा धारण करता है, वह पागल करार दे दिया जाता है। जो सचाई की तलाश करेगा उसे यही संज्ञा मिलेगी। उसकी ऐब्सर्डिटी जीवन को अर्थ देने में है, उसे सोद्देश्य बनाने में है। लेकिन उसकी आकांक्षित जिन्दगी और दुनियाँ की इच्छाओं के बीच जो खाई है उसे कौन पाटेगा ? दीवार की वापसी से वह अपने यांत्रिक जीवन में अपनी समस्त घुटन के साथ लौट जाता है। लौटना उसकी नियति, आज के यांत्रिक जीवन की नियति है। आँख खुली रहने पर वह एकदम 'क्रेजी' हो जाता है, इसलिए आँख पर पट्टी बाँधना जरूरी है। समाज के साथ उसका मेल इसी हालत में हो ही सकता है।

मुखौटा इसका ऐसा प्रतीक है, जो एकांकी में काफी दूर क्रियाशील रहता है। वह खुद मुखौटा लगाता है और दूसरों को भी लगाए देखना चाहता है। अब आदमी आदमी न रह कर मुखौटा हो गया है। 'ये सबके सब (भेंड़ का मुखौटा उठाकर) भेंड़ हैं, (गीदड़ का मुखौटा उठाकर) गीदड़ हैं, (गधे का मुखौटा उठाकर) गधे हैं (लोमड़ी का मुखौटा उठाकर) लोमड़ी हैं। बदसूरत, मक्कार, डरपोक, कमअक्ल, छिपकर वार करने वाले हिंसक !' मुखौटे समझ-बूझ कर खरीदे गए हैं।

उनका दूसरा नाटक 'अकेला शहर' तीन अंकों का ऐब्सर्ड नाटक है। यद्यपि इस नाटक को जीवन के व्यापक संदर्भ में लिया गया है फिर भी यह ऐब्सर्डिटी वैसी गहराई में नहीं उभार पाता जैसी गहराई में दीवार की वापसी उभार पाती है। इस नाटक में अकेलापन, वरण की स्वातंत्र्यहीनता, भाषागत अप्रेषणीयता और यांत्रिक जड़ता को लिया गया है। पर मुख्यतः इसका केन्द्रीय वक्तव्य है— 'एनीमेफोबाइरिस'। सारा सभ्य जीवन इसी बीमारी का शिकार है। इसे दूर करने लिए 'आरसेनिकोमाइड' की सूई लगनी आवश्यक है।

इस नाटक की कमजोरी यह है कि 'एनीमेफोबाइरिस' मात्र प्रतीक बन कर रह जाता है। वह जीवन की ऐब्सर्डिटी को न छूकर बौद्धिक धरातल की ऐब्सर्डिटी को व्यक्त करता है। सारा नाटक अध्यवसित रूपक हो जाता है। फिर इसका हल भी है 'आरसेनिकोमाइड'।

अकेलेपन को फ्रायडीय संदर्भ में देखा गया है। वरण की स्वतंत्रता को सेक्स तक सीमित कर देने से, एब्सर्ड थिएटर के तंत्र का आधार लेने पर भी, अकेले-

पन का आयाम संकुचित हो गया है। रवि बाबू का प्रतीक अयथास्थान और असंगत रूप में लाया गया है। जीवन की आज की असंगतियों में रवि बाबू के अनुषंग गोल सूराख में चौकोर खूँटी से प्रतीत होते हैं।

भाषागत ट्रेजिडी को जिस ढंग से उठाया गया है उस ढंग से वह ट्रेजिडी का बोध नहीं करा पाती। मोशाइ की भाषा अन्य पात्र नहीं समझते। यदि इसे सैद्धांतिक रूप से न प्रस्तुत कर व्यावहारिक रूप से प्रस्तुत किया गया होता तो वह वास्तविक ट्रेजिडी हो सकती थी। मोशाइ का बार-बार यह कहना कि तुम बनावटी भाषा बोलते हो भाषागत असंप्रेषणीयता को उसकी जटिलता में नहीं चित्रित करता। यह इस चित्रण की ट्रेजिडी है। यों आखिर में हकलाने का दृश्य प्रस्तुत किया गया है वह आज के गूंगेपन को प्रभावकारी रूप में उजागर करता है।

इसके संवाद से भी मुझे शिकायत है। नाटक के पूर्वार्ध में यह नपा-तुला न होने के कारण जीवन की ऐब्सर्डिटी को अर्थपूर्ण ढंग से उभारता है। किंतु उत्तरार्ध में खंडता-अखंडता से संबद्ध प्रश्न तर्कानुमोदित और प्रसंगगत होने के कारण अर्थ-हीनता को नहीं चित्रित कर पाते।

इस नाटक का सबसे जबर्दस्त प्रतीक है—सूखा कुंआ। उसमें मोशाइ ही नहीं रहते, सभी लोग रहते हैं। कांटा केवल उसी को नहीं धंसा है। सभी को धंसा है। जो लोग इसे महसूस करते हैं उन्हें दर्द होता है और जो लोग महसूस नहीं करते उन्हें दर्द नहीं होता है।

शंभुनाथ जी पहले भी कई एकांकी लिख चुके हैं, उनका एक नाटक भी 'धरती और आकाश' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। यहाँ मैंने उनके उन्हीं नाटकों की चर्चा की है जो ऐब्सर्ड नाटकों के संदर्भ में आज के जीवन की जटि-लता और व्यर्थता को उभारते हैं। उपर्युक्त नाटकों में आज के जीवन को उसकी अर्थहीनता में लेने का जो प्रयास किया गया है उसके पीछे नाटककार की मूल्य-गत चेतना भी है। वह 'क्यों' की मुद्रा के साथ दिखाई देती है।

इसके साथ मेरे मन में एक सवाल उठता है। जिस एब्सर्ड थिएटर का सिलसिला पश्चिम में समाप्त-सा हो गया है उसे क्या यहां शुरू करना चाहिए? बेकेट, आइनेस्को और जिनेत के अधिकांश नाटक १९५० के आसपास लिखे गये। १९६० तक आते-आते उनकी लोकप्रियता समाप्तप्राय हो गई। शायद बेकेट को 'हैपी डेज' और 'प्ले' के आगे कुछ नहीं कहना है, आइनेस्को को भी बेरेंजर

नाटकों से अधिक कहना शेष नहीं रहा। 'दीस्कीन्स' के पश्चात् संभवतः जीनेत भी मौन हो जाय।

मेरा सवाल है कि इस देश में योरोप के विगत आन्दोलन जिन्दा होते रहे हैं। इसलिए एब्सर्ड नाटक की शुरुआत करने में कोई हर्ज नहीं है। इन नाटककारों के साथ हमें ब्रेख्त के नाटकों से भी प्रेरणा लेनी चाहिए। लेकिन सबसे आवश्यक तो यह है कि हम अभिज्ञानशाकुंतल, मालविकाग्निमित्र, मृच्छकटिक, मुद्राराक्षस आदि नाटकों से बहुत कुछ ग्रहण कर उन्हें नए संदर्भ दें। ऐसी हालत में हम योरप से अलग अपनी नाट्य परम्परा की नई शुरुआत कर सकते हैं। शंभुनाथ सिंह जी ने अपने कुछ ही नाटकों द्वारा जिस प्रतिभा का परिचय दिया है उससे हमें आशा है कि अपने स्रोतों से अनुप्रेरित होकर वे इस दिशा में पहल कर सकेंगे।

———

शम्भुनाथ सिंह की शोधात्मक उपलब्धि

डॉ० वासुदेव सिंह

डा० शम्भुनाथ सिंह 'अविचारित रमणीय' और 'विचारित सुस्थ' का गंगा-यमुनी संगम है। वांग्मय के दोनों पक्षों-काव्य और शास्त्र पर उनका समान अधिकार है। उनमें कारयित्री प्रतिभा अथवा राजशेखर के शब्दों में 'भावयित्री प्रतिभा' भी प्रखर रूप से विद्यमान है। वह कवि, कहानीकार और एकांकी-कार हैं ही, सजग समीक्षक और सुधी गवेषक भी हैं। हिन्दी महकाव्य का स्वरूप विकास, छायावाद युग, हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका, प्रयोगवाद और नई कविता आदि आपके शोधपरक एवं समीक्षक ग्रंथ हैं। इन रचनाओं से आपकी दूरदर्शिता, नीर-क्षीर विवेक-शक्ति और गहन अध्ययन का पता चलता है।

महाकाव्य एक प्राचीनतम काव्य-विधा है। भारत तथा पाश्चात्य देशों में महाकाव्य-प्रणयन एवं उसके स्वरूप लक्षण आदि पर विचार अत्यन्त प्राचीन काल से होता रहा है। अपने यहाँ भामह, दण्डी, रुद्रट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, आदि ने महाकाव्य के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है और पाश्चात्य काव्य-शास्त्रियों में अरस्तू, दावेनांत (इटली) टैसो, बांसू, आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी में महाकाव्यों की रचना प्रारम्भ (आदि काल) से ही होने लगी थी, किन्तु उनके स्वरूप, लक्षण आदि की ओर ध्यान आधुनिक युग के विद्वानों का ही गया और आधुनिक युग में भी इस महत्वपूर्ण विधा पर जो कार्य हुआ, वह छिटफुट, अपूर्ण अथवा एक-दो महाकाव्यों को ही विशेष रूप से ध्यान में रख कर था। डा० शम्भुनाथ सिंह ने सर्वप्रथम महाकाव्य के उद्‌भव, विकास, स्वरूप परम्परा और महाकाव्य के उदय और उसके परिवेश के अतिरिक्त हिन्दी के प्रमुख महाकाव्यों—पृथ्वीराजरासो, आल्हखण्ड, पद्मावत, रामचरितमानस और कामायनी का विस्तृत अध्ययन किया है। इस अध्ययन की कतिपय प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(१) भारतीय महाकाव्यों व आलंकारिकों तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् महाकाव्य के शाश्वत् लक्षणों का निर्धारण।

(२) हिन्दी की पूर्ववर्ती—संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के महाकाव्यों का अध्ययन करके हिन्दी के महाकाव्यों को उसी परम्परा की एक कड़ी के रूप में जोड़ना। यह प्रमाणित करना कि हिन्दी के प्रारम्भिक महाकाव्य अपभ्रंश की महाकाव्य परम्परा में आते हैं।

(३) महाकाव्य को साहित्यिक दृष्टि से देखने के साथ उसे समाजशास्त्र, राजनीति, इतिहास, धर्म, दर्शन आदि के व्यापक परिपार्श्व में रख कर देखने का प्रयास।

(४) हिन्दी के प्रमुख महाकाव्यों की विस्तृत समीक्षा।

डाक्टर साहब यह मान कर चले हैं कि महाकाव्य 'मानव जाति का अत्यन्त प्राचीन काव्य-रूप है, पर साथ ही अपने पूर्व के अन्य काव्य रूपों की स्थिति की सूचना भी देता है[1]।' उनका अनुमान है कि उसे विकास क्रम में निम्नलिखित सोपानों से गुजरना पड़ा होगा :

१—सामूहिक गीत नृत्य।
२—आख्यानक नृत्य गीत।
३—आख्यान और गाथा।
४—गाथा-चक्र,
५—प्रारंभिक महाकाव्य, तथा
६—अलंकृत महाकाव्य।

इस विकास क्रम में वह क्रमशः अनेक तत्वों को ग्रहण करता हुआ, विभिन्न क्षेत्रों—पौराणिक विश्वास, निजन्धरी आख्यान, ऐतिह्य और वंशानुक्रम समसामयिक घटनाओं, लोक-गाथा और लोककथाओं से सामग्री संचयन करता हुआ, लोक कंठ और लेखनी दोनों माध्यमों से पुष्ट होता हुआ, शैलियों—शास्त्रीय, अलकृत, रोमांचक, ऐतिहासिक, पौराणिक, रूपक कथात्मक, नाटकीय प्रगीतात्मक, मनोविश्लेषणात्मक और स्वच्छन्दतावादी—को स्वीकारता हुआ मानव मात्र की कहानी अपने अन्तस में संजोये हुए, समूची परम्परा की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और अनिवार्य शृङ्खला के रूप में विद्यमान है।

१—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, पृष्ठ ४।

महाकाव्य के स्वरूप को लेकर भारतीय अथवा पाश्चात्य आचार्यों में जो ऊहापोह हुआ और तर्क-वितर्क दिये गये हैं, डाक्टर साहब ने उसके अध्ययन में सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है। इस सन्दर्भ में पूर्ववर्ती विद्वानों में मान्य सिद्धांतों अथवा पूज्य आचार्यों का अन्धानुकरण न करके आप पूर्वग्रहशून्य निरपेक्ष दृष्टि से विचार करते हुए नये निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। आपके निष्कर्षों अथवा मान्यताओं से सभी सहमत भले न हों, किन्तु उनकी निर्णय शक्ति और तटस्थ दृष्टि पर कोई अंगुली नहीं उठा सकता। उदाहरणस्वरूप महाकाव्य की परिभाषा की आवश्यकता पड़ने पर विद्वानों का ध्यान झट से दण्डी, भामह, अथवा विश्वनाथ के पास पहुँच जाता था। रुद्रट को प्रायः भुला-सा दिया गया था। आपने इन सभी आचार्यों की परिभाषाओं का विश्लेषण करते हुए रुद्रट को अधिक महत्व दिया है। उनके विचार से रुद्रट की परिभाषा में अधिक व्यापकता है, क्योंकि वह 'महाभारत–रामायण और प्राकृत- अपभ्रंश के महाकाव्यों को भी ध्यान में रख कर बनाई प्रतीत होती है[1]।' यही नहीं 'रुद्रट के महाकाव्य सम्बन्धी लक्षण यूरोपीय वीर-काव्यों' के लक्षणों से भी मिलते हैं, क्योंकि उन्होंने नायक और प्रतिनायक दोनों का वर्णन, दोनों का परस्पर युद्ध और नायक की विजय को महत्व दिया है। ... ... इस परिभाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें युग-जीवन के विविध रूपों, पक्षों और घटनाओं को चित्रित करने की बात बहुत स्पष्ट रूप में और विस्तार के साथ कही गई है[2]।

महाकाव्य के शाश्वत् और स्थायी लक्षणों की खोज के लिये आपने न केवल संस्कृतेतर भारतीय आचार्यों के मतों का अध्ययन किया है, अपितु अरस्तू से लेकर ग्रिम, शिलर, गेटे, टेनब्रिक, चाइल्ड केर, किटरिज, बाक्स, एबरक्रोम्बी और डिक्सन आदि पाश्चात्य प्राचीन और आधुनिक विचारकों को भी ध्यान में रखा है। इससे आपके अध्ययन के विशाल क्षितिज का पता चलता ही है, सच्चे शोधार्थी की ज्ञान-पिपासा का प्रमाण भी मिल जाता है। यही नहीं, हिन्दी के महाकाव्यों की समीक्षा करते समय आलोचकों का ध्यान प्रायः संस्कृत के लक्षण ग्रंथों तक ही जाता था, और उनमें गिनाये गये लक्षणों के समावेश या अभाव के आधार पर विद्वान् किसी भी ग्रंथ को महाकाव्य की संज्ञा से अलंकृत अथवा वंचित कर देते थे। संस्कृत और हिन्दी के बीच प्राकृत और अपभ्रंश काव्य परम्परा की जो महत्वपूर्ण कड़ी रही है, उसकी प्रायः उपेक्षा कर दी जाती थी। आचार्य हजारी

१—'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास'—पृष्ठ—५१।
२—'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास'—पृ०-५१।

प्रसाद द्विवेदी ने सम्भवतः इस कड़ी को सर्वप्रथम जोड़ने का सराहनीय कार्य किया। उन्होंने भाषा और साहित्य अथवा रूप-शिल्प और कथ्य दोनों दृष्टियों से अपभ्रंश और हिन्दी का अविच्छिन्न सम्बन्ध ही नहीं जोड़ा, आधुनिक हिन्दी साहित्य को छोड़कर शेष सभी काव्यधाराओं और शैलियों को अपभ्रंश का स्वाभाविक विकास भी बताया। आपने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि 'छन्द, काव्यरूप, काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोकभाषा-साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश में प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है[1]।' डा० शम्भुनाथ सिंह जी की भी मान्यता है कि हिन्दी का 'सहज विकास संस्कृत की ओर से नहीं प्राकृति अपभ्रंश की ओर से हुआ है। अतः हिन्दी के काव्य रूपों का विवेचन प्राकृत-अपभ्रंश के आधार पर विशेषरूप से होना चाहिए, केवल संस्कृत के अलंकार शास्त्रों के आधार पर नहीं[2]।' एतदर्थ आपने अपभ्रंश के शास्त्रीय, पौराणिक, रोमांचक और ऐतिहासिक आदि चारो शैलियों के महाकाव्यों की विस्तृत समीक्षा की है और अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में प्रयुक्त काव्य-रूढ़ियों, छन्दों और अन्य विशेषताओं का सन्निवेश हिन्दी महाकाव्यों में भी खोज निकाला है।

आपके मत से विभिन्न देशों और युगों के विभिन्न शैलियों के महाकाव्यों के सामान्य स्थायी लक्षण हैं :

१—महदुद्देश्य, महत्प्रेरणा और महती काव्य प्रतिभा,
२—गुरुत्व, गाम्भीर्य और महत्व,
३—महत्कार्य और युग-जीवन का समग्र चित्रण,
४—महत्वपूर्ण नायक,
५—सुसंगठित जीवन्त कथानक,
६—गरिमामयी उदात्त शैली,
७—तीव्र प्रभावान्विति और गम्भीर रस-व्यंजना।

इन्हीं लक्षणों के आधार पर आपने महाकाव्य की यह परिभाषा दी है :

'महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्य रूप है जिसमें क्षिप्र कथाप्रवाह या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित, सांगोपांग और जीवन्त लम्बा कथानक होता है, जो रसात्मकता या प्रभावान्विति

१—'हिन्दी साहित्य'—पृ०-४३।
२—'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास'—पृ०-५६।

उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ होता है, जिसमें यथार्थ कल्पना, या सम्भावना पर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रों के महत्वपूर्ण जीवन वृत्त का पूर्ण या आंशिक चित्रण होता है, जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं और जिसमें किसी महत्प्रेरणा से परिचालित होकर किसी महदुद्देश्य की सिद्धि के लिये किसी महत्वपूर्ण गम्भीर अथवा आश्चर्योत्पादक और रहस्यमय घटना या घटनाओं का आश्रय लेकर संश्लिष्ट और समन्वित रूप से जाति-विशेष और युग-विशेष के समग्र जीवन के विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं अथवा नाना-रूपात्मक कार्यों का वर्णन और उद्घाटन किया गया रहता है और जिसकी शैली इतनी उदात्त और गरिमामयी होती है कि युगयुगान्तर में उस महाकाव्य को जीवित रहने की शक्ति प्रदान करती है[1] ।'

इस परिभाषा में न तो केवल वाह्य लक्षणों की गिनती मात्र गिनाने का उपक्रम हुआ है और न किसी महाकाव्य-विशेष को ही आदर्श मान कर उसमें प्राप्त विशेषताओं को परिभाषाबद्ध करने की चेष्टा की गई है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आपने महाकाव्यों की समीक्षा करते समय तत्कालीन पूरे परिवेश का अध्ययन किया है और युग-विशेष की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों को ध्यान में रख कर विवेच्य-ग्रन्थ का मूल्यांकन किया है । विषय के साथ पूर्ण न्याय करने का संकल्प लेकर कार्य करने वाले डा० शम्भुनाथ सिंह ने साहित्य के अतिरिक्त समाजशास्त्र, राजशास्त्र, इतिहास, धर्म और दर्शन के व्यापक परिपार्श्व में महाकाव्य को देखा है, क्योंकि साहित्य और उसके इतिहास के सम्बन्ध में आपकी मान्यता है कि 'यह सोचना नितान्त भ्रमपूर्ण है कि किसी समाज या देश के राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्रों की क्रियायें परस्पर असम्बद्ध होती हैं और उनका इतिहास भी अलग-अलग होता है । वस्तुतः इतिहास एक अखण्ड सत्ता है, जिसमें चेतना के सभी आयाम अविच्छिन्न होते हैं । इस दृष्टि से देखने पर इतिहास एक प्रवाह प्रतीत होगा, जिसमें राजनीति, धर्म, संस्कृति समाज-व्यवस्था, साहित्य, कला, विज्ञान, प्रविधि आदि सभी मानवीय प्रयत्नों का समावेश रहता है[2] ।'

इस प्रकार एक व्यापक फलक में साहित्य को रख कर महाकाव्य की आदर्श कसौटी या शाश्वत लक्षण निर्धारित करने के पश्चात् आपने हिन्दी महाकाव्य के

१—'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास'—पृष्ठ १०८ ।

२—'हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका' (प्राक्कथन)—पृष्ठ ३ ।

स्वरूप विकास का अध्ययन प्रस्तुत किया है। आपकी कसौटी पर हिन्दी के केवल पाँच महाकाव्य खरे उतरे हैं, जिनकी आपने अत्यन्त विस्तृत और प्रमाणिक समीक्षा की है। वे ग्रंथ हैं—'विकसनशील महाकाव्य', पृथ्वीराजरासो', 'विकसनशील लोक महाकाव्य, 'आल्ह-खण्ड', 'रोमांचक महाकाव्य' 'पद्मावत', 'पौराणिक महाकाव्य' 'रामचरित्र मानस' और 'रूपककथात्मक महाकाव्य' 'कामायनी'। ये पांचों रचनाएँ भी ऐसी हैं, जिनके काव्यरूप को लेकर काफी उलझन और विवाद रहा है। विवाद का कारण विवेच्य ग्रन्थों की भिन्न-भिन्न शैलियां कम, विवेचकों के दोषपूर्ण मापयंत्र अथवा दृष्टिदोष अधिक कहा जायेगा। कुछ आलोचकों की पूर्वग्रहयुक्त हठधर्मी भी उलझाव का कारण रही है और इनमें से कुछ महानुभावों ने न केवल इन कृतियों के काव्य रूप अथवा शिल्प पर ही विवाद खड़ा किया, अपितु एक-दो रचनाओं के अस्तित्व को ही चुनौती दे डाली। डा० शम्भुनाथ सिंह के शोध की गरिमा तथा सचाई इस तथ्य में है कि आपने उपरोक्त सभी विवादास्पद प्रश्नों को उठाया है और उनके समाधान का सफल प्रयास किया है। 'पृथ्वीराजरासो' के महाकाव्यत्व पर विचार करने के पूर्व आपने उसकी प्रामाणिकता की छानबीन की है, भाषा, छन्द, काव्यरूप और कथानक रूढ़ियों के आधार पर उसकी प्राचीनता सिद्ध करने की चेष्टा की है और उसकी विकास-परंपरा के सूत्रों को जोड़ने का प्रयास किया है और तब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वर्तमान् 'रासो' न तो जाली है, न मौलिक। उसका कर्ता 'कोई एक व्यक्ति नहीं, बल्कि वह समूचा युग-समाज है जिसके कन्धों पर भारतीय स्वातंत्र्य की रक्षा का उत्तरदायित्व सैकड़ों वर्ष तक रहा, जो भारतीय संस्कृति और हिन्दू धर्म का प्रहरी था[1]। जातीय जीवन में प्राण संचार करने वाले, उसमें स्वातन्त्र्य और बलिदान का मंत्र फूंकने वाले, युगव्यापी विराट चेतना की प्रतिध्वनि और काव्यात्मक इतिहास 'रासो' को महाकाव्य न कहा जाय, तो क्या कहा जाय?

'आल्हखण्ड' को महाकाव्य सुनकर तो बहुत से लोग चौंके भी होंगे, शायद अब भी चौंकें, क्योंकि इसके तो कर्ता का ही अबतक निश्चित तौरपर पता नहीं लग सका है। लोक कंठ से विकसित होता हुआ यह वीर-गीत-सम्पन्न काव्य आज अनेक रूप धारण कर चुका है। स्थान-भेद और भाषा-भेद के आधार पर इसके अनेक मौखिक और लिखित संस्करण मिल जायेगें। इसके सम्बन्ध में आपका मत है कि...'जिस तरह अंग्रेजी में बियोवूल्फ लोकमहाकाव्य के रूप में

१—'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास'—पृ० २८५।

मान्य है, उसी तरह 'आल्हखण्ड' को भी समन्वित प्रभाव और उसमें अन्तर्निहित महत्ता के कारण लोकमहाकाव्य मानना सर्वथा उचित है[1] ।'

पद्मावत् के काव्य रूप को लेकर कहा जाता रहा है कि—

१—वह प्रेमाख्यानक प्रबन्ध काव्य है,
२—वह एक पद्य-बद्ध कथा-काव्य है,
३—वह एक महाकाव्य है ।

शम्भुनाथ सिंह यह स्वीकार करते हुए भी कि पद्मावत् में प्रबन्ध-काव्य, कथा आख्यायिका और धर्मकथा तीनों का समन्वय हुआ है, उसमें निहित आदर्श चरित्रों की योजना, बौद्धिक ऊंचाई तथा मर्मस्पर्शी और रसात्मक वस्तु वर्णन और भाव व्यंजना के कारण उसे उच्च कोटि का रोमांचक साहित्यिक महाकाव्य मानते हैं । उन्हें 'पद्मावत्' पर फारसी प्रभाव को आधिक्य अमान्य है । उनके मत से 'पद्मावत' की अधिकांश काव्य-रूढ़ियां भारतीय चरित् काव्यों की ही प्रबन्ध रूढ़ियां हैं, जो फारसी मसनवियों में पाई जाती हैं ।

'रामचरितमानस' में निहित संवादों की योजना, राम के ब्रह्मत्व प्रतिपादन की चेष्टा, भक्ति महिमा, देवताओं द्वारा पुष्पवर्षा, अवान्तर्कथाओं के विनियोजन, कवि की उपदेशात्मक प्रवृत्ति, आकाशवाणी तथा स्थान-स्थान पर आगम-निगम-पुराण की दुहाई आदि को देखकर कुछ भावुक भक्तों और साहित्यकारों ने जब उसे 'पुराण' कहना आरम्भ किया, तभी यह विवाद उठ खड़ा हुआ कि 'मानस' पुराण है या महाकाव्य ? वह एक साहित्यिक कृति है अथवा भक्ति का सिद्धान्त ग्रन्थ ? तुलसीदास मूलतः कवि थे या भक्त ? शम्भुनाथ सिंह ने इन सभी प्रश्नों पर विचार किया है और बड़े तर्क-सम्मत ढंग से यह प्रमाणित किया है कि 'मानस' एक महाकाव्य है— पौराणिक शैली का । पुराणों का उस पर प्रभाव अवश्य है, किन्तु वह स्वयं पुराण नहीं है । उसमें न तो पुराणों के पंच-लक्षण पाये जाते हैं, न कवि का यह लक्ष्य ही प्रतीत होता है । 'मानस' को पुराण कहने वालों के लिए आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का सुझाव है कि 'जिनकी मति' 'नानापुराणनिगमागमसम्मतम्' को सामने रख कर यह कहती है कि यह पुराण है, उनके लिए संस्कृत व्याकरण का अभ्यास अपेक्षित है । उन्हें अधिक नहीं तो किसी कोष में पुराण के पंचलक्षणों को ही देख समझ लेना चाहिये ।[2]

१—'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास' —पृ०-३३८ ।
२—'हिन्दी साहित्य का अतीत' पृ० २४० ।

वस्तुतः 'मानस' के आदि मंगलाचरण में वाणी-वंदना की प्राथमिकता, मानस-सर-रूपक, स्थान-स्थान पर कवि द्वारा काव्य-लक्षणों का संकेत, उसमें निहित मानवतावाद या लोकहितवाद का आदर्श गोस्वामी जी के भक्त अथवा सामाजिक रूप की अपेक्षा उनके सारस्वत रूप की प्रधानता के उद्घोषक हैं। उन्होंने 'अपने आराध्य के प्रति अपनी आस्था, श्रद्धा और उत्सर्ग को अत्यन्त मार्मिकता और सच्चाई से व्यक्त किया है। सच्चाई और पूर्ण आत्माभिव्यक्ति के आगे उन्होंने काव्य-कौशल को अधिक महत्व नहीं दिया है[1]।' उनका उद्देश्य केशव के समान चमत्कार प्रदर्शन अथवा रीतिकालीन कवियों के सामन 'कला-कला के लिए' था भी नहीं। 'तत्वचिंतन, दार्शनिक विवेचन, मानवता के उत्कर्ष की मंगलाशा, लोकहित मंगलभावना और शिवेतरक्षय की भावना द्वारा तुलसी ने 'मानस' में वह गुरुता उत्पन्न कर दी है जो विश्व साहित्य के कुछ इने-गिने महाकाव्यों से दिखलाई पड़ती है[2]।'

कामायनी आधुनिक युग का महाकाव्य है—नयी भाव-भूमि, नूतन जीवन मूल्यों, नवीन सांस्कृतिक चेतना और नव्य विषय-वस्तु तथा रूप-शिल्प का वाहक। यहाँ आकर महाकाव्य सम्बन्धी अनेक प्राचीन मान्यताएँ टूट गयी हैं, बन्धन गीले पड़ गये हैं और आदर्श बदल गये हैं। स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म और वस्तु-सत्य की अपेक्षा भाव-सत्य को स्वीकृति मिली है। वह अपने पूर्ववर्ती महाकाव्यों से भिन्न भूमिका पर प्रतिष्ठित है। उसमें स्थूल घटनाओं और पात्रों का नहीं, सूक्ष्म मनोवृत्तियों और भावनाओं के विकास-क्रम की कथा कही गई है। शम्भुनाथ जी ने उपरोक्त तथ्यों को ध्यान में रखते हुये 'कामायनी' का नये ढंग से मूल्यांकन किया है।

इधर हिन्दी में शोध-ग्रन्थों की बाढ़-सी आ गई। प्रायः सामान्य विषयों पर १०–२० पुस्तकों की सहायता से एक अन्य ग्रन्थ तैयार करके शोध का स्वांग रचा जाता है। 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास' इनसे पूर्णतया भिन्न कोटि को शोध-ग्रन्थ है। उसका महत्व नवीन सामग्री प्रस्तुत करने और ज्ञात तथ्यों की मौलिक विवेचना—इन दोनों दृष्टियों से है। उसमें एक सच्चे अन्वेषी की लगन और साहित्य-प्रेमी की जागरूकता के दर्शन होते हैं।

डॉ० शम्भुनाथ सिंह की शोध-शृङ्खला में दो ग्रन्थ और आते हैं—'छायावाद युग' और 'हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका'—एक में आधुनिक काव्य की

१—'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास' पृ० ५१२।
२—'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास' पृ० ५१४।

मुख्य प्रवृत्ति 'छायावाद' का समाजशास्त्रीय और साहित्यिक विवेचन किया गया है और दूसरी में भारतीय राजनीति, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति, धर्म, संस्कृति, कला आदि के व्यापक फलक के आधार पर 'हिन्दी साहित्य को भारतीय जीवन के चेतना-प्रवाह के विविध आचरणों से सम्बद्ध' करने का प्रयत्न किया गया है।

नव्य शिल्प, रूप-विधान एवं कथ्य की नवीनता आदि को लेकर छायावादी काव्य हिन्दी जगत् में एक ऐसे झंझावात की तरह आया, जिसने अनेक प्राचीन मान्यताओं को झकझोर दिया, काव्य-परम्पराओं को त्याग दिया और छन्द-बन्धन को अस्वीकार कर दिया। इस नवीनता के कारण 'छायावाद' का काफी विरोध हुआ, काफी भ्रम फैला और उसको लेकर काफी विवाद हुआ। किसी ने उसे 'अन्योक्ति पद्धति' कहा, तो किसी ने 'अज्ञात के प्रति जिज्ञासा' किसी को उसमें 'मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान' दिखाई पड़ा और किसी को 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' यहाँ तक कि हिन्दी के तत्कालीन प्रतिष्ठित आलोचकों के उग्र विरोध के कारण कवियों को अपनी सफाई देने के लिए स्वयं आलोचक बनना पड़ा।

ऐसी महत्वपूर्ण किन्तु विवादास्पद काव्य-प्रवृत्ति पर शम्भुनाथ जी ने बड़ी गम्भीरता से विचार किया है। इस ग्रन्थ की महत्ता का रहस्य है छायावाद के मूल स्रोतों का पता लगाने के लिए उसकी रूपरेखा निर्मित करने वाले राष्ट्रीय पूँजीवाद, राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य चेतना और राष्ट्रीय सांस्कृतिक परम्परा का अध्ययन और उसकी पृष्ठभूमि के रूप में प्रमुख प्रवृत्तियों और कला-सौष्ठव के परीक्षण में भारतीय साहित्य शास्त्र और इतिहास तथा पश्चात्य मनोविज्ञान और समाजशास्त्र से सहायता लेना। इसी व्यापक दृष्टिकोण से छायावाद का अध्ययन करने का परिणाम है कि आपको उसमें न तो विदेशी काव्य प्रवृत्ति का अन्धानुसरण दिखाई पड़ा और न पूर्ववर्ती कविता की प्रतिक्रिया। उनके मत से "छायावाद-युग की कविता पुनरुत्थान युग की ही कविता का सहज विकास है जो रीतिकाल की स्थूल ऐन्द्रिकता, संकुचित दृष्टिकोण और काव्य-रूढ़ियों के बन्धन तथा पाण्डित्य प्रदर्शन के विरोध में खड़ी हुई थी।"[१]

'हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, हिन्दी साहित्य का इतिहास नहीं; उसकी भूमिका मात्र है जिसमें हिन्दी भाषा के

---

(१) छायावाद-युग—पृ० ५७।

उद्भव, उसकी बोलियाँ और विस्तार क्षेत्र, हिन्दी साहित्य का उद्भव और उसका काल-विभाजन आदि पर विचार किया गया है। इस लघुकाय पुस्तक में भारतीय आर्य भाषाओं के विकास-काल-निर्धारण, नामकरण आदि के सम्बन्ध में अनेक नई स्थापनाएं प्रस्तुत की गयी हैं और हिन्दी साहित्य के उद्भव और विभाजन में नूतन दृष्टि का परिचय दिया गया है। आपकी अनेक स्थापनाओं और मान्यताओं जैसे 'अपभ्रंश कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है', हिन्दी की सभी बोलियों का उद्भव-स्रोत एक ही भाषा—शौरसेनी प्राकृत--रही होगी', 'बैसवाड़ी अवधी से भिन्न एक अलग बोली है', अथवा 'कन्नौजी और अवधी एक ही वर्ग में आती हैं' आदि को सहसा स्वीकार नहीं किया जा सकता तथापि इस कृति का महत्व इस तथ्य में है कि आपने तर्कपूर्ण ढंग से एक नयी बात कही है और हिन्दी के इतिहासकारों को नये ढंग से सोचने की प्रेरणा दी है। यही नहीं आपने इतिहास को केवल घटनाओं और व्यक्तियों के जीवन-वृत्त का संग्रह न मानकर 'मानव-चेतना की सक्रियता के विवेचनात्मक अभिलेख' के रूप में परखा है। आज नूतन दृष्टि से साहित्य के इतिहास के पुनर्परीक्षण की आवश्यकता है।

शम्भुनाथ सिंह के आलोचनात्मक निबन्ध

डा० श्यामसुन्दर शुक्ल एम० ए०, पी-एच० डी०

श्री शम्भुनाथ सिंह साहित्य की बहुमुखी सर्जनात्मक प्रतिभा से सम्पन्न कवि और लेखक हैं। वे हिन्दी साहित्य के वर्तमान युग के न केवल एक उच्च कोटि के कवि हैं बल्कि उसी श्रेणी के आलोचक और निबन्धकार भी हैं। उनकी अध्यापन शैली, वक्तृत्व कला और किसी भी विषय पर चिन्तन और विवेचन करने की पद्धति में उनके विशिष्ट व्यक्तित्व की गहरी छाप दिखाई देती है जिसके फलस्वरूप साहित्यिकों की सघन भीड़ में भी वे सबसे अलग दिखाई देते हैं। जिस प्रकार कवि रूप में वे वर्तमान युग की प्रायः सभी काव्य-धाराओं में सम्मिलित दिखाई देते हैं वैसे ही समीक्षा और निबन्ध लेखन के क्षेत्र में भी सभी प्रगतिशील विचार-पद्धतियों का सामंजस्य उनमें मिलता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि चिंतन क्षेत्र में वे प्राचीनता के प्रति न तो हीनता की ग्रन्थि से पीड़ित हैं और न तो अत्याधुनिकता के मोह से ग्रस्त हैं। अतः उनकी संतुलित एवं निजता से ओत-प्रोत अभिव्यक्ति शैली की अपनी स्वाभाविक छाप है जो पाठकों में लेखन के प्रति सहज श्रद्धा उत्पन्न कर देती है। उनके चिंतन का आधार जहाँ एतद्देशीय है वहीं उसके (चिन्तन का) निखार में पश्चिम की ज्ञान-धारा का भी पानी चढ़ा हुआ है। सभी प्रकार की कुण्ठाओं से हीन उनका उन्मुक्त साहित्यिक व्यक्तित्व एक बहुत बड़ी निधि है जिसका स्वागत होना ही चाहिये और हुआ भी है।

कवि और आलोचक—दोनों प्रकार के व्यक्तित्व का ऐसा समागम कि आवश्यकता पड़ने पर उनमें से कोई भी एक अपने आप को दूसरे में समाहित कर दे और पुनः यथासमय अपना अस्तित्व प्रत्यक्ष करे, प्रायः बहुत कम देखने में आता है। डा० शम्भुनाथ सिंह के समीक्षात्मक निबन्धों को पढ़ते समय कुछ इसी प्रकार की अनुभूति होती है। उनके निबन्धों में उनका कविरूप पूर्णतः तिरोहित हो गया है और समीक्षक का व्यक्तित्व प्रबल हो उठा है। इन निबन्धों में वे केवल आलोचक, विचारक और निबन्धकार मात्र रह गये हैं। ऐसा लगता है कि वे प्रत्येक साहित्यिक प्रश्न की, चाहे वह किसी 'वाद' को लेकर हो या

किसी शास्त्रीय पक्ष से सम्बद्ध हो, वकालत यह समझ कर कर रहे हैं कि ऐसा करना उनका कर्तव्य-सा हो गया है। ऐसा करते समय अपने पक्ष के समर्थन में वे तमाम भारतीय और पाश्चात्य लेखकों और ग्रन्थों का हवाला देते चलते हैं ताकि उनके तर्कों में किसी प्रकार की शिथिलता या त्रुटि न रहने पाये। उनकी यह शैली जहाँ विवेच्य की विवेचनात्मकता में सजग है वहीं निर्णयात्मकता से भी दूर है दूसरे शब्दों में वे वकील तो हैं परन्तु जज नहीं हैं। निर्णयात्मक एवं विवेचनात्मक समीक्षा के मध्य उनकी शैली कहीं सैद्धान्तिकता के निकट है और कहीं प्रगतिशीलता के। मेरी दृष्टि में डा० शम्भुनाथ सिंह की आलोचना शैली को व्यावहारिक शैली ही कही जा सकती है। उनकी समीक्षा पद्धति में प्रगतिवादी आलोचना के तत्व हो सकते हैं पर वे श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलाश शर्मा, शिवदान सिंह चौहान आदि की भाँति प्रगतिवादी आलोचक नहीं हैं। इस शैली की आलोचना आरम्भ से ही बुद्धिवादी है और कहीं-कहीं वह इस धारा में इतनी आगे निकली हुई दिखाई देती है जहाँ उसकी मान्यताएँ अग्राह्य हो जाती हैं। इसमें दृष्टिगत होने वाला सतही गाम्भीर्य भीतर से पोला होता है। भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध में भी इसकी कुछ निश्चित मान्यता है। डा० शम्भुनाथ सिंह की समीक्षापद्धति सिद्धान्ततः मार्क्सवाद की अपेक्षा परम्परागत भारतीय साहित्य शास्त्र से अधिक प्रभावित है। मार्क्सवादी समीक्षकों की भाँति वे कला को सम्पूर्ण सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के विकास का अंग नहीं मानते। उन्होंने साहित्य के मूल्यांन में प्रगतिवादी और मार्क्सवादी आधारभूत विचारों को दृष्टि में अवश्य रखा है परन्तु विवेच्य को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रख कर ही कोई मन्तव्य स्थिर किया है।

इस निष्कर्ष पर पहुंचने के पूर्व मेरी दृष्टि-पथ में डाक्टर साहब के लगभग ३० प्रकाशित और अप्रकाशित निबंध हैं। इनमें 'मूल्य और उपलब्धि[1]' नामक

१—'मूल्य और उपलब्धि'—प्रकाशक, मोती लाल बनारसीदास—वाराणसी—मूल्य ४) पृ० सं० २१६।

निबन्ध—(१) कला और काव्य, (२) कलात्मक अभिव्यक्ति, (३) साहित्य और जनता, (४) साहित्य में अश्लीलता, (५) काव्य में स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद, (६) हिन्दी नाटकों में मध्यवर्गीय वस्तुतत्व का विकास, (७) भारतेन्दु के नाटकों में राष्ट्रीयता, (८) कामायनी और लोकप्रियता, (९) छायावाद के आविर्भाव के सामाजिक कारण, (१०) छायावादोत्तर हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ, (११) प्रयोगवाद और नयी

एक संकलन ग्रंथ भी है जिसमें लेखक के १६ अमूल्य लेख संगृहीत हैं। शेष निबंधों में अधिकांश समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। इन लेखों में विवेच्य सामग्री की दृष्टि से पर्याप्त वैविध्य है। सुविधा की दृष्टि से इन्हें तीन कोटियों में विभाजित कर सकते हैं :

(१) **सैद्धांतिक विषयों से संबद्ध निबंध :**—जैसे, 'काव्य में स्वच्छंदतावादी यथार्थवाद, 'हिन्दी नाटकों में मध्यवर्गीय वस्तुतत्व का विकास' एवं 'प्रयोगवाद और नयी कविता' आदि।

(२) **व्यावहारिक समीक्षा से संबद्ध निबंधः**—यथा, 'कलात्मक अभिव्यक्ति' 'साहित्य में अश्लीलता', 'कामायनी और लोकप्रियता', 'छायावादोत्तर कविता की प्रवृत्तियां एवं हिन्दी उपान्यासों में आंचलिकता' आदि।

(३) **विशिष्ट व्यक्ति और उनके व्यक्तित्व के परिचायक निबन्ध :**— यथा, शांतिप्रिय द्विवेदी, 'लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', डॉ० नगेन्द्र, 'आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की समीक्षा की मानवतादी भूमि, कलम का एक और सिपाही गुजर गया' (मुक्तिबोध के संबंध में) एवं 'महादेवी वर्मा— व्यक्तित्व कृतित्व' आदि।

विगत तीन दशकों से डा० शम्भुनाथ सिंह साहित्य-सर्जन और मूल्यांकन का कार्य साथ-साथ करते आरहे हैं। इस अवधि में साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में होने वाले प्रायः सभी प्रत्यक्ष वैचारिक एवं अभिव्यक्तिमूलक परिवर्तनों तथा नवीनताओं के वे सजग ग्राहक रहे हैं। उनके इस कथन में "सौभाग्य की बात तो यह है कि यह युग साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में नवीनता और विशिष्टता की मांग करता है और इस मांग के प्रति लेखक होने के नाते हम अपने उत्तरदायित्व को देखते हुए जागरूक रहे हैं और हैं और फलस्वरूप हमने अपने लिए और संभवत: आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए भी नई भूमि और नई दिशाओं की खोज की हैं" हमें कहीं कोई अन्तर्विरोध नहीं दिखाई देता। उनकी यह आत्मस्वीकृति भी यथार्थ है कि उन्हें और उन जैसे अनेक जागरूक साहित्यिकों को तवीनता और विशिष्टता की खोज में एक ओर तो पुराने रास्तों और चिरपरिचित परिदृश्यों की उपेक्षा करके शाश्वततावादी लेखकों और आलोचकों का कोपभाजन बनना पड़ा और

कविता, (१२) नयी कविता का स्वरूप, (१३) हिन्दी उपन्यासों में आंचलिकता, (१४) कुछ नये उपन्यासकार, (१५) उपन्यासकार शरच्चन्द्र, (१६) नयी कविता में संगीत-तत्व।

दूसरी और अधिकांश नए लेखकों के दृष्टिकोणों में केवल सतहीपन, झूठा जोश और अनुकरणप्रियता के अतिरिक्त मौलिकता नामक तत्व के नितांत अभाव का अनुभव हुआ, जिससे नई स्थापनाओं और मान्यताओं का अवमूल्यन सा होता प्रतीत हुआ।

किसी भी विषय पर विचार करते समय उन्होंने 'दादा वाक्यं प्रमाणम्' के सरल मार्ग को छोड़कर स्वानुभूति और आत्मचिन्तन का ही अधिक आश्रय लिया है। यही कारण है कि उसके लेखों में कुछ प्रसिद्ध विद्वानों के मतों का भी खंडन मिलता है। ठोस तर्कों के साथ दूसरों के खंडन और अपने विचारों के मंडन की पद्धति डॉ० शम्भुनाथ सिंह के आलोचनात्मक निबंधों का मूलाधार है। उदाहरण के रूप में काव्य और कला के संबंध में आचार्य शुक्ल के उस कथन को उद्धृत किया जा सकता है जो डॉ० सिंह के लिए पूर्वपक्ष उपस्थित करता है 'पंडित रामचन्द्र शुक्ल काव्य में कलात्मक दृष्टि को आवश्यक मानते हुए भी काव्य को कला नहीं मानते थे[1]।' इसी प्रकार प्रसाद जी के उस मत का भी खंडन कर दिया गया है जिसके अनुसार काव्य-कला से भिन्न एक विशिष्ट विधा है। काव्य को कला सिद्ध करने के लिए लेखक ने डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद', मुनि कनकामर कृत 'करकंडु चरिउ', ऋग्वेद, वर्णरत्नाकर, अथर्ववेद, तैत्तरीय संहिता, शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय ब्राह्मण, नाट्य शास्त्र, छांदोग्य उपनिषद् आदि, हर्बर्ट तथा रीड और अरस्तू आदि के ग्रंथों से अनुकूल उद्धरणों का चयन किया है। तात्पर्य यह कि उनके प्रत्येक निबंध की पृष्ठभूमि में विस्तृत अध्ययन और सामंजस्यपूर्ण चिंतन विद्यमान है।

चिंतन का यह गांभीर्य केवल ललित साहित्य के पठन-पाठन से ही उपलब्ध नहीं है बल्कि मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, एवं राजनीतिशास्त्र के अद्यतन ज्ञान से भी समन्वित है। फलतः किसी भी साहित्यक प्रश्न पर विचार करते समय लेखक की दृष्टि अनेक पहलुओं या कोणों से उस पर पहुँचती है और इस प्रकार विवेचना में सर्वांगीण पूर्णता आ जाती है। आज के पाठकों का ज्ञान-क्षितिज पत्र-पत्रिकाओं की सहज उपलब्धि के कारण पर्याप्त विस्तृत हो गया है, अतः उसके समक्ष जब भी कोई विशिष्ट समीक्षात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जायगा तो उसके मूल में उक्त शास्त्रों के ज्ञान का यथोचित विनियोग आवश्यक है। उदाहरण के लिए लेखक के 'कलात्मक अभिरुचि', 'साहित्य और जनता' तथा साहित्य में अश्लीलता' आदि शीर्षक निबंधों को प्रस्तुत किया जा सकता है। स्पष्ट

१—'मूल्य और उपलब्धि'—पृष्ठ २।

है कि इन विषयों पर विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से यदि विचार किया जायगा तो वह अपनी अपूर्णता के कारण सर्वग्राह्य एवं प्रभावशाली कभी भी नहीं हो सकेगा।

इन विविध विषयक समीक्षात्मक निबंधों के माध्यम से लेखक के विस्तृत अध्ययन का कुछ परिचय अवश्य मिलता है। कई निबंधों में लेखक ने अपनी सामाजिक मान्यताओं के पोषणार्थ दिये गये तर्कों के आधार रूप में हर्बर्ट रीड के 'आर्ट एण्ड सोसायटी' तथा डॉ० लेविन एल० शूकिंग के 'द सोसियालाजी आफ लिटरेचर' का विशिष्ट रूप से उल्लेख किया है। इसी प्रकार द्वन्द्वात्मक विकास प्रक्रिया को समझने के लिए उन्होंने मार्क्स और लेनिन के ग्रंथों की सहायता ली है। साहित्य की अत्याधुनिक विचारधाराओं का परिज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होंने गोर्की, जोला, आस्कर वाइल्ड, डी० एच० लारेन्स और टी० एस० इलियट आदि की कृतियों और संबद्ध समीक्षा ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि डाक्टर साहब का सारा ज्ञान उपरोक्त थोड़े से कृतिकारों की कृतियों के अध्ययन तक ही सीमित है। यह तो उनके ज्ञान स्रोतों के कुछ ही स्तंभों की गणना है। जहाँ तक भारतीय ज्ञानराशि से ज्ञान ग्रहण का प्रश्न है, डाक्टर शं नाथ सिंह से साहित्य का कोई युग और अंग अछूता नहीं है। एक योग्य अध्यापक की हैसियत से उनका सर्वत्र प्रवेश और अधिकार है।

यद्यपि साहित्यिक उपलब्धियों का मूल्यांकन डाक्टर सिंह का वैसा प्रिय विषय नहीं है जितना काव्यसर्जन। और यही कारण है कि वे कवि रूप में जितने विख्यात हैं, समीक्षक रूप में नहीं, परंतु यह भी बड़े विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि ख्याति को किनारे रख यदि उनके दोनों रूपों की परीक्षा की जाय तो हम पायेंगे कि उनका दोनों पर समान अधिकार है। यदि काव्य सर्जन उनका साध्य है तो समीक्षा भी साध्य है। उन्होंने इन दोनों को अपना पेशा भी नहीं बनने दिया है। सर्वत्र उनकी निजी सूझ-बूझ और नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के चमत्कार समानरूप से दृष्टिगोचर होते हैं। उन्होंने किसी भी विशिष्ट धारा के बंधन को स्वीकार नहीं किया है। कबीर की भाँति वे भी ऐसे ही चौराहे पर खड़े हैं जहाँ से अनेक वादों की पगदंडियाँ एक दूसरे को काटती-पीटती चली गई हैं। उन्होंने सबके गुण-दोषों को सम्यक् देखा, सुना और समझा है। डॉ० शंभुनाथ सिंह की समीक्षा पद्धति मुख्यतः व्याख्यात्मक हैं जो प्रभाववादी तथा भावात्मक आलोचना के दोषों से पूर्णतः मुक्त है। सैद्धांतिक विषयों के विवेचन में भी वे अतिशास्त्रीयता से दूर हैं। वे परिष्कृत प्रतिभा के धनी हैं, अतः सब मिला कर व्यावहारिक समीक्षा पद्धति ही उन्हें रुचिकर प्रतीत

हुई है। पूर्ण शिक्षा और अध्ययन की सुविधा से प्राप्त बहुज्ञता के कारण उनमें हठवादिता या पिष्टपेषण की वृत्ति नहीं मिलती। वे युग के साथ कदम मिलाकर चलने वाले निष्पक्ष और निर्भीक विचारक हैं। उनके निबंधों में उनका यह रूप सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। वे इस क्षेत्र के एक एकांत और मौन सेवी हैं। उन्होंने अपने आपको किसी 'स्कूल' से न तो बाँधा ही है और न तो अपना ही कोई 'स्कूल, स्थापित कर गुरुडम की प्रवृत्ति का पोषण किया है। इतना होते हुए भी निस्संकोच यह कहा जा सकता है कि उनका समीक्षा में 'स्कूल' स्थापित करने वाले तत्व वर्तमान हैं जिनको लेकर डा० शंभुनाथ सिंह अपने आपको आधुनिक युग का 'आलोचक सम्राट्' घोषित कर या करा सकते थे परन्तु वे जानते हैं कि इस दिशा में उनके कर्तव्याकर्तव्य क्या हैं।

बहुचर्चित एवं विवेचित विषयों पर लेखनी उठाने के बजाय समय समय पर तत्कालीन काव्यधारा के संबंध में उत्पन्न भ्रमात्मक स्थितियों के कुहासे को दूर करने के लिए उन्होंने काव्य सर्जक और समीक्षक पद से वास्तविक स्थिति का बोध कराते हुए जिन समीक्षात्मक निबंधों की रचना की है उनका मूल्य आसानी से आँका नहीं जा सकता। कवि रूप में उन्होंने स्वकीय एवं अन्य कवियों की विशिष्ट मनःस्थिति तथा अनुभूतियों का साक्षात्कार किया और आलोचक के स्थान पर अधिष्ठित होकर उन सबका मूल्यांकन उन्होंने जिस योग्यता के साथ अपने लेखों में किया उतना संभवतः विशुद्ध कविरूप में वे न कर पाते। 'काव्य में स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद', 'छायावदोत्तर काव्य की प्रवृत्तियाँ', 'नई कविता में संगीत तत्व' आदि ऐसे विषय हैं जिन पर कलम उठाने की हिम्मत करने वाले बहुत कम लोग मिलेंगे।

शास्त्रबोध के साथ युगबोध भी समीक्षक की योग्यता की एक बड़ी कसौटी है। साहित्य जगत की प्रत्येक हलचल के साथ डा० शम्भुनाथ सिंह का सीधा संबंध रहा है। यही कारण है कि काव्यधारा के विभिन्न मोड़ों पर खड़े स्तंभों के गिरते रहने का उन्हें गहरा दुख होता रहा है। उनकी इस वेदना की झाँकी स्वर्गीय गजानन माधव 'मुक्तिबोध' के परलोकवासोपरान्त लिखे गये 'कलम का एक और सिपाही गुजर गया' तथा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के लिए लिखित 'युग चेतना के कवि' शीर्षक निबन्धों में देखी जा सकती है। इसी प्रकार 'निराला', 'नरेन्द्र शर्मा, शांतिप्रिय द्विवेदी, लक्ष्मीनारायण सुधांशु एवं डा० नगेन्द्र के संबंध में लिखे गये लेखों से इन साहित्यिक महारथियों को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। स्पष्ट है कि डॉ० शम्भुनाथ सिंह के लेख हमें काव्यधारा और समीक्षा की

दिशाओं को समझने में बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। इन दोनों प्रकार के कर्तव्यों का एक साथ निर्वाह उन जैसे व्यक्ति से ही संभव है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० नगेन्द्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस युग के निस्संदेह बहुत बड़े समीक्षक और आचार्य हैं। इन पर समीक्षात्मक एवं परिचयात्मक रूप में कुछ लिखना उन सब विषयों के ज्ञान और परीक्षण-क्षमता की अपेक्षा रखता है जिन पर इन महानुभावों ने अपनी लेखनी उठाई है। इसी प्रकार 'कामायनी और लोकप्रियता', 'छायावाद के आविर्भाव के सामाजिक कारण', 'छायावादोतर कविता की प्रवृत्तियाँ' आदि निबंधों में लेखक के भारतीय एवं पाश्चात्य इतिहास, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र में गंभीर ज्ञान का परिचय मिलता है।

यद्यपि डाक्टर साहब के समीक्षात्मक निबंध मुख्यतः व्यावहारिक शैली के अन्तर्गत आते हैं पर उनमें प्रयुक्त भाषा इस शैली के उपयुक्त नहीं है। निबंधों में ऐसे स्थल बहुत कम हैं जहाँ भाषा भी शैली का अनुगमन करती दिखाई दे रही हो। यहाँ एक वाक्य उद्धृत किया जा रहा है जो लेखक के निबंधों की माध्यमिक भाषा (मीडियम) है और इसी को भाषा और वाक्य विन्यास पद्धति का परिचायक माना जा सकता है—'राजनीतिक पक्षधरता के कटु अनुभव और योगी अरविन्द के अति चेतनावादी दर्शन के निकट संपर्क में आने के बाद पंत जी ने एक नवीन आदर्शोन्मुख यथार्थवादी जीवन-दर्शन का अन्वेषण किया जिसके अनुसार साधना से तपःपूत अतिमानस (सुपरमाइण्ड) के द्वारा ही मानव समाज के भौतिक दुःखों और बुराइयों का नाश हो सकता है[1]।'

निबंध में उपर्युक्त अंग्रेजी की विशिष्ट परिभाषिक शब्दावली का संस्कृत शब्दानुवाद भी आसानी से गले नहीं उतरता इसीलिए डाक्टर साहब ने संभवतः मूल शब्द को भी अनूदित शब्द के समानान्तर दे दिया है। ये पारिभाषिक शब्द मूल अर्थ को सहज ढंग से व्यक्त कर पाते हैं या नहीं, यह अलग प्रश्न है क्योंकि इनका प्रचलन विद्वत् समाज में चल पड़ा है, इन्हें किसी व्यक्ति विशेष ने ही गढ़कर चला दिया हो ऐसी बात नहीं है। 'विद्रोहमूलक आदर्शवाद', 'क्रांतिमूलक यथार्थवाद', अराजकतामूलक सामंजस्यवाद, स्थिति (थीसिस) प्रतिस्थिति (एन्टीथीसिस) संस्थिति (सिन्थिसिस) आवाहन पद्धति (प्रोवोकेटिव) संबंध-मुक्त आसंग (फ्रीएसोसिएशन) आदि ऐसे शताब्दिक शब्द हैं जो जनसामान्य के लिए क्लिष्ट कहे जा सकते हैं।

१—मूल्य और उपलब्धि—पृ० १६१।

यद्यपि डा० शम्भुनाथ सिंह की काव्य सम्बन्धी स्थापनाओं में विशेष मतभेद की गुंजाइश नहीं है परन्तु नई कविता के सम्बन्ध में उनका अनुमान ठीक उतरता नहीं प्रतीत होता। प्रयोगवाद से नई कविता को अधिक शुद्ध और सशक्त बताते हुए उनका कथन विचारणीय है—

कुंठा, अहम्, घुटन, क्षणवादी दृष्टि, आस्थाहीनता, पराजय और लघुता की मनोवृत्ति आदि की अभिव्यक्ति अब नयी कविता के भीतर बहुत कम हो रही है। वह प्रयोगवाद के भीतर अधिक होती थी, वह ज्यों-ज्यों सशक्त होती जा रही है त्यों त्यों प्रयोगवाद से प्राप्त उपयुक्त प्रवृत्तियों की कमजोरी से मुक्त होती जा रही है। डाक्टर साहब को आशा है कि यदि संयमित स्वतंत्रता, संतुलित मौलिकता और मानव की समग्रता में उसकी आस्था बनी रही तो उसमें निहित उच्च संभा-नाओं का प्रतिफलन होकर रहेगा। यद्यपि यह आशा अपने आप में बड़ी मधुर है पर अब पीछे मुड़कर देखने का समय आ गया है और अपनी मान्यताओं के परीक्षण का यह उपयुक्त अवसर है कि उक्त आशा कहां तक प्रतिफलित हुई है। वैसे, इस संबंध में परस्पर विरोधी बातों के लिए पर्याप्त स्थान है।

अध्यवसायी और सजग लेखक होने के कारण उनकी आलोचनाओं की प्रवृ-त्तियाँ अभी विकास की ओर अग्रसर हो रही हैं अतः उनकी भावी संभावनाओं की ओर निश्चित रूप से कुछ संकेत करना संभव नहीं है। सन् १९६० के बाद लिखे गये आलोचनात्मक निबंधों में उसके पूर्व के निबंधों की अपेक्षा दृष्टिकोण और अभिव्यक्ति संबंधी पर्याप्त विलगाव दृष्टिगत होता है। बुद्धिवादिता की मात्रा घट रही है और भावुकता उभरती हुई सी प्रतीत होती है। भाषा की तत्समता व्यावहारिकता की ओर अग्रसर हो रही है। संभव है, नयी कविता या नवगीत की नयी करवट के साथ उनकी समीक्षा पद्धति में भी नवीनता देखने को मिले। स्वर्गीय मुक्तिबोध की याद में लिखे गये 'कलम का एक और सिपाही गुजर गया' शीर्षक निबंध का एक अंश उदाहरणार्थ यहाँ प्रस्तुप करना मेरी दृष्टि में असमीचीन नहीं होगा। वे लिखते हैं—'कविताएँ वे लिखते नहीं थे, रचते थे। लिखने और रचने में जो अन्तर है उसकी जाँच-पड़ताल की यहाँ आवश्यकता नहीं। साफ जाहिर है कि लिखी गई कविताएँ भ्रम पैदा करती हैं, 'भ्रम' भी उस तरह का नहीं जो अधकचरे पाठक को मौलिक सा प्रतीत हो बल्कि उस तरह का जो सीधे भ्रम बनकर रह जाता है।' स्पष्ट है कि पूर्व रचित निबंधों की लम्बी और उलझी भाषा से इधर के निबंधों की भाषा अपेक्षाकृत अधिक सहज और बोधगम्य है।

इस बात को कुछ और स्पष्ट करने के लिए 'द्रष्टा कवि : निराला' शीर्षक निबन्ध का भी एक अंश प्रस्तुत किया जा रहा है जिसमें नई कविता के संबन्ध में लेखक के विचार व्यक्त हुए हैं—'नयी कविता की सबसे बड़ी विशेषता (यद्यपि वह कुछ इने गिने कवियों में ही वर्तमान है) यह है कि उसका रूपाकार, बिम्ब योजना और विचार-वस्तु सभी अन्तर्दृष्टिमूलक (विजनरी) हैं। अन्तर्दृष्टि से मेरा तात्पर्य उस सूक्ष्म कल्पना व्यापार से है जो मानस की अर्द्ध चेतनावस्था से उद्भूत होती है और बुद्धि प्रसूत स्थूल चामत्कारिक सूझों और भावात्मक कल्पना से भिन्न और यथार्थ के रूपाकार में अभिव्यक्ति होकर भी यथार्थातिशयिनी होती है।'

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, डॉ० शंम्भुनाथ सिंह की देन हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण है। उनसे अभी हमें बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। काव्य की भांति समीक्षा और निबंध के क्षेत्र में भी उनका स्थान होना ही चाहिए। संभावनाओं के विषय में आशान्वित होना उचित है।

—:०:—

डॉ० शंभुनाथ सिंह की काव्य-भाषा

•

डॉ० मोहन लाल तिवारी

काव्यभाषा के विवेचन के लिए व्याकरणिक या भाषावैज्ञानिक दृष्टि की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक, सौन्दर्यतत्त्वात्मक और लाक्षणिकतान्वेषिणी दृष्टि आवश्यक है, ताकि कविता की रचना-प्रक्रिया और उसके अर्थ की यथार्थ प्रतीति सुगम बन सके। शब्द और अर्थ के बिना काव्य की लोकगत सत्ता का अस्तित्व संभव नहीं। काव्य की अभिव्यंजना-शक्ति और उसकी सहायता से कवि का निर्मित व्यक्तित्व शब्द या भाषा के महत्त्व का निर्णायक होता है। काव्यतत्त्व का संवाहक भाषा ही है। वास्तव में दोनों पृथक् तत्त्व होने पर भी एक रूप हैं—'गिरा अरथ जलबीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'। काव्यगत अनेक गुण-दोषों का परीक्षण भी भाषा के ही आधार पर संभव है। सचमुच काव्यरचना शब्दों से ही हो सकती है।

साहित्य के अवलोकन से यह स्पष्ट हो सकता है कि कुछ कवि ऐसे भी होते हैं जिनमें भाषा ही भाषा होती है, जबकि कुछ कवियों में भावों की गहनता की अभिव्यक्ति पर अधिक बल। किसी साहित्यकार की भाषा से हम उसके काव्य विषय की गहराई का मूल्यांकन कर सकते हैं। अमुक कवि ने सामान्य जन की भाषा का प्रयोग किया है अथवा आलंकारिक भाषा का, यह काव्यभाषा संबंधी दूसरी समस्या है। काव्यभाषा विद्वानों को आकर्षित करती है या सामान्य पाठकों को, यह भी एक सम्बद्ध समस्या है। इन दो भाषाओं के स्तरों में सदैव अन्तर बना रहता है। सामान्य जन की भाषा जीवित भाषा की कोटि में शामिल की जाती है, जबकि उच्चभाषा परिनिष्ठित और एक खास वर्ग की भाषा मानी जाती है जो बोधगम्य तो होती है लेकिन सामान्यतः सुबोध नहीं। घिसी-पिटी पद्धति अपनाने पर कवि शब्दों में नवजीवन नहीं डाल पाता, फलस्वरूप न तो निश्चित प्रकार की अनुभूतियाँ ही अभिव्यक्त हो पाती हैं और न विशेष प्रकार के वातावरण का निर्माण ही हो पाता है। मार्मिक अनुभूति और वातावरण के लिए चुने हुए शब्द भाषा में प्रभावोत्पादकता और

अभिव्यंजना शक्ति उत्पन्न करते हैं। इससे काव्य के प्रभाव और अर्थव्यंजना पर भिन्न प्रतिक्रिया होती है। तुलसी, निराला, वर्ड्सवर्थ, टेनीसन, गालिब, फिराक ने शब्दों के चुनाव और चुने हुए वातावरण के विशिष्ट प्रयोग में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। निश्चित शब्दों में निश्चित भाव और शक्ति भर देने की उनमें अपूर्व शक्ति थी।

भाषा हमारी काव्यात्मक संवेदना को किसी सीमा तक नियमित और अनुशासित करने का साधन है। हृदयगत अनुभूतियों को भाषा ही सामान्य अनुभव के क्षेत्र में उतारती है। "जितनी विकसित हमारी भाषा होगी, जितना ही सन्दर्भों के अनुरूप हमारा भाषा-प्रयोग होगा, उतनी ही स्पष्टता और संपूर्णता के साथ हम संवेदना को समझ सकेंगे, समझा सकेंगे। यही कारण-भूमि है जो प्रत्येक संवेदनशील रचनाकार को गहरे स्तरों पर भाषा से संघर्ष और असंतोष का अनुभव बराबर कराता है।"[1] एक ओर कवि को भावों से संघर्ष और समझौता करना पड़ता है तो दूसरी ओर उससे भी अधिक भाषा के अनुकूल और समर्थ शब्दों के लिए संघर्ष और असफल होने पर गहरे असंतोष का अनुभव भी। यह समर्थ भाषा ही है जो कवि की संवेदना को हमारे पास तक पहुँचाती है। भाषा की असफलता से कभी-कभी अपनी या पराई मनस्स्थितियों एवं संवेगों को कुछ समझते हुए भी हम समझ नहीं पाते।

साहित्यिक भाषा मूलतः बोलचाल की ही भाषा होती है लेकिन कवि या रचनाकार की रचना-प्रक्रिया में उसे एक नया रूप मिल जाता है। विशेष कवि के अनुभव एवं प्रतिभा के योग से उसमें अर्थक्षमता की वृद्धि हो जाती है। "कविता और गद्य की भाषा में गद्य की भाषा बोलचाल की भाषा के अपेक्षया निकट होती है। सामान्य दृष्टि से भाषा के चार प्रयोग-स्तर हो जाते हैं :—बोलचाल की भाषा, गद्य की भाषा, सृजनात्मक गद्य की भाषा और कविता की भाषा।"[2] लेकिन सामाजिक जीवन में भाषा कोई स्थिर तत्त्व नहीं है। जिस प्रकार किसी भाषा की संरचना में निरपेक्ष विकास होता रहता है, ठीक उसी प्रकार सभ्यता के विकास के साथ उसकी अभिव्यक्ति-शैली में भी विकास होता रहता है जिसके ऊपर रचनाकार की बदलती अनुभूतियों एवं सामाजिक गतिविधियों का स्पष्ट प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है, यहाँ तक कि एक ही कवि की विविध अवसरों पर लिखी गया कविताओं की भाषा में भी अन्तर आ जाता है, समकालीन कई कवियों

१—भाषा और संवेदना—रामस्वरूप चतुर्वेदी।
२—वही।

की भाषा की तो बात ही अलग है। सुमित्रानन्दन पंत की पच्चीस वर्ष पहले की काव्य-भाषा (खड़ी बोली) और अब की काव्यभाषा के स्तर एक नहीं कहे जा सकते।

काव्यसृजन से पूर्व कवि के अन्तर्मन में एक भाषा गूंजा करती है "उस अन्तरमन्थन की भाषा का रूप क्या है? वह तो रचनासृष्टि के पूर्व ही उसके व्यक्तित्त्व में स्थित है। उसकी काव्यभाषा उसके भावों से यदि निर्धारित होती है तो उसके संवेदन की भाषा उसे कहाँ से मिलती है? उसकी व्यापक अनुभूतियों की भाषा क्या है? क्या एक स्तर पर उसकी विकसित भाषा का स्वरूप ही, जो उसे समाज से मिला है, उसकी व्यापक अनुभूति को निर्धारित नहीं करता? क्या ऐसा नहीं है कि जो भाषा जिस हद तक विकसित और परिष्कृत होती है, उसी के अनुरूप उसके उपयोग करने वालों की संवेदना बनती है? महाकवियों में शब्दों के साथ ही साथ मुहावरों, लोकोक्तियों और पदावलियों को भी नवजीवन प्रदान करने की शक्ति होती है। पुराने मुहावरों और लोकोक्तियों को पुनरुज्जीवित किया जाता है और इनके नवीन प्रयोग भी प्रचलित किए जाते हैं यथा 'खुल रहा मृदुल अधखुला अंग, खिला हो ज्यों बिजली का फूल'—प्रसाद। इस दिशा में प्रतीकों को पुराने और नये अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। नये प्रतीक ढूंढे जाते हैं, जिन्हें नये अर्थ और नयी अभिव्यंजना से सुसज्जित किया जाता है। नये छंद, उनकी लय और गति तथा संगीतात्मकता एवं तदनुरूप भाषा और शब्दों का प्रयोग एक अलग आवश्यकता होती है। परम्परा से हटकर भाषा का नया प्रयोग और उसमें नयी गीतात्मकता सामान्य कवि-कर्म नहीं है।

महाकवि के व्यक्तित्त्व-निर्माण में एक और तत्त्व निर्णायक होता है। वह यह है कि अच्छा कवि अपने नवीनतम, गहनतम और उच्चतम अनुभूतियों, कल्पनाओं और आदर्शों की अभिव्यक्ति के लिए प्रायः दूसरों की अथवा पिछले चरण की अपनी ही घिसी-पिटी और गतानुगत भाषा का त्याग करता है। इस प्रकार की भाषा के प्रयोग से काव्य-कला बासी या निर्जीव जान पड़ती है। सुमित्रानंदन पंत की सन् ६० के बाद वाली कविताओं की सामान्य भाषा कुछ ऐसी है। निराला ने जहां अपनी प्रार्थना या आराधनापरक कविताओं में एक ही ढर्रे की भाषा का प्रयोग किया है वहां कविताएं न केवल पर्याय या अनावश्यक प्रतीत होती हैं, बल्कि उनकी मात्रा और उनके गुण पर भी मन में प्रश्न उठने लगते हैं।

काव्य भाषा का नवीन परिवर्तनशील और विकासमान प्रयोग न होने पर कवि के सामर्थ्य पर तो प्रश्नवाचक चिह्न लगता ही है, साथ ही उसके काव्य

की प्रभावान्विति पर भी प्रश्न उठने लगते हैं। वही काव्य जीवन की सम्पत्ति बन पाते हैं जिनमें प्रभाव डालने की शक्ति हो। इस प्रभाव की निष्पत्ति में भाषा एक सशक्त साधन है। जिस प्रकार एक सिपाही उन्नत आयुध के अभाव में निश्चित और वांछित परिणाम तक नहीं पहुँच सकता, ठीक उसी प्रकार एक कवि बिना सशक्त और गतिशील भाषा के निश्चित प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकता। निराला ने एक स्थान पर लिखा है कि "एक ही शब्द के पर्यायवाची अनेक शब्द होते हैं। उनमें किस शब्द का प्रयोग उचित होगा, किस शब्द से भाव की व्यंजना अधिक होगी, इसका ध्यान कवियों को रखना पड़ता है—भाव के वाहक शब्द होते हैं और शब्दों में अर्थ और ध्वनि।" भाषा की शक्ति के निर्माण में कवि के महत्त्व का आकलन करते हुए अज्ञेय ने लिखा है कि "भाषा का प्रतिमान निर्धारित करने वाला चाहे कोई हो, एक अकेला कृतिकार भाषा के रचनाशील व्यवहार से उसे जो व्याप्ति और सार्वदेशिक मान्यता दिला सकता है वह बीसियों शास्त्रविद् नियन्ताओं के सामर्थ्य से परे होता है।"[१]

(२)

आधुनिक युग में हिन्दी कविता को आज की भाषा तक पहुँचने में दो चरण की यात्रा पूरी करनी पड़ी है। पहला चरण था व्रजभाषा से खड़ी बोली हिन्दी में संक्रमण और दूसरा था 'खड़ी बोली के अन्तर्गत एक भाषा-रूप को छोड़कर दूसरे भाषा-रूप का ग्रहण। सन् १९२५ तक खड़ी बोली हिन्दी काव्यभाषा के सभी गुणों से सम्पन्न हो चुकी थी। डॉ० शम्भुनाथ सिंह की कविता का आरम्भ हम सन् १९४० के आस-पास से मान सकते हैं, जब कि उनकी प्रभावशाली एवं आकर्षक कविताएँ जनता के सामने आने लग गयी थीं। कवि ने अपने बारे में खुद लिखा है कि "सन् १९४० से १९५० के बीच किशोरावस्था पार करके युवावस्था में चरण रखने के समय मेरे भीतर मांसल सौंदर्य और प्रेम की जो अनुभूतियाँ उपलब्ध हुईं, मैंने उनको अधिकतर गीत-विधा के माध्यम से व्यक्त किया।"[२] इस समय तक खड़ी बोली हिन्दी ने द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मक वर्णन, छायावादी सूक्ष्मता एवं कल्पना, प्रगतिवादी सांसारिकता की काव्यधारा को पार कर लिया था। साथ ही साथ प्रसाद, महादेवी, बच्चन के गीतों की लहरों से भी उसका सम्पर्क हो चुका था। इसके अतिरिक्त वह प्रयोगवादी आँगन को पार कर आज की नयी कविता के द्वार तक आने ही वाली

१. पुष्करिणी।
२. 'समय की शिला पर'।

थी, जब कि कवि के लिए भाषा सिर्फ साधन मात्र हो गयी थी। आज का कवि इस साधन के प्रति, रूप और साध्य (काव्य का अभिप्रेत) के प्रति अधिक जागरूक है। इस काल की काव्य-भाषा पर दृष्टिपात करते हुए अज्ञेय ने लिखा है कि "छायावादी काल की भाषा-सम्बन्धी चेतना का आधार या शब्द कौतूहल अथवा ध्वनि-योजना का सार्थक उपयोग, और इधर के तदाख्य प्रयोगवादी काव्य का मुख्य आग्रह प्रतीक योजना का ही है—यद्यपि शब्द कौतूहल भी उसमें है, जिसकी दिशा छायावाद के शब्द कौतूहल से भिन्न है।"[१] प्रयोगवाद के भीतर शब्द-चमत्कार द्वारा चौंका देने की प्रवृत्ति अधिक थी जो नयी कविता में आकर कुछ कम हो गयी। आज का लेखक भाषा के रूप-सौष्ठव और व्यापक प्रतिमानों के विषय में उतना सतर्क नहीं है जितना द्विवेदी-युग का लेखक था।

डा० शंभुनाथ सिंह की काव्यभाषा का अध्ययन हम तीन शीर्षकों में कर सकते हैं:—(१) गीतों की भाषा (२) प्रगतिशील कविता की भाषा (३) नयी कविता की भाषा। गीतों की भाषा सदैव सामान्य जन की ओर उन्मुख होती है। कथ्यभाषा से निकटता इसकी सबसे बड़ी विशेषता होती है। जनता में प्रचलित या सरलता से समझी जाने वाली अभिव्यक्ति या सूक्तियाँ गीतों की मुख्य आधारशिला होती हैं। उनकी लोकप्रियता या प्रभावोत्पादकता कवि की अनुभूति की तीव्रता या गहनता पर निर्भर करती है। अलंकार, मुहावरे और प्रतीक भी अति साहित्यिक नहीं होते। संगीतात्मकता, अनुभूति और प्रभावोत्पादकता ही गीतों की मुख्य विशेषता है। कविवर बच्चन और शंभुनाथ सिंह के गीत इस दृष्टि से उच्च श्रेणी के प्रमाणित होते हैं। गीतों की भाषा के प्रसंग में रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है कि "प्रतीकों का बहिष्कार करके 'सीधी-सादी भाषा का प्रयोग छायावादोत्तर काल में प्रारंभ हो चुका था, विशेषत: उत्तरकालीन 'बच्चन' में। पर यह 'सीधी-सादी भाषा' एक ओर तो प्रतीकों को नहीं लेती थी, दूसरी ओर संश्लिष्ट भावचित्र संक्रांत कर सके, ऐसा उसमें सामर्थ्य नहीं था, शायद इसलिए कि भावचित्र के लिए जिन आधारभूत प्रतीकों की आवश्यकता होती है, उन्हें इन कवियों ने ग्रहण ही नहीं किया था, भाषा को सरल और सहज बनाने के खयाल में।"[१] डा० शंभुनाथ सिंह का सर्वाधिक लोकप्रिय गीत अत्यधिक सरल भाषा में लिखा गया है—

१—पुष्करिणी।

१—भाषा और संवेदना।

समय की शिला पर मधुर चित्र कितने
किसी ने बनाए किसी ने मिटाये !

इस कविता में संवेदना जितनी प्रबल है, भाषा उतनी ही मार्मिक, सिर्फ दो पंक्तियाँ ही किसी कवि को अमरत्व प्रदान कर सकती हैं। जहाँ इस गीत की विशेषता भाषा की सरलता में है, वहीं यह भी स्पष्ट है कि कोई बात चित्र के बिना नहीं कही गयी है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसी को चित्र-भाषा-शैली कहा है। बिम्बों द्वारा ही कवि अपने भावों को प्रस्तुत करता है, यथा 'आँसुओं से कहानी' लिखना। आँसुओं के माध्यम से वेदनाग्रस्त व्यक्ति का चित्र प्रस्तुत करना कवि का उद्देश्य है। पुनः 'जलधि ने गगन-चित्र खींचे नयन में' में जलधि से अथाह जल वाष्प बनकर गगन में संकलित हो चुका है। उर्वशी के समान विद्युत उसके आलिङ्गन में क्रीड़ारत होते-होते सहसा ओझल हो जाती है। व्यथा का यह चित्र बादलों के पट पर इन्द्रधनुषी रंग से बनाया जाता है। वियोग की स्थिति में संयोगपक्ष का इससे अधिक रंगीन चित्र और क्या हो सकता है? सामान्यतः गीतों में कवि ने सफततापूर्वक ऐसे ही चित्र प्रस्तुत किये हैं। चित्र भी बहुधा संश्लिष्ट होते हैं। सम्बद्ध पक्षों में प्रत्येक की चित्र-योजना प्रस्तुत कर दी जाती है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि डॉ० शम्भुनाथ सिंह की काव्य-भाषा (खासकर गीत काव्य के गीतों में) एक ओर हरिवंश राय 'बच्चन' और दूसरी ओर महादेवी वर्मा की भाषा के बीच स्थित है। कवि के गीतों में बच्चन' की रागिनी और अनुभूति की गहराई तो है किन्तु शब्द की अभिधात्मकता नहीं मिलती। चित्रमयता के लिए शब्द की लाक्षणिक शक्ति का प्रयोग अपने-आप होता रहता है। दूसरी ओर महादेवी वर्मा की भाषा-दुरूहता से अपने गीतों को बचा ले जाने में भी कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। भावगाम्भीर्य के साथ यह भाषा की चित्रात्मकता ही है जो कविता को लोकप्रियता और अमरत्व प्रदान करती है। कवि सामान्य जनजीवन और जगत के ही चित्रों को प्रस्तुत करता है, अतीन्द्रिय जगत के चित्र उसे आकर्षित नहीं करते। ऐसे शब्द-चित्रों से भाव-बोध में सरलता हो जाती है। बच्चन के गीतों से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका कवि दृश्य-विवरण प्रस्तुत करने में व्यस्त है जब कि डा० सिंह का कवि दृश्य-रचना में लीन दिखाई पड़ता है।

'छायालोक' की कविताएँ सामायन्त। गेय और सरल भाषा में ही लिखी गयी हैं। उनमें भोलेपन और भाषा के सीधापन की गति समानान्तर चलती है—

जीवनका मुग्ध शलभ मैं था
तम की झंझा में उड़ आया,
प्राणों की बलि देकर न
किसी के प्राणों को बहला पाया।

लोकप्रिय शैली में साधुभाषा का प्रयोग—

मुझे जिन्दगी का सहारा न मिलता !
बहा जा रहा हूँ, किनारा न मिलता !

कहीं-कहीं मैथिलीशरण गुप्त की भी याद ताजी है यथा—

तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या, तुम्हारा क्या ?
किसी की आंख के सपने अगर टूटे।

"समय की शिला पर" कवि का एक दूसरा संग्रह है। इसमें विविध शिल्प की कविताओं का संग्रह है। अतएव जहाँ गीतों की साफ भाषा दिखाई पड़ती है वहीं प्रतोकों के नये शिल्प का चमत्कार भी। किन्तु इस संकलन में प्रवृत्ति गीतों की ही है। भारतेंदु और निराला की एक प्रवृत्ति जनता में प्रचलित हर प्रकार के शब्दों को साहित्य में स्थान देने की थी। कवि की भी ऐसी प्रवृत्ति स्पष्ट है, क्योंकि उन्हें फ़ारसी-अरबी शब्दों से नफ़रत नहीं है यथा—

प्यार किस देवता से कम मेरा !
प्यार की आरती है ग़म मेरा !

पुन :— जिन्दगी की अँधेरी गलियों में
इसकी पूजा है हर कदम मेरा !

गीतों की भाषा में भावचित्र सामान्यतः स्पष्ट रहते हैं, यही कारण है कि डा० शम्भुनाथ सिंह के गीत हिन्दी के एक विशेष अभाव की पूर्ति करते हैं—

मैं तुम्हें बुलाता जाग-जाग ओ सपनों की रानी !
दिशि दिशि से तुझको घेर घुमड़ आये थे तम के घन,
झर-झर बेसुध करते मुझको सुधि से सुरभित जल-कण,
चाँदनी तड़पती होगी तुम लपटों की शय्या पर
पर पहुँच न पायेगा तुम तक इन नयनों का पानी। मैं तुम्हें०।

कवि ने कुछ मधुर गीतों की रचना लोक धुन और लोकभाषा में भी की है। लोकगत मुहावरे और अभिव्यक्तियाँ भाषा की मुख्य संपत्ति हैं। साथ ही भाव-

परंपरा भी लोकगीतों के ढंग की ही है। साहित्यिक गीतों में भी ग्रामीण दृश्य-चित्र उपस्थित हो जाते हैं। लोकगीत के साजो-सामान से कवि ने ऐसे गीतों की सफल रचना कर वास्तव में गीतकारों का मार्ग प्रदर्शन किया है यथा

टेर रही प्रिया, तुम कहाँ?
किसकी यह छाँह और किसके ये गीत रे!
बरगद की छाँह और चैता के गीत रे!
सिहर रहा जिया, तुम कहाँ?

इस गीत में सभी अभिव्यक्तियाँ और भावचित्र लोक जीवन और लोकगीतों से ही लिए गए हैं, फिर भी अनुभूति की तीव्रता से गीत शिष्ट साहित्य में दाखिल हो गया है।

(२) जनसाहित्य या प्रगतिशील साहित्य की भाषा का अध्ययन दूसरी मान्यताओं को दृष्टि में रखकर करना होगा। प्रगतिवादी युग की साहित्यिक प्रवृत्ति लोकसाहित्य से भिन्न होती है। लोकसाहित्य में सीता जैसी पटरानी को भी मचिया पर या रसोईघर में बैठाया जा सकता है, लेकिन प्रगतिशील जन-साहित्य में शोषित-पीड़ित साधनहीन मानवता के दुख-दर्द का इजहार उसी की मिलती-जुलती भाषा में होता है। जनभाषा से शिष्ट काव्य की भाषा के विभेद का मुख्य कारण काव्यभाषा में 'भावचित्रों का विशिष्ट नियोजन' है। दुराव-छिपाव भी होता है। भावों की उच्चता और गहनता के साथ भाषा की क्लिष्टता का प्रश्न जुड़ा रहता है। दार्शनिक तत्वों का निरूपण, गहन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति, अभिव्यंजना की वक्रता, प्रतीक शैली का निरूपण, शब्दलाघव, अप्रचलित शब्दों का मुक्त प्रयोग आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे भाषा की क्लिष्टता सम्भव है।

जनसाहित्य में विशिष्ट के बदले सामान्य अभिव्यक्तियों का प्रयोग किया जाता है। पर्यायों के महत्व को अस्वीकार करना, शब्दों के खेलकूद की उपेक्षा करना, अभिव्यक्ति की वक्रता से बचना, सीधी बात सीधे ढंग से किन्तु कौशल और गेयता या प्रभाव के साथ प्रस्तुत करना, आदि बातों का भी ध्यान रखा जाता है। जनसाहित्य का सामान्य साहित्य से सबसे बड़ा भेद यह होता है कि जहाँ जनकवि अपनी दृष्टि के सामने आधुनिक औद्योगिक सभ्यता में संगठित या एकत्र हजारों-लाखों या करोड़ों पीड़ित और समस्याग्रस्त मानव समुदाय को रखता है वहीं सामान्य कवि एक-दो या विशेष ढंग के अन्य व्यक्तियों को दृष्टि में रखकर कविता लिखते प्रतीत होते हैं। उनकी दृष्टि में व्यापक मानव समुदाय

झलक नहीं मारता। यही कारण है कि जनसाहित्य सदैव जनभाषा के निकट होता है। काव्य में शिल्प के महत्व से अधिक आवाहन और अपील पर जोर रहता है यथा—

ये चित्रलिखित से नारी-नर
चलते - फिरते रहते भू पर
बन मूक-बधिर ज्यों जड़ पत्थर
जो भूल गये परवशता में
अपनी, करना विद्रोह-सृजन !
इनका भी है मानव का मन।

मानव समुदाय के आर्थिक और राजनीतिक शत्रुओं को कवि ने चुनौती दी है—

हम सहन नहीं करने वाले शृङ्खलाबद्ध युग का क्रन्दन,
हम वहन नहीं करने वाले क्षण भर भी मुर्दों का जीवन,
जलती आखों से भस्म बना देंगे जग का यह जीर्ण भवन-
अब अधिक न होने देंगे हम भूतल पर उच्छृङ्खल नर्त्तन !
प्रलयंकर शंकर मानव हम, अति भीम भयंकर मानव हम।

ऐसी कविताओं में सदैव सीधी अभिव्यक्तियों के प्रति कवि जागरूक रहता है। सीधी बात को सीधे ढंग से कहना ही इष्ट है। देखिए—

बीते निशि-तम के क्षण,
बीते वे भ्रम के क्षण,
तुम भी जन-गन-मन के भ्रम का विषघट फोड़ो।
तोड़ो कारा, तोड़ो !

कवि की प्रगतिशील कविताओं की भाषा चोट करने वाली है। अति प्रचलित या प्रचारवादी शब्दों के बिना भी उद्देश्य की पूर्ति एक बड़ी सफलता है। नागार्जुन, नरेन्द्रशर्मा, केदारनाथ अग्रवाल आदि प्रगतिशील कवियों ने अपने गम्भीर साहित्य के सामने अपने ही जनसाहित्य को प्रचार मात्र बना दिया है। सामान्यत: ऐसी कविता की भाषा भाषण वाली भाषा का रूप ले लेती है, जिसमें बात को लाघव से न कहकर व्यास-प्रधान भाषा अपनाने की प्रवृत्ति काम करती है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने साहित्यिक स्वर को सदैव संभालने का प्रयत्न किया है। भाषा की चित्रात्मकता एवं लक्षणिकता का यहाँ भी परित्याग नहीं किया गया।

'मन्वन्तर' की कविता की भाषा बिल्कुल सामान्य ग्रामीणजन की भाषा सी प्रतीत होती है। कथात्मक कविताओं की भाषा की भी यही दशा है। 'जड़ भरत' नामक कविता की भाषा इसी नमूने की भाषा है यथा—

जिस दिन गाड़ी का चलना होगा वन्द
उस दिन मानूँगा
मिल गया देश को यह सुराज,
इतना कहकर मन्थर गति से
गूदर निज पथ पर चले गये
मैं खड़ा-खड़ा
उस ओर देखता रहा जिधर
गूदर के पाँव शरीर भार लेकर उनका
जा रहे चले।

(३) प्रयोगवादी कविता के पश्चात् हिन्दी में नयी कविता का युग आरम्भ होता है। प्रयोगवादी काव्य की भाषा का शब्द-कौतूहल छायावादी काव्यभाषा के शब्द-कौतूहल से भिन्न हैं। प्रयोगवादी काव्य का मुख्य आग्रह प्रतीक-योजना ही समझना चाहिये। समसामयिक कविता की भाषा का लक्ष्य रह गया है प्रतीकों के माध्यम से भावचित्रों को स्वरूप देना। फलस्वरूप कविता बुद्धिजन्य आत्मवाद की अभिव्यक्तिमात्र रह जाती है। यही कारण है कि पूर्वाग्रहीं आलोचक इन्हें कविता मानते ही नहीं। इस प्रकार की कविता को ,देखकर आज के सामान्य आलोचक का प्रश्न है कि क्या कविता का भी कोई भविष्य है ?

आज का कवि बिम्बयोजना के लिये अर्थवत्तापूर्ण शब्दों की खोज में संलग्न है ताकि वह प्रतीकों का सफलतापूर्वक प्रयोग कर सके। प्रतीक भी अपने-अपने होने लग गये हैं। अपनी कल्पना, अपने शब्द और अपने प्रतीकों के प्रयोग की पूरी स्वतन्त्रता दृष्टिगोचर होती है। प्रतीकों का अर्थ सन्दर्भ से स्पष्ट होता है। सन्दर्भ से ही वस्तु और शब्द के अर्थ का बोध होता है। कोशगत अर्थ से काव्य के मर्म की पकड़ सम्भव नहीं होती। नयी कविता की भाषा की दूसरी विशेषता यह है कि बिम्ब खण्डित होते हैं। संश्लिष्ट बिम्ब कवि को नहीं रमा पाते। परिणाम यह होता है कि शब्द की वक्रता या व्यंजनाशक्ति के आधार पर ही अर्थ-बोध के लिये प्रयत्न करना पड़ता है। आधुनिक काव्य की भाषा पर श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी ने लिखा है कि "वर्तमान स्थिति में कविता और गद्य की विभाजक रेखा भाषा-प्रयोग-विधि ही है, जिसमें शब्द-समूह का अपना निरपेक्ष महत्व न

होकर उसकी प्रयोगविधि का महत्त्व होता है।"[1] नयी कविता में शिल्प का महत्त्व बढ़ गया है। सिर्फ प्रतीकों के सहारे भावचित्रों या कल्पना चित्रों का निरूपण किया जाने लगा है। भावचित्रों के माध्यम से, स्थिति यहाँ तक पैदा हो गई है, सिर्फ कवि अपनी बात कह सकता है और सिर्फ आलोचक उसकी बात समझ सकता है। सामान्य जनता गौण होती जा रही है। जनता से साहित्य का और साहित्य से जनता का सम्बन्ध कटता जा रहा है। आलोचक को भी प्रतीक या भावपक्ष से अधिक सन्दर्भपक्ष की ओर केन्द्रित होना पड़ता है। काव्य का अर्थ समझने के लिये सन्दर्भ से प्रतीक और प्रतीक से भावचित्र की ओर अग्रसर होना पड़ता है। प्रतीकों के माध्यम से कवि भावचित्र प्रस्तुत करता है, जिसकी कुन्जी किसी सन्दर्भ में छिपी रहती है। लेकिन नये कवियों में अधिकांश के लिए इसका निर्वाह कठिन है। "प्रतीकों की इस भारी संख्या को उत्पन्न करना तो आसान था, पर उनका पालन-पोषण करने के लिये जिस शक्ति-सामर्थ्य की अपेक्षा की वह अधिकांश कवियों में न थी।"[2] सम्भव है ये प्रतीक कालान्तर में आदि काल या वीरगाथा काल की काव्यरूढ़ियों का स्वरूप धारण कर धीरे-धीरे सरल, एक रूप और घिसे-पिटे बन जाय।

नयी कविता की भाषा का एक और शिल्प है—बीच की खाली पंक्तियाँ। ऐसे स्थलों पर कवि की भाव-शून्यता ही कविता बन जाती है। पर ऐसे स्थलों को, जो शायद फैशन के रूप में ही आने लग गए हैं, कविता से अधिक कवित्व शून्यता मान लिया जाय तो ज्यादा सही हो सकता है। सभी सार्त्र और कामू, हेमिग्वे और पेस्तरनाक नहीं हो सकते। दूसरे, अंग्रेजी की पैरेंथ्योसिस और विविध विराम चिह्नों ने भी नयी कविता की भाषा में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। इन सब बातों ने कविता को पढ़कर समझना मुश्किल बना दिया है। कवियों ने अपनी-अपनी कविता पढ़ने और श्रोताओं को समझाने की नयी और पृथक् शैली भी ढूँढ़ निकाली है। सुनकर समझना ज्यादा सरल प्रतीत होता है। कौन जाने श्रव्यकाव्य के दिन फिर लौट आएँ।

महाभारत में 'चक्रव्यूह' युद्धमोरचा हो सकता है, पर संदर्भ से नयी कविता के प्रतीक में वह मानसिक गुत्थियों किसी व्यक्ति की पारिवारिक समस्याओं की उलझन अथवा किसी राजनेता की राजनीतिक दावपेंच का भावचित्र हो सकता

१—भाषा और संवेदना।

२—वही।

है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह की नयी कविता की भाषा में ऐसी अधिकांश विशेषताएं देखने को मिलती हैं। "खण्डित सेतु" में 'नीलासमुद्र' एक ऐसी ही कविता है—

वह एक नीला समुद्र था
मेरे बिस्तर पर लहराता हुआ,
जिसके तल में
असंख्य जलचरों की अस्थियाँ
दलदल में धँसी थीं
और सतह पर थी
एक धूपछाँहीं फिसलन।

बिस्तर पर सोने वाले कवि के साथ कौन सा नीला समुद्र लहरा सकता है, इसका संदर्भ ढूँढ़ना कठिन न होते हुए भी कल्पनासाध्य है। अतीत की स्मृतियाँ 'नीला समुद्र' हैं। सुख-दुख के अनेक अनुभव 'जलचरों की अस्थियाँ' हैं। एकान्त प्रणय के कुछ संस्मरण 'धूपछाँही फिसलन' हैं। यह एक सामान्य सत्य है कि आदमी सोने के पूर्व अनेक बीती बातों को सोचता-विचारता है। यहाँ इसी बीती बात ने काव्य का रूप ले लिया है जिसका भावचित्र प्रत्यक्ष नहीं, प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। आगे के प्रतीक 'छरहरी मछलियाँ'—प्रेमिका की दो आँखें, 'भयानक युद्धपोत'—विश्व का कोलाहल और संघर्ष, 'जलपरियाँ'—जीवन में आगत एकाधिक प्रियपात्र, 'चाँद-फूल'—किसी का सुन्दर मुख, 'शताब्दियों लम्बी परछाईं'—लम्बी अवधि की स्मृति, 'जिज्ञासु बालक'—अबोध और अजानकार व्यक्ति, 'पश्चिम की रक्तरँगी बॉलकनी'—यूरोप के खूनी साम्राज्यवादी, 'एक टूटा जहाज'—असहाय और दीन मानव, के भावचित्र को प्रस्तुत करते हैं। एक के बाद एक असम्बद्ध विचार आते हैं, कवि उन्हें जोड़ने या सँवारने का प्रयत्न नहीं करता, सिर्फ उन्हें शब्द का जामा पहनाता चला जाता है। जिस प्रकार के बिम्ब कल्पना में आये उन्हें वैसा ही रूप दिया गया।

दूसरी कविता है 'तीन सुरंगें' जिसमें शब्द-विधान बिल्कुल सरल है, किन्तु सन्दर्भ-योजना को व्यक्तिगत प्रतीक के कारण कठिनाई से समझा जा सकता है—

एक बूढ़ा मछुआ
ह्वेल को नाथता
और उसे अपने जहाज की ओर खींचता है,
और तभी एक भयानक गिद्ध
उस बूढ़े की छाती में
चोंच मारता है,
बूढ़ा जहाज की डेक पर गिर पड़ता है।
गोकि वह बूढ़ा मछुआ
अब मर गया है
पर वह आदमी अभी जी रहा है
जिसकी छाती में
तीन सुरंगें बन गयी हैं।

कविता के प्रतीक अत्यधिक व्यक्तिगत हो गए हैं, फिर भी मुख्य प्रतीकों के शाब्दिक अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं—'पैगम्बर तो मर गये'—कितने महापुरुष आए-गए, 'क्रास पर लटका आदमी'—दुख भोगता मानव, 'महासागरों की लहरों'—अनन्त समय, 'बूढ़ा मछुआ'—महात्मा गांधी, 'ह्वेल'—अन्याय, अत्याचार, 'भयानक गिद्ध'—नाथूराम गोड्से, 'तीन सुरंगें'—सीने के तीन घाव, 'बूढ़े दढ़ियल पागल'—सुकरात, 'पागल नौजवान'—राष्ट्रपति केनेडी, 'भविष्य की अंधेरी गुफाएं'—अनास्था, सिद्धान्तविहीनता, अस्थिरता। तीन सुरंगों में से एक यूनान, दूसरी डलास नगर, तीसरी भविष्य की अँधेरी गुफा में जाती है।

नयी कविता में वास्तव में कवि के सामने भाषा-संबंधी कोई समस्या नहीं है, समस्या प्रतीकों की योजना की है जो सरल बात को सहज ही में कठिन बना देती है, भले ही कोई इसे व्यंजना की उत्कृष्टता माने। 'एक गाय की वसीयत' कविता में भी प्रतीकों के माध्यम से इसी प्रकार बिम्ब-चित्रण किया गया है। 'विद्वान् कुर्सी' गाय से कहती है—

तुमने अभी जो पुस्तक खाई है उसमें अस्तित्ववादी दर्शन था।

आगे 'गाय' अपनी तकलीफ का इजहार करती है—

क्या यह दर्शन है जो मेरी आँतों में भाले की नोक-सा चुभ रहा है?

पूरी कविता की सामान्य भाषा सरल है किंतु प्रतीकों के माध्यम से बने भाव-चित्रों के संदर्भ को समझना एक टेढ़ी खीर है। प्रतीकों पर वैयक्तिकता की छाप स्पष्ट है। कविता के कुछ प्रतीक इस प्रकार हैं—'गाय'—सामान्य जनता,

'विद्वान कुर्सी'—सुलझा हुआ दार्शनिक, 'पुस्तक'--सिद्धान्त या धर्म की पुस्तक, 'अस्तित्ववादी दर्शन'—विशेष धार्मिक या राजनीतिक सिद्धान्त, 'खायी है'—समझे-बूझे बिना अंधानुकरण, 'भाले की नोक-सा'—अंधानुकरण का दुष्परिणाम, 'जहर की दवा'—सिद्धान्त या धर्म का लाभ, 'जहर'—सिद्धान्त या धर्म से होने वाली हानि। इस प्रकार की भाषा संबंधी गुत्थियों का जवाब पुस्तक के प्रकाशकीय में मिलता है—"इनमें अधिकतर खंडित और विश्लिष्ट बिम्बों, निजी और आदिम प्रतीकों तथा निराकृति-मूलक अथवा अरूप चित्रों का प्रयोग हुआ है; कारण, आधुनिकतम भावबोध की जटिलता, अस्पष्टता और सूक्ष्मता को व्यक्त करने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।"[1]

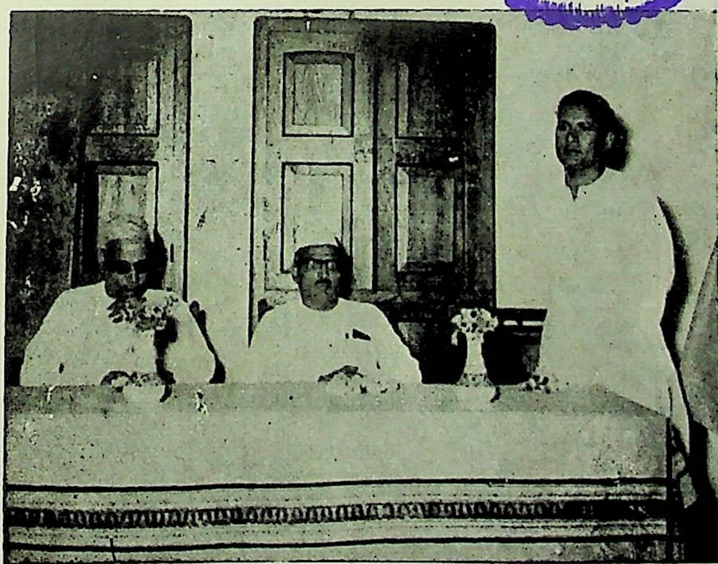
१—खंडित सेतु।

द्वितीय खण्ड

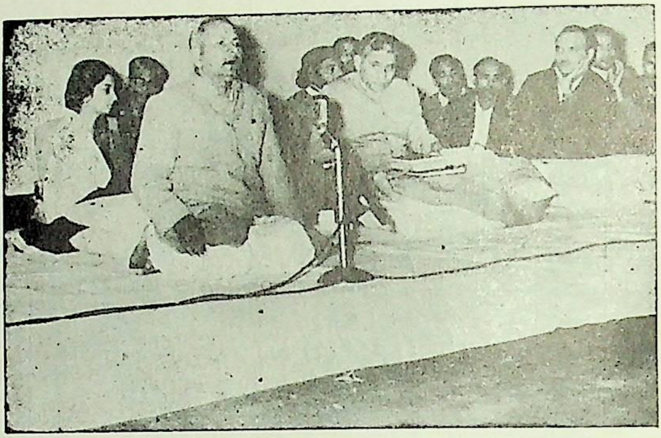
पुस्तक-समीक्षा



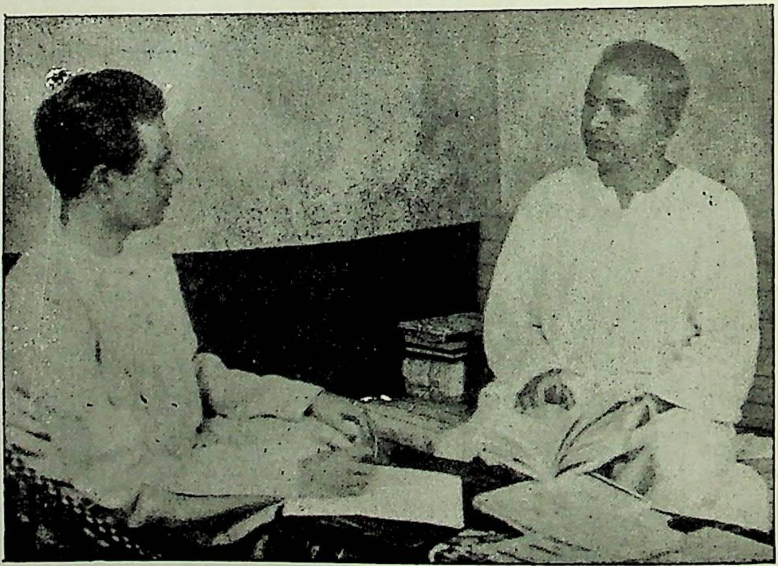
काशी के कवियों के साथ



भाषण करते हुए : बगल में हैं डॉ० रामअवध द्विवेदी एवं
डॉ० राजबली पाण्डेय



काव्यपाठ करते हुए



एक साहित्यिक साक्षात्कार : विजयनारायण सिंह के साथ

रूपरश्मि

•

त्रिलोचन शास्त्री

'रूपरश्मि' श्री शम्भुनाथ सिंह की प्रथम काव्य-कृति है। उसमें कवि की ५१ कविताएँ संकलित हैं। ये सभी कविताएँ सन् १९४१ के पूर्व की लिखी हैं। मैंने रूपरश्मि को पढ़ा। जिस उत्साह से मैंने पढ़ना आरम्भ किया वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ तक पहुँचते न पहुँचते मैंने अपने को एक स्वस्थ भाव-जगत में अनुभव किया। किसी भी रचना की सफलता का रहस्य यही है कि वह अपने पाठक की रुचि का अनुसरण करने में कितनी समर्थ है। रूपरश्मि के अन्तर्लोक का परिचय-लाभ कर मैंने अपने को विशेष रूप से तृप्त पाया।

जैसे वर्तमान जीवन सभ्यता के अनेक अलंकारों में परिच्छिन्न और अस्वस्थ है वैसे ही वर्तमान कला। कितने ही साम्प्रतिक अनर्थों के भार से जीवन का अर्थ लुप्त हो चला है और उसके स्थान पर बहु-रूप-रंग में कृत्रिम और चिन्ता-शून्य वाणी-व्यापार का बाजार गर्म है। ऐहिक ऐश्वर्य की साधना के लिए जिस प्रकार आर्थिक स्वतन्त्रता अपरिहार्य है उसी प्रकार मनोविकास के लिये जीवन के सामञ्जस्य की स्थापना।

जीवन के परिपूर्ण विकास के लिए जन-समष्टि का उद्बोधन आवश्यक है क्योंकि भावी जीवन की रूप-कल्पना वहीं पर सुनिश्चित स्वरूप प्राप्त करती है। जिस नवीन दिशा में वर्तमान युग पदन्यास कर रहा है उसका बहुत कुछ हेतु तरुण समाज है। जहाँ-जहाँ इन सब की गति प्रवृत्त हुई वहाँ-वहाँ एक नये चमत्कार की प्रणोदना हुई। अभी हमारी यह वृत्ति आदिम अवस्था में है और अभी उसे विकास के लिए—शक्ति के लिए—पर-निर्भर रहना पड़ता है।

जीवन की भावात्मक अभिव्यञ्जनाएँ कला के इतर क्षेत्रों की अपेक्षा काव्य में अधिक मूर्त हुईं। इसका कारण यह है कि आदि काल से ही मनुष्य ने अपने भावों का सजीव और अमर-सन्देश वहन करके एक युग से दूसरे युग तक पहुँचाने में काव्य को ही अधिक सशक्त पाया। फलतः काव्य का आसन सर्वोच्च माना गया।

प्रारम्भ से लेकर आज तक काव्य में कितनी ही प्रवृत्तियाँ, कितने ही 'वाद' आये और गये परन्तु उसकी आत्मा जैसी आदि काल में थी वैसी ही अब भी है। उसके द्वारा तब जो काम होता था वही अब भी हो रहा है। जो सौन्दर्य-सत्ता धरती से आकाश तक व्याप्त है, जिसकी ज्योति कण-कण में तेज और महिमा का समावेश कर रही है, जिसकी अमूर्त लहरें जड़-चेतन को समान भाव से वरण करती हैं, जिसकी परिमा में जीवन का प्रारम्भ और विकास हुआ उसकी उपेक्षा कोई संवेदनशील और भावपूर्ण हृदय नहीं कर सकता। इस परम तत्त्व में वह प्रेरणा केन्द्रीभूत है जिसके प्रश्रय में जीवन की सम्पूर्ण शक्ति क्रियाशील और प्रवृत्त है। जब वह सामान्य व्यक्ति के हृदय को भी आकर्षित करती है तब कवियों का तो कहना ही क्या? वे तो उसकी ममता की परिधि के स्वजन ठहरे।

धरती के ऊपर, आकाश की छाया में जब मनुष्य स्वस्थ मन से प्राणवायु को ग्रहण करते हुए अपने परिचय की परिधि का अधिक से अधिक प्रसार करने की पीड़ा का अनुभव करता है तब समग्र जड़-चेतन प्रकृति अपने स्वाभाविक भाव और सौन्दर्य की महिमा का अवतार उसके हृदय में स्वयमेव करती है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकृति वाणी को अपना वाहन स्वीकार करती है और कविता का जन्म होता है।

कविता ज्ञान की विविध परम्पराओं को अंगीकार करके भी अपने व्यक्तित्व से अलग नहीं होती। इसी कारण दर्शन और इतिहास को अपने सहयोग में रखकर भी वह तदाकार नहीं होती। ज्ञान की अन्यान्य शाखाओं में और कविता में मुख्य भेद यह है कि ज्ञान बुद्धि की चिन्ता रखता है और कविता हृदय की। अन्य सभी भाव-प्रकाशन के साधनों की अपेक्षा कविता जो अधिक महिमामयी हुई उसका प्रमुख कारण यह है कि जब वह जीवन को समझना चाहती है तो उसकी संगिनी बन जाती है, ज्ञान की, विश्लेषणात्मक प्रकृति को छोड़कर वह संश्लेषणात्मक प्रकृति को ग्रहण करती है एवं विषय-प्रतिपादन के अवसर पर वह तटस्थ वृत्ति की अपेक्षा तन्मय वृत्ति को ही महत्त्व देती है।

परम्परा का ध्यान रखते हुए भी काव्य पुरातन की पुनरावृत्ति की पदवी को नहीं ग्रहण करता। यही कारण है कि उसका जीवन-सम्बन्ध गतिशील सामान्य जीवन से अविच्छेद्य है।

इस प्रकार रूपरश्मि को पढ़ते समय उपर्युक्त विचारों की सापेक्ष्यता में मुझे नवीनता का आभास मिला। रूपरश्मि की भाव-भूमि पर पहुँच कर जो

कुछ देखने में आता है वह बहुत कुछ मौलिक, स्वस्थ और सुन्दर है। इसमें पूर्व प्रवृत्तियों का यथारूप ग्रहण कहीं नहीं है। जो कुछ भाव प्रदर्शित हैं वे अपनी सौन्दर्य-परिधि के भीतर।

रूपरश्मि का कवि जिस विषय पर कविता करता है उस पर अपने प्रभाव का रंग चढ़ा देता है। किसी वस्तु-विषय को वह जैसा कुछ अपने हृदय में अनुभव करता है वैसा ही प्रस्तुत करता है। जीवन की आशा-निराशा, विजय-पराजय, हानि-लाभ इत्यादि अवस्थाओं का जैसा चित्र वह अपने में और अपनी परिस्थिति में देखता है उसे निर्व्याज अंकित करता है।

वर्तमान काव्य-प्रवृत्ति में जो विचारमूल कारण हैं उनकी सत्ता रूपरश्मि में भी है। भेद इतना विशेष है कि समष्टि-रूप से इसमें वर्तमान वादों के प्रति कोई आग्रह नहीं है। कवि की प्रवृत्ति व्यक्ति की अपेक्षा समाज का सम्मान विशेष करती है और उसे समाज—संसार (अग-जग) के लिए व्यक्ति का आत्मोत्सर्ग प्रेय है।

'रूपरश्मि' का कवि जग-जीवन की उलझनों को सुलझाने में व्यस्त है, वह उनसे पलायन नहीं करता—

मैं सुलझाने में व्यस्त कठिन
जो जग–जीवन की उलझन है।

प्रारम्भ से ही कितने ही मनीषी और कवि जीवन की और उसके आधार-भूत तत्त्वों की परिभाषा करने में प्रयत्नशील रहे हैं। लेकिन जीवन परिभाषा की सर्वसम्मत नियति में नहीं आया। प्रयत्न अब भी चल रहे हैं। रूपरश्मि का कवि आत्मविश्वास पूर्वक कहता है :—

मैं नये सिरे से सीख रहा
जीवन की महती परिभाषा

प्रेम के पावन गीतों से रूपरश्मि सौन्दर्य की आत्मा, रूप की किरण बन गयी है। उसके प्रकाश में कवि की अतुल और अपूर्व भाव-राशि अत्यन्त मार्मिक और रसनिष्पत्ति सहज सफल हुई है। कुछ पंक्तियाँ हैं :—

युग-युग की ज्वाला हाय बना
वह प्रथम-प्रथम मिल पाना ही !

× × ×

एक क्षण का मधुर दर्शन
नयन-घट की स्निग्ध छलकन
युगल उर में युगल-जीवन-
मिलन का बन्धन अमर हो !

इसमें स्थान-स्थान पर प्रकृति की झाँकियाँ आत्मीयतापूर्वक चित्र-कल्पना को शब्दों के उपादान से मूर्त करती हैं :—

उलझ सन्ध्या के चरण से
जब फटा उस ओर बादल

कूद आयी रन्ध्र से रंगीन
रवि की किरण चंचल !

बन गया रवि का सुनहरा
जलद-सिंहासन मनोहर

हो गया रवि-सान्ध्यवेला
का सजल अभिसार दो पल

हास-धारा विश्व - बीच
बहा गयी लो मेघमाला !

रूपरश्मि में दर्शन है, उतना ही जितने की अपरिहार्य आवश्यकता है। दर्शन में भारतीय परम्परा की प्रधानता स्वीकृत करके कविता की अभिव्यक्ति में मनोरम और आकर्षक रूप-विधान संयोजित किया गया है :—

बहते जाते गलकर प्रतिक्षण
इन नयनों के पागल हिमकण
मैं राधा बन किस पर मिट लूँ
मनमोहन कोई हो भी तो !

जिस भाव-निर्मल जिज्ञासा की अभिव्यञ्जना उद्धृत पद में है वह आदि काल की इस भाव-प्राण जिज्ञासा का साम्प्रतिक देश, काल और वस्तु की सीमा में सहज सुन्दर परिणाम है—

मत रुको, हमें बस चलना है,
मत भूलो, दुनिया छलना है,
हम चलें क्योंकि रुकना ही,
मृत्यु और चलना ही है जीवन !

यह पद अपनी परिणति में जाकर उपनिषद से जीवन के तत्त्व ग्रहण करता है। इस प्रकार सम्पूर्णता में 'रूपरश्मि' जीवन की महिमा को स्वीकार करती है। 'सोऽयं कालमयो पुरुषः' की दृष्टि से ही रूपरश्मि का काव्य-पुरुष जीवन-कलामय है। जिस प्राण-जीवन की महत्ता से भारतवर्ष की आदियुगीन कृतियाँ ओत-प्रोत हैं उसी का अनुसरण इसमें भी है। आधुनिक दृष्टि से काव्य के माध्यम से जीवन को समझाने और उन्मेषपूर्ण करने के लिए जो साधना समूह के हृदय से उच्छ्वसित हो रही है, रूपरश्मि उसी का एक सर्ग है।

इसमें जिस गति का प्रकाश है वह लोक-संग्रह की प्रकृति से विकीरित है। 'रूपरश्मि' में अपूर्णता है लेकिन उस उत्साह और आन्तरिक शक्ति का आवेग भी है जिससे अपूर्णता का तिरोधान हो जाता है।

काशी १९४१

शम्भुनाथ सिंह का 'छायालोक'

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

वर्तमान काव्यधारा के प्रवाहित होने के पूर्व तीन आकांक्षाओं के वेग फूट पड़ने के लिए उतावले हो रहे थे। एक थी सामाजिक बन्धनों को तोड़कर जीवन की स्वच्छन्द भूमि में विचरण करने की लालसा, दूसरी थी इस परिमित जीवन से अतृप्त और निर्विष्ण अपरिमित जीवन-तृप्ति की स्पृहा और तीसरी थी अभिव्यक्ति की उस प्रशस्त और दृढ़ भूमि पर आरूढ़ होने की उत्कण्ठा जो काव्य-विषय को ऊँचे उठाकर दिखा भी सके। पहली आकांक्षा सामाजिक रूढ़ियों के विद्रोह में थी, दूसरी सांसारिक जीवन के और तीसरी काव्य-शैली के। पहली का वेग स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिसिज्म) के रूप में प्रकट हुआ, दूसरी का रहस्यवाद (मिस्टीसिज्म) के रूप में और तीसरी का छायावाद (एक्सप्रेसनिज्म) के रूप में। आगे चलकर छायावाद नाम इतना व्यापक हो गया कि नये रंग-रूप की कोई रचना 'छायावाद' में ही अन्तर्भुक्त हो गयी। उसमें अन्तर्भुक्त होने का कारण यही था कि 'रहस्यवाद' और 'स्वच्छन्दतावाद' के नाम पर जो रचनाएँ प्रस्तुत होती थीं वे भी अभिव्यञ्जना की नयी शैली को ग्रहण करती थीं, अपने शुद्ध रूप में कदाचित् ही कोई रचना इन वादों से मिश्रित मिले। तात्पर्य यह कि अभिव्यञ्जना का नूतन विधान छायावाद का मुख्य लक्षण रहा है। शुद्ध प्रतीक-वादात्मक और शुद्ध अभिव्यञ्जनात्मक रचनाएँ 'छायावाद' ही कहला सकती थीं। इसलिए जहाँ तक काव्य-विषय का सम्बन्ध है, प्रमुख रूप में दो ही प्रवृत्तियाँ चल रही थीं, रहस्यात्मक और स्वच्छन्दतात्मक।

राष्ट्रीय भावात्मक, प्रकृति-रागात्मक तथा साम्यविचारात्मक रचनाओं का प्रवाह इस वर्तमान काव्य-धारा के पहले से ही चला आ रहा था। उनके ग्रहण में भी कहीं-कहीं नवीन काव्य-धारा अवश्य उन्मुख दिखाई देती है, पर वह लोकभूमि से बच कर अधिकतर व्यक्तिबद्ध भूमिपर ही टिकना चाहती थी। इसी से आगे चलकर इन प्रवृत्तियों का रूप निखर गया। पुरानी धारा में प्रवाहित होने वाले कवियों के रहस्य-संकेत लोक और प्रकृति को लेकर चलते रहे, उनकी स्वच्छन्दता लोकाराधन में ही तत्पर रही। पर आगे के शुद्ध रहस्यवादी कवि

प्रकृति से विरक्त हो गये, लोकभूमि त्याग दी गयी और स्वच्छन्दतावादी कर्ताओं ने भी लोक-साधना का पक्ष हटा कर केवल व्यक्तिबद्ध पक्ष में ही अपने को परिमित कर लिया ।

इससे यह स्पष्ट हो गया कि नवीन काव्यधारा की सर्वसामान्य विशेषता व्यक्तिबद्ध काव्यभूमि हो गयी; पर रहस्यवादी और स्वच्छन्दतावादी मे इस दृष्टि से भी भेद बना रहा । पहले ने तो लोकभूमि का एकदम त्याग कर दिया, वह 'सान्त' से 'अनन्त' की भूमि पर जा टिका, पर दूसरे ने व्यक्तिबद्ध घेरे में पहुँचकर भी 'सांत' का त्याग नहीं किया । वह ससीम को ही असीमता का आवरण पिन्हाने लगा । फल यह हुआ कि रहस्यवादी के लिए जगत् दु:खात्मक ही प्रतीत हुआ पर स्वच्छन्दतावादी को वह सुखदु:खात्मक भासित हुआ । रहस्यवादी शुद्ध दार्शनिक होने लगा और लगा दु:खत्रय के अभिघात का मार्ग खोजने । वह शुद्ध आदर्शवादी हो गया; पर स्वच्छन्दतावादी दार्शनिक होकर शुद्ध काव्यभूमि और काव्य की चिरन्तन लोकभूमि का त्याग न कर सका, वह संकुचित या संकीर्ण मार्ग का अवलम्बी भले ही कहा जाय, पर उसने यथार्थ भूमि का त्याग नहीं किया, वह तथ्यवादी ही रहा ।

नवीन काव्य-धारा का लक्षण प्रेमप्रवण होना भी रहा है । 'प्रेम' की व्याप्ति दूर तक मानकर ही उसका यह लक्षण स्वीकार करना होगा । पर यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि दाम्पत्यप्रेम सब प्रकार के प्रेमों से गूढ़ होता है अतः दोनों ने अपने-अपने आलम्बनों के लिए इस प्रेम का अधिकतर आश्रय लिया । असीम या अलौकिक के प्रति व्यक्त रहस्यवादी का प्रेम लौकिक दाम्पत्य प्रेम ही था, उसे चाहे जितना उदात्त, अवासनात्मक या परिशुद्ध कह लिया जाय । भक्ति-सम्प्रदाय तो ऐसे प्रेम को 'माधुर्यभाव' ही कहता है और उसका 'मधुर रस' काव्य का 'शृंगार रस' ही है । सूफी इसे ही 'इश्कमजाजी' में 'इश्कहकीकी' कहते हैं—वे लौकिक प्रेम में अलौकिक प्रेम की झाँकी देखते-दिखलाते हैं । पर स्मरण रहे, सूफी 'इश्कमजाजी' का तिरस्कार नहीं करते, उसे साधना के लिए अनिवार्य मानते हैं । किन्तु हिन्दी के रहस्यवादी ने उसका तिरस्कार किया । अतः वह बाहर न देखकर भीतर देखने लगा, वह बहिर्मुख न रहकर अन्तर्मुख हो गया । उसकी वेदना शाश्वत हो गयी । पर स्वच्छन्दतावादी लौकिक प्रेम—इश्कमजाजी—की, उसके परिशुद्ध रूप में भी, अवज्ञा न कर सका । उसने इश्कमजाजी में इश्कहकीकी होने के पाखण्ड का प्रचार भी नहीं किया । कभी-कभी वह भी रहस्योन्मुख अवश्य हुआ, पर उसने रहस्योन्मुखता को अपना नित्य

लक्षण नहीं बनाया। वह प्रधानतया बहिर्मुख ही रहा, भले ही उसे प्रिय के सौन्दर्य की एक झलक से तृप्ति न मिली हो, वह झलक पर झलक देखने का अभिलाषी रहा हो, उसकी लालसा अतृप्त ही रह गयी हो। अतः उसे वेदना का शाश्वत लोक ठीक और उपयुक्त न जँचा। फल यह हुआ कि कुछ ऐसे रहस्यवादी भी दिखाई देने लगे जिनमें किसी प्रकार की अनुभूति नहीं थी, वे शुद्ध अभिव्यंजना में ही अपना काव्यवैभव दिखाने लगे—कुछ बँधे-बँधाये शब्द-खण्डों (कैचवर्ड्स्) की सैनिक प्रदर्शनी करते हुए। पर स्वच्छन्दतावादी अभिव्यंजना के वैभव का चाहे त्याग न करे पर उसमें गहरी अनुभूति के बिना जगे काव्य की प्रेरणा नहीं जगती थी। अतएव नैराश्य के बाद आशा के लोक में विचरण कर सकने की सम्भावना रहस्यवादियों से नहीं, स्वच्छन्दतावादियों से ही थी। यही हुआ भी। लोकभूमि पर विश्वास के साथ फिर से उतरनेवाले शुद्ध स्वच्छन्दतावादी ही दिखाई पड़े, शुद्ध रहस्यवादी नहीं।

इतनी बड़ी प्रस्तावना का हेतु यही था कि 'छायालोक' के रचयिता श्री शम्भुनाथ सिंह का प्रकृत रूप सामने किया जा सके। छायालोक नाम से कहीं यह भ्रम न हो जाय कि यह ऐसे कृती की रचना है जो अनन्त लोक में ही विचरण करनेवाला है और शुद्ध अभिव्यंजना का अनुरागी है अर्थात् अनुभूति की गम्भीरता से उसका कोई प्रयोजन नहीं है। पर यह बतला देने पर भी कि शम्भुनाथ जी स्वच्छन्दतावादी कवि हैं और व्यक्तिबद्ध भूमि पर स्थित होकर गहरी अनुभूति की अभिव्यंजना में निरत हैं, यह प्रश्न सामने आ ही जाता है कि क्या उनकी व्यक्तिबद्ध अनुभूतियाँ लोकानुभूति के मेल में भी हैं। इस प्रश्न के उत्तर के लिए फिर कुछ स्पष्टता अपेक्षित है। लोकानुभूति का तात्पर्य यह नहीं है कि कवि अपने व्यक्तित्व का विसर्जन कर दे। प्रत्येक व्यक्ति में लोक उसी प्रकार अनुस्यूत या अन्तर्भुक्त रहता है जिस प्रकार किसी एक वृक्ष के सभी पत्तों में पार्थक्य होते हुए भी उनकी एकाकारता होती है। इसी एकाकारता या अभेद को लक्ष्य करके जो चले या जिसके प्रदर्शन में यह अभेद लक्षित होता हो वही वस्तुतः भारतीय दृष्टि से सच्चा कवि है। अब बीच-बीच में उसके व्यक्तित्व की भेदात्मक उक्तियाँ भी यदि साथ ही पड़ी हों तो कोई हानि नहीं। जो सच्चा कवि होगा उसकी अभिव्यक्ति में सर्वत्र व्यक्तित्व का प्रदर्शन हो नहीं सकता। वैलक्षण्य और वैचित्र्य का निवेदन सच्चे कवियों का आत्म-निवेदन नहीं होता। शम्भुनाथ जी इस दृष्टि से मुझे सच्चे कवि दिखाई पड़े क्योंकि इनके आत्म-प्रदर्शन या आत्मनिवेदन में कहीं कृत्रिमता नहीं है। विरही यक्ष की भाँति इनकी सारी उक्तियाँ प्रकृत आलम्बन के प्रति हैं। प्रकृत काव्य के लिए यही ठीक है, अनुकृत

काव्य की, जिनमें कवि को सर्वान्तर्यामी के रूप में अनुकरण करना पड़ता है, बात दूसरी है। हिन्दी साहित्य ने प्रकीर्ण के क्षेत्र में जो राधा-कृष्ण को आलम्बन रखकर अपनी उक्तियाँ बाँधनी चाही थीं वह इसीलिए कि प्रकृत की अपेक्षा उस अनुकृत में अनेक काव्यगत और लोकगत दोषों का परिहार आपसे आप हो जाता था। ऐसा न करने का परिणाम यह हुआ है कि नवीन काव्य-धारा के समर्थ स्रोत-विधायक गायकों को आगे चलकर जब अपना यह अप्रकृत रूप सूझा तो उन्हें 'थी' को 'था' और 'गाती' को 'गाता' करना पड़ा। 'ललिता' और 'विशाखा' की ओट न मिलती तो सखी सम्प्रदाय का काव्य-पौरुष अधिकतर विलक्षण हो जाता। जहाँ यह ओट हट गयी है वहाँ कृत्रिमता (काव्य की दृष्टि से) बोल उठी क्या, पुकार कर उठी है।

जगत् में सुख निर्मल रूप में नहीं मिला करता। वह दुःख के साथ मिला-जुला रहता है--तिल-तन्दुल की भाँति नहीं, नीर-क्षीर की भाँति; जब कोई हंस (परमहंस नहीं) अपनी विवेक-बुद्धि से क्षीर का ग्रहण कर लेता है तभी वह उसे प्राप्त होता है, अन्यथा क्षीर के साथ नीर का ग्रहण किये बिना गुजर ही कहाँ है? जगत् द्वन्द्व है, वह सुख-दुःखात्मक है, इसे शम्भुनाथ जी ने कुछ रहस्यात्मक ढंग से कहा है। उनकी सबसे पहली रचना कहती है--

समय की शिला पर मधुर चित्र कितने
किसी ने बनाये, किसी ने मिटाये।

इनकी काव्य-रचना में प्रेम की तीन अवस्थाएँ दिखाई देती हैं--अयोग, संयोग और विप्रयोग की अथवा पूर्वराग, राग तथा अनुराग की या काम, प्रणय और विरह की। छायालोक में अधिकतर कामावस्था की ही रचनाएँ हैं, प्रणय और विरह की अन्त में कुछ ही रचनाएँ समाविष्ट हो सकी हैं। अतः उन्हें केवल क्रमबद्धता और विकास के सोपान समझ कर छोड़े देता हूँ। केवल अयोग या पूर्वराग या कामावस्था की ही कृति को विचार के लिए सामने रखता हूँ।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि कामावस्था में चंचलता होती है। पर चंचलता में भी संयम होता है। प्रत्येक रमणीयता से आकृष्ट होना और प्रत्येक रमणीयता को आकृष्ट करने में लगना प्रणय की उदात्त भूमि पर प्रेममार्गी को नहीं पहुँचा सकता। सच्चा या पक्का प्रेममार्गी बहुनिष्ठता का संग्रही नहीं होता, वह एकनिष्ठता का संयमी होता है। वह एक घनश्याम का चाहक चातक होता है, केवल स्वाती के जल का व्रती। वह सुमनों के मकरन्द का संग्रही मधुकर नहीं है। उसकी वृत्ति मधुकरी नहीं है, आत्मदान है, आत्मोत्सर्ग है। शम्भुनाथ

जी की इस काव्यभूमि में इसी अन्तवृ त्ति के उदात्त रूप की झाँकियाँ मिलती हैं। कामावस्था का प्रथम सोपान होता है अभाव की अनुभूति का बोध। उच्चता के विचार से प्रेमी अपने प्रेम को जहाँ टिकाना चाहता है उसकी उच्चता का भी अभिलाषी होता है। अतः प्रेममार्ग के पक्के पथिक का लक्षण अतृप्ति भी है--'प्रेम-तृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी कानि।' इसलिए 'मेरी अमिट भूख मेरी अमर प्यास' में वेदना और प्रेम की गहराई ढूँढ़नी चाहिये, वेदना का शाश्वत प्रेमी उसे न समझना चाहिये।

वह कभी तो मन को उस प्रिय की खोज में लगने को कहता है जिसके प्रेमस्पन्दन के प्रकाश में सुख और दुःख सम लगते हैं—

'जिसके प्रकाश में सम लगते
सुख-दुख औ जड़चेतन।'

कभी नैराश्य की लहर यह आशंका उत्पन्न करती है--'बीतेगा क्या यों ही जीवन ?'

और कभी वह हार कर यह भी कह बैठता है--'मेरे पंख ये झर जायँ।' ललक, नैराश्य, अतृप्ति, सोच, व्यग्रता,. तड़पन आदि की अनेक अन्तवृत्तियों में से होकर आगे बढ़ने पर वह समझ लेता है कि संसार में सहनशीलता की आवश्यकता है। व्यक्तिगत दृष्टि से प्रेम की उच्चभूमि के लिए अन्त:साधना अपेक्षित होती है। वह समझ लेता है कि 'जो कुछ मिलता, हँसते-हँसते स्वीकार करो।' क्योंकि—

सतत अपनी पुकारों पर
सतत अपनी गुहारों पर
सुनाई पड़ रहा केवल
मुझे संवेदना का स्वर।

संसार में सूखी सहानुभूति प्रदर्शित करनेवाले लोग अनेक हैं, वास्तविक हृदय खोलनेवाले 'सहृदय' बहुत कम। प्रेम की इस आत्मगत उच्च शिला पर न्यस्त होकर वह अनुभव करने लगा कि--

बिना रंध्र की बाँसुरी मैं कभी था
कि सहसा मधुर गीत की गूँज बनकर
धरा व्योम के बीच लहरा गया मैं।

पर अब भी वह आश्वस्त नहीं है--

नहीं जानता छल रहा पंथ को मैं
स्वय पंथ से या छला जा रहा हूँ।

यह भी सच्चे प्रेममार्गी का लक्षण है। वह अपने भावगाम्भीर्य में इतना डूबा या बेहोश रहता है कि उसे केवल पंथ में चलना आता है, वह क्यों चल रहा है इसका ज्ञान उसे नहीं होता। इसीसे यह 'न्यारा प्रेम-पंथ' कहलाता है। इसके निष्कलमष रूप की पहचान है वासनात्मक या बहिर्वृत्ति-निरूपक अथवा अश्लीलता से तिरस्कृत प्रणय का त्याग। 'सुजान'-प्रेमी 'घन-आनन्द' के प्रेम-कथन में एकनिष्ठता की दृढ़ता ही नहीं है, प्रेम का प्रकृष्ट और श्लील रूप भी है-- इन्द्रियज तृप्ति के द्योतक कामुक वर्णनों से पूर्ण विरक्ति। यही स्थिति शम्भुनाथ जी की भी है। अनुभूति की मर्मस्पर्शिता का कारण उनकी कृति में पूर्ण मानस-पक्ष का विधान है, बहिरंगता की लपक-झपक कहीं नहीं।

इसी से अभिव्यंजना का वक्र पथ भाषा ने भी वहीं पकड़ा है जहाँ अनुभूति की प्रकृत व्यक्ति के लिए बंकिमता आवश्यक क्या अनिवार्य थी। नयी काव्यधारा में विरोधाभास, असंगति, विषम आदि की अलंकृत शैलियों की योजना बराबर होती रही है। इन टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों का स्वीकार तभी हो सकता है जब ये 'काव्य-जीवित' तक हृदय को पहुँचा दें; उसमें अनुभूति जगा दें या मति को कम-से-कम यह समझा अवश्य दें कि अनुभूति की प्रेरणा से ही इनका अवलम्बन करना पड़ा है। एक साधारण-सी असंगत उक्ति लीजिये--

प्राण, तुम तृप्ति भी
प्राण, तुम प्यास भी

तात्पर्य यह है कि तुम्हारे कारण ही प्यास भी जगती है, उस जगी प्यास की तृप्ति भी तुम्हीं से हो सकती है। प्रिय के अयोग या विरह के कारण ही प्यास भी जगी है, उसके रूप-पानिप का उपयोग न हो सकने के कारण प्यास बढ़ती ही गयी, यदि वह रमणीयता सामने न आती तो प्यास भी न जगती। प्यास प्रेमी के मानस में रूप-पानिप के अभाव या अत्यल्प रूप में ही उपलब्धि के कारण है। अत: उसके प्राप्त होने से तृप्ति भी स्वतः हो जायगी। इससे प्रेमी की रूप-पिपासा की गहरी अनुभूति और उसके मानस में पड़े रूप के गहरे प्रतिबिम्ब या प्रभाव का पता चलता है। पिपासा और तृप्ति में शाम्य-शामक सम्बन्ध होने के कारण दोनों की एकरूपता या एक ही पर दोनों के आरोप से जो विरोध उत्पन्न हो रहा था उसका परिहार हो जाता है।

उन्नीसवीं कविता में अभिव्यंजना का वैशिष्ट्य ही प्रधान कहा जा सकता है पर वही उसका प्राण भी है क्योंकि वह भाव से लिपटा है। अभिव्यंजना और अनुभूति को पृथक् करना कठिन हो जाता है। क्रोचे ने अभिव्यंजना को ही जो सब कुछ कह दिया है उसका हेतु अनुभूति से उसका इसी प्रकार लिपटा होनी ही है। पर अभिव्यंजना के वक्र पथ में यहाँ उलझन या कंटक से भेंट नहीं। कवि को कहना यही है कि वे प्रिय स्वप्न में भी दिखाई नहीं पड़ते हैं, पर कहा गया है—

स्वयं को स्वप्न से भी तो
मुझे छलने न देते थे।

अधिक कहना व्यर्थ है। हिन्दी की नूतन काव्य-धारा के प्रवाह में जिन समर्थ और सरस कवियों का आगमन अपेक्षित था उनमें शंभुनाथ जी भी हैं, इसमें सन्देह नहीं। छायालोक हिन्दी की उत्कृष्ट रचनाओं में अवश्य गिना जाना चाहिये, पर ऐसी स्वच्छन्द प्रतिभा से 'छायालोक' के आगे 'प्रभालोक' की अभिलाषा करना ही ठीक होगा। देखें, 'छाया' के बाद 'प्रभा' के दर्शन किस 'अचल' पर से होते हैं।

'उदयाचल' और 'रातरानी'

●

डॉ० शिवनाथ

[डाक्टर शम्भुनाथ सिंह हिन्दी के प्रख्यात कवि, नाटककार, निबन्धकार, कथाकार और आलोचक हैं। उनकी बहुमुखी प्रतिभा का आलोक उसी समय फैलने लगा था जब वे मेरे साथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एम० ए० में पढ़ते थे। जब मैं साप्ताहिक 'आज' में सम्पादक था उस समय भी उनकी कविताएँ, कहानियाँ, निबन्ध आदि मेरे पास प्रकाशनार्थ आते रहते थे। उनसे प्रायः मिलता-जुलता भी रहता था और कभी मेरे घर पर, कभी चित्रकार केदार जी के यहाँ, कभी प्रसाद-परिषद् की गोष्ठियों में हम लोग साहित्य के विविध पक्षों को लेकर गम्भीर विचार-विमर्ष किया करते थे। सन् १९४१ में उनका प्रथम काव्य-संकलन 'रूपरश्मि' सरस्वती प्रेस से प्रकाशित हुआ था। उस ग्रन्थ की भूमिका श्री त्रिलोचन शास्त्री ने एक पत्र के रूप में लिखी थी और आवरण-पृष्ठ का अक्षरांकन आज के सुप्रसिद्ध कवि शमशेर ने किया था। सन् १९४४ में शम्भुनाथ सिंह ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'समय की शिला पर' लिखी थी जिसके सम्बन्ध में आज की नयी कविता के प्रसिद्ध कवि श्री विजयदेवनारायण साही ने एक लम्बा समीक्षात्मक पत्र शम्भुनाथ सिंह को लिखा खा। मैंने उस पत्र को शम्भुनाथ जी के उत्तर तथा उक्त कविता के साथ साप्ताहिक 'आज' के दो अङ्कों में प्रकाशित किया था।

सन् १९५४ में युग-मन्दिर उन्नाव से उनका दूसरा काव्य-संकलन 'छायालोक' बहुत सज-धज से प्रकाशित हुआ जिसमें उनकी अनेक प्रसिद्ध कविताएँ, जो कवि सम्मेलनों में एवं आकाशवाणी से प्रसारित होकर ख्याति अर्जित कर चुकीं थीं, सम्मिलित थीं। मैंने उस पुस्तक पर पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र से समीक्षा लिखाकर साप्ताहिक 'आज' में प्रकाशित की थी। सन् १९४६ में उनका तीसरा काव्य-संकलन 'उदयाचल' लखनऊ से प्रकाशित हुआ और 'रातरानी' नामक प्रथम कहानी-संग्रह प्रदीप कार्यालय मुरादाबाद से प्रकाशित हुआ। शम्भुनाथ सिंह उस समय तक प्रगतिवादी लेखक बन गये थे। काशी में प्रगतिशील लेखक-संघ की स्थापना हुई थी जिसके अध्यक्ष आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी थे और अमृत राय तथा शम्भुनाथ

सिंह मन्त्री थे। हम सभी लोग उस संस्था के सक्रिय सदस्य थे। 'उदयाचल' में उनकी प्रगतिशील कविताएँ संकलित थीं। 'रातरानी' में भी अधिकतर सामाजिक स्थितियों का चित्रण करने वाली कहानियाँ ही थीं। मैंने सन् १९४७ में दोनों ग्रन्थों की समीक्षा 'समाज' तथा साप्ताहिक 'आज' में लिखी थी। उस समय उन दोनों ग्रन्थों के सम्बन्ध में मैंने जो विचार व्यक्त किये थे, उनमें परिवर्तन की आवश्यकता मैं आज भी नहीं समझता। वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रगतिवाद का युग था और हम सब लोगों के मानस-लोक में प्रगतिवादी विचार ही छाये हुए थे। आज प्रगतिवाद अतीत की वस्तु बन गया है किन्तु प्रगतिशील विचारधारा आज भी बुद्धिजीवी वर्ग में वर्तमान है और हर युग में वर्तमान रहेगी। इस दृष्टि से उस युग की उन प्रगतिशील रचनाओं का, जिनमें सचमुच साहित्यिक गुण थे, आज भी महत्त्व है। अतः उक्त दोनों ग्रन्थों के सम्बन्ध में लिखी गयी समीक्षाओं में आज परिवर्तन करने की आवश्यकता मैं नहीं समझता। उस युग की परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। काव्य और कथा-साहित्य के शिल्प में अत्यधिक परिवर्तन आ गया है। अतः शम्भुनाथ जी की उक्त दोनों कृतियों को आज की दृष्टि से देखना अन्याय भी होता। अतः अच्छा यही है कि यदि मेरी उस समय लिखी समीक्षा में आज किसी को पक्षपात या तत्युगीन विचारों का बासीपन भी दिखायी पड़े तो भी उसे शम्भुनाथ सिंह के समस्त साहित्य के मूल्यांकन के प्रसंग में उसके तत्कालीन रूप में ही प्रकाशित किया जाय, उसमें हेर-फेर न किया जाय। वे दोनों समीक्षाएँ यहाँ यथावत् उद्धृत की जा रही हैं।]

उदयाचल

'उदयाचल' शम्भुनाथ सिंह का तीसरा काव्य-ग्रन्थ है। इसके पूर्व उनके दो काव्य-ग्रन्थों—'रूपरश्मि' और 'छायालोक' का प्रकाशन हो चुका है। उनके द्वितीय काव्य-ग्रन्थ 'छायालोक' में छाया और आलोक दोनों दृष्टिगत होते हैं अर्थात् उसमें आशा और निराशा दोनों के गान हैं। इसी बात को इस प्रकार कहूँ कि उसमें जीवन से निवृत्ति भी है और उसकी ओर प्रवृत्ति भी। 'छायालोक' की अभिधेयता मैं इसी रूप में ग्रहण कर सका। द्वितीय ग्रन्थ के सुधी पाठकों ने देखा होगा कि उसमें जीवन से निवृत्ति कम है और उसके प्रति प्रवृत्ति अधिक। कुछ स्थल ऐसे भी देखे होंगे जहाँ कवि निराशा से अभिभूत तो दृष्टिगत होता है परन्तु उसने हिम्मत नहीं हारी है, ऐसी अवस्था में भी उसे जीवन के प्रति आशा और विश्वास है।

'उदयाचल' में जीवन के साथ ही समाज के प्रति आशा के पूर्णोदय के दर्शन होते हैं। इसमें जीवन और समाज के प्रति आशा, विश्वास तथा इनमें पूर्ण चेतना भरने के गान संगृहीत हैं। पता नहीं इसमें एकाध निराशावादी गीत क्यों रखा गया। जीवन और समाज के प्रति आशा और आस्था की प्रवृत्ति वर्तमान युग के साहित्य की प्रधान वृत्ति है। प्रमुखतः यही वृत्ति इस युग के साहित्य को छायावाद-रहस्यवाद-युग के साहित्य से पृथक् करती है, जिस युग में जीवन और समाज के प्रति आशा और आस्था के दर्शन अत्यल्प होते हैं। श्री शम्भुनाथ सिंह का साहित्य वर्तमान युग की इस प्रवृत्ति से उत्तरोत्तर सम्पन्न होता रहा है, यह हर्ष का विषय है।

अब तक जितने काव्य या साहित्य निर्मित हुए हैं और उनमें से जितने का स्थायी मूल्य है, उनके अनुशीलन से ज्ञात होगा कि उनमें जीवन और समाज के प्रति आशा और आस्था अवश्य निहित है। इसका भी कारण है, वह यह कि निराशा भी एक प्रकार की माया ही है जो तभी तक अभिभूत किये रहती है जबतक मानव का पौरुष अपने सम्यक् क्रम से इसे नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर देता—कर्म द्वारा आशा तक नहीं पहुँच जाता और इसमें सन्देह नहीं कि जीवन और समाज का काम निराशा नहीं आशा से ही चलता और चल सकता है। ऐसी दशा में जिस काव्य या साहित्य में जीवन और समाज के प्रति आशा तथा आस्था निहित रहती हैं, जिस काव्य में इस प्रकार की प्रेरणा भरी रहती है, उसकी ओर मानव की अभिरुचि विशेष जाती है, अतः उसका स्थायी मूल्य होता है। शम्भुनाथ सिंह के काव्य का स्थायी मूल्य नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

किसी कवि अथवा काव्य को श्रेष्ठ कोटि में प्रतिष्ठित करने में उसमें निहित जीवन-दर्शन परम सहायक होता है। जिस कवि की जीवन के प्रति कोई बँधी दृष्टि नहीं, जीवन के प्रति जिसकी कोई विशिष्ट धारणा नहीं उसकी उत्कृष्टता में सन्देह ही करना चाहिये। उसके स्थायित्व की भी कोई सम्भावना नहीं। कहना न होगा कि जीवन-दर्शन का सम्बन्ध जीवन और समाज अथवा जगत् की अनुभूति से है। जीवन और जगत् की सच्ची अनुभूति ही जीवन-दर्शन के रूप में स्थापित होती है। शम्भुनाथ सिंह के काव्य में जीवन-दर्शन की निहिति मिलती है। ऊपर की मीमांसा के पश्चात् यह नहीं कहा जा सकता कि इनके काव्य का जीवन-दर्शन आशावादी नहीं है। इनका जीवन-दर्शन आशावाद और जगत् और जीवन में कर्म-संलग्नता को लेकर चला है। आशावाद और कर्मण्यता में ही इनके जीवन-दर्शन के मूल तत्व हैं। कवि कहता है—

सुनना होगा जीवन का स्वर !

× × ×

जीवन जागरण का नाम !

एक स्थान पर कवि ने जीवन को अमर वैभव मानकर उसे खो न देने की बात कही है—

जीवन ही एक अमर वैभव
तू उसे न खो अनजान न बन !

तुलसीदास ने भी जीवन को दुर्लभ कहा है—

प्रभु तुम अधिक अनुग्रह कीन्हों ।
साधन-धाम बिबुधदुर्लभ तन मोहि दया करि दीन्हों ।

कवि की कर्मण्यता इन पंक्तियों में व्यक्त हुई है—

मुझको संघर्षों के सम्मुख
लगते लघु जीवन और मरण

× × ×

सपनों से जाग उठा अग-जग
सामने कर्ममय जीवन-मग
आगे देखो, न हटाओ पग

जीवन के प्रति आशा और कर्म ले, उसके मूल्य से अवगत हो कवि लोकोन्मुख हो कहता है—

मैं देख रहा जग का जीवन
मैं ढूँढ़ रहा जग-सुख-साधन

शम्भुनाथ सिंह के साथ चलनेवाले दो-चार कवियों की ही दृष्टि जीवन-दर्शन की ओर गयी दिखाई पड़ती है । अधिक कवि ऐसे ही दिखाई पड़ते हैं जो अपने तथा जगत् के सुख-दुःख में इतने लीन मिलते हैं कि वे अभी तक अपना कोई जीवन-दर्शन निश्चित नहीं कर पाये हैं, क्योंकि बिना तटस्थता के जीवन-दर्शन की स्थापना सम्भव नहीं । इसी दृष्टि से भविष्य में शम्भुनाथ सिंह उच्च कवि सिद्ध हो सकेंगे ।

शम्भुनाथ सिंह के काव्य की यह पीठिका तो है ही, 'उदयाचल' के काव्य की भी यही पीठिका है । इसी पीठिका पर 'उदयाचल' के काव्य की स्थापना

हुई है। 'उदयाचल' की सार्थकता दो रूपों में सिद्ध होती है; एक तो इस रूप में कि इसमें जीवन और समाज के प्रति आशा, आस्था और कर्मण्यता की अभिव्यक्ति हुई है, जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है। दूसरे, इस रूप में कि इसमें आज के जीवन और समाज में नवोदित चेतना अर्थात् राष्ट्रीयता की भावधारा प्रवाहित है। राष्ट्रीयता की भाव-धारा दो शाखाओं में प्रवाहित हुई है। एक शाखा तो वह है जिसमें समाज के निम्न वर्ग (मजदूर, किसान) अथवा इसी के आस-पास के वर्ग के जीवन के बाह्य और अन्तर्जगत् के चित्र प्रस्तुत हुए हैं। इस शाखा के अन्तर्गत आनेवाली रचनाओं में से तीन प्रमुख हैं—(१) सर्वहारा गीत, (२) पंछी और (३) गतिशील मानव। प्रथम में निम्न वर्ग की जनता के जीवन का आशाप्रद गान है। द्वितीय में पंछी के तथा सामान्य जनता के जीवन को सम्मुख रखकर यह दिखाया गया है कि आज जनता का जीवन पंछी के जीवन से भी गया-गुजरा है। तृतीय में मानव की गौरव-गाथा है। १८,१९,२० २१,२६,२८ और २९ संख्यावाली रचनाएँ भी ऐसी ही हैं।

दूसरी शाखा वह है जिसमें जागरण-गान हैं। कवि ने 'उदयाचल' की दूसरी कविता में कहा है--'मेरे जागरण के गान!' इसी में कहा है—'अग्नि के ये गान, जिनको दाह का अभिमान!' ऐसे जागरण के गानों में मानव, विशेषतः सामान्य जनता के लिए उद्बोधन है। इनमें प्रभाव का गाम्भीर्य है, तोड़-फोड़, विध्वंस की बातें व्यर्थ ही नहीं दुहरायी गयी हैं, जैसा कि कुछ अपरपक्ष कवि करते हैं। ऐसी कविताओं में कवि प्रचारात्मकता से बचने और काव्यत्व-स्थापना के लिए बातें प्रतीकों द्वारा व्यक्त करता है। जैसे कुछ कविताओं में सिन्धु, लहर आदि के प्रतीक द्वारा क्रान्ति, विषम परिस्थिति आदि की अभिव्यक्ति है। ११,१३ और १४ संख्या की कविताओं में ऐसा ही किया गया है।

जागरण-गानों में भी संघर्ष की भावना को व्यक्त करने का पूरा प्रयत्न है। अभिप्राय यह कि जीवन की विषमता के चित्र ही नहीं हैं, इसकी विषमता से संघर्ष कर उससे मुक्त होने की भावधारा भी प्रवाहित की गयी है। एक स्थान पर कहा गया है--

जीने के लिए सके यदि मर
तो होगा क्या इससे बढ़कर,
मर एक बार, सौ बार न मर
जीवन का एक तकाजा बस

शोलों पर चल, शूलों पर सो !
रोना भी हो तो हँस कर रो !

विध्वंस या क्रान्ति के पश्चात् ही नव-निर्माण होगा, यह समाजवादी विचार भी व्यक्त किया गया है––

करने को जग में रस-प्लावन
उमड़ेंगे ही नव-सुख के धन
पर होगा तब नव सृष्टि-सृजन
जब जल लेगी दावानल में
जग-वन की हर टहनी कोंपल !
यह परिवर्तन क्षण की हलचल !

यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि राष्ट्रीयता की सामान्य वृत्तिवश ही इन जागरण-गानों का निर्माण किया गया है, किसी राजनीतिक वाद के चक्कर में पड़कर नहीं।

शम्भुनाथ सिंह बहुत ही कुशल कलाकार हैं। कला-पक्ष की दृष्टि से उनका भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है। 'उदयाचल' की कविताओं में भी उन्होंने काव्यगत सशक्तता और भावात्मकता पर ही विशेष दृष्टि रखी है। उनकी दृष्टि हृदय को प्रभावित करने की ओर विशेष रहती है। परन्तु जो कलागत सौन्दर्य उनकी 'छायालोक' तथा अन्य रचनाओं में है वह 'उदयाचल' की रचनाओं में नहीं। कलात्मकता के उपयोग का इसमें अवसर भी कम रहा, क्योंकि इसमें राष्ट्रीय चेतना ही उद्‌बुद्ध करने का लक्ष्य प्रधान था। फिर भी 'उदयाचल' में कम कलात्मकता नहीं है।

रातरानी

शम्भुनाथ सिंह जितने कुशल कवि हैं उतने ही कुशल कहानीकार भी, 'रात-रानी' के दर्शन-मनन से यह तथ्य पाठकों पर प्रकट हो जायगा। जिस प्रकार अपने काव्य में वे जीवन और समाज के सहज ही हृदय-संवेद्य वस्तु-व्यापार और अनुभूति के चित्र प्रस्तुत करते हैं, उसी प्रकार अपनी कहानियों में भी उन्होंने जीवन, समाज और देश के मार्मिक वस्तु-व्यापार और परिस्थिति का रूप हमारे सम्मुख खड़ा किया है। शम्भुनाथ सिंह कवि हैं, और प्रौढ़ कवि हैं। उनमें जीवन

और समाज की अनुभूति भी है और अनुभूतिको अभिव्यक्ति करने के लिए श्रेष्ठ-कौशल भी। उनकी कहानियों के विषय में भी यही बात समझनी चाहिये। अपनी कहानियों में जीवन, समाज और देश के चित्र प्रस्तुत करने के लिए उनमें शक्ति भी है—कहानी-कौशल भी है। उनकी काव्य-कला कहानी के क्षेत्र में कहानी-कला के रूप में जागरूक है। यही कारण है कि नवीन और आधुनिक विषय लेकर भी उन्होंने इतनी मार्मिक और स्थायी रचना प्रस्तुत की है। 'जीवन और मृत्यु के बीच' नामक कहानी इसका प्रमाण है। वर्तमान समय की परिस्थिति में एक भिखारिन की इतनी मार्मिक कहानी प्रस्तुत करना स्तुत्य कहानी-कला है। यदि ऐसी ही रचनाएँ वर्तमान साहित्य में प्रभूत रूप से प्रस्तुत होने लगें तो उन पर प्रचारवाद के आरोप का लगाया जाना सम्भवतः बन्द हो जाय। अभिप्राय यह कि उनकी काव्य-कला की भाँति ही उनका कहानी-कौशल भी प्रशंसनीय है।

औत्सुक्य और व्यंग्यात्मकता आधुनिक कहानी-कला के प्रमुख तत्त्व हैं। 'आगे क्या हुआ' इस औत्सुक्य को बनाये रखना कहानीकार का प्रमुख गुण है। शम्भुनाथ सिंह की प्रत्येक कहानी में यह उत्सुकता विद्यमान है। उनकी कहानी-कला का यह प्रधान गुण है। वे प्रायः कहानी का आरम्भ भी इसी तत्व को लेकर करते हैं। उनकी चाहे किसी भी कहानी द्वारा यह बात प्रमाणित की जा सकती है। व्यंग्यात्मकता से तात्पर्य है कहानीकार के उस रचना-कौशल से जिसके द्वारा वह कहानी में सब कुछ खुद ही नहीं कह देता, पाठक और श्रोता को सोचने के लिए भी बहुत सी बातें छोड़ देता है। कुशल कहानीकार यह तत्त्व प्रायः कहानी के अन्त में निहित करते हैं। 'रातरानी' नामक कहानी इसका अच्छा उदाहरण है। इसमें सोम के गिरफ्तार होने के कारण के सोचने का कार्य कहानीकार पाठक और श्रोता पर छोड़ देता है। कहानी-कला के अन्य तत्त्व—मानसिक संघर्ष का चित्रण, उपयुक्त और चुस्त संलाप आदि सभी उनकी कहानियों में विद्यमान हैं। उनकी भाषा भी मँजी हुई और प्रौढ़ है।

'रातरानी' में नौ कहानियाँ हैं। दो-एक कहानियों के अतिरिक्त प्रायः सभी कहानियों का विषय मध्यवर्ग का जीवन और समाज है। इन कहानियों का मूल विषय प्रेम है। हाँ, यह अवश्य है कि वह केवल प्रिय-प्रेमी और पति-पत्नी का ही नहीं, भाई-बहिन का भी है। इसमें सन्देह नहीं कि कहानीकार की दृष्टि केवल प्रेम पर ही नहीं है, वह यथावसर जीवन और समाज के अन्य पहलुओं पर दृष्टिपात करता है और उनका रूप भी हमारे सम्मुख खड़ा करता

है। कई कहानियोंमें कहानीकार ने मध्यवर्ग की बेबसी का बड़ा ही कारुणिक चित्र प्रस्तुत किया है। यह बेबसी 'जीवन-संघर्ष', 'मृत्यु-शय्या' आदि कहानियों में देखी जा सकती है। यह सब होते हुए भी प्राधान्य प्रेम का ही है। यह बात कुछ खटकती अवश्य है। कहानी में विषय-वैविध्य न होना आज के युग में शोभन नहीं प्रतीत होता। शम्भुनाथ सिंह जैसे कुशल कहानीकारों की दृष्टि यदि अनेक विषयों पर न जायगी तो आधुनिक कहानियों का भविष्य विशेष प्रभावोत्पादक नहीं हो सकता।

कहानी में चरित्रों के उतार-चढ़ाव और उनकी संकुलता (कम्प्लेक्सिटी) पर भी कहानीकार की दृष्टि है।

'प्रतीक्षा' में रतन, 'जीवन-पथ' में मानिक और 'रातरानी' में सोम और रातरानी के चरित्र ऐसे ही हैं।

'रातरानी' के रूप और गुण से सभी लोग प्रभावित होंगे, इसमें सन्देह नहीं।

*

मन्वन्तर

●

नलिन विलोचन शर्मा

'मन्वन्तर' के कवि का उद्देश्य है कविता के माध्यम से युग और समाज को बदलना तथा जीवन के मूल्यों में नवीन तत्त्वों को प्रतिष्ठित करना। कवि का विश्वास है कि परम्पराओं के प्रतिकूल सोद्देश्य अभियान करना मनुष्य का कर्तव्य है। कवि ने इस उद्देश्य से मानव का, जनता का उद्बोधन किया है। साहित्य प्रचार का साधन है, यह सिद्धान्त मान लिया जाय तो मन्वन्तर की कवितायें फलप्रद कही जा सकती हैं। यह दूसरी बात है कि इस प्रकार की कविताओं का अधिक प्रभाव पड़ता है या सीधी चोट करने वाले पर्चों का। इस सम्बन्ध में अलग-अलग धारणायें हैं। शम्भुनाथ जी की इस पुस्तक की मन्वन्तर शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ ये हैं :—

मानव तुम करो अभियान
निर्झर शक्ति के तुम आज
कितने क्षीण गति से हीन
कितने जन बने बलवान
गतिमय ज्योतिमय वैभव तुम्हीं से छीन,
सूखे स्रोत के इस क्षीण स्वर में भी
छिपा उस वज्र का निर्घोष
करता जो गगन का वक्ष-भेदन
दिग्गजों का गर्व चकनाचूर।

जन-पूजा (डिमोथीइज्म) की यह भावना अपरिणत मस्तिष्क का ही परिचायक है, वह चाहे व्यक्तिगत पैमाने पर हो या सामूहिक पैमाने पर। जिन देशों में जनपूजा स्वाभाविक समझी जा सकती है वहाँ के विचारकों ने भी दृढ़तापूर्वक इसका विरोध ही किया है, क्योंकि जनकल्याण की भावना की प्रशंसा तो की जा सकती है किन्तु शाब्दिक जनपूजा का महत्त्व तो सर्वथा अस्वीकार्य है। यह तो कुछ वैसी ही बात है कि अध्यात्म या भक्ति के वास्तविक रूप की उपेक्षा कर कोई मात्र प्रतीकोपासना को ही अपना ध्येय बना ले।

शम्भुनाथसिंह ने मन्वन्तर में अपनी लम्बी व्याख्यात्मक कवितायें ही रखी हैं। उद्देश्यमूलक होने के कारण इन कविताओं में शक्ति और भावात्मकता तो खूब है, पर व्याख्यान और तर्क-वितर्क की अधिकता के कारण अधिकतर कविताओं में वैसी प्रभावोत्पादकता नहीं है जैसी निराला की लम्बी कविताओं में हैं। प्रारम्भ की दो कविताओं में मानव को विद्रोह करने और वर्तमान सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था को उलट कर नवीन समतामूलक समाज स्थापित करने के लिए उसकी अन्तर्निहित अदम्य शक्ति की याद दिलाकर, ललकारा गया है। इस प्रसंग में इतिहास के उन प्रसंगों की भी याद दिलायी गयी है जिनके फलस्वरूप मानवता वन्दिनी बनी, मनुष्य को नाश के अग्निकुण्ड में झोंका गया और उसे गुलाम बना कर पशुओं की तरह बेचा गया। इस तरह ये कवितायें राजनीतिक-सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखी गयी हैं। जहाँ तक इस उद्देश्य को स्पष्ट करने का प्रश्न है, कवि को अवश्य सफलता मिली है। इसी प्रसंग में 'जनधारण' शीर्षक कविता विशेष उल्लेखनीय है। इस कविता का फलक बहुत व्यापक है और इसकी रूप-रचना (ट्रीटमेण्ट) महाकाव्यात्मक कोटि की है। वस्तुतः इसे निराला की 'राम की शक्ति-पूजा' जैसी महाकाव्यात्मक लम्बी कविता कह सकते हैं। इसका नायक समस्त-मानव समाज है जो सृष्टि में अपना पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता आ रहा है। हजारों वर्षों की जीवन यात्रा के विषम मार्ग में मानव-जाति को किन स्थितियों से होकर गुजरना पड़ा है, इसका मार्मिक और ओजपूर्ण चित्रण इस कविता में हुआ है :—

मनु की प्रजा बनी शतधा बिखरी दिशि-दिशि में इस भू पर
वन, गिरि-गह्वर, समतल में, हिम-मण्डित ध्रुव के ऊपर।
यह मानवता की सहस्रधारा अनन्त अविनाशी,
बनने चली विश्व—संस्कृति का जलनिधि जय-विश्वासी !

× × ×

धर्म-जाति रंगो-वर्णों की बनीं नयी दीवारें,
पर विराट जन-चरण न पथ की बाधाओं से हारे

× × ×

जब-जब अन्यायों ने जनता को पथ में ललकारा,
रावण, नीरो, वेणु सभी का टूटा भाग्य-सितारा !
जय अजेय जन-धारा।

निश्चय ही 'जनधारा' इस संग्रह की सर्वश्रेष्ठ कविता है। जन-जीवन की अखण्ड प्रगति और विश्वमानवता की संघर्ष-कथा का इतना सशक्त वर्णन हिन्दी की अन्य किसी कविता में हुआ हो, ऐसा मुझे नहीं ज्ञात है।

शम्भुनाथ ने जिन कविताओं में अपनी स्मृतियों और भावनाओं के चित्र अंकित किये हैं उनमें उन्हें स्तुत्य सफलता मिली है यद्यपि अतिशय भावुकता स्पृहणीय प्रभाव उत्पन्न करने में बाधक सिद्ध होती है। 'मेरा गाँव' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों से मेरे कथन का शायद पोषण हो सके :—

धन्य मेरा गाँव,
मेरा गाँव है यह !
मैं जहाँ पैदा हुआ
खेला, बढ़ा जिसकी धरा पर
पी नयन से अमर छवि जिसकी
न मैं हो तृप्त पावा,
खेत, बाग, नदी, तलैया, ताल, ऊसर
पोखरे, गड़हे, कुएँ
हैं एक-एक अनेक स्मृतियाँ ले पड़े।

इस कविता में गाँव के अनेक सरस चित्र उपस्थित किये गये हैं। गाँव से सम्बन्धित एक कविता है 'जड़भरत' जिसमें कवि शम्भुनाथ ने एक ऐसे लघु व्यक्तित्व का चित्रण किया है जो अपने ढङ्ग का निराला है। इस कविता के नायक बौड़म 'गूदर' को कवि ने महाभारत के एक उपाख्यान के नायक 'जड़भरत' के रूप में देखा है। यह एक ऐसी व्यंग्य कविता है जिसमें एक अति सामान्य चरित्र के वर्णन के माध्यम से भारतीय ग्रामीण समाज की दुर्दशा और विषमता का रोमांचक वर्णन हुआ है। पढ़ने पर ऐसा प्रभाव उत्पन्न होता है कि भारत के अधिकतर अपढ़ ग्रामीण किसान संसार की प्रगति से अनजान जड़भरत गूदर से आगे नहीं बढ़ सके हैं। यही इस कविता की सफलता है।

यद्यपि मन्वन्तर की कविताओं में बौद्धिक विवेचन, तर्क-वितर्क और व्यंग्यात्मक उक्तियाँ बहुत हैं किन्तु कवि शम्भुनाथ सिंह मूलतः भाव-प्रधान कवि हैं जिससे ये कवितायें इतिवृत्तात्मक होते होते बच गयी हैं। उनकी भावुकता अधिकतर कविताओं में पर्याप्त उभर आयी है पर कुछ कविताओं में उसकी अतिशयता भी है। 'व्यथा-सिन्धु' शीर्षक कविता में एक निराशामूलक मनोदशा का चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है :—

उर के व्यथा-सिन्धु का कूल
गया मैं भूल,
रहे जीवन के वे क्षण पास
न जिनमें अश्रु, न जिनमें हास
प्यास के मेघ उमड़ कर नहीं
बरसने आते हैं रस-धार
प्यार की ज्वाला में चुपचाप
न जलता मन !

यहाँ भावुकता का अतिशय अभिव्यंजना को शिथिल बना देता है। शम्भुनाथ जी अनुभव या भावना या विचार का यदि पुटपाक नहीं कर सकते तो उन्हें वह सिद्धि नहीं मिल सकेगी जिसकी सम्भावनायें उनमें परिलक्षित होती हैं।

मन्वन्तर : एक परिचयात्मक टिप्पणी

•

डा० विजयशंकर मल्ल

श्री शंभुनाथ सिंह एक बहुमुखी प्रतिभा के लेखक हैं। उनका व्यक्तित्व आरंभ से ही गत्यात्मक रहा है। रोमानी गीतिमत्ता से लेकर आधुनिक यथार्थ-बोध तक उनकी सजग-सक्रिय भावचेतना में कई मोड़ आये और प्रत्येक मोड़ पर कवि का कोई नया रूप सामने आया।

शंभुनाथ जी की आरंभिक काव्य-चेतना छायावाद के प्रभाव में शिक्षित और रूपायित हुई थी। क्रमशः महादेवी, बच्चन और प्रसाद की प्रेरणा उनकी तत्कालिक रचनाओं में स्पष्ट है। पर उनकी मौलिक गीतिमयी प्रतिभा का रम्य रूप आरंभ से ही आभासित होने लगा था। निराला और दिनकर का प्रभाव बाद में पड़ा, जब कवि अपने को लोक-चेतना से संबद्ध करने के लिए सचेष्ट हुआ। 'रूपरश्मि' के बाद 'छायालोक' 'उदयाचल' और 'मन्वंतर' में कैशोर प्रेम-भावना से लेकर आवेशमूलक सामाजिक चेतना तक के अनेक स्तर उनकी रचनाओं में उपलब्ध होते हैं।

प्रगतिवाद के जमाने में कवि शंभुनाथ सिंह नवीन सामाजिक-राजनीतिक आकांक्षाओं से उद्वेलित हुए। मार्क्स के जीवन-दर्शन से प्रभावित हो वे कुछ दिनों तक सक्रिय राजनीति में उतर पड़े थे। 'काशी प्रगतिशील लेखक-संघ और 'नव संस्कृति-संघ' के निर्माण और संचालन में उनका प्रमुख हाथ था। वे दिन उनके आवेगपूर्ण विचार-मंथन के थे। सामाजिक विषमता और संघर्ष की वैचारिक और परिवेशगत प्रतीति ने उनके काव्य को सामूहिक भावचेतना की ओर मोड़ा और उनके काव्य-जीवन का दूसरा युग आरंभ हुआ। वैयक्तिक संवेदनाओं के साथ ही उनकी रचनाओं में वर्गगत तनावों और असंतोष की भी अभिव्यक्ति होने लगी। इस दूसरे प्रकार की रचनाओं में कवि की समाज-चेतना एक नये भाव-स्तर पर प्रतिष्ठित हुई। 'मन्वन्तर' में (एक को छोड़) इसी समाज-चेतना को अभिव्यक्ति देने वाली रचनाएँ संकलित हैं।

शंभुनाथजी की साहित्यिक सुरुचि उनके राजनीतिक सिद्धान्तों से प्रबल रही है। उनकी अनेक सामाजिक रचनाओं की प्रभावमयता का कारण उनकी रचना के बीच-बीच में घोषित मान्यताएँ या अंत में जुड़े उद्‌बोधनात्मक उद्‌गार न होकर उनकी बिंबानुबुद्ध भाव-प्रतीतियाँ रही हैं। पर 'मन्वन्तर' प्रधान रूप से उनकी सजग (कांशस) समाज-चेतना का ही परिचायक है।

'मन्वंतर' की रचनाओं पर प्रगतिवादी आंदोलन का प्रभाव स्पष्ट है। प्रगतिवाद वर्गचेतना का शिक्षक और प्रचारक रहा है। वर्ग-संघर्ष और क्रांति पर उसने बल दिया है। 'मन्वन्तर' की इन रचनाओं में भी युग और समाज को बदल कर नये जीवन-मूल्यों की स्थापना करना कवि का उद्‌देश्य रहा है। पर उसने टोटेलेटेरियन राज्य के मिथक का प्रयोग सिर्फ एक पक्षधर के रूप में न करके आलोचनात्मक स्तर पर भी किया है। उन दिनों की शुद्ध प्रगतिवादी समीक्षा किसी लेखक के महत्त्व के संबंध में निर्णय इस आधार पर करती थी कि वर्ग-संघर्ष और उसकी परिस्थिति के संबंध में उसका रुख कैसा है। यदि वह एक विशेष दलगत दृष्टिकोण से भिन्न मत वाला होता तो उसे मान्यता नहीं दी जाती थी। पर कवि शंभुनाथ ने साहस और विवेकपूर्वक अपने को संकुचित दलगत मान्यताओं से अलग रखा। शायद इसीलिए 'मन्वन्तर' में उनकी राष्ट्रीय भावना अंतर्राष्ट्रीय भावना से सहज रूप में जुड़ी रह सकी है, यद्यपि इससे सर्वहारा के प्रति कवि का पक्षपात कम नहीं हुआ।

'मन्वंतर' संग्रह की 'मन्वंतर' 'विप्लवराग' 'मैं न तुमसे दूर' में विध्वंस, युगान्तर और नव-निर्माण आदि की आकांक्षा उद्‌बोधनात्मक स्वरों में प्रकट हुई है। 'मैं न तुमसे दूर' नामक रचना में 'कर्म-सम्राट' मजदूर का अभिनंदन एक तरह की हीरोवर्शिप के रूप में है।

'जनधारा' में आदिम काल से लेकर आज तक की मानव-सभ्यता के द्वन्द्वात्मक विकास का भावात्मक निर्देश किया गया है। 'जय महान एशिया' में पूर्वी देशों के समृद्ध अतीत, परवर्ती कालों की निष्क्रियता, पश्चिमी राजशक्तियों द्वारा प्रेरित विश्वयुद्ध-जनित भीषण संहार आदि का वर्णन करते हुए पश्चातवर्ती नवचेतना और नवजागरण का समारोहपूर्ण कथन है। काली छायाएँ नामक कविता की काली छायाएँ साम्यवाद या साम्राज्यवाद की अधिनायकवादी शक्तियाँ हैं जो मुक्त, उदग्रीव, जाग्रत मानव की आत्मा को घेरती आ रही हैं। इनसे मुक्त होकर 'समता स्वतंत्रता और लोकतंत्र' के आधार पर नूतन मानवता का निर्माण करने के लिए भावात्मक निर्देश दिया गया है।

एक रचना गांधीजी पर है—काल पुरुष। इसमें 'अशरीरी' और 'चेतन' युग-पुरुष को आत्मशक्ति का ऐन्द्रजालिक चमत्कार प्रदर्शित है।

'पर्वतेश्वर' और 'शांति के लिए युद्ध' व्यंग्यात्मक रचनाएँ हैं। पहली में व्यंग का लक्ष्य है जनता से एकदम कटा साम्यवादी अधिनायक और उसकी पूजा। 'शांति के लिए युद्ध' एक व्यंग-नाटिका है जिसमें विश्वयुद्धोत्तर दुनिया की विभिन्न शक्तियों द्वारा रचे गए 'शांति के नाटक' (सुरक्षापरिषद) का मजाक बनाया गया है जिसका लक्ष्य 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' न्याय से अपने-अपने स्वार्थ की पूर्ति मात्र रहा है।

'मेरा गाँव' और 'जड़ भरत' में कवि के सामाजिक बोध का तथ्यपरक अनुवाद है। 'मेरा गाँव' में गाँवों के उस बदलते रूप की झलक है जिससे प्रतीत होता है कि निम्नवर्ग के शोषितों को भी सम्मान और अधिकार मिलने लगा है। पर वास्तव में यह प्रतीति मिथ्या है क्योंकि वर्गशोषकों के स्वार्थ अब भी ज्यों के त्यों बने हैं, सिर्फ उनकी पूर्ति का ढंग बदल गया है। शोषित अब भी दूसरों को स्वार्थपूर्ति का साधन ही है। कविता की समाप्ति भविष्य-निर्देश से होती है— 'नया युग आएगा तब सब समान होंगे।' दूसरी कविता 'जड़ भरत' का गूदर अपने झूठे अहं के छलावे में पड़ा हुआ किस प्रकार अपनी बाह्य परिस्थितियों से जड़वत् व्यवहार करते हुए जीवन के दिन बिता रहा है, इसे प्रदर्शित किया गया है। इस 'जड़ भरत' की समाज-निरपेक्ष या प्रगति-विरोधी भावनायें अथवा अभिशाप नए जमाने में सत्य प्रमाणित हो रही हैं, इसका व्यंग्यात्मक निर्देश अंत में है।

'आत्महारा' व्यक्ति-मन की निराशा और अवसाद की प्रगीतात्मक अभिव्यक्ति है जो इस तरह के तत्कालीन उस एकान्त संगीत से भिन्न है जिसमें साधारण भाषा के द्वारा वैयक्तिक पीड़ा की सीधी अभिव्यक्ति हुई है। 'आत्महारा' में व्यक्ति-मन का दर्द भावोद्रेक-सक्षम बिम्बों के द्वारा मूर्तित करने का प्रयास है। 'मन्वन्तर' की समाजसापेक्ष रचनाओं के साथ इस कविता को संग्रह में रखकर कवि ने शायद यह दिखाना चाहा हो कि वैयक्तिक संवेदनाओं से भी उसका साथ बराबर रहा है, आत्यन्तिक एकांगिता उसमें नहीं है।

अपने जन्म-दिवस पर कविमित्रों के नाम लिखी गई कविता में कवि ने अपने मित्रों के नाम सन्देश दिया है कि——

... ... कला के दीवाने
भी सुन युग की ललकार मिलाकर कदम चले,

मानव आत्मा के शिल्पी निज पथ पहिचानें !
सामाजिकता की नई चेतना से निकलें !

× × ×

वर्गों भेदों की तोड़ विषम ये दीवारें
समता का खोलें द्वार, ध्येय हो आज यही !

यह मन्तव्य 'मन्वन्तर' की रचनाओं में विभिन्न रूपों में निहित है। प्रगतिवाद के आखिरी दौर तक 'सामाजिक अनुभव' और एक सीमा तक उनकी अभिव्यक्ति का ढङ्ग भी बहुत कुछ रूढ़ हो गया था। 'मन्वन्तर' की रचनाओं में छायावादी युग की काव्यगत शृङ्खलाओं के साथ ये रूढ़ियाँ वर्तमान हैं पर महत्त्व की बात यह है कि उनसे मुक्त होने के सशक्त प्रयास भी इनमें मिलते हैं। नए यथार्थबोध की प्रामाणिकता की एक पहचान भाषा और शिल्पगत अन्य प्रयोग हैं। गीत से भिन्न माध्यमों के चुनाव में 'मन्वन्तर' के कवि का नवीन प्रयत्न अधिक स्पष्ट हुआ है, यों भाषा-प्रयोग में भी यत्र-तत्र कुछ नयापन मिल जाता है।

'मन्वन्तर' का महत्त्व गुणात्मक दृष्टि से कवि की नवीन उपलब्धि में उतना नहीं है जितना कि उसकी रचनाओं में प्रतिफलित सामाजिक चेतना और नवदिशा की ओर प्रयाण में। कवि शम्भुनाथ के काव्य-विकास में एक नये मोड़ का यह स्पष्ट सूचक है। सामाजिक भावबोध का अधिक सशक्त और संवेदना-समृद्ध रूप उसकी बाद की रचनाओं में व्यक्त हुआ है जिसका आरम्भ 'मन्वन्तर' से माना जा सकता है। कवि के काव्य-विकास में इस संग्रह का एक ऐतिहासिक महत्त्व है।

●

दिवालोक : एक मूल्याङ्कन

●

रामकृष्ण शास्त्री, एम० ए०, साहित्याचार्य

डॉ० शम्भुनाथ सिंह आधुनिक युग के उन इने-गिने कवियों में हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा और कला-चेतना से हिन्दी कविता के तीव्र गति से होने वाले विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। कई कवि ऐसे होते हैं जो धूमकेतु की तरह क्षिप्र वेग से क्षितिज पर प्रकट होते और कुछ समय बाद प्रतिभाक्षीण हो जाने पर सदा के लिए लुप्त हो जाते हैं। साहित्य की गति को दिशा देने में उनका कोई हाथ नहीं होता। दूसरे कुछ कवि ऐसे भी होते हैं जो किसी विशिष्ट धारा के जनक बनकर उद्भूत होते और शीघ्र ही अपनी ख्याति की चरम सीमा पर पहुँचकर रुक जाते हैं। उनमें युग और साहित्य की नवीन गतिविधियों को उत्पन्न करने, मोड़ने या उनसे अपने को जोड़ने की क्षमता नहीं होती। फलस्वरूप या तो वे परिवर्तित परिस्थितियों में भी अपने पूर्व रूप को ही बार-बार दुहराते रहते हैं या लेखनी को विश्राम देकर मौन हो जाते हैं। किन्तु समय की गति और इतिहास के प्रवाह की दिशा को पहचान कर विभिन्न परिवर्तित परिस्थितियों से तादात्म्य स्थापित करते रहने और तदनुरूप अपने को निरन्तर विकसित करते रहने की क्षमता बहुत कम कवियों में होती है। ऐसे कवि न तो वादों के खेमों में बँट सकते हैं, न गुटों के घेरे में अँट सकते हैं और न पीढ़ियों की सीमाओं में बँध सकते हैं। डॉ० शम्भुनाथ सिंह ऐसे ही सतत् विकासमान कालहीन काल के कवि हैं। युगीन बोध और आत्मान्वेषण का रसायन उनके काव्य का कच्चा माल है। वे प्रतिभा के धनी, काव्यकला के मर्मज्ञ, शब्द के पारखी और मानव-आत्मा के कुशल शिल्पी हैं।

यदि उपर्युक्त कथन को प्रमाणित करना हो तो उनकी एक ही काव्य पुस्तक—'दिवालोक' का समीक्षात्मक अध्ययन पर्याप्त होगा। 'दिवालोक' मुख्यतः उनकी गीतात्मक कविताओं का संकलन है। यह कवि के काव्य-ग्रन्थों की माला का मध्यमणि है, क्योंकि इसमें कवि की प्रौढ़तम गीत-रचनाएँ तो संकलित हैं ही, साथ ही सानेट, गजलें और मुक्त छन्द की रचनाएँ भी सम्मिलित हैं जो कवि के परवर्ती विकास का अग्रदूत हैं। सन् १९५३ में प्रकाशित इन कविताओं

के साथ कवि के विकास की एक मंजिल पूरी हो जाती है और उसके बाद ही कवि वैयक्तिक अनुभूतियों की गीतात्मक अभिव्यक्ति का मार्ग छोड़कर धीरे-धीरे गहन जीवन-दर्शन और आत्मान्वेषण के मार्ग पर अग्रसर होता और 'माध्यम मैं' में अपना स्वतन्त्र मार्ग निर्मित करता हुआ 'खण्डित सेतु' में नयी कविता के विकास के चरम बिन्दु पर पहुँच जाता है। इस दृष्टि से 'दिवालोक' को कवि की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति माना जा सकता है।

'दिवालोक' की कविताओं की प्रौढ़ता उनके कथ्य और शिल्प-दोनों में ही दिखलाई पड़ती है। जैसा कवि ने इस ग्रन्थ की भूमिका मे लिखा है, वह निराशा और काल्पनिक रोमांस की अन्धकारमयी छाया-भूमि को छोड़ कर इन कविताओं में यथार्थ जीवनानुभूतियों के उज्ज्वल प्रकाश से भरी प्रशस्त जीवन-भूमि में पहुँच गया है। इनमें 'रूपरश्मि' और 'छायालोक' की कैशोर भावना वाली काल्पनिकता नहीं है और न 'उदयाचल' की भावुकतापूर्ण सामाजिक चेतना ही है। कल्पना ने इस काव्य में चिन्तन की मुद्रा अपना ली है और भावुकता भावसम्पन्नता बन गयी है। कल्पना और चिन्तन तथा भावुकता और भावप्रवणता के बीच की सीमा रेखा बहुत ही सूक्ष्म होती है। केवल प्रौढ़ कवि और मर्मज्ञ आलोचक ही उस सीमा-रेखा की सही पहिचान कर सकते हैं। नयी कविता के अतिरिक्त उत्साह वाले समीक्षक अथवा तथाकथित आधुनिकता-वादी कवि उस सीमा-रेखा की सही पहिचान न रखने के कारण ही 'दिवालोक' की कविता में कल्पनातिरेक और भावुकता देखते हों तो देखें, किन्तु वास्तविकता यह है कि 'दिवालोक' की कविताएँ यथार्थ जीवन की सूक्ष्म और गहन अनुभूतियों को मर्मस्पर्शी ढंग से व्यक्त करती हैं। इस संकलन की पहली ही कविता 'स्वप्न की रात है, सत्य का प्रात क्षण' में कवि ने जीवन को दुःख और सुख का विचित्र मिश्रण बताते हुए जीवन के यथार्थ की ओर संकेत किया है :—

चाँदनी पास है,
तृप्त हर साँस है,
बढ़ गयी किन्तु—
अनजान में प्यास है,
प्राण के सिन्धु का ज्वार मैं हूँ मुझे—
शूलमय है धरा, फूलमय है गगन।

यही वास्तविक जीवन है। कौन ऐसा व्यक्ति है जिसे यह धरती शूलमय नहीं प्रतीत होती और आकाश (कल्पनालोक) जिसे निरन्तर अपनी ओर

आकर्षित नहीं करता ? इस जड़ धरा के कठोर आलिंगन से मुक्ति पाकर उन्मुक्त अन्तरिक्ष में निर्बाध विचरण करने की कल्पना वैज्ञानिक भी करते हैं, किन्तु यथार्थ से मुक्ति किसे मिलती है ? फिर भी मन की सहज आसक्ति ऐसी है कि मनुष्य न तो प्यार करना छोड़ता है, न सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होने से विरत होता है। 'दिवालोक' में प्रेम की अनुभूतियों के अनेक गहरे और सूक्ष्म आयाम दिखाई पड़ते हैं। प्रेम की सनातन अनुभूति को 'वन्दिनी अब तक जवानी हो न पायी' शीर्षक गीत में कवि ने चन्द्रमा और समुद्र, समुद्र और नदी तथा चन्द्रमा और चाँदनी का उदाहरण देते हुए प्यार के अग्नि की कहानी लिखी है—

दूसरी कोई न मानव की कहानी,
हार जीवन से कभी उसने न मानी,
वह निरन्तर जल रहा पर चल रहा है
काल-मरु में राह है उसको बनानी।
आदि मानव ने कभी जिसको जलाया,
आदमी को आदमी जिसने बनाया,
आज भी वह आग पानी हो न पायी।
हो पुरानी भी पुरानी हो न पायी।

स्मरण रहे, इस कविता में कवि ने केवल सौन्दर्यजन्य शारीरिक या मानसिक प्रेम को ही प्रेम नहीं कहा है। यहाँ कवि प्रेम की उस व्यापक चेतना की ओर निर्देश कर रहा है जिसके कारण ही यह सृष्टि अनवरत चल रही है और जीवन का चक्र बराबर घूमता आ रहा है। यह दो व्यक्तियों के बीच का आकर्षण भी हो सकता है, समस्त मानवता के प्रति प्रेम भी हो सकता है और अदृश्य अलौकिक जगत् के प्रति आकर्षण भी हो सकता है। दो व्यक्तियों के बीच के प्रेम को कवि ने वैयक्तिक जीवनानुभूति के रूप में बड़े उल्लास के साथ और प्रामाणिक रूप में व्यक्त किया है। वह स्पष्ट घोषणा करता है—

प्रात बन कर मुस्कराती जा रही हो,
स्वप्न मेरे सच बनाती जा रही हो।

वह चीजों को सही नाम देता है। प्रिया को प्रिया, स्त्री को स्त्री और फूल को फूल ही कहता है। छायावादियों की तरह उन्हें अलौकिकता का जामा नहीं पहनाता और न रोमानी कवियों की तरह भावुकतापूर्ण रुदन ही करता है।

संघर्षमय जीवन में लौकिक प्रेम को राहत देने वाली शक्ति मान कर वह अपनी प्रिया से आलिंगन और मुसकान की माँग करता है—

बाँधों मेरे इन प्राणों को रेशम की कड़ियों से बाँधो।
अंगारों पर चलने वाला परदेशी क्षण भर आज रुका,
बाँधो इस जलते जीवन को मधुमय फुलभड़ियों से बाँधो।

प्यार की शारीरिक भूमिका की भी वह उपेक्षा नहीं करता क्योंकि वह भी जीवन को शक्ति ही देती है--

खिल गया उल्लास मेरा,
फल गया विश्वास मेरा,
बन गया है स्वप्न का सुख,
आज सत्य विलास मेरा
तुम मधुर मधुमास, मैं हूँ गीत-खग मुझको तुम्हारा—
स्वप्न ही मधुगीत की सुधि ही स्वर विस्मरण है !

किन्तु प्यार हमेशा सुखद नहीं होता, यथार्थ जीवन में कभी-कभी उससे ऊब और परेशानी भी उत्पन्न हो जाती है। प्यार की ऊब और थकान को आधुनिक युग के शायद ही किसी अन्य कवि ने उस प्रकार व्यक्त किया हो जैसा 'दिवालोक' के कवि ने किया है। प्यार की गहराई में डूबने पर एक समय ऐसा भी आता है जब व्यक्ति ऊबकर उससे दूर भागना चाहता है, किन्तु नियति उसे बाँधे रहती है--

ओ अमर बेल, तेरा आकाशी बन्धन चक्करदार,
आमूल शिखर घिर तुमको मैंने लिया शीश पर धार।
सपनों की जादूगरी कहूँ या आसमान का खेल,
रेशमी छाँह दे फिर कांटो सी गड़ने वाली बेल !
अब सूखूँ मैं या हरा रहूँ पर हूँ तुमसे भरपूर,
गुदने सी अंकित तुम मुझ पर अब पास रहो या दूर।

इसी ऊब का एक दूसरा रूप वह है जिसमें प्यार की ताजगी चुक जाती है, सरसता लुप्त हो जाती है, उसकी आग बुझ जाती है और प्रेमी अपनी सारी निजता खो देता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है जिसका चित्रण शायद ही किसी अन्य कवि ने किया हो--

तुम्हारे पास ज्यों-ज्यों आ रहा मैं,
स्वयं से दूर होता जा रहा मैं।
रहे ज्वाला भरे क्षण बीत मेरे,
खिले जिनमें सुरभिमय गीत मेरे,
रहा मैं हार अपनी इस विजय से
रहे अरमान हारे जीत मेरे।
मुझे क्षण-क्षण हँसाती जा रही तुम,
हँसी मेरी कि रोता जा रहा मैं।

कुल मिला कर प्रेम निश्चय ही एक जीवन-शक्ति है। मध्यकालीन वीर-काव्य में शृङ्गार रस को इसी जीवन-शक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। आधुनिक जीवन में भी स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक प्रेम मनुष्य को उत्तरोत्तर नवीन कर्मों की ओर अग्रसर करता है। वह जीवन का स्वास्थ्य है, रोग नहीं। इसी कारण 'दिवालोक' का कवि निर्बाध कण्ठ से पुकारता है—

जब जब मुझे ध्यान आया तुम्हारा,
मुझको नयी मंजिलों ने पुकारा।
भूली प्रणय-पीर,
रीता नयन-नीर,
संघर्ष बनता गया–
द्रौपदी - चीर;
जब हहारकर बन गया आत्म-हारा,
तुमने मुझे चेतना-तीर मारा।

प्रेम के विविध आयामों और कोणों को चित्रणके साथ ही 'दिवालोक' में सौन्दर्यबोध की भी अनेक भूमियाँ दिखलाई पड़ती हैं। कहीं कवि मांसल सौन्दर्य के बाह्य चित्र उकेरता है तो कहीं अपनी सूक्ष्म दृष्टि से आन्तर सौन्दर्य की मोहक छवियों को भी रूपायित करता है। कभी उसे मनुष्य मुग्ध करता है और कभी नाना नामरूपात्मिका प्रकृति उसको अपनी ओर खींचती है। वह मानव और प्रकृति दोनों के सौन्दर्य का समान रूप से आस्वादन और अभिनन्दन करता है। नारी-सौन्दर्य उसे चकित और विस्मित करता है--

बंकिम गति का प्रसार भूपर,
उमड़ रहा वक्ष - ज्वार ऊपर,

अन्तहीन सागर यह हँसी की फुहार।
दृग-तट से तुम में मन उड़ा पंख मार।

यह स्थूल सौन्दर्य व्यक्ति को चकित भले ही करे, पर उसे अभिभूत करने वाला सौन्दर्य कुछ और ही होता है। वह शरीर से अधिक मन से सम्बन्धित होता है। दो व्यक्तियों के बीच का सूक्ष्म किन्तु सुदृढ़ रागात्मक सम्बन्ध ही इस आन्तर सौन्दर्य का उत्स है। वियुक्त होने पर प्रेमी अपने प्रिय की जिस आकर्षण-शक्ति का सबसे अधिक अनुभव करता है वही उस प्रिय का आन्तर सौन्दर्य है। उस स्थिति में प्रिय स्थूल शरीर न रह कर सूक्ष्म सौन्दर्य-सत्ता बन जाता है। उसकी याद रजनीगन्धा की गमक की तरह दूर-दूर तक पहुँच कर प्रेमी को पूर्णतः अभिभूत कर लेती है। 'दिवालोक' का कवि इस सूक्ष्म आन्तर सौदर्न्य को जानता है और उसे अभिव्यक्त करने की कला भी जानता है। वह अपनी प्रिया के सौन्दर्य को रजनीगन्धा की उत्कट गमक के रूप में पाता है—

मादकता यों न भरो,
गंध-अंध यों न करो,
बरबस तुम तन-मन की
चेतनता यों न हरो,
यों न सुरभि की ज्वाला सुलगा कर,
लपटों के बीच उतारो मुझको
रजनीगंधा न पुकारो मुझको।

एक अन्य कविता में यह आन्तर सौन्दर्य देश और काल की सीमा को पार कर कवि के हृदय को बेध जाता है। यह सूक्ष्म सौन्दर्य कवि को पारदर्शी दृष्टि प्रदान करता है जिससे वह गोस्वामी तुलसीदास के 'साधक सिद्ध सुजान' की तरह दूरवर्ती और आँखों से ओझल वस्तुओं को भी सहज ही देखने लगता है। गोस्वामी जी ने अभिमन्त्रित या सिद्धिप्राप्त अंजन की कल्पना करके लिखा है—

यथा सुअंजन आँजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं शैल वन भूतल भूरि निधान।

उसी तरह-दिवालोक का कवि भी कहता है :—

तेरे चरण-छन्द
बन कालस्वच्छन्द

करते स्वरित यन्त्र को बन्धनों के।
हैं झर रहे फूल बीते क्षणों के।

मेरे नयन आज
तेरे सपन आँज

हैं देखते पार तममये घनों के।
हैं झर रहे फूल बीते क्षणों के।

'दिवालोक' की कविताएँ मानवीय सौन्दर्य में ही नहीं, प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में भी पूर्ण समृद्ध हैं। डा० शम्भुनाथ सिंह ने प्रकृति को रहस्यमयी नहीं बनाया है और न उसे आध्यात्मिक सत्ता का अधिष्ठान ही माना है। उनके लिए प्रकृति केवल प्रकृति है—ठोस, यथार्थ, ऊबड़-खाबड़, सूक्ष्म, विराट, कुरूप और कोमल। कवि प्रकृति को मानव से अभिन्न मानकर दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों को अनेक रूपों में चित्रित करता है। कहीं वह उसके रागात्मक सम्बन्धों का साक्षात् आलम्बन बनती है, कहीं मानवीय सम्बन्धों के लिए उद्दीपन का कार्य करती है और कहीं अप्रस्तुत-विधान में उपमान और प्रतीक बन कर उपस्थित होती है। यद्यपि यह सही है कि कवि शम्भुनाथ सिंह प्रकृति के नहीं, मुख्यतः मानव के कवि हैं, किन्तु प्रकृति को वे मानव से भिन्न रूप में नहीं देखते। इनका प्रकृति-चित्रण छायावादी कवियों के प्रकृति-चित्रण जैसा जीवन से कटा हुआ और कल्पना के अतिरेक से भरपूर नहीं है। प्रकृति उन्हें मुग्ध करती है, विरक्त करती है, हँसाती-रुलाती है, गुदगुदाती है, नाराज करती है और मनाती है। इसी कारण उनकी अधिकतर कविताओं में प्रकृति और मानव के चित्र परस्पर घुले-मिले हैं किन्तु कुछ कविताओं में प्रकृति-सौन्दर्य को एकांत भाव से चित्रित किया गया है। हिमालय और समुद्र उनकी आसक्ति के विषय हैं। 'दिवालोक' में 'हिमालय सम्बन्धी पाँच सानेट' तथा 'सागर में पूर्णिमा' शीर्षक कविताएँ इसका प्रमाण हैं। वर्षा और बादल भी उनके प्रिय विषय हैं। 'सुधि का सावन' शीर्षक कविता में यद्यपि कवि ने प्रकृति को उद्दीपन रूप में चित्रत किया है किन्तु पूरी कविता वर्षा ऋतु के ही प्रभाव को व्यक्त करती है। उसमें कवि अपनी निजी अनुभूतियों को केवल सांकेतिक रूप में व्यक्त करता है—

भर गया सजल घन से नभ का सूना आँगन,
सूने नयनों में उमड़ पड़े दो भरे नयन।

बह चले पवन धारा में घन श्यामल-श्यामल,
लहराये मन में फिर काले-काले कुन्तल ।

'चाँदनी' शीर्षक गजल तथा 'मधुऋतु' शीर्षक गीत में भी चांदनी रात तथा बसन्त ऋतु का चित्रण उद्दीपन के रूप में ही हुआ है। किन्तु निम्नलिखित कविता में रात के पिछले पहर का जो गतिमान चित्र उपस्थित किया गया है वह कवि की पृष्ठभूमि होने के कारण आलम्बन ही है—

चल रहा सुनसान पथ पर मैं अकेला ।
चांदनी है रात का पिछला पहर है,
गीत मेरा और मेरी यह डगर है,
छोड़ता मैं जा रहा पथ के किनारे
चाँदनी के चित्र धरती पर संवारे,
चाँद पश्चिम में झुका, प्राची क्षितिज पर–
द्वार तम का खोलता छिप-छिप उजेला ।

सूर्योदय के पूर्व द्रुतगति से बदलने वाले दृश्यों का ऐसा गत्यामत्मक चित्रण शायद ही किसी आधुनिक कवि ने किया हो ? ये समस्त चित्र गतिमान काल के हैं। पूरी कविता सूक्ष्म दृश्यांकन तथा तटस्थ अभिव्यंजना के कारण अद्भुत प्रभाव उत्पन्न करती है। 'हिमालय सम्बन्धित पाँच सानेट' शीर्षक लम्बी कविता में हिमालय के सूक्ष्म और विराट, कोमल और परुष तथा सामान्य और अद्भुत, सभी पक्षों का बहुत ही प्रभावपूर्ण चित्रण हुआ है। कविता पढ़ने के बाद पाठक सहज ही कल्पनाशक्ति द्वारा हिमालय की चोटियों पर पहुँच जाता है। इस कविता में कवि छायावादी कवियों जैसा प्रकृति के दृश्यों को एक अबोध शिशु के समान नहीं देखता बल्कि एक युवक और प्रौढ़ चिन्तक के समान हिमालय का आलिंगन करता है। यहाँ वह प्रकृति के सौंदर्य का मात्र द्रष्टा नहीं, उसके रस का भोक्ता भी है। प्रकृति उसके संमुख समर्पित हो जाती है और वह हिम-शिखरों के समुद्र में आपादमस्तक निमग्न हो जाता है। इसी तरह 'सागर में पूर्णिमा' शीर्षक कविता में भी समुद्र का उद्वेलित और आत्ममन्थनयुक्त विराट रूप चित्रित किया गया है। कविता में कवि प्रकृति को मानो आलिंगनबद्ध करके स्वगत कथन करता है—

पागल जब सागर का कण-कण,
संयम का टूट रहा बन्धन,

मधु के वासन्ती उत्सव पर,
यौवन में ज्वार उठा भीषण।
लहरों के मधुवन में जैसे
मधुऋतु का पहला फूल खिला।

राष्ट्रीय और मानवतावादी भावभूमि

'दिवालोक' की कविताओं की भावभूमि अत्यन्त व्यापक है। उनमें केवल वैयक्तिक सम्बन्धों की रागात्मकता तथा सृष्टि के सौंदर्य के प्रति संवेदनशीलता ही नहीं है, राष्ट्र, समाज और विश्व के प्रति सहज आसक्ति भी है। ऐसी कविताओं में कवि वैयक्तिक भावभूमि को छोड़ कर पूर्णतः सामाजिक चेतना से आविष्ट हो गया है। श्री शंभुनाथ सिंह का कवि प्रारंभ से ही द्विधाविभक्त रहा है। एक ओर वे व्यक्तिवादी चेतना के कवि रहे हैं तो दूसरी ओर उनमें सामाजिकता और राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति भी बलवती रही है। उनके पूर्ववर्ती काव्य-संकलनों में 'छायालोक' में प्रथम प्रकार की और 'उदयाचल' में दूसरे प्रकार की कविताएँ सम्मिलित हैं। किन्तु 'दिवालोक' में आकर ये दोनों प्रवृत्तियाँ मिल गयी हैं। इस प्रकार की रचनाएँ यद्यपि 'दिवालोक' में थोड़ी ही हैं पर वे अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

इस संकलन की सामाजिक चेतना वाली सबसे महत्त्वपूर्ण कविता है 'विश्व मेरे'। सानेट शैली में लिखी गयी यह कविता कवि के जीवन के उस मोड़ को सूचित करती है जहाँ पहुँच कर वह वैयक्तिक सुख-दुख से निस्संग होकर विश्व की सतत् स्पन्दनशील धारा में अपने को पूर्णतः तिरोहित कर देता है, उसका 'स्व' 'सर्व' को समर्पित हो जाता है। वह दीपक को अपना प्रतीक मानकर कहता है—

मैं सभी का हूँ न कोई किन्तु मेरा।
काल के पथ पर सम्हलता चल रहा मैं
आँधियों में भी मचलता जल रहा मैं,
तम-नयन में तारिका-सा झलमलाता—
आँसुओं से भीग जलता चल रहा मैं।

आग से ही खेलना है प्यार मेरा,
और लपटों से हुआ श्रृङ्गार मेरा।

दुखी और पीड़ित मानव के प्रति कवि की सहानुभूति पहले से ही रही है जो 'उदयाचल' की प्रगतिवादी रचनाओं में अनेक रूपों में व्यक्त हुई है। किन्तु 'दिवालोक' की कुछ कविताओं में वह सर्वहारा श्रमिक वर्ग के प्रति कोरी सहानुभूति न व्यक्त करके उसके कर्ममय युयुत्सु जीवन का आशंसापूर्ण गान करते हैं। गिरि-संकट को पार करते हुए शिखर की ओर निरन्तर बढ़ने वाले अदम्य चरण ही उनके लिए श्रमजीवी वर्ग के प्रतीक हैं :—

पथ पर बढ़ रहे चरण।
श्रमसीकर से सिंचित,
धूसर रजकण - मंडित,
फूलों से अपमानित,
शूलों के अभिनन्दित,
अंकित कर चिह्न विरल गिरि पथ चढ़ रहे चरण।

'पथ को करो प्यार' शीर्षक कविता में भी कर्ममय जीवन और संघर्षमयी जिजीविषा का इसी प्रकार अभिनन्दन किया गया है। भारतीय स्वतन्त्रता की उपलब्धि को अभिनन्दित करते हुए वह कहता है—'द्वार-द्वार पर अमन्द यह दिया जले', तो महात्मा गांधी के निधन पर वह यह भी कहता है—'बुझी न दीप की शिखा अनन्त में समा गयी'। उसी प्रकार स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद जनता की आकांक्षाएँ पूरी न होते देख वह जनक्रान्ति के लिए आह्वान भी करता है—

कब तक तुम मौन रहोगे ओ जन देवता !
रात गयी पर न खुली अर्गला,
मुक्ति मिली पर न कटी शृङ्खला;
बन्दिनी अभी विमुक्तकुन्तला;
अपने ही घर में पर यह नवीन दासता—
कब तक चुप-चाप सहोगे ओ जन देवता !

ये कविताएँ शम्भुनाथ सिंह के विद्रोही व्यक्तित्व और सामाजिक चेतना को पूर्णतया अभिव्यक्त करती हैं।

शिल्पगत वैशिष्ट्य

'दिवालोक' की अधिकतर कविताएँ गीत शैली की हैं। गीत के अतिरिक्त इस संकलन की कुछ कविताओं में सानेट, गजल और मुक्त छन्द की शैली अपनाई

गयी है। इस कारण 'दिवालोक' में छन्दगत या शैलीगत एकरसता और सपाटता नहीं है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह इस विषय में विशेष सतर्क दिखाई पड़ते हैं कि उनकी कोई भी दो कविताएँ एक ही छन्द में न हों। इसलिए गीत हो या गजल अथवा सानेट, सबमें छन्दगत विविधता बहुत अधिक है। गीत शैली में उन्होंने सर्वाधिक सफलता प्राप्त की है। गीत-कवि के भावापन्न हृदय की सहज और सीधी अभिव्यक्ति होता है। गीत की मुद्रा चिंतन और व्याख्यान की मुद्रा नहीं होती। उसमें अलंकृत शब्द-योजना और पाण्डित्यप्रदर्शन के लिए भी अवकाश नहीं होता। भाव-प्रवणता, भावान्विति, सहज अभिव्यंजना और हृदय की पारदर्शिता गीत-काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं। ये विशेषताएँ 'दिवालोक' के गीतों में जितनी अधिक दिखलाई पड़ती हैं उतनी किसी भी अन्य छायावादोत्तर कालीन कवि में नहीं मिलतीं। 'दिवालोक' में आकर शम्भुनाथ सिंह के गीत पूरी तरह मंज गये हैं जिससे उनमें अद्भुत निखार और सौन्दर्य आ गया है। ये गीत एक ओर तो छायावादी गीतों के शिल्प और भाषा को बहुत पीछे छोड़ आये हैं तो दूसरी ओर छायावादोत्तर कालीन गीतकारों—बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा और नेपाली—के गीतों से अपने भावगाम्भीर्य, छन्दवैविध्य, संगीतात्मकता और भाषा-सौष्ठव के कारण बहुत ऊपर उठ गये हैं। उनमें न तो अतिशय कल्पनाशीलता और अतिरंजित अलंकृति है जो छायावादी गीतों में सर्वत्र मिलती है और न वह गद्यात्मक सपाट भाषा तथा दैनन्दिन जीवन के क्रिया-कलाप की अकाव्यात्मक वर्णनात्मकता जो बच्चन, नरेन्द्र शर्मा आदि के गीतों में है। भाव-गाम्भीर्य, अनुभूति की तीव्रता और जटिलता तथा अभिव्यक्ति की सच्चाई के कारण इन गीतों में ताजगी के साथ गुरुता और नवीनता के साथ सम्मोहकता भी है।

जिस प्रकार छायावादोत्तर गीतकारों में डॉ० शम्भुनाथ सिंह अत्यन्त उच्च और महत्त्वपूर्ण पद के अधिकारी हैं उसी तरह 'दिवालोक' भी बीसवीं शताब्दी के छठें दशक के गीतकाव्य-संकलनों में सर्वोच्च पद का अधिकारी है। काव्यगत दृष्टिकोण, भावगाम्भीर्य, अनुभूति की गहनता, जीवन-व्यापारों की विविधता, व्यंजकतापूर्ण शैली, भाषागत सौन्दर्य, शिल्पगत वैशिष्ट्य और सर्वोपरि गीतात्मक माधुर्य एवं चारुता के कारण 'दिवालोक' डॉ० शम्भुनाथ सिंह की अक्षय कीर्ति की सुदृढ़ आधार-शिला है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

•

छायावाद-युग : एक क्रान्तिकारी समीक्षा-ग्रन्थ

•

लक्ष्मीकान्त वर्मा

"छायावाद-युग" में हिन्दी कविता के छायावादी काव्य-काल की प्रमुख प्रवृत्ति तथा उसमें घुली-मिली अन्य काव्य-प्रवृत्तियों एवं उपप्रवृत्तियों का तत्कालीन साहित्यिक मूल्यों के प्रकाश में अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यह एक चिर स्थायी कृति है जो आलोचक की अन्तर्दृष्टि और गहरी शोध-बुद्धि को अभिव्यक्त करती है। इस ग्रन्थ में लेखक की पद्धति आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक होते हुए भी विशद एवं ज्ञानवर्धक है। भारतेन्दु से अज्ञेय तक आधुनिक हिन्दी कविता में जितने भी आन्दोलन हुए है, उनके विभिन्न चरणों का विस्तृत विवेचन किया इस ग्रन्थ गया है। यह अपने ढंग का पहला ग्रन्थ है और इसमें छायावाद के अध्येता को उस युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों की विभिन्न विशेषताओं का अधिक स्पष्ट और पूर्ण विवेचन उपलब्ध हो जायेगा। डॉ० शम्भुनाथ सिंह स्वयं छायावादोत्तर युग के एक सफल कवि रहे हैं। इसलिए वे विषय की गहराई में प्रवेश करने में अधिक सफल हो सके हैं। इससे इस ग्रन्थ की विशिष्टता और बढ़ जाती है।

जिज्ञासामूलक प्रेरणा

हिन्दी कविता का छायावाद-युग बीसवीं शताब्दी के भारतीय मानस की जिज्ञासामूलक प्रेरणा का प्रतिनिधित्व करता है और इसमें अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों तथा उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ होने वाले भारतीय पुनर्जागरण और पुनरुत्थान का, जिसका प्रभाव भरतीय चिन्तन और कर्म के विभिन्न क्षेत्रों में पड़ा था, विशेष रूप से अध्ययन किया गया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और महावीरप्रसाद द्विवेदी के पुनरुत्थानवाद और सुधारवाद का उच्चतम रूप ही हिन्दी साहित्य की परम्परागत रीतियों और विचारों के विरुद्ध विद्रोही स्वरों और प्रवृत्तियों के रूप में परिणत हुआ और उसी के कारण ".छायावाद" नामक नयी काव्य-प्रवृत्ति की आधार-शिला पड़ी। इसी के साथ

आधुनिक युग का प्रारम्भ हुआ जिसमें विचार और अनुभूति सम्बन्धी मूल्य और प्रतिमान तथा अन्ततः कथ्य और शिल्प सम्बन्धी आधुनिकता के सभी आवश्यक तत्त्व समाहित थे।

इसमें उस काल की बौद्धिक और सांस्कृतिक आकांक्षायें प्रतिबिम्बित हुई थीं। अकेले पड़े हुए व्यक्ति का व्यक्तिवाद और विकासमान मानवतावाद, जिसकी अभिव्यक्ति प्राकृतिक रहस्यवाद और सर्वात्मवाद के माध्यम से हुई थी, ऐसी ही प्रवृत्तियाँ थीं। किन्तु छायावाद के सम्बन्ध में सबसे बड़ी दुर्घटना यह हुई कि वह एक लावारिस सन्तान के रूप में हो गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद की काव्य-क्षमता को स्वीकार नहीं किया। रूढ़िवादी आलोचकों का कहना था कि छायावाद एक परम्परा-विरोधी काव्य-प्रवृत्ति था और उसमें अस्पष्टता थी जिससे काव्य प्रेषणीय नहीं हो पाता था। बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में आकर यह सम्भव हो सका कि छायावाद हिन्दीभाषी जन-समुदाय के द्वारा आसानी से पढ़ा और समझा जाने लगा। इसकी नयी भाषा, नये प्रतीक, नये बिम्ब और नयी भावनायें हिन्दी के पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने लगीं। प्रकृति, जो मनुष्य के भावों की अभिव्यक्ति की सीधी संगति में आयी, छायावाद को एक आंतरिकता और रोमांच देने में समर्थ हुई।

आत्मा की मुक्ति

सर्वातिशायी स्नेह और प्यार, सहानुभूति और संवेदना, विनम्रता और आत्म-समर्पण आदि के रूप में अभिव्यक्त होने वाली प्रवृत्ति तथा आत्मा की मुक्ति के विषय में सोचने के लिये इस आन्दोलन ने प्रेरित किया। इसी कारण छायावादी कवि के प्राकृतिक रहस्यवाद एवं सर्वात्मवाद के शक्तिशाली माध्यमों द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने लगा। इन विचारों ने छायावाद-युग को अनुप्रेरित किया क्योंकि विशृंखलित सामंती व्यवस्था और टूटती हुई मध्यकालीन धारणाओं द्वारा उस नयी पीढ़ी की तृप्ति नहीं हो पा रही थी जो एक वृहत्तर संसार और व्यापक मानवता के सामाजिक दर्शन की खोज में थी। अतः आत्मा की मुक्ति, व्यक्तिस्वातंत्र्य और विश्वमानवतावाद के प्राचीन भारतीय आदर्शों को पुनरुज्जीवित किया गया। इस युग की एक विशेषता यह थी कि उसमें पलायनवादी मनोवृत्ति तथा रहस्यवाद की प्रमुखता थी। उस रहस्यवाद में निराशावादी विचारों तथा दुःख और करुणा के साथ प्रकृति और उसके वातावरण की शक्तियों और गतिविधियों के प्रति जिज्ञासा और आश्चर्य की

भावना भरी हुई थी। पंत, प्रसाद, निराला, महादेवी आदि कवियों ने नयी लयों, नवीन प्रतीकों तथा नवीन बिम्बों और छन्दों की रचना द्वारा काव्य के स्वच्छन्दतावादी रूपाकार की आधारशिला रखी।

महादेवी के शब्दों में छायावाद का विकास एक ऐसे बालक की भाँति हुआ जिसकी देखभाल करने वाला कोई नहीं था; यहाँ तक कि उसे कोई सहानुभूति-पूर्ण आलोचक भी नहीं मिला और वह बहुत दिनों तक एक ऐसे उपेक्षित पारिवारिक बालक की तरह बना रहा जो सामाजिक सम्मान के अपने अधिकार की माँग भी नहीं कर सकता था। फलत: छायावाद ने वायवीय संगीत का पल्ला पकड़ा और उसे तारों, फूलों, निर्झरों, सरिताओं आदि के प्राकृतिक सौन्दर्य से प्रेरणा मिली। छायावादी उस समय इस प्रकृतिवाद को ही मनुष्य और उसके हृदय का अन्वेषण मानता था।

ऐसी स्थिति में छायावाद के व्याख्यात्मक एवं सहानुभूतिपूर्ण मूल्याङ्कन की अत्यधिक आवश्यकता थी। प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक ने छायावादी कविता की प्रवृत्तियों और मूल स्रोत की गहराई में प्रवेश करने के लिये जिस श्रम और धैर्य से काम लिया है और इस प्रकार भ्रम के शिकार उस युग की कविता के छिपे हुए सौन्दर्य को उद्घाटित करने का जो कार्य किया है उसके लिए वह बधाई का पात्र है। यह और भी प्रशंसनीय बात है कि लेखक ने छायावादी कविता को समझाने के लिए उस युग की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट किया है। उसने इस प्रश्न पर भी विस्तार से विचार किया है कि क्या छायावाद ने अपने युग के आदर्शों एवं विचारों द्वारा सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी परम्परागत मूल्यों के सतत् विकास की दिशा में योगदान किया है अथवा उनका अवमूल्यन किया है? इस प्रकार का अध्ययन आवश्यक था क्योंकि हम प्राय: अपने युग के प्रचलित नारों और फतवों के जोश में बह जाया करते हैं और शाश्वत मूल्यों एवं उनके नैरन्तर्य की ओर उचित ध्यान नहीं दे पाते। उसी प्रकार छायावाद-युग के काव्य के कथ्य, शिल्प एवं रूपाकार में होने वाले प्रयोगों की जो विवेचनात्मक व्याख्या की गयी है, वह भी कम प्रेरणादायक नहीं है।

लेखक ने पूरे ग्रन्थ को तीन भागों में विभाजित किया है। प्रत्येक भाग में विभिन्न विषयों से सम्बन्धित कई उपविभाग भी हैं। इस प्रकार छायावाद में जो भी प्रशंसनीय गुण हैं उनकी समीक्षा व्यवस्थित रूप में की गयी है। पहले भाग में पुनर्जागरण के आन्दोलनों, उनके स्पष्ट लक्षणों तथा उस युग के साहित्यिक प्रतिमानों के निर्माण में उनके योगदान का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया गया

है। उसी भाग में अंग्रेजी के रोमांटिक काव्य और छायावाद का तुलनात्मक अध्ययन उन आन्दोलनों को सामाजिक और दार्शनिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रख कर किया गया है। साथ ही उसमें जीवन को जड़ बनाने वाली अनपेक्षित रूढ़ियों और परम्पराओं के विरोध में किये गये व्यक्तिगत विद्रोही प्रयासों का भी विस्तृत विवरण दिया गया है। एक अन्य अध्याय में छायावाद-युग के साहित्यिक जगत को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करनेवाले विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों पर भी विचार किया गया है।

सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य

ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में छायावादी कविता के सौन्दर्यशास्त्रीय और साहित्यिक मूल्यों तथा उसमें निहित जीवनदर्शन की व्याख्या सर्वात्मवाद, प्रकृतिवाद, निराशावाद और आनन्दवाद के विविध दर्शनों के प्रकाश में की गयी है। इस अध्याय में अद्वैतवाद और योगदर्शन से लेकर आधुनिक समन्वयवाद और सामाजिक यथार्थवाद तक के सैद्धान्तिक आन्दोलनों के रूप में अभिव्यक्त होने वाली गत्यात्मक भारतीय विचारधारा तथा उसके स्वरूपों का अध्ययन विस्तार के साथ किया गया है। ग्रन्थ के इस भाग के अन्तिम अध्याय में नयी हिन्दी कविता की उस स्वाभाविक विकास-सरणि की विवेचना की गयी है जिससे होकर वह छायावाद से जटिल यथार्थवाद के अतिवादी रूपों की ओर अग्रसर होती गयी। तीसरे अध्याय में समय-समय पर विभिन्न कवियों द्वारा काव्य के कथ्य और शिल्प में किये गये प्रयोगों तथा काव्य की तकनीक का सम्यक् विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। छायावादी कविता की भाषा-शैली और छन्द-विधान का विशद विवेचन करते हुए लेखक ने इस बात का विशेष ध्यान रखा है कि उन सभी आधुनिक पौर्वात्य और पाश्चात्य विचारकों और लेखकों के विचारों को प्रस्तुत किया जाय जिनमें लय, छन्द और संगीत को काव्य के लिये अनिवार्य सिद्ध किया गया है। कुल मिलाकर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि "छायावाद-युग" छायावाद के विषय में लिखा गया पहला प्रामाणिक और आधिकारिक ग्रन्थ है जिसमें आलोचना के आधुनिक और वैज्ञानिक सिद्धान्तों को विचार का आधार बनाया गया है। निश्चय ही यह ग्रन्थ न केवल विद्वानों और विद्यार्थियों को प्रभावित करेगा, बल्कि उन सामान्य लोगों को भी आकृष्ट करेगा जिन्हें छायावादी कविता प्रायः अस्पष्ट लगती है।

छायावाद-युग

•

सोमेश्वर सिंह

छायावाद आधुनिक हिन्दी कविता की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य-प्रवृत्ति है। बहुधा सन् १९१८ से १९३६ ई० तक के समय को छायावाद-युग के नाम से अभिहित किया गया है। अपनी वैयक्तिकतापरक भावनाओं की अभिव्यक्ति तथा लाक्षणिक अभिव्यञ्जना-पद्धति के कारण छायावादी कविताएँ तत्कालीन सुधारवादी आलोचकों की सहानुभूति अर्जित न कर सकीं। उन पर प्रतिक्रियावाद, अस्पष्टता और पलायनवाद का दोषारोपण किया गया। बंगला के आधार पर छायावाद अभिधान भी उन्हें उपहास-स्वरूप ही प्रदान किया गया[1]। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'आजकल के हिन्दी कवि और कविता'[2] शीर्षक निबन्ध में ऐसी कविताओं के प्रति उदासीनता प्रकट करते हुए लिखा कि 'छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी कहना चाहिए।' प्रारम्भ में मुकुटधर पाण्डेय और सुमित्रानन्दन पंत की कविताओं को लेकर जो चर्चा चली, उसमें 'मिस्टिसिज्म' शब्द का प्रयोग छायावाद के पर्याय के रूप में किया गया[3]। स्वयं आलोचक-प्रवर पं० रामचन्द्र शुक्ल भी उस समय छायावाद और रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म) का अन्तर स्पष्ट नहीं कर सके। उन्होंने छायावादी रचनाओं को तात्त्विक दृष्टि से रहस्यवाद और रूप-विधान की दृष्टि से छायावाद कहना उचित समझा[4]।

---

१. देखिए—सरस्वती (जून सन् १९२१) में प्रकाशित श्री सुशीलकुमार का निबन्ध।

२. सरस्वती—मई सन् १९२७ ई०।

३. देखिए—सरस्वती (दिसम्बर १९२१) में मुकुटधर पाण्डेय का 'कविता' शीर्षक निबन्ध।

४. देखिए—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का निबन्ध—'काव्य में रहस्यवाद'।

आलोचकों की उस उपेक्षानीति के कारण ही छायावादी कवियों को स्वयं आलोचक के रूप में प्रस्तुत होकर छायावाद का रूप स्पष्ट करना पड़ा। उन्होंने अपने काव्यों की भूमिकाओं में तथा स्वतन्त्र निबन्ध लिखकर छायावादी विचार-धारा को स्पष्ट करने का प्रयास किया।

छायावाद के सन्दर्भ में जो विचार प्रस्तुत किये गये उनमें कभी छायावाद को मूलत: कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव कहा गया और कभी अंग्रेजी के रोमेण्टिक कवियों का अन्धानुकरण। अस्पष्टता का दोषारोपण तो अनेक दिशाओं से हुआ। जिन आलोचकों ने छायावाद की विशेषताओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया उनका ध्यान भी किसी कवि विशेष की कुछ ही रचनाओं तक सीमित रह गया। समूचे छायावादी साहित्य को वे अपनी आलोचना की परिधि में न समेट सके। फलत: उनकी आलोचनाएँ भी एकांगी रहीं। छायावाद जिन अनेकविध प्रवृत्तियों और विशेषताओं को लेकर चला उनका समग्र रूप से उद्घाटन न हो सका। डॉ० नामवर सिंह ने ठीक ही लिखा है कि 'इसकी विविधता उस शतदल के समान है जिसमें एक ग्रंथि से अनेक दल खुलते हैं। एक युग-चेतना ने भिन्न-भिन्न कवियों के संस्कार, रुचि और शक्ति के अनुसार विभिन्न रूपों में अपने को अभिव्यक्त किया। कहीं एक पक्ष का अधिक विकास हुआ और कहीं दूसरे पक्ष का[1]।' इस युग-चेतना को पहचानने की आवश्यकता थी जो तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के बीच अपना स्वरूप ग्रहण कर रही थी। सामन्तवादी एवं साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के विरुद्ध भारतीय पूँजीवाद एवं मध्यवर्ग का संयुक्त संघर्ष उस चेतना को शक्ति प्रदान कर रहा था।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का अध्ययन करते हुए जो बात सर्वाधिक बलपूर्वक कही गयी वह यह कि छायावाद द्विवेदीयुगीन इति-वृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया है। इसी तरह प्रगतिवादी आलोचकों ने प्रगतिवाद को छायावादी भावुकता की प्रतिक्रिया के रूप में ग्रहण किया है। किन्तु उस प्रकार की पूर्वग्रहग्रस्त आलोचनाएँ इन प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियों को स्थिर और जड़ मानकर ही प्रस्तुत की गयीं। उस बात पर जरा भी ध्यान न दिया गया कि युग-विशेष में अभिव्यक्त होने वाली कोई भी काव्य-प्रवृत्ति साहित्य की उसी प्रवहमान धारा का एक अंग है जो समाज-सापेक्ष्य ऐतिहासिक विकास के अनुरूप ही रूप धारण करती है। किसी भी काव्य-प्रवृत्ति का अध्ययन करते समय

१. डॉ० नामवर सिंह—आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० ४।

समाज के ऐतिहासिक विकास की उपेक्षा करने तथा उसे समग्र साहित्य के विकास का एक अंग न मानकर किसी प्रवृत्ति-विशेष की मात्र प्रतिक्रिया के रूप में ग्रहण करने से भ्रामक आलोचना का रूप उपस्थित होता है। 'छायावाद-युग' में डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने पहली बार छायावाद को सामाजिक उत्थान के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया। तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थितियों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने 'छायावाद' को आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवहमान धारा के एक अंग के रूप में देखा है। इसी कारण उस युग की कविताओं की समस्त प्रमुख विशेषताओं के उद्‌घाटन में उन्हें अधिक सफलता मिली है।

छायावादी काव्य के उद्भव और विकास की पृष्ठभूमि का विश्लेषण शम्भुनाथ सिंह के इस ग्रन्थ की मौलिक देन है। सन् १८५७ की भारतीय राज्यक्रान्ति के विफल हो जाने पर अंग्रेजी शासन-व्यवस्था अनेक रूपों में दृढ़ होती गयी। पश्चिम की नवीन साम्राज्यवादी व्यवस्था एवं अर्थवादी नीतिमत्ता के कारण भारतीय समाज की परम्परागत विकास-धारा में परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। पुरानी सामन्ती व्यवस्था ह्रासोन्मुख हो चली। विदेशी साम्राज्यवाद की शोषण-नीति के विरुद्ध जन-चेतना में राष्ट्रीयता एवं पुनरुत्थान का भाव जगा। उद्योगीकरण के कारण नवीन पूँजीवादी व्यवस्था क्रमशः विकसित होने लगी। समाज का मध्यमवर्ग हर दिशा से आहत होकर विद्रोही हो उठा। समाज के विभिन्न वर्गों में जो वैचारिक क्रान्ति उपस्थित हुई उसका क्रम भारतीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति तक चलता रहा। यद्यपि यह सही है कि समय-समय पर अन्य अनेक देशी-विदेशी विचारों एवं आदर्शों ने भारतीय मनीषा को प्रभावित किया किन्तु इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि आधुनिक काल के प्रारम्भ में वैचारिक जगत में जो क्रान्ति के बीज अंकुरित हुए वे निरन्तर विकसित होते गये। भारतीय जनता के श्वासोच्छ्‌वासों की कहानी इन्हीं परिस्थितियों में गतिशील हुई, जिसका स्पष्ट स्वरूप आधुनिक साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। 'छायावाद-युग' में युगीन परिस्थितियों का विश्लेषण इसी दृष्टि से किया गया है। इस तमाम विश्लेषण का निष्कर्ष लेखक ने यह निकाला है कि आधुनिक कविता गत्यात्मक है। वह सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध उच्च मध्यवर्ग और निम्न मध्यवर्ग के संघर्ष और विद्रोह की विभिन्न मंजिलों पर विभिन्न रूपों में दिखलाई पड़ती है। उसमें शुरू से अन्त तक एक सिलसिला और सम्बन्ध है। "इसलिए छायावाद-युग को समझने के लिए इतना ही आवश्यक नहीं है कि उस युग (१९१८–१९३६)

की परिस्थितियों को समझा जाय, बल्कि यह भी आवश्यक है कि उसके पूर्ववर्ती युगों की परिस्थितियों और कविता के बीच के सम्बन्ध-सूत्र का पता लगाया जाय और उस प्रकार आधुनिक कविता के गत्यात्मक रूप को देखा जाय।'[1] 'उस युग की कविता में जो अप्रत्याशित विकास और अनियमित मोड़ दिखाई पड़ते हैं उन सबकी भूमिका आधुनिक युग के पूर्वार्द्ध में पड़ चुकी थी।'[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि छायावाद-युग को समझने के लिए उसे आधुनिक कविता के समुचित विकास की एक सीढ़ी के रूप में देखा जाय न कि किसी विचार या आदर्श की प्रतिक्रिया मात्र कहकर उसे समग्र आधुनिक साहित्य से अलग कर दिया जाय। कवीन्द्र रवीन्द्र और अंग्रेजी के रोमैंटिक कवियों के प्रभावों को मैं अस्वीकार नहीं करता, किन्तु समूचे छायावाद को मात्र विदेशी साहित्य का अनुकरण कहना अनुचित है। आधुनिक काल की निरन्तर गतिशील सामाजिक परिस्थितियों ने छायावाद को जन्म दिया जो अपने वैविध्यपूर्ण--परस्पर विरोधी-सी ज्ञात होने वाली भी--विशेषताओं को अभिव्यक्त करता हुआ अन्त में उन्हीं परिस्थितियों की गतिशीलता में तिरोहित हो गया। इन सब बातों पर लेखक ने जम कर विचार किया है।

छायावादी साहित्य की विशेषताओं पर दृष्टिपात करते हुए लेखक ने स्पष्ट कहा है कि वैयक्तिक अभिव्यक्ति ही समस्त साहित्य का केन्द्र-विन्दु है। प्रेम का स्वच्छन्द चित्रण, मनस्परक सौन्दर्य-बोध, प्रकृति-प्रेम, रहस्य-भावना का आभास, राष्ट्रीय विचारों की अभिव्यक्ति तथा प्रतीकात्मक एवं संकेतात्मक भाव-प्रकाशन, भावुकता एवं कल्पना की अधिकता—ये सारी विशेषताएँ छायावादी साहित्य में अहंभाव की अभिव्यक्ति के विभिन्न रूप हैं। भावुकता के साथ ही चिन्तन, आदर्श के साथ ही यथार्थ, आशा के साथ ही निराशा एवं दुःखवाद, प्राचीन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना के साथ ही गौरवशाली अतीत के प्रति आकर्षण और प्राचीन दर्शनों के प्रति आस्था, वर्तमान से पलायन की प्रवृत्ति के साथ ही वर्तमान की पराधीनता की समस्या का समाधान ढूँढ़ने का प्रयास--ये परस्पर विरोधी-सी प्रतीत होने वाली भावनाएँ छायावादी साहित्य में दिखाई देती हैं। छायावाद की समस्त विशेषताओं का विस्तृत वर्णन डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने अपने 'छायावाद-युग' के द्वितीय खण्ड (पृ० ५५ से १५२ तक) में किया है। इन परस्पर विरोधाभासी प्रवृत्तियों के वास्तविक कारणों को जानने के लिए

---

१. डॉ० शम्भुनाथ सिंह—छायावाद-युग पृ० ४–५।

२. डॉ० रघुवंश—साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य, पृ० ११४।

तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थितियों का अवलोकन आवश्यक था। यद्यपि साहित्य में समाज का यथातथ्य चित्रण नहीं होता तथापि साहित्यगत मान्यताएँ सामाजिक परिवेश में पलने वाले विचारों से निरन्तर प्रभावित होती रहती हैं।

रीतिकालीन गतानुगतिकता एवं रूढ़िवादिता के मार्ग से हटकर भारतेन्दु ने ही साहित्य में नवीनता का समारम्भ कर दिया था। इस युग में ही आगे के विद्रोही युग की भूमिका की नींव पड़ चुकी थी। मुकुटधर पाण्डेय ने तो भारतेन्दु को ही छायावाद-युग का जनक कहा है। यद्यपि छायावाद की समस्त विशेषताओं के परिवेश में भारतेन्दु को छायावाद का जनक नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना अवश्य ही सत्य है कि छायावाद की अनेक प्रमुख प्रवृत्तियों का जन्म भारतेन्दु-युग में ही हो चुका था। नायक-नायिका के स्थूल शारीरिक प्रेम की अपेक्षा भारतेन्दु का ध्यान 'तरनि-तनूजा-तट-तमाल-तरुवर' की ओर जा चुका था। वे गंगा के 'नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक' की ओर आकर्षित हो चुके थे। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय आदि कवियों ने प्रकृति के प्रति अनुराग की भावना को स्वच्छन्द प्रकृति-प्रेम के रूप में परिणत कर एक नवीन युग के आगमन की घोषणा की। प्रकृति के प्रति यही स्वच्छन्द प्रेम-भाव छायावाद-युग का प्रमुख प्रतिपाद्य बना। इसी प्रकार सामंती एवं साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के प्रति आक्रोश की भावना भारतेन्दु की ही लेखनी से प्रकट हो चुकी थी। धन का विदेश जाना उन्हें 'ख्वारी' लगता ही था, बाहर तन-मन-धन चूसने वाली एवं भीतर-भीतर सब रस चूसने वाली साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को वे राष्ट्र के लिए सर्वाधिक घातक समझते थे। छायावाद-युग तक पहुँचते-पहुँचते इस भावना ने राष्ट्रीयता का स्पष्ट रूप धारण कर लिया। इस विकास-क्रम को 'छायावाद-युग' के प्रथम अध्याय में दिखाया गया है। प्रथम विश्व-महायुद्ध के समय और उसके बाद भारत में उद्योगीकरण की दिशा में तेजी आयी। यद्यपि अंग्रेजी व्यापारियों के विरोध के कारण भारतीय उद्योगीकरण का वैसा रूप हमारे सामने न आ सका जैसा पश्चिमी देशों में दिखाई दिया था, तथापि भारतीय पूँजीवाद का नए सिरे से विकास प्रारम्भ हो गया। समाज में उच्च मध्यवर्ग तथा निम्न मध्यवर्ग जैसे वर्ग विकसित होने लगे। छायावाद-युग में पूँजीवाद ने ही कवि को आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रोत्साहित किया। व्यक्तिगत प्रणय के गायन में उन्होंने कल्पना और भावुकता का अधिक परिचय दिया। वर्तमान के यथार्थ से अलग हटकर वे अतीत के गौरव की गाथा गाने लगे या भविष्य के लिए उन्होंने कल्पना का नवीन लोक निर्मित करना

प्रारम्भ कर दिया। उधर साम्राज्यवादी शोषण की प्रवृत्ति ने मध्यमवर्ग की राष्ट्रीय चेतना को निरंतर प्रोत्साहित किया।

जिस आशा और उत्साह के साथ छायावादी कवियों ने प्रारम्भ में अपनी भावनाओं को अभिव्यक्ति दी उसमें १९३० के पश्चात् ह्रास का भाव दिखाई देता है। इसका कारण यथार्थवादी प्रवृत्तियों का अधिक मात्रा में विकास है। पश्चिम में कार्ल मार्क्स से अभिप्रेरित भौतिकतावादी प्रवृत्तियों का अत्यन्त तेजी के साथ विकास हो रहा था। कुछ आलोचकों का मत है कि उस भौतिकतावादी प्रवृत्ति ने प्रतिवाद रूप में आकर छायावाद के वायवी रूप रंग को धूमिल कर दिया। भावुकता, प्रकृति-प्रेम, वैयक्तिक प्रणय एवं कल्पना को लेकर चलने वाला छायावाद वर्ग-संघर्ष की भावना को लेकर चलने वाले भौतिकवादी एवं यथार्थवादी प्रगतिशील आन्दोलन के सम्मुख हतप्रभ हो गया। 'छायावाद के पतन' पर भी विचार किया जाने लगा। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि प्रगतिवादी आलोचकों ने कभी भी प्रगतिवाद को छायावाद के विकास की दृष्टि से देखने का प्रयास नहीं किया। छायावाद-युग की राष्ट्रीय-चेतना ने ही स्वयं छायावादी कवियों को यथार्थ की ओर ढकेला। 'बाला के बालजाल में लोचन उलझाने' में झिझकने वाला कवि 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' का कवि बन बैठा। अतीन्द्रिय सौंदर्य की सृष्टि करने वाले कवि की दृष्टि 'पत्थर तोड़ती मजदूरिन' पर भी पडने लगी। यह जो कुछ हुआ उसका एकमात्र कारण कार्ल मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही नहीं है और न तो प्रगतिवाद मूलतः छायावाद की प्रतिक्रिया ही है। प्रगतिवादी भावनाएं छायावाद के ही गर्भ में धीरे-धीरे पनप रही थीं। समय के प्रभाव ने उन्हें साहित्यिक धरातल पर उपस्थित कर दिया। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि छायावादी कवियों का सौन्दर्य और प्रेम के गायन के प्रति जो प्रारम्भिक उत्साह था वह मंद पड़ गया। फलतः निराशा की भावना प्रकट होने लगी। 'मेरा अन्तर वज्र कठोर, देना जी भरकर झकझोर।' उस तरह सारी दुनिया को चुनौती देने वाला कवि निराशा के स्वरों में बोलने लगा कि 'स्नेह-निर्झर बह गया है रेत-सा तन रह गया है'। 'छायावाद-युग' के प्रथम खण्ड के पाँच अध्यायों में इन सभी विषयों पर अधिकारिक रूप से विवेचन किया गया है।

छायावादी कवियों के दार्शनिक विचारों के सम्बन्ध में भी लेखक ने दो अध्यायों में विचार किया है। भारतेन्दु-युग में कविता को मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य से सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया था। भारतेन्दु ने स्वयं सूरदास के

समान ही भक्ति के पदों की रचना की। द्विवेदी-युगीन कवियों ने पौराणिक आख्यानों और आदर्शों को अपना लक्ष्य बनाया। किन्तु छायावादी कवियों ने उपनिषद् कालीन भारतीय दर्शन के प्रमुख तत्वों को ग्रहण किया। सुमित्रानन्दन पंत ने ईश्वर में चिर विश्वास प्रकट करते हुए मानवतावादी विचारों की अभिव्यक्ति की तो 'प्रसाद' ने शैवागमों के प्रत्यभिज्ञा दर्शन को अपना आदर्श माना। 'निराला' ने अद्वैतवादी विचारधारा के साथ ही रामकृष्ण परमहंस के सिद्धान्तों को माना और महादेवी वर्मा की कविताओं में अद्वैत का परब्रह्म ही प्रियत्व के आवरण में उपस्थित हुआ। छायावाद के इन प्रमुख कवियों की भारतीय दर्शन के प्रति आस्था लाल निशान या लाल झण्डे की जयजयकार करने वाले तथा विदेशी अनुकरण पर 'प्रयोग' के चामत्कारिक ढूह उपस्थित करने वाले कवियों से अधिक राष्ट्रीय है। ऐसे दार्शनिक विचारों को समेटते हुए युग-सापेक्ष्य भावों को काव्य का विषय बनाने वाले इन छायावादी कवियों को 'गाँव में नया-नया आया ऊँट' कहकर तिरस्कृत किया गया। नवयुवक कवियों को अपना-अपना ऊँट छोड़ने की प्रवृत्ति वाला कहकर उनकी हँसी उड़ाई गई। किन्तु यह सब तभी हुआ जब छायावाद की समूची विशेषताओं का लोगों ने अध्ययन नहीं किया था। पंत जी ने लिखा है कि 'आनेवाली पीढ़ियाँ निश्चय-पूर्वक देख सकेंगी कि उस युग का साहित्य—विशेषकर आलोचना-क्षेत्र—किस प्रकार संकीर्ण, एकांगी, पक्षधर, तथा वादग्रस्त रहा है और उसमें तब की राजनीतिक दलबंदियों के फलस्वरूप किस प्रकार मान्यताओं तथा कलारुचि सम्बन्धी साहित्यिक गुटबंदियाँ रही हैं।'[१] अब सचमुच इस पीढ़ी में पक्षहीन होकर छायावादी काव्य की विशेषताओं को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। 'छायावाद-युग' में आकर छायावाद की सारी विशेषताएँ स्पष्ट हो गयी हैं। तत्युगीन आर्थिक सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों की भी उसमें सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। इस तरह छायावाद का विस्तृत एवं सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत करने वाला यह हिन्दी का प्रथम समीक्षा-ग्रन्थ है। अतः डॉ० शम्भुनाथ सिंह का 'छायावाद-युग' समीक्षाक्षेत्र में एक स्तुत्य प्रयास है। इस पुस्तक में लेखक ने छायावाद को समझने के लिए एक नयी दिशा प्रदान की है जिससे अगली पीढ़ी को निस्संदेह छायावाद पर विचार करने में सहायता मिलेगी।

---

१. सुमित्रानन्दन पंत— चिदंबरा की भूमिका, पृ० १०।

माध्यय मैं

•

जितेन्द्र सिंह

छायावादोत्तर कवियों में डॉ० शम्भुनाथ सिंह अपना एक अलग स्थान रखते हैं। यद्यपि वे मुख्यतया वामपन्थी विचारधारा से प्रभावित रहे हैं, किन्तु राष्ट्रीय आदर्शों में उनकी पूर्ण निष्ठा रही है। बहुत से तथाकथित प्रगतिशील कवियों की पद्धति के विपरीत वे मुख्यतः गीत काव्य की ही रचना करते रहे हैं। सन् १९४१ से "माध्यम मैं" के प्रकाशन तक उनके पाँच काव्य-संकलन प्रकाशित हो चुके थे। युद्धोत्तर-काल में अन्य आधुनिकतावादी कवियों की तरह शम्भुनाथ सिंह भी बौद्धिक संक्रान्ति और आत्मिक उद्वेलन वाले वर्तमान युग के प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। अतः उनकी १९५० के बाद की कविताओं में जो बौद्धिक स्वर मिलता है उससे यह स्पष्ट है कि वे उत्तरोत्तर आधुनिकतावादी काव्य-प्रवृत्ति के बहुत निकट आते गये। "माध्यम मैं" पढ़ने के बाद मुझे ऐसा लगा कि उस समय (सन् १९५०) वे एक दुराहे पर थे और अन्तिम रूप से यह निश्चय नहीं कर सके थे कि आधुनिक मुक्तछन्द तथा परम्परागत गीत शैली इन दो पद्धतियों में से अन्ततः किसे अपनाया जाय।

आधुनिकतावादी कवि में किसी रीतिबद्ध पद्धति के प्रति आसक्ति रखे बिना नवीन संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने की अन्तःप्रेरणा सहज रूप में होती है। किन्तु गीतकार में इस प्रकार की आसक्ति एक कमजोरी के रूप में होती है। शम्भुनाथ सिंह की इस पुस्तक में यह आसक्ति पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। इस पुस्तक का प्रथम खण्ड पढ़ने पर पाठक को ऐसा लगता है कि कवि की प्रतिभा में एक नयी शक्ति विद्यमान है और उसे यह आशा बँधती है कि पुस्तक में नयी कविता के विकास की दृष्टि से कुछ बहुत ही ध्यानाकर्षक और मौलिक तत्त्व दृष्टिगत होंगे। किन्तु बाद के तीन भागों—ताबूत की कीलें, सोंधी प्रतिध्वनियाँ और लाल हरी बत्तियाँ—में इस आशा को दृढ़ करने वाली प्रकाश की कुछ विरल किरणें ही दिखलाई पड़ती हैं। पर भविष्य में उनके पूर्ण प्रकाशन की सम्भावना भी उनके भीतर छिपी हुई है।

शम्भुनाथ सिंह एक ऐसे कवि हैं जिसने जीवन के उतार-चढ़ाव को अच्छी तरह देखा है और मृत्यु तथा अंधकार के बीच सत्य और वास्तविकता के अन्वेषण का दर्द भोगा है। उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के समय कुछ वर्ष तक राजनीतिक क्षेत्र में संघर्षमय जीवन व्यतीत किया तथा सन् ४२ की क्रांति के सिलसिले में भूमिगत आन्दोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया था। मैंने स्वयं निकट से उन आन्दोलनों को देखा है। इसलिये कवि शम्भुनाथ सिंह के भीतर स्वतन्त्रता तथा मानवीय सम्मान की अन्तिम विजय के प्रति जो गहरी निष्ठा है उसके सम्बन्ध में मुझे तनिक भी अविश्वास या भ्रम नहीं है। इस ग्रंथ में संकलित कविताओं में से कुछ से उनकी उक्त निष्ठा का प्रमाण मिल सकता है।

'माध्यम मैं' के अन्तिम खण्ड में 'जगन्नाथ का रथ' शीर्षक एक छोटी कविता है। उसमें उन लोगों को चुनौती दी गयी है जो प्रगति की यान्त्रिक धारणा एवं विचारधारा के नाम पर मानवता को ही बन्दी बना देना चाहते हैं। एक अन्य कविता 'भागूँगा नहीं' में कवि के अदम्य विश्वास, दृढ़ निष्ठा, अपने विवेक के प्रति दृढ़ बने रहने की धारणा तथा इन सबके लिये कोई भी दुःख उठाने की अदम्य इच्छा-शक्ति की अभिव्यक्ति हुई है। अपने विवेक को वह आँसुओं के समुद्र में डुबाने को तैयार नहीं है। 'अनस्तित्व की खोज' तथा 'मैं और मैं' शीर्षक कवितायें उस सूक्ष्म यथार्थ के आन्तरिक अन्वेषण की सूचना देती हैं जो हमें चारों ओर से घेरे रहता है पर जो प्रायः बुद्धि की पकड़ में नहीं आ पाता। ये कवितायें विश्वास दिलाती हैं कि कवि निकट भविष्य में इस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करेगा। इस ग्रंथ की पहली कविता 'उषा-नमन' यह आशा दृढ़ करती है कि कवि दार्शनिकता के लिए काव्यत्व को नष्ट नहीं होने देगा।

इस पुस्तक के दूसरे खण्ड की कविताओं में कवि ने अपने एक विशेष दुर्घटनाजन्य शोक को अभिव्यक्त किया है। तीसरे खण्ड में धरती की सोंधी गन्ध और रंगीनी के वैशिष्ट्यपूर्ण गीत हैं। बाद की कविताओं में कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं जो अपने देश के प्रचलित लोकगीतों की याद दिलाते हैं। शम्भुनाथ सिंह की कुछ अन्य कविताओं में लोकगीतों के स्वर और लय की अनुगूँज सुनाई पड़ती है। किन्तु साहित्य में लोकगीतों के तत्त्वों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति एक विशेष सीमा तक ही रहनी चाहिये। किसी अनुगूँज से मौलिक काव्य की रचना में विशेष सहायता की आशा नहीं की जा सकती। आत्मोपलब्ध अनुभूतियों के स्वर से मेल खाने वाली मौलिक लय ही किसी कविता को अधिक प्रभावो-

त्पादक बना सकती है। शम्भुनाथ सिंह जैसे सफल गीतकार से यही आशा की जाती है कि वे लोकगीतों की अनुगूँज को दुहराने के लोभ से अपने को अलग रखेंगे।

अपनी काव्य-यात्रा के लम्बे काल में शम्भुनाथ सिंह को अपने जीवन के कई मोड़ों से गुजरना पड़ा है। उन्होंने अपनी काव्य-प्रतिभा को किसी भी दल या सिद्धान्त के आगे आत्मसमर्पण करने से सदैव विरत रखा है। दूसरी ओर कवि सम्मेलनों में अत्यन्त लोकप्रिय होते हुये भी उन्होंने भीड़ की पसन्द के आगे अपनी कविता का बलिदान नहीं होने दिया। आज जब कि वे एक नये विश्वास के साथ भविष्य की ओर उन्मुख हैं, उनसे यह आशा की जाती है कि वे अपनी प्रतिभा को नयी दिशा में अग्रसर करेंगे और काव्य को नया मोड़ देंगे। किन्तु वे जो कुछ भी करें, वह केवल शिल्पगत रूपाकार या माध्यम मात्र नहीं होना चाहिये। आधुनिक युग का 'लघु मानव' जिस गहरे मानसिक और आध्यात्मिक संकट की स्थिति से होकर गुजर रहा है उसके सन्दर्भ में वे जो भी सोचते या अनुभव करते हैं, उनकी कविता में उसकी ईमानदारी के साथ अभिव्यक्ति होनी चाहिये।

कवि शम्भुनाथ सिंह की अन्तर्दृष्टि को स्वप्नलोक के कोमल और वायवीय दृश्य-बिम्ब अब भी अभिभूत करते होंगे किन्तु उनकी 'रूपान्तर' शीर्षक कविता में जो बिम्ब चित्रित किये गये हैं वे वायवीय नहीं, 'लघु मानव' द्वारा अनुभूत इस धरती के सीधे-सादे बिम्ब हैं। उस कविता की कुछ पंक्तियाँ ये हैं :—

अपनी इच्छाओं से ही तो
मैं निर्मित हूँ।
उनके रूपान्तर में ही तो
मैं जीवित हूँ
मैं उनका फल हूँ
मैं उनको ही अर्पित हूँ।

●

चिन्तन के नये चरण :
हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास

•

आचार्य करुणापति त्रिपाठी

डा० शम्भुनाथसिंह से हिन्दी जगत् पर्याप्त परिचित है। कवि-संमेलनों में उनकी ललित कविताओं के सुस्वर और मधुर पाठ से श्रोतृमंडली मुग्ध हो उठती है। काव्यकला के मर्मज्ञ जब उनकी मंजुलवाणी में सुनाए जाते हुए गीतों का कलास्वादन करते हैं और उनमें निहित भावात्मक कथ्य की गहराई का उन्हें बोध होता है तब वे मुग्ध होकर तन्मय हो उठते हैं। उनके काव्यपाठ में जहाँ एक ओर स्वरों की मधुर धारा बहती है वहीं दूसरी ओर उनमें युगबोध से मुखरित और चिंतन से परिप्लुत भावबोध और अर्थबोध की गहराई की प्रेषणीय झंकार गूँजती रहती है। यहाँ मैं उनकी कविता का गुणगान नहीं करने जा रहा हूं। मैं कहना यह चाहता हूँ कि काव्यपाठ और काव्यसर्जना के माध्यम से डा० शंभुनाथ सिंह हिन्दी काव्य-प्रेमियों के अत्यन्त प्रिय और परिचित हैं; वे आधुनिक हिन्दी कवियों के अग्रपंक्ति के कवि हैं, वे ऐसे कवि हैं जो आधुनिक युग के कवियों की सर्जनात्मक यात्रा में युगबोध की गति के साथ कदम मिलाकर निरंतर आगे बढ़ते चल रहें हैं; वाद की संकुचित सीमा में कैद हुए बिना भी वादों की मानवीय संवेदनाओं के स्वर और उत्प्रेरण को आत्मसात् करते चलते हैं; आधुनिकता, समसामयिकता और समाज संपृक्ति की बोध-चेतना से संसृष्ट रहते हैं, नये काव्यरूपों, समसामयिक काव्य-स्वरों, नूतन सर्जनप्रक्रिया और नव्यतम अभिव्यक्तिशिल्प का समर्थ प्रयोग और विधान करते चलते हैं। वे हिन्दी के सचेत, जागरूक, युगबोध से चैतन्य और समर्थ काव्यशिल्पी हैं।

शोध और समीक्षा

पर वे केवल आधुनिक कवि ही नहीं हैं। केवल काव्यक्षेत्र के ही सर्जनात्मक कलाकार नहीं हैं। रचनात्मक साहित्य की अन्य विधाओं—दृश्यकाव्य, कहानी आदि—के क्षेत्र में भी उन्होंने रचनात्मक प्रतिभा प्रकट की है। मैं यहाँ यह भी

कहना चाहूँगा कि डा० शंभुनाथ सिंह में सर्जनात्मक प्रतिभा के साथ-साथ शोधात्मक प्रज्ञा और समीक्षात्मक साहित्य-चेतना का मणिकाञ्चन योग है। शोध और समीक्षा के क्षेत्र में भी उनकी समाकलनात्मक प्रज्ञा ने उत्कृष्ट कोटि के साहित्य का निर्माण किया है। 'छायावाद-युग' "हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास" और "प्रयोगवाद और नयी कविता" आदि उनके ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें शोध और समीक्षा की गवेषणात्मक और विश्लेषणात्मक बौद्धिकता का स्वरूप देखा जा सकता है। इन क्षेत्रों के इनके समस्त ग्रन्थों के चर्चाविस्तार में न जाकर डा० शम्भुनाथ सिंह की केवल एक कृति—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय (वाराणसी) की शोधोपाधि (पी-एच्० डी) के लिए लिखित—"हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास" की कुछ परिचयात्मक चर्चा करूँगा।

हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास: शोधदृष्टि

यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ डॉ० शम्भुनाथ सिंह का गवेषणात्मक और समीक्षात्मक शोधप्रबन्ध (थीसिस) है। इसमें महाकाव्य के वैकासिक सोपानों की सैद्धान्तिक चर्चा की गई है। इस चर्चाक्रम में एक ओर तो शोधात्मक ढङ्ग से भारत और पश्चिम (योरप) की साहित्यमीमांसा में निरूपित और विवृत मान्यताओं का आधार लिया गया है, दूसरी ओर अपने विवेचन और विश्लेषण की उपलब्धियों का भी उपयोजन किया गया है। महाकाव्य के स्वरूप और लक्षण (परिभाषा) का निर्धारण सबसे आवश्यक और प्रथम प्रश्न था। लक्षण के निर्धारण में सबसे मुख्य समस्या यह थी कि उसकी दृष्टि क्या हो। भारत के—मुख्यतः संस्कृत साहित्यशास्त्र के—साहित्यालोचकों ने महाकाव्य के जो रूप-लक्षण बताए हैं उनको आधार बनाया जाय या पश्चिम के साहित्यशास्त्रकारों ने जो पैमाने बनाए हैं उनको निर्धारक मानकर महाकाव्य के स्वरूप और गुणधर्मों का मानरूप स्थिर किया जाय? उक्त दोनों दृष्टियों से संपृक्त और समन्वयात्मक मानतुला का भी पक्ष हो सकता है। मुख्यरूप से हिन्दी की जिन कतिपय कृतियों को महाकाव्य मानकर यहाँ उनकी समीक्षात्मक मीमांसा की गई है, उनके महाकाव्यत्व-साधक गुणधर्मों का निर्धारण आवश्यक हो जाता है। जब तक महाकाव्य के स्वरूपाधायक मानक धर्मों का निर्धारण न किया जाय तब तक कृति के मानमूल्य की व्याख्या सम्भव नहीं होती।

इस सन्दर्भ में डॉ० शम्भुनाथ ने ऐतिहासिक और बौद्धिक पथ का अनुसरण किया है। महाकाव्य के सोपान तक पहुँचने के लिए पूर्ववर्त्ती काव्यरूपों और

उनके योगदान की मीमांसा हुई है। महाकाव्य की स्वरूप-रचना कोई आकस्मिक घटना नहीं रही है। पूर्ववर्त्ती अनेकानेक काव्यरूपों की विकास-यात्रा के परिणाम स्वरूप काव्य का विकसित रूप--महाकाव्य—हो सका। इस विकास-यात्रा के पथ पर शोधगति से चलते हुए ग्रन्थकार ने 'समाज के विकास' की तीन अवस्थाओं का परिचय दिया है। आर्थिक दृष्टि से (क) 'शिकार और खाद्यसंचय-युग', (ख) 'कृषियुग' और (ग) 'औद्योगिक युग' के नाम से निर्दिष्ट अवस्थाओं को सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से--ग्रंथकार के उल्लेखानुसार—(क) 'कबीलायुग या जनसमाज युग', (ख) 'सामन्तयुग' और (ग) 'राष्ट्रयुग' कहा गया है। इसमें 'कृषियुग', या 'सामन्त-युग' वस्तुतः बड़ा लम्बा काल है और भारत में इसकी व्याप्ति वैदिक काल से लेकर १९ वीं शती तक बताई गयी है। इस सामन्ती अवस्था के वैकासिक स्तर और सोपानों की संख्या भी कम नहीं है। पर मोटे तौर पर अध्ययन की सुविधा के विचार से उसके तीन सोपान--(अ) "प्रारम्भिक सामन्त-युग", (आ) "मध्य सामन्त-युग" और (इ) "उत्तर सामन्त-युग"--मान लिए जाते हैं। महाकाव्य की सामग्री इस युग के प्रथम काल में निर्मित हुई और दूसरे काल में विकसित होकर महाकाव्यों के रूप में परिणत होने लगी। इस दूसरे काल का अन्त होते-होते अलंकृत काव्यों की रचना होने लगी जो तीसरे काल के महाकाव्यों में अपने उत्कृष्ट रूप में परिणत हुई। सामन्त-युग में ही अनेक आन्तरिक-बाह्य प्रभावों के कारण प्राकृत, अपभ्रंश और वर्त्तमान आर्यभाषाओं का विकास हुआ और उनमें भी विविध विकसनशील और अलंकृत महाकाव्यों की रचना हुई।"

इसी परिप्रेक्ष्य को लेकर प्रस्तुत ग्रंथ की मूल 'थीसिस' को प्रतिष्ठित करने का प्रयास हुआ है। यहाँ यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि महाकाव्य के उद्भव और विकास की जो विवेचना की गई है उसमें उपर्युक्त वक्तव्य के स्वर की ही गूँज आद्यन्त भरी हुई है। इस मत के मानक साँचे के निर्माण में जहाँ एक ओर पश्चिम के प्रबुद्ध साहित्य-शोधकों और कलानुशीलकों का निष्कर्ष लेकर एवं पश्चिमी परिप्रेक्षण को व्याख्यापथ पर चलनेवालों के अनुसार भारत के मुख्यतः संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंष और सामान्यतः आधुनिक आर्यभाषाओं के साहित्य-समीक्षकों की सिद्धान्त-दृष्टि का सारग्रहण किया गया है। पर इसके साथ ही—'मार्क्स' एवं उनके अनुगामियों द्वारा इतिहास, समाज और कला-साहित्य के विश्लेषण-समीक्षण की जो मान्यताएँ घोषित कर दी गई हैं उनमें भी डॉ० शम्भुनाथ की विशेष आस्था लक्षित होती है। प्रसंगतः यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि इस शोध-ग्रंथ में जिस श्रम एवं लगन के साथ

अनुसन्धान, अनुशीलन और मनन-चिन्तन के द्वारा मूल्यांकन का प्रयास किया गया है, उसका स्वरूप साहित्यिक समालोचन की दृष्टि से अधिक उत्कर्षशाली होता यदि 'मार्क्सिस्ट' प्रेक्षाग्रह से साहित्य की व्याख्या करने में इतना अभिनिवेश न दिखाया गया होता। इस चर्चा को यहाँ बढ़ाना मैं नहीं चाहता। इतना संकेत मात्र पर्याप्त है।

पश्चिम के महान् पण्डितों ने गहराई के साथ अनुसन्धान करते हुए समाज एव संस्कृति के वैकासिक सोपानों से संपृक्त—काव्य या कला के विकास की अवस्थाओं, स्वरूपों और कलारूपों के सम्बन्ध में जो अनुशीलनात्मक निष्कर्ष निकाले हैं—उन्हीं के प्रकाश में लेखक ने महाकाव्य के उद्भव और विकास का आकलन किया है। सामूहिक नृत्य-गान, गाथा-आख्यान, नाराशंसी गाथा, गाथा-चक्र के क्रमिक सोपानों से चलकर जिस प्रकार महाकाव्यों का प्रारम्भिक रूप घटित हुआ, जिन परिवेशों में विकसनशील महाकाव्य फलते-फूलते हुए महाकाव्य रूप में परिणत हो जाते हैं, जिन प्रवृत्तियों और सामाजिक मनोवृत्तियों के ताल-लय से एकताल होकर समाज में अलंकृत महाकाव्यों का निर्माण होता रहा है—इनकी विशद चर्चा लेखक ने की है। उदाहरणार्थ लेखक की मान्यता है—[उस युग में, वीर युग में—'जो बर्बर समाज व्यवस्था और पूर्ण-सभ्य समाज-व्यवस्था के बीच की मंजिल' मानी गई है—] 'युद्धों में शौर्य प्रदर्शित करने और विजय दिलाने वाला व्यक्ति कबीले का नेता या सरदार बनने लगा और मंत्र-तंत्र, जादू-टोना और पौराणिक कथाओं और विश्वासों के विशेषज्ञ पुरोहित और विद्वान बनकर संमानित हुए।'' ऐसे निष्कर्ष और घोषणाएँ समग्ररूप से और सभी राष्ट्रों, देशों और संस्कृतियों के इतिहास में भ्रांतिहीन हैं या नहीं, यह दूसरी बात है। विषयांतर में जाकर यहाँ उक्त मान्यता का खंडन-मंडन अभीष्ट नहीं है। यहाँ इतना ही कहना है कि आधुनिक उन्नत विश्व के और विशेषतः पश्चिम के समाजशास्त्रियों और विकासवादियों ने जो मान्यताएँ और सिद्धांत स्थिर कर लिए हैं उनके आलोक में डा० शम्भुनाथ सिंह ने महाकाव्य के स्वरूप-विकास से संबद्ध—समाज और उसके विकासस्तरों का आकलन किया है और उसी के अनुगामी मान्यतामानकों के आधार पर महाकाव्य के वैकासिक स्वरूप-स्तरों का समाकलन किया है।

विवेच्य की परिभाषा

शोधकर्त्ता ने महाकाव्यों के उद्भव, निर्माण और विकास से संबद्ध सांस्कृतिक—सामाजिक परिवेशस्तरों का पर्यवेक्षण करने के अनंतर 'महाकाव्य' के

स्वरूप की निर्धारक परिभाषा और लक्षण की भी गंभीर विवेचना की है। संस्कृत के साहित्यशास्त्र में भामह, दंडी और रुद्रट से लेकर विश्वनाथ महापात्र (साहित्यदर्पणकार) तक के महाकाव्यलक्षणों की तुलनात्मक और व्याख्यात्मक मीमांसा की गई है। 'रुद्रट' के महाकाव्य-लक्षण की दृष्टिगत मौलिकता और व्यापकता का भी सुस्पष्ट विवेचन हुआ है। पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों के उन निष्कर्षों को स्पष्टता के साथ उद्घाटित किया गया है। यह भी दिखाया गया है कि संस्कृत लक्षणग्रन्थों के महाकाव्यलक्षण के अनुसार संस्कृत के पुराण-काव्य (महाभारत), आदिकाव्य (वाल्मीकि रामायण) और रघुवंश आदि भी लक्षण सीमा से बाहर ही छूट जाते हैं। यह भी स्पष्टतः बता दिया गया है कि "संसार के सभी देशों में महाकाव्य की परंपरा दो धाराओं में विभक्त होकर प्रवाहित होती आ रही है, मौखिक परम्परावाली धारा और लिखित परंपरावाली धारा"। (पृ० ४५)। यह भी स्पष्ट किया गया है कि दोनों में पर्याप्त भिन्नता के बावजूद दोनों ही महाकाव्य की ही धाराएँ हैं। इसका कारण यह है कि दोनों के मूल तत्त्व एक ही हैं। प्रासंगिक रूप से एक बड़े मार्के की बात पर पाठकों का ध्यान ग्रंथ में आकृष्ट किया गया है। यह बताया गया है कि हिन्दी काव्य और काव्यरूपों के उद्भव और विकास पर मुख्य प्रभाव है प्राकृत और अपभ्रंश का अर्थात् उन भाषाओं की काव्यरूढ़ियों तथा, काव्यरूपों का। उनका बाह्य प्रभाव और आंतरिक प्रभाव—दोनों ही संस्कृत काव्यों और काव्यरूपों की तुलना में गहनतर है। हिन्दी के "अधिकांश मूल्यवान् साहित्य का मूल स्रोत प्रायः प्राकृत-अपभ्रंश का साहित्य था, पर उसका साहित्यशास्त्र प्रारंभ से ही संस्कृत साहित्यशास्त्र का अंध अनुकरण करता रहा है (पृ० ५५)। महाकाव्य-लक्षण के चर्चा-संदर्भ में महाकाव्य के निष्कर्षबोधित तत्त्वों—कथानक, चरित्र (पात्र) वस्तुव्यापार और परिवेशचित्रण, रस-भाव-व्यंजना, शैली (इसी में छन्द, अलंकार, भाषा आदि भी गतार्थ है), उद्देश्य, प्राचीन ज्ञानवर्णन, पांडित्यप्रदर्शन आदि की भी विश्लेषात्मक समीक्षा की गई है।

पाश्चात्य दृष्टि से भी महाकाव्य के लक्षण, स्वरूप, वैशिष्ट्य और गुणधर्मों को आलोचनात्मक प्रद्धति से प्रस्तुत किया गया है। पाश्चात्य शास्त्रपंडितों के आदि मनीषी आरस्तू के 'पोएटिक्स' में निर्दिष्ट और विवेचित महाकाव्य-परिभाषा और महाकाव्य के तत्त्वों पर अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से विचार किया गया है और यह स्पष्ट दिया गया है अरस्तू के महाकाव्य की परिभाषा में वीरभावना और कार्यान्विति का महत्त्व कदाचित् सर्वाधिक है। 'होमर के

इलियड और ओडेसी विकसनशील महाकाव्य हैं।'' आगे चलकर यूरोप के अलंकृत महाकाव्य के लक्षणों और उसके तत्वों का आख्यायन किया गया है और इसी प्रसंग में विकसनशील महाकाव्य के साथ उसका भेद भी स्पष्ट कर दिया गया है। रोमांस और रोमांचक महाकाव्यों के भेदक गुणधर्मों की विवेचना करते हुए उनके केन्द्रीय आत्मतत्त्व का भी स्पष्ट परिचय दिया गया है। स्वच्छन्दतावादी और मनोवैज्ञानिक महाकाव्यरूपों का भी लेखक ने परिचय दिया है। इन सब महाकाव्यरूपों की भेदक विशेषताओं के आधार पर गुणधर्मों के निष्कर्ष-सूत्र भी लिखे गए हैं।

इसके अनन्तर लेखक ने महाकाव्य का ऐसा लक्षण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है जो भारतीय और पश्चिम के मान्य महाकाव्यों के स्वरूपों को दृष्टिपथ में रखते हुए एक ऐसी परिभाषा हो जो सभी प्रकार के महाकाव्यों पर सब देश के नये-पुराने सभी महाकाव्यों पर—लागू की जा सके।

इस प्रसंग में 'एबरक्राम्बी', 'बावरा', 'केर', 'डिक्सन', 'वाल्टेयर' आदि पश्चिमी साहित्य के महान आलोचकों के वक्तव्यों, मतों, और तात्पर्यों का आलोड़न, मंथन और विश्लेषण करने के बाद—डा० शंभुनाथ सिंह ने कुछ महत्त्व की बातें बताई हैं। उन्होंने स्पष्टत: स्थापित किया है कि पूर्व और पश्चिम के काव्य-लक्षणों में कुछ स्थायी तत्वों का समावेश है और कुछ अस्थायी तत्वों का गुंफन है। प्राच्य और पाश्चात्य आलोंचकों द्वारा निर्दिष्ट स्थायी तत्वों से संबंध रखनेवाले लक्षणों में अधिक अंतर नहीं है'' (पृ० १०५)। लक्षण के ये तत्व क्या हैं और कैसे इनमें साम्य है, इसे लेखक ने विवेचित और आलोचित किया है। अंत में उसका निष्कर्ष है—''प्राचीन आलंकारिकों और अर्वाचीन आलोचकों के विचारों का अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि महाकाव्य मानव की कलात्मक प्रतिभा की वह सर्वोत्तम देन है जिसमें उसके जातीय गुणों, सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियों और परम्परागत अनुभवों का पुंजीभूत रसात्मक रूप दिखलाई पड़ता है और जिसके बाह्य स्वरूप में यद्यपि देशकाल के भेद के साथ निरंतर परिवर्त्तन होता रहता है पर उसके आंतरिक मूल्य और स्वाभाविक गुण शाश्वत और नित्य होते हैं।' (पृ० १०७-१०८)। इसके अनंतर लेखक ने महाकाव्य की नवीन परिभाषा दी है—''महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है जिसमें क्षिप्र कथा-प्रवाह या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित, सांगोपांग और जीवन्त लम्बा कथानक होता है जो रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ

होता है, जिसमें यथार्थ, कल्पना या सम्भावना पर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रों के महत्त्वपूर्ण जीवनवृत्त का पूर्ण या आंशिक चित्रण होता है जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी रूप में प्रतिनिधित्व करते हैं और जिसमें किसी महत्प्रेरणा से परिचालित होकर किसी महदुद्देश्य की सिद्धि के लिए किसी महत्त्वपूर्ण गम्भीर अथवा आश्चर्योत्पादक और रहस्यमय घटना या घटनाओं का आश्रय लेकर संश्लिष्ट और समन्वित रूप में जाति-विशेष और युग-विशेष के समग्र जीवन के विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं अथवा नाना रूपात्मक कार्यों का वर्णन किया गया रहता है और जिसकी शैली इतनी उदात्त और गरिमामयी होती है कि युग-युगान्तर में उस महाकाव्य को जीवित रहने की शक्ति प्रदान करती है।" (पृ० १०८)

इस परिचयात्मक लक्षण में लेखक ने प्रयास किया है कि विभिन्न देशों और युगों के विभिन्न वैशिष्ट्य वाले एवं नाना शैलीबद्ध महाकाव्यों में प्राप्त सामान्य और स्थायी लक्षणों का अंतर्भाव हो जाय। यहाँ इस बात पर विशेष सतर्कता रखी गयी है कि देश और काल के परिवेशजन्य परिप्रेक्ष से महाकाव्य के बाह्य-रूप की विशिष्ट भेदकर्ताओं की अपेक्षा महाकाव्यों के स्थायी और आंतरिक प्राणभूत विशेषताओं का आकलन लक्षण में, परिभाषा में समाविष्ट हो सके। इसी दृष्टि से लेखक ने स्थायी मूल्यों के बीजसूत्रों का निर्देश किया है। तदनुसार महाकाव्यों के स्वरूप-घटक स्थायी आंतरिक तत्त्व अग्रनिर्दिष्ट कहे जा सकते हैं—(क) महदुद्देश्य, महती प्रेरणा और कलाकार की महत्काव्यप्रतिभा, (ऐसी प्रतिभा जो महाकाव्य सृष्टि के महानुष्ठान को सिद्धि-सामर्थ्य से ऋद्धिमती है। उसमें कल्पनाशक्ति और सर्जनात्मक प्रज्ञा का औदात्य और विराटत्व अपेक्षित होगा।); (ख) कवि के उदात्त, व्यापक एवं उच्च विचारों में गुरुत्व तलस्पर्शी एवं संयत भावाभिव्यक्ति में गांभीर्य और वर्णित घटनाओं, वर्णन-शैली, उद्देश्य और प्रभावान्विति में महत्त्वशीलता आवश्यक है; (ग) महाकाव्य में अंकित वस्तुचित्र युगविशेष के समग्र जीवन का होना चाहिए और उसके चरम बिन्दु की परिणति महत्कार्य के रूप की विवृति करती हो; (घ) कथानक सुसंघटित और जीवन्त प्राणचेतना से समृद्ध हो, उसमें व्यापक पैमाने पर सम्पूर्ण जीवन का विस्तार हो। कार्यान्विति से सुसंघटित कथानक हो, नाटक और गीतिकाव्य के तत्त्वों का संतुलित और समंजसित संमिश्रण हो तथा घटना-प्रवाह और कथाधारा भी एक निर्धारित धरातल की हो; (ङ) उसमें नायक का महत्त्वपूर्ण और वैशिष्ट्यसमन्वित होना नितान्त आवश्यक रहता है; (च) शैली भी उदात्त, समर्थ और गरिमामयी होनी चाहिए; (छ) अनवरुद्ध और अप्रतिहत

गतिमयी जीवनीशक्ति एवं सक्षम प्राणवत्ता से महाकाव्य समृद्ध होना चाहिए; और अंत में (छ) प्रभावान्विति तथा रसव्यंजना की भी तीव्रता एवं प्रभावोत्पादकता अत्यंत अपेक्षित रहती है ।

इन्हीं मानक दृष्टिबिन्दुओं की तुला पर शोधग्रंथकार ने भारतीय महाकाव्यों का वैकासिक और स्वरूपात्मक आकलन करते हुए रामायण, महाभारत, परवर्ती महाकाव्यों पर उनका प्रभाव और संस्कृत के अलंकृत महाकाव्यों की समीक्षात्मक विवेचना करते हुए विभिन्न शैली के और विभिन्न रूपों के नानाविध महाकाव्यों का परिचय दिया है । पौराणिक, ऐतिहासिक आदि शैली के महाकाव्यों का परिचय देने के साथ-साथ रोमांचक शैली के महाकाव्य की भी विवेचना की गयी है और उक्त शैली में परिभाषित महाकाव्यों के भेदक-गुणधर्मों की भी लेखक ने समीक्षा प्रस्तुत की है । भारतीय महाकाव्य की परंपरा के अंतर्गत ही पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्यों, काव्यरूपों के युगप्रवाह, लोककाव्यों की चैतन्यधारा, कालबोध और नवचेतना से विकसित नव्य काव्यशैली, नये तत्त्वों, नये स्वरूपों आदि की अच्छी व्याख्या की गयी है । हिन्दी के विकसनशील महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' पर अत्यन्त विस्तार के साथ ६८ पृष्ठों में स्वनिर्धारित मान्यताओं के आधार पर विस्तार और गहराई के साथ तटस्थ विवेचन करने से पूर्व ही लेखक ने 'हिन्दी महाकाव्य का उदय और उसका परिवेश' शीर्षक के अंतर्गत (चौथे प्रकरण में) उस संक्रान्तिकालीन वातावरण, परिवर्त्तनशील साहित्यिक पृष्ठभूमि और विकसित भाषाओं के विविधरूपी काव्यचेतना-मूलक स्रोतों और प्रेरणापरिणामों का अच्छा विवेचन किया है । पंचम और षष्ठ अध्यायों में 'पृथ्वीराज रासो' और 'आल्हखंड' का जो अध्ययन किया गया है उसकी दृष्टि और चेतना के परिप्रेक्ष्य को समझाने के लिए उपर्युक्त चौथा प्रकरण अत्यंत सहायक ही नहीं, परमावश्यक भी है । पंचम और षष्ठ प्रकरणों के 'रासो' और 'आल्हा' से संबद्ध विवेचन मौलिक और महत्त्वपूर्ण हैं । सप्तम प्रकरण में डा० शंभुनाथ ने 'पदमावत' को रोमांचक महाकाव्य सिद्ध करते हुए लगभग ८४ पृष्ठों में अपनी दृष्टि से जायसी की उक्त प्रेमगाथा का महाकाव्यसंपृक्त विवेचन प्रस्तुत किया है । अष्टम अध्याय में 'रामचरितमानस' को पौराणिक महाकाव्य मान कर उसके काव्यस्वरूप का प्रतिपादन किया गया है । महाकाव्य के घटक तत्त्वों और भेदक गुणधर्मो की विस्तृत मीमांसा और समीक्षा करते हुए 'मानस' के महाकाव्यत्व को नये रूप और नये स्वर में सामने लाने का लेखक ने अच्छा प्रयास किया है । 'कामायनी' पर लेखक ने नवें प्रकरण में रूपककथात्मक महाकाव्य मानकर कदाचित् सर्वाधिक विस्तृत

(१०६ पृष्ठों का) नयी शैली का विचार किया है । यद्यपि इस दिशा में ग्रंथकार की कोई ठोस उपलब्धि सामने नहीं आती तथापि अनेक दृष्टियों से 'कामायनी' पर किया गया यह विचार महत्त्व रखता है । उपसंहार में विविध विषयों का पूर्वविवेचित, और नूतन भी, आकलन है—उसमें हिन्दी के प्रबंध काव्यरूपों का विवेचन करते हुए—(१) राजविलास, (२) छत्रप्रकाश, (३) हम्मीररासो (४) रामचंद्रिका और (५) कृष्ण चंद्रिका का महाकाव्यत्व परखा गया है । कुछ नये प्रबंधकाव्यों—कृष्णायन, साकेत, सिद्धार्थ, नूरजहाँ, हल्दीघाटी, जौहर और प्रियप्रवास आदि—पर भी थोड़ा-थोड़ा विवेचनात्मक विचार करते हुए ग्रंथ समाप्त किया गया है ।

सब मिला कर कहा जा सकता है कि यह शोधग्रंथ एक मौलिक दृष्टिबिन्दु से लिखा गया है । इसको अनुसंधानात्मक और समीक्षापरक व्याख्या (इंटर-प्रेटेटिव एक्स्प्लेनेशन) विशेष महत्वपूर्ण है । महाकाव्य की अंतरात्मनिरूपक परिभाषा और उसी परिप्रेक्ष से भारतीय, विशेषतः हिन्दी काव्यों-महाकाव्यों का स्वरूपात्मक समाख्यान चिंतन के नये चरण हैं । एतदर्थ लेखक अभि-नन्दनीय है ।

●

प्रयोगवाद और नयी कविता : एक समीक्षा

•

डॉ० दिलीप नारायण मिश्र

छायावादोत्तर हिन्दी काव्यधारा की भिन्न रूपात्मक प्रवृत्तियों में प्रयोगवाद का प्रारंभ सन् १९४० में ही हो चुका था तथा इसके प्रतिनिधि कवियों का परिचायक 'तार-सप्तक' भी सन् १९४३ में प्रकाशित हो चुका था। सन् १९४० के बाद का विकसित 'प्रयोगवाद' ही सन् १९५० में 'नयी कविता' नाम से अभिहित हुआ। इस प्रकार अद्यतन विकसित विगत २७ वर्षों के नवीन काव्य-आन्दोलन का इतिहास निश्चय ही स्तुत्य होने पर भी समीक्षात्मक दृष्टि से अछूता रहा है। इस दीर्घ अवधि में 'प्रयोगवाद' और 'नयी कविता' के पचासों संग्रह और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से अनेक परिचयात्मक निबंध तो सामने आये किंतु आश्चर्य की बात यह है कि अब तक इनका आकलन करने वाला एक भी ऐसा ग्रंथ नहीं प्रकाशित हुआ जिसमें इन दोनों काव्य-धाराओं का भलीभाँति विश्लेषण किया गया हो। इस संबंध में किंचित् सफल प्रयास इनीगिनी पुस्तकों में अवश्य हुए हैं जिनमें श्री लक्ष्मीकांत वर्मा कृत 'नयी कविता का प्रतिमान' एवं डॉ० रमाशंकर तिवारी कृत 'प्रयोगवाद' के नाम उल्लेख्य हैं। फिर भी तात्विक विश्लेषण की दृष्टि से इनका महत्त्व प्रतिपादित नहीं हो पाता। अत: इस दिशा में डॉ० शंभुनाथ सिंह का आलोच्य ग्रंथ नयी कविता और प्रयोगवाद का अन्तर एवं विश्लेषण उपस्थित करके इनका सम्पूर्ण परिवेश के साथ मूल्य प्रतिपादित करने की दृष्टि से एक श्लाघ्य प्रयत्न ठहरता है।

हिन्दी साहित्य के पुराने आलोचकों की धारणाएँ नयी कविता के विषय में कुछ निश्चित मान्यताओं में आबद्ध थीं। उनका विचार था कि अब कविता की परम्पराएँ टूट गयीं हैं तथा उसके सनातन मूल्य विघटित हो गये हैं जिसका प्रमुख कारण नये काव्य में रस का अभाव है। ऐसे आलोचकों में डा० नगेन्द्र तथा पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के नाम उल्लेख्य हैं। इनके अतिरिक्त कुछ समीक्षक, जैसे डॉ० भगीरथ मिश्र तथा पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, एक दृष्टि

से अपेक्षाकृत नये काव्य-आन्दोलन के प्रति उदार होते हुए भी पूर्वग्रहयुक्त हैं। इस प्रकार प्रयोगवाद और नयी कविता का कोई ऐसा सशक्त समीक्षक अब तक नहीं दिखाई दिया जो वस्तुत: इसकी विशेषताओं एवं भाव-शिल्पगत गांभीर्य की विस्तृत व्याख्या उपस्थित कर सका हो। फलत: यह कार्य स्वयं नयी कविता के कर्णधारों पर आ पड़ना स्वाभाविक था। जगदीश गुप्त, केदारनाथ सिंह, गिरिजाकुमार माथुर, नेमिचन्द जैन आदि नयी कविता के कर्णधार ही नहीं थे, इन्होंने इसकी प्रभूत समीक्षा भी लिखी। डा० शंभुनाथ सिंह भी नयी कविता के विशिष्ट कवि हैं तथा विचार, दृष्टिकोण, रचना-प्रक्रिया एवं शिल्पगत प्रयोग का जो अनुभव उन्हें प्राप्त है उसका उचित उपयोग कर इस ग्रंथ की रचना उनके लिए स्वाभाविक भी थी। फलत: आलोच्य ग्रंथ की प्रामाणिकता निर्विवाद है। वस्तुत: जो आलोचक कवि नहीं होते वे कवियों के साथ पूर्ण न्याय भी नहीं कर सकते। पं० रामचन्द्र शुक्ल के सफल समीक्षक होने का रहस्य यही है कि वे स्वयं कवि भी थे।

प्रस्तुत पुस्तक के दो खण्ड हैं : पहला 'प्रयोगवाद' और दूसरा 'नयी कविता' का। प्रारंभ में ही बता दिया गया है कि आधुनिक हिन्दी कविता के विकास-क्रम में प्रयोगवाद और प्रगतिवाद का उदय एक ही साथ हुआ। दोनों ही काव्यप्रवृत्तियाँ छायावादी कविता की देन थीं। छायावादी प्रवृत्तियों का ज्यों-ज्यों अवसान होता गया त्यों-त्यों उसकी प्रतिक्रिया की उग्रता भी क्षीण होती गयी। ऐतिहासिक कारणों से प्रगतिवाद तो समाप्त हो गया किन्तु प्रयोगवाद ने अपना रूप परिवर्तित कर लिया। इस प्रकार प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के गर्भ से ही नयी कविता का जन्म हुआ। लेखक ने स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद की हिन्दी कविता की विभिन्न प्रवृत्तियों के सर्वेक्षण के साथ-साथ प्रयोगवाद और नयी कविता के भावपक्ष और कलापक्ष का विश्लेषणात्मक मूल्यांकन किया है।

आलोच्य ग्रंथ के प्रथम खण्ड में 'प्रयोगवाद' और दूसरे में 'नयी कविता' का विश्लेषण किया गया है। प्रथम खण्ड में नौ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में पृष्ठभूमि के पश्चात् क्रमशः 'काव्यगत प्रयोग और प्रयोगवाद', 'प्रयोगवादी कविता का स्वरूप', 'प्रयोगवाद में मूल्यों की खोज', 'अनुभूत सत्य, बौद्धिकता और भावुकता', 'प्रकृति की अनुकृति और विकृति', 'प्रयोगवाद का मनोवैज्ञानिक धरातल', 'प्रयोगवाद और मनोविश्लेषणशास्त्र' तथा 'वर्तमान प्रयोगवादी कवि' शीर्षकों से प्रयोगवादी काव्य का विशद विश्लेषण किया गया है। इन

समस्त अध्यायों में प्रस्तुत किये गये विस्तृत विश्लेषण की स्थिति में वस्तुत: छायावादोत्तर काव्यप्रवृत्तियों के संबंध में प्राय: जिज्ञासु पाठकों की समस्त शंकाओं का समाधान उपस्थित कर दिया गया है। आज की विकसित स्थिति में भी नवीन काव्य-आन्दोलन की विविध रूपात्मक सरणियों के प्रति लोगों की भ्रांत धारणाओं का निर्मूलन अपेक्षित था। उदार समीक्षा के नाम पर हिन्दी कविता की विभिन्न तात्त्विक और शिल्पगत विविधता का वैज्ञानिक निरूपण न कर सकने की स्थिति में, समस्त छायावादोत्तर काव्यविधा को नयी कविता के नाम से अभिहित कर देने वाले साहित्य-समीक्षकों के सम्मुख प्रयोगवादी काव्य का यह विशद विवेचन अपना वैशिष्ट्य सिद्ध कर सकेगा। आम धारणा है कि जो भी काव्यात्मक पंक्तियाँ मुक्तछन्द में एवं नूतन भावमयी हों, नयी कविता की सीमा में आ जायेंगी। किन्तु प्रयोगवाद नामक प्रथम खण्ड में लेखक द्वारा अन्य काव्य-मतवादों की तुलना में प्रयोगवाद के लक्षण निर्दिष्ट कर दिये गये हैं। दूसरे ही अध्याय में यह विचार कर लिया गया है कि प्रयोगवाद कोई वाद हो सकता है या नहीं। लेखक ने पर्याप्त छानबीन के पश्चात् यह सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक युग में जो प्रतिभाशाली कवि होते हैं वे रूढ़ियों को तोड़ कर नवीन मार्गों का अन्वेषण करते हैं। किन्तु नवीन मार्गों का अथवा शिल्पगत तकनीकों का प्रयोग किसी भी कवि के लिये अपने आप में लक्ष्य नहीं होता। वह तो परिवर्तित युग में नवीन भावबोध को अभिव्यक्त करने का माध्यम मात्र है।

'प्रयोगवादी कविता का स्वरूप' शीर्षक अध्याय में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जिस प्रकार द्विवेदीयुगीन कविता रीतियुगीन कविता की रीतिबद्धता की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुई उसी प्रकार प्रयोगवादी कविता छायावादी कविता की अतिशय सौन्दर्यप्रियता और अपार्थिवता की प्रतिक्रिया के रूप में उदित हुई। किन्तु भावबोध की नवीनता और अनुभूति की गहराई उसमें नहीं थी। वह नकारात्मक या ध्वंसात्मक कार्य तो कर सकी, रचनात्मक या विधेयात्मक कार्य नहीं कर सकी। फलत: प्रयोगवादी कविता में कविता के तत्त्व बहुत कम हैं। लेखक ने पर्याप्त उद्धरणों को उपस्थित कर यह सिद्ध कर दिया है कि प्रयोगवादी कवियों ने बलपूर्वक परम्परा का उच्छेद करना चाहा। किन्तु वास्तविकता यह है कि रूढ़ियों का उच्छेद सम्भव होते हुए भी परम्परा का उच्छेद संभव नहीं है। परम्परा इतनी हलकी होती भी नहीं जिसका इतनी शीघ्रता से उच्छेद सम्भव हो सके। परम्परा पर बराबर आक्रमण करने से परम्परा तो विच्छिन्न नहीं हुई, प्रयोगवाद का शस्त्र कुण्ठित अवश्य हो गया तथा प्रयोगवादी कविता निष्प्राण हो गयी। प्रस्तुत अध्याय में इस

प्रकार लेखक ने प्रतिक्रियाजनित विन्यास की मौलिक भूमि पर विचार करते हुए रीतिकाल के पश्चात् द्विवेदीयुगीन कविता तथा छायावाद के पश्चात् प्रयोगवादी कविता की स्वकृत ध्वंसोन्मुखता पर सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध करने में सफलता प्राप्त की है कि किस प्रकार द्विवेदीयुगीन और प्रयोगवादी काव्य का शुद्ध प्रतिक्रियाजनित कारणों से पर्यवसान होता है और कैसे छायावाद द्विवेदीयुगीन काव्य के सहजविकास के रूप में शुद्ध काव्यात्मक आन्दोलन होने से विशेष समन्वित और संतुलित रहा। इसी अध्याय में लेखक ने परम्परा के ग्राह्य-अग्राह्य पक्षों पर गंभीरता से विचार करते हुए यह भी प्रतिपादित करने में सफलता प्राप्त की है कि परम्परा से अछूता रहकर काव्य निष्प्राण कैसे हो जाता है और साथ ही किस सीमा तक परम्परा का काव्य में निर्वहन आवश्यक हो जाता है।

इस खण्ड के चौथे अध्याय में विद्वान् लेखक ने समाजशास्त्रीय दृष्टि से प्रयोगवाद पर विचार किया है। इस अध्याय में कुशलतापूर्वक यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि किन सामाजिक परिस्थितियों में प्रयोगवाद का जन्म हुआ। द्वितीय सहायुद्ध के दौरान समस्त विश्व में जो मानवीय संकट उपस्थित हुआ उससे व्यक्ति द्वन्द्व, शंका, अनास्था और कुण्ठा का शिकार होने लगा। प्रयोगवाद में भी इन्हीं अस्वस्थ और असामाजिक मनोविकारों की अभिव्यक्ति अधिक हुई। प्रयोगवादी कवियों ने एक ओर तो टी. एस. इलियट का अनुकरण करना चाहा, दूसरी ओर आधुनिक मनोविश्लेषणशास्त्र के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से प्रभावित होकर विचारात्मक और व्याख्यात्मक कविताएँ लिखनी प्रारंभ कीं। इस अध्याय में लेखक ने पर्याप्त उद्धरणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि हिन्दी की प्रयोगवादी कविता अंग्रेजी के कवियों का बहुत कुछ अनुकरण है। पृष्ठ ६४ पर लेखक ने मुक्तिबोध की एक कविता 'मुझे पुकारती हुई पुकार' उद्धृत करके टी० एस० ईलियट के प्रसिद्ध काव्य 'दी वेस्ट लैंड' से उसकी तुलना की है और यह दिखाया है कि किस प्रकार मुक्तिबोध ने इलियट की कविता के बिम्बों को ही नहीं, अनेक अंशों को भी हिन्दी में अनूदित कर दिया है।[१] इतना होने पर भी दोनों कविताओं के प्रभाव में कोई साम्य नहीं है। वस्तुत: लेखक का यह कथन बिल्कुल सत्य है कि प्रयोगवादी कविताओं की अनास्था और कुण्ठा उनके भीतर से नहीं उद्भूत हुई है प्रत्युत ऊपर से ओढ़ी हुई और कृत्रिम है[२]।

---

१. दे०, प्रयोगवाद और नयी कविता, पृ० ६६।

२. दे० ,, ,, ,, पृ० ७८।

बार-बार अनास्था, कुण्ठा और भय का नाम ले लेने से ही इन अनुभूतियों की अभिव्यंजना नहीं होती। यह तो स्पष्टतः स्वशब्दवाच्यत्व दोष है। आगे लेखक ने यह भी सिद्ध किया है कि प्रयोगवादी काव्य में जीवन-मूल्यों का स्पष्टतः अभाव है। बिना जीवन-मूल्यों के कोई काव्य महान् हो ही नहीं सकता।

पाँचवें अध्याय में लेखक ने यह सिद्ध किया है कि प्रयोगवाद के समर्थकों का यह दावा ठीक नहीं है कि प्रयोगवादी काव्य में अनुभूत सत्य की अभिव्यक्ति हुई है। इसके विपरीत इसमें बौद्धिक विवेचन अथवा कोरी भावुकता का प्रवाह ही अधिक है। प्रयोगवादी काव्य का लक्षण ही है व्याख्यात्मकता और बौद्धिकता का आधिक्य। काव्य में वस्तुतः अनुभूति और रागबोध हीं प्रमुख होता है, बौद्धिक विवेचना नहीं। इसीलिए प्रयोगवादी कविता, कविता न होकर वाक्व्यायाम और वक्तव्य बनकर रह गयी है।

प्रयोगवाद की एक विशेषता नये उपमानों का प्रयोग भी है। किन्तु नवीनता की झोंक में प्रयोगवादी कवियों ने प्रकृति के स्वाभाविक स्वरूपों को विकृत ही अधिक किया है जिससे उनकी मानसिक ग्रन्थियों और विकृत दृष्टि का पता चलता है। छठें अध्याय में लेखक ने उस विषय का सोदाहरण विवेचन किया है।

'प्रयोगवाद का मनोवैज्ञानिक धरातल' शीर्षक सातवें अध्याय में प्रयोगवादी काव्य में निहित उन परिस्थितियों एवं मनःस्थितियों का विवेचन किया गया है जिन्हें उस काव्य में विशेष स्थान मिला है। 'लघुमानव' और 'क्षण की अनुभूति' के नारों का लेखक ने मनोवैज्ञानिक आधार पर खण्डन किया है और यह बताया है कि अहं का विस्फोट काव्य नहीं हो सकता। अहं के उपशमित हो जाने के बाद ही काव्य की रचना होती है। इसीलिए प्रयोगवादी काव्य वास्तविक काव्य नहीं बन सका।[1]

इस खण्ड का सबसे महत्त्वपूर्ण विवेचन 'प्रयोगवाद और मनोविश्लेषणशास्त्र' शीर्षक आठवें अध्याय में हुआ है। इस विवेचन में लेखक की पर्याप्त अध्ययन-शीलता और गहन विचारशक्ति का पता चलता है। मनोविश्लेषणशास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन करने के उपरान्त लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि प्रयोगवादी काव्य में यौन वर्जनाओं को तोड़ने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है किन्तु इसको मनोविश्लेषणशास्त्र का सत्प्रभाव नहीं कहा जा सकता। यह तो उसका बुरा

१. दे०--प्रयोगवाद और नयी कविता पृ० ११३।

प्रभाव है। मनोविश्लेषणशास्त्र ने पाश्चात्य काव्य को रचना-प्रक्रिया के स्तर पर प्रभावित किया है जब कि प्रयोगवादी कवियों ने इसे बौद्धिक स्तर पर ही ग्रहण किया। फलतः प्रयोगवादी कवि अहंवाद की चरम अन्तर्मुखता से ग्रस्त होकर काव्य के प्रकृत लक्ष्य को ही भूल बैठा, यहाँ तक कि उसका तथाकथित काव्य अहंवाद का घोषणापत्र बन गया। यदि यह मान भी लिया जाय कि प्रयोगवादी कवियों ने फ्रायड से बहुत कुछ प्रभाव ग्रहण किया है तो यह बात फ्रायड द्वारा विश्लेषित कला की रचना-प्रक्रिया के विरुद्ध जान पड़ती है। फ्रायड भी मनोविश्लेषणशास्त्र की भूमि पर कला की रचना-प्रक्रिया में यौन-वर्जनाओं का झटके से तोड़ना नहीं बताता प्रत्युत् छायाभास-रूप दमित कामैषणाओं में ऐसे तत्वों का मिश्रण कर उन्हें अनुशासित रूप में काव्य में अभिनिविष्ट करने की बात करता है जिनसे यौन वृत्तियों के वर्जित क्षेत्रों वाले मूल स्रोतों का पता ही न चले। जब कवि में यह सब करने की पूरी क्षमता आ जाती है तो वह दूसरे लोगों या पाठकों के लिए भी ऐसे सुयोग उत्पन्न कर देता है कि वे अपनी ही व्यक्तित्व के अचेतन स्रोतों से सुख और आनन्द प्राप्त करने लगते हैं। इस प्रकार कलाकार को सामाजिक स्तर पर सम्मान, प्रतिष्ठा, यश, धनादि के लिए पर्याप्त अवसर उपलब्ध रहता है। इस प्रकार मनोविश्लेषणशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में लेखक की प्रयोगवादी काव्य के सम्बन्ध में उक्त धारणाएँ नितान्त समीचीन दीख पड़ती हैं।

हमें तो ऐसा लगता है कि जिस छायावाद की प्रतिक्रिया में उठे इस प्रयोगवादी आन्दोलन में फ्रायड का प्रत्यक्ष या परोक्ष सहारा लिया गया उसमें फ्रायड की मनोविश्लेषणशास्त्रीय कला की रचना-प्रक्रिया को प्रयोगवाद की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझा गया था। इस आलोच्य ग्रन्थ में लेखक ने स्वीकार किया है कि छायावादी आदर्शवाद की स्थूल नैतिकता की प्रतिक्रिया में प्रयोगवाद ने फ्रायड से सैद्धान्तिक सहारा लेकर प्राकृतिक प्रतीकों द्वारा यौन-चित्रण किया।[1] किन्तु देखा जाय तो छायावाद में भी रीतियुगीन उद्दाम शृङ्गार और द्विवेदीयुगीन कठोर नैतिकता के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया थी वह काव्य के प्रकृत लक्ष्य के अनुकूल इसलिए कही जा सकती है कि वह रीतिकालीन यौन वृत्ति की उद्दामता और द्विवेदीयुग की नैतिक कठोरता—दोनों से परे सम और फलतः सामाजिक स्तर पर है। छायावाद में भी प्राकृतिक प्रतीकों द्वारा यौन विवृत्तियाँ कम नहीं हैं, किन्तु हाँ, फ्रायड द्वारा निर्देशित कला की रचना-प्रक्रिया (जिसमें

---

१. देखिए : वही, पृष्ठ १२६।

यौन वर्जनाओं से परे छायाभासों का अनुशासित फलतः आनन्दमय रूपविधान बताया गया) के पर्याप्त निकट है। अतः यह कहना अधिक उचित होगा कि छायावाद यौन वृत्ति का प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से जहाँ सामाजिक स्तर पर काव्यमय प्रकाशन है, प्रयोगवाद यौन वर्जनाओं के विरुद्ध केवल प्रतिक्रियात्मक झंझावात है जिसमें फ्रायड को आधार मानकर भी फ्रायड की मनोविश्लेषण-शास्त्रीय काव्य-प्रक्रिया को समझने का प्रयत्न नहीं है।

उस ग्रन्थ का दूसरा खण्ड 'नयी कविता' का है जिसमें आठ अध्याय हैं :—नयी कविता का स्वरूप, नयी कविता और मनोविश्लेषणशास्त्र, नयी कविता में आधुनिकताबोध, मानवीय संकटबोध के विविध आयाम, नयी कविता का रूप शिल्प, ऐतिहासिक विकासक्रम और प्रमुख कवि, नयी कविता और नवगीत तथा नयी कविता : उपलब्धि और अभाव।

पहले अध्याय में नयी कविता का स्वरूप समझाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार द्विवेदीयुगीन कविता रीतियुगीन कविता की प्रतिक्रिया की देन है और छायावादी कविता द्विवेदीयुगीन कविता का सहज और सामंजस्यपूर्ण विकास है उसी प्रकार प्रयोगवाद भी छायावादी कविता की देन है तथा नयी कविता प्रयोगवाद का सहज तथा सामंजस्यपूर्ण विकास है। इस विकासक्रम को लेखक ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की शब्दावली में छायावाद को स्थिति (Thesis), प्रयोगवाद को प्रतिस्थिति (Antithesis) और नयी कविता को संस्थिति (Synthesis) माना है। इसी सिद्धान्त के अनुसार लेखक ने नयी कविता का विस्तार से विश्लेषण किया है तथा उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ बतायी हैं :—

(१) आधुनिकता-बोध

(२) वैयक्तिकता तथा सामाजिकता का सामंजस्य

(३) अनुभूतियों का विशिष्ट स्वरूप,

(४) प्रतीकात्मक और खण्डित बिम्बयोजना

वास्तव में नयी कविता के उक्त लक्षणों को अच्छी प्रकार से समझ लेने पर फिर नयी कविता पाठकों के लिए पहेली नहीं बनी रह सकती।

इसी खण्ड के दूसरे अध्याय में नयी कविता में मनोविश्लेषणशास्त्र के रचनात्मक प्रभावों का विस्तृत विवेचन किया गया है और यह बताया गया है कि नयी कविता में स्वप्न, छायाभास एवं मिथक में अभिव्यक्त होने वाले बिम्बों और

प्रतीकों की अधिकता है। नयी कविता में प्रयुक्त 'मुक्त आसंग' और 'चेतना-प्रवाह' की पद्धति भी मनोविश्लेषणशास्त्र की ही देन है। इस पद्धति द्वारा काव्य में जो प्रतीक और बिम्ब प्रयुक्त होते हैं उनमें परस्पर कोई सीधा सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। किन्तु गहराई में प्रवेश करने पर उनका सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार लेखक ने सिद्ध कर दिया है कि नयी कविता प्रयोगवाद के पश्चात् वह संस्थिति की स्थिति है जिसमें मनोविश्लेषणशास्त्र के आधार पर काव्य की रचना-प्रक्रिया में वह त्रुटि नहीं रह गयी है जो प्रयोगवादी काव्य में है।

तीसरे अध्याय में उस आधुनिकताबोध का विश्लेषण किया गया है जो नयी कविता के कथ्य का मूलाधार है। पृष्ठ १७७ पर आधुनिकताबोध के विविध पक्षों को विश्लेषित करते हुए निम्नलिखित पाँच प्रवृत्तियों को प्रमुख माना गया है :—

(१) मानव के भविष्य के प्रति आस्था

(२) सर्जनात्मक व्यक्तित्व की खोज और आत्मोपलब्धि

(३) कालहीन अमूर्त सत्य की अभिव्यक्ति

(४) अजनबीपन और अकेलेपन का बोध

(५) मूल्यहीनता और अनुतरदायित्व का दर्शन

इनमें से प्रथम तीन आधुनिकताबोध के सर्जनात्मक पक्ष से सम्बद्ध हैं और अन्तिम दो उसके अस्वीकारात्मक एवं ध्वंसात्मक पक्ष से। इसी अध्याय में लेखक ने सर्जनात्मक पक्ष से सम्बन्धित प्रथम तीन प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए तथा आगामी चौथे अध्याय में अस्वीकारात्मक पक्ष की दोनों प्रवृत्तियों का सम्यक् विश्लेषण कर आधुनिकताबोध के विविध आयामों में नये कवि के सर्जनात्मक और अस्वीकारात्मक बोध को सोदाहरण सिद्ध कर दिया है।

लेखक ने पाँचवें अध्याय में नयी कविता के रूपशिल्प पर विचार करते हुए इसके पूर्ववर्ती काव्य के बिम्बविधान तथा नयी कविता के बिम्बविधान की तुलनात्मक व्याख्या तथा अन्ततः युगीन सन्दर्भ में नयी कविता के बिम्ब-ग्रहण का औचित्य उपस्थित किया है। यद्यपि काव्य में संश्लिष्ट बिम्बयोजना ही अनिवार्य है क्योंकि काव्य चेतन मन का वह व्यापार है जो शब्दार्थ-प्रधान होता है किन्तु नयी कविता में उपचेतन-व्यापार प्रधान होने से स्वभावतः खण्डित या असम्बद्ध बिम्ब प्रधान है। बताया गया है कि पुरानी कविताओं में कविता के अर्थबोध के उपरान्त काव्यानन्द उपलब्ध होता है जब कि नयी कविता में

रागबोध के माध्यम से काव्यानन्द ही पहले होता है, अर्थबोध बाद में। नयी कविता की दुरूहता स्पष्टत: इस रहस्य के अनावृत्त न होने के ही कारण है।[1] इसी क्रम में नयी कविता की छन्दयोजना, भाषा और उसके शब्दचयन पर भी लगे हाथ विचार कर लिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि नयी कविता सचमुच ही समूची प्राचीन काव्य-परम्परा तथा काव्यशास्त्र की परम्परा का तिरस्कार कर काव्य के प्रकृत लक्ष्य, उद्देश्य एवं उसकी रचना-प्रक्रिया से भिन्न अपने-आप में एकदम नयी हो गयी है। वस्तुस्थिति तो यह है कि अब तक काव्य-शास्त्र के पण्डित कविकर्म को चेतन मन का व्यापार मानकर चलते थे जब कि नया कवि काव्य को उपचेतन मन का व्यापार मानता है। अत: काव्य की सामान्य परिधि के भीतर के कुछ प्रश्न, जो स्वभावत: इस स्थल पर उठाये जा सकते हैं, आधारहीन प्रतीत होते हैं। मोटे रूप में नयी कविता सामान्य पाठकों के लिए नहीं, समानधर्मी पाठकों के लिए ही कही जाये तो अधिक अच्छा होगा। स्वयं लेखक भी हमारी इस धारणा के साथ है।[2]

'ऐतिहासिक विकासक्रम और प्रमुख कवि' नामक छठें अध्याय में नयी कविता को 'निरन्तर क्रान्ति की कविता' बताते हुए किन्तु पिछले पन्द्रह वर्षों के पश्चात् अब अपने प्रकृत स्वरूप में उसे स्थायी मानकर, उसके प्रमुख कवियों का विकासक्रम की दृष्टि से पर्यालोचन किया गया है। इस नयी कविता के विगत १५ वर्षों के इतिहास को लेखक ने निम्नलिखित तीन चरणों में विभक्त किया है :—

(१) नवीनता के आग्रह का चरण।

(२) वैयक्तिक विवेक और अनुभूति की प्रामाणिकता के आग्रह का चरण।

(३) आधुनिकताबोध का चरण।

तीसरे और वर्तमान चरण की सामान्य विशेषता 'स्थितिहीनता' है जो आज के मानव की सर्वाधिक कठिन समस्या है। संक्षेपत: कहा जा सकता है कि नयी कविता के विकासक्रम तथा उसके प्रतिनिधि कवियों को समझने की दृष्टि से पुस्तक का यह अध्याय उपयोगी सिद्ध होगा।

सातवें अध्याय के 'नयी कविता और नवगीत' नामक विवेचनक्रम में लेखक ने नवगीत का उद्भव और विकास उन्हीं स्थितियों में स्वीकार किया है जिनमें

---

१. दे०, वही, पृष्ठ २१७–१९।

२. दे०, वही, पृष्ठ २१९।

नयी कविता का विकास हुआ था। नवगीत में भी नयी कविता की सारी विशेषताएँ देखी जा सकती हैं। इस प्रकार नवगीत आधुनिक हिन्दी काव्य की एकदम नयी विधा नहीं प्रत्युत नयी कविता की ही एक विधा है।

नयी कविता की उपलब्धि और उसके अभाव का विवेचन करते हुए लेखक ने नयी कविता के भविष्य के प्रति पूर्ण आस्था व्यक्त की है। यह प्रयोगवाद से स्पष्टतः भिन्न है तथा काव्यसौष्ठव और शिल्पसज्जा की दृष्टि से उससे पर्याप्त आगे बढ़ी हुई है। इसके विपरीत जिन लोगों की दृष्टि में नयी कविता निस्तेज प्रतीत होती है उनकी दृष्टि से सम्भवतः नयी कविता में सद्यः विकसित होनेवाली आधुनिक प्रवृत्तियाँ ओझल हो गयी हैं। वैसे, लेखक ने नयी कविता के निस्तेज होने के कतिपय सम्भव अभिप्रायों पर गम्भीरता से विवेचन प्रस्तुत किया है। यद्यपि किसी भी काव्य की उपलब्धि का निर्णय भविष्य ही करता है फिर भी लेखक ने नयी कविता की कुछ उपलब्धियाँ स्पष्टतः स्वीकार की हैं जिन्हें यों कहा जा सकता है कि नवीन जीवनबोध, कथ्य की विशिष्टता, अनुभूति की गहनता और अभिव्यंजना-प्रणाली की दृष्टि से 'नयी कविता' अन्यतम है। लेखक ने इस धारा की इन उपलब्धियों पर आश्वस्त होकर स्वीकार किया है कि आगे भी इसका भविष्य सुरक्षित है तथा उसमें निरन्तर गम्भीरता', ऊँचाई तथा व्यापकता आयेगी।

समग्र रूप से आलोच्य ग्रन्थ लेखक की तर्कसमन्वित दृष्टि, सूक्ष्म अध्ययन तथा अध्यवसाय का परिणाम है। यह नयी कविता और प्रयोगवाद को समझने और समझाने की दिशा में किया गया वह प्रयत्न है जो अपने आप में अन्यतम है। प्रयोगवाद और नयी कविता के अन्तर्बाह्य की व्याख्या करने में लेखक को जो सफलता प्राप्त हुई है उसके लिए उसका कवि-हृदय, और आधुनिक उदार किंवा व्यापक कविहृदय ही विशेष श्रेयास्पद है। युगसापेक्ष्य संदर्भ में नये काव्य का मूल्यांकन आज की महती आवश्यकता है। समीक्षा के मानदण्डों का एक इतिहास है जिसमें युगीन सन्दर्भों की अनिवार्यता रही है और आगे भी बनी रहेगी। अतः लेखक ने युगीन सन्दर्भ में, किन्तु पुरानी मान्यताओं को बिना आघात पहुँचाये, यदि छायावादोत्तर काव्य का मूल्याङ्कन किया है तो यह साहित्य के गतिमान विकास के क्रम में न्यायसंगत ही है। सारांशतः अन्तर्बाह्य काव्यवैशिष्ट्य की दृष्टि से लेखक स्वयं नयी कविता के अति निकट है।

●

नयी कविता में मील का पत्थर : खण्डित सेतु

●

प्रो० श्यामलाकान्त वर्मा

'समय की शिला' पर मधुर चित्रों को देखने वाला कवि समय के ही कन्धों पर बाँह डाल कर उसके साथ चरण मिलाता हुआ आगे बढ़ता गया है। 'आँसुओं से लिखी कहानी' को उसने पढ़ा है, उसका अन्तर संवेदना और समानुभूति से युक्त रहा है। छायावादोत्तर युग में प्रेम के गीत का वह गायक था। नयी कविता के युग में नयी चेतना लेकर वह सामने आया है। प्रतीकों और नयी उपमाओं का धनी यह कवि अपने काव्य के द्वारा व्यक्तिगत अनुभूतियों के साथ-साथ सामाजिक यथार्थ के संघर्षों, उलझनों और समाधानों को प्रस्तुत करता रहा है। इसी कारण देश और जाति को उच्चता देने वाले आदर्श व्यक्तियों में उसकी श्रद्धा स्वाभाविक है। उनका जागतिक माया-बन्धन से सदा के लिए पृथक् हो जाना, उसे असह्य हो उठा है। उसे इन दिव्यविभूतियों के प्रति अपनी भावना को प्रकट करने के लिए लेखनी उठानी पड़ी है। निश्चय ही डॉ० शम्भुनाथ सिंह की 'नयी कविता' में अनुगमन नहीं है। उनकी कविताओं में सघन अनुभूति का दर्शन होता है। 'खण्डित सेतु' की कविताओं में उनकी इन्हीं अनुभूतियों का प्रकाशन हुआ है।

'नयी कविता' में रूप-तत्त्व और भाव-तत्त्व दोनों को ही नवीनता प्राप्त हुई है। छन्द के बन्धन टूट गये हैं और भाव को बोधगम्य बनाने के लिए 'नयी कविता' के कवियों ने उपयुक्त शब्दचयन और उनके संयोजन पर बल दिया है। नवीनता लाने का यह प्रयास स्तुत्य था, किन्तु इसने कवि को आग्रही बना दिया और अधिकांश कवियों ने बेतुकी कविता को ही नयी कविता समझ लिया। डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने उसके मूल स्वर को पहचाना है। उन्होंने भाव की महत्ता के लिए नयी कविता का कलेवर स्वीकार किया है। इसीलिए 'खण्डित सेतु' की अनेक कविताएँ तुकान्त तथा लययुक्त और मात्रा-बन्धन से युक्त हैं। केवल अतुकान्त और लयविहीन छन्दों की बाजीगरी में पड़ने का आग्रह उन्होंने नहीं दिखाया है। जीवन में भ्रान्ति के कारण व्यक्ति दुःख

पाता है और पश्चात्ताप करता हुआ शीतल छाया प्राप्त करने का आकांक्षी हो उठता है। उसके कार्य-कलाप लक्ष्यहीन होते हैं और समय तथा परिस्थिति की बलवती सत्ता उसे दबोचे रहती है। उसका सारा कार्य निरुद्देश्य-सा होता है। व्यक्ति की इस परवशता को व्यक्त करता हुआ अतुकान्त शैली में कवि लिखता है :--

"अनजाने अनचाहे
नागफनी के काँटे
अपने हाथों अपने पाँव में चुभाता रहा,
दूर समाधिस्थ बूढ़े बरगद की
झूलती बरोहों में
चोर की तरह अपना मन उलझाता रहा—
निरुद्देश्य !"

दुख के प्रतीक 'नागफनी के काँटे' हैं, तो सुखाकांक्षा के प्रतीक 'बूढ़े बरगद' को भी कवि ने उपस्थित किया है। कवि स्वयं को चोर की तरह कहकर अपनी परवश स्थिति की ओर ही संकेत कर रहा है। यह परवशता कवि के माध्यम से हर व्यक्ति की परवशता की सूचना देती है। इस कविता के साथ ही एक अन्य कविता में व्यक्त भाव-चित्र देखिए :—

"आओ दीवारों पर झरने बहाएँ!
द्वार और खिड़की पर इन्द्रधनुष टाँगें,
बादल की कालीनें फर्श पर बिछाएँ!
... ...
हिमगिरि पर माथ टेक किन्तु सो न जाएँ!
वह जो अनागत है, आखिर अतिथि है,
जाने सहसा किस दिन किस क्षण आ जाए॥"

अनागत भविष्य रूपी अतिथि के स्वागत के लिए सदा जागरूक रहने की प्रेरणा देता हुआ कवि आधुनिकता को भी स्वीकृति देता है। निश्चय ही सभ्यता की दृष्टि से आधुनिक आकर्षणों में बँधने के साथ ही प्रगति की ओर चरण बढ़ाने के लिए सतत् प्रयत्नशील रहने की उसकी कामना है।

डा० शम्भुनाथ सिंह ने 'नयी कविता' में गृहीत होने वाले नये प्रतीकों को स्वीकार किया है किन्तु प्राचीन उपमानों और प्रतीकों को अर्द्धचन्द्र देने का दुःसाहस उन्होंने नहीं किया है। उनकी कविताओं में इसीलिए नवीन तथा प्राचीन दोनों ही उपमानों और प्रतीकों का धूपछाँहीं सौन्दर्य दृष्टिगत होता है। उन्होंने 'दिनों के पन्नों को फाड़कर उड़ाया' है, 'पाँच आँख वाले गीततरु' पर बैठने का आमन्त्रण दिया है और 'समय की गदा' का गिरना पहचाना है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से इन प्रयोगों का सौन्दर्य स्पष्ट है। 'बर्बर स्थितियों के बीच'' शीर्षक कविता में कुछ प्रयोग एकदम आधुनिक रूप में उपस्थित किये गये हैं। युद्ध की बर्बर स्थिति में भी अचेत रहने वालों को क्षमा करता हुआ कवि कहता है :—

"तो भी मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ
क्योंकि मैं जानता हूँ
कि तुम्हारी आँखों में
सभी शक्लें शिश्नाकार हैं
सभी चेहरे मुखौटे हैं
और सभी जायज सम्बन्ध बेहूदा हरकतें हैं।"

नये प्रयोग के नाम पर 'शिश्नाकार' प्रयोग भाव-बोध कराने के लिए भले ही आवश्यक समझा गया हो, किन्तु चिर अम्लान उपमानों के प्रयोग में जो सौन्दर्य मिलता है, इन प्रयोगों में नहीं मिल पाता। चिरअम्लान उपमानों के प्रयोग से सौन्दर्य को प्रकट करने का प्रयास देखिये :—

तुम्हारे साथ पवित्र इशारों का
एक झोंका आया था जो
तुम्हारे चले जाने पर भी
मेरे पास ही रह गया

मुझे झकझोर कर जगाता हुआ कि
मैं तुम्हारा एक चित्र बनाऊँ

जिसमें एवरेस्ट तुम्हारा जूड़ा हो
मानसरोवर तुम्हारी आँख,
धौलागिरि तुम्हारा वक्षस्थल
और कंचनजंघा तुम्हारे पाँव;

इस संदर्भ में कथित उपमान--एवरेस्ट, मानसरोवर, धौलागिरि, कंचनजंघा—पूर्व कथित उपमानों के संशोधित रूप ही हैं। इनका सौन्दर्य निश्चय ही आकर्षक है। 'चाँद' को 'पीले बीमार चाँद' कहकर अभिव्यक्ति में नवीनता भले ही ला दी जाय, पर चाँद की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति को बदलना सम्भव नहीं है। डॉ० शम्भुनाथ की कृतियों में उपमानों के दोनों ही रूप व्यवहृत हुए हैं। निश्चय ही उन्होंने अनुभूति और अभिव्यक्ति को प्रधानता दी है, किसी वाद के बन्धन में बँध कर 'सुन्दर' का भी त्याग करने की त्रुटि उन्होंने नहीं की है।

'खण्डित-सेतु' के कवि ने व्यक्ति के अन्दर के अन्धकार को पहचाना है और उसे मुक्ति दिलाने का प्रयास किया है। 'समय के इस्पाती चादर' को अपने ऊपर मढ़ कर व्यक्ति अपने को बचाना चाहता है, शान्त हो एक स्थान पर बैठना चाहता है किन्तु इस यान्त्रिकता के युग में उसे आपाधापी करनी ही है और वह कभी दौड़ता हुआ रुक जाने को विवश हो जाता है तो कभी पुनः आकुलता से समय की गति से पाँव मिलाकर बढ़ना चाहता है। वह अनुभव करता है कि वह 'कहीं नहीं' है। वह सब कार्य 'निरुद्देश्य' कर रहा है। 'पार्क से गुफा तक की यात्रा' करता हुआ वह संसार के आकर्षक और भयावह रूपों से परिचित होता है तथा जीवन-रहस्य को समझने की ओर प्रयत्नवान होता है। वह 'नया जन्म' प्राप्त करता है। उसे दिशाएँ तो मिलती हैं मगर कोण नहीं मिलते अर्थात् वह विभिन्न रूपों को देखता है पर उनमें निहित सत्य को नहीं समझ पाता।

'गीततरु' में कवि ने स्वयं अपना परिचय दिया है। यह गीततरु वस्तुतः 'आदम के उपवन का बोधवृक्ष' ही है पर वह अपनी इस सत्ता को छिपाता है। वह 'चमचम करते सीपी के टुकड़े', 'घोंघे' और 'श्वेत खोपड़ियाँ' गिनने की सीख देकर ससार के रूप-कुरूप को पहचानने की शिक्षा देता है। आदर्शों का प्रतीक 'इन्द्रधनुष' भले ही हवा में उड़ जाय पर इतिहास इन्हीं आदर्शों की राह से गुजरता है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने 'दिगन्वेषण' किया है और आदर्शों की महत्ता स्वीकार कर आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है। उनके काव्य में पाठक के लिए एक सन्देश छिपा मिलता है।

'मातृभाषा' के माध्यम से कवि ने स्वानुभूति को व्यक्त करने वाली भाषा का परिचय दिया है। इस भाषा को सब लोग नहीं समझ सकते। इसे सहृदय ही समझ सकता है :—

प्रवाल द्वीप की यह राजकन्या मेरी विवाहिता बधू है
धूप, हवा, लहरें और वरुण देवता साक्षी हैं कि मैंने...
लेकिन तट के पहरेदारों, तुम क्या मेरी मातृभाषा समझ रहे हो ?''

उसने युद्ध में गड़गड़ाने वाले तोपों और सरसराहट के साथ छूटने वाली गोलियों के प्रति आभार व्यक्त किया है। इस स्थिति ने उसकी चेतना, सम्पूर्ण देश की चेतना को, झँकझोरा है। अब नया परिवर्तन हुआ है :—

''भयंकर विस्फोटों ने सभी सूरतें
बदल दी हैं,
हर कमसिन चेहरा
एक मिग जेट दीखता है
सभी खूबसूरत आँखें
राडार यन्त्र बन गयी हैं।''

यह चेतना धन्य है। राष्ट्र को बलवान बनाने के लिए कभी-कभी युद्धाग्नि को प्रज्वलित करना भी इसीलिए आवश्यक हो जाता है।

अदम्य उत्साह और आत्म-विश्वास को सम्बल बनाकर ही चलने वाला यात्री अपनी यात्रा में साफल्य प्राप्त करता है। इसी आत्म-विश्वास का परिचय देता हुआ कवि 'एक दिन' में कहता है :—

'इसी तट पर खड़ा हो
मैंने कहा था एक दिन—
'ओ सिन्धु !
ये पदचिह्न मेरे हैं,
इनको मिटाने के पूर्व
तुमको स्वयं मेरे चरण पर
झुकना पड़ेगा।

यदि सूर्य उसकी छाँह मिटाना चाहेगा तो सूर्य को स्वयं ही मिट जाना होगा। अन्त में कवि 'अपौरुषेय मंत्र' और अनकही कथाएँ' कहने की 'प्रतिश्रुति' करता है।

डा० शम्भुनाथ सिंह को कवि रूप में तथा महामानव रूप में महाकवि निराला ने प्रभावित किया था। 'अजनबी' शीर्षक कविता में उनके अमरत्व को प्रकट करता हुआ कवि कह उठता है :—

"युगों और देशों के ऊपर बना
मेरे इनके उनके भीतर से जाता हुआ
अनजानी लम्बाई वाला एक पुल है
और तुम हो।
तुम तो नहीं गये।"

'चौहत्तर पंखुड़ियों वाला वह चिर युवा गुलाब'—जिसे लोग नेहरू कहकर पुकारा करते थे—समय की चक्रान्त शिला के घूमते ही टूट कर नीचे गिर पड़ा। उस गुलाब की राख की टीका हवा ने सबके माथे पर लगा दी हैं। उस जवाहर के अमर व्यक्तित्व ने समय की चक्रान्त शिला को लज्जित कर मौन धारण कर लिया है। कवि ने वामन रूप श्री लालबहादुर शास्त्री के निधन का समाचार सुना। उसने अनुमान किया कि इस वामन रूप की विराट छाया में सब फूल रहे थे और अब यह वामन मूर्ति टूट गयी। 'समय की गदा' ने इस वामन मूर्ति को तोड़ दिया। किन्तु उसकी विराट छाया को तोड़ना 'समय की गदा' के वश नहीं था। उस वामन मूर्ति ने एक लघु हस्ताक्षर कर दिया है—ताशकन्द—समझौता। उस लघु हस्ताक्षर को ही अहस्ताक्षरित वसीयत मानता हुआ कवि कहता है :—

"एक छोटा हस्ताक्षर
सभी हस्ताक्षरों के बीच
सहसा हजारों किलोवाट के बीच
विद्युत शक्ति से जल उठा है !
यह कभी न बुझने वाली हस्ताक्षरित रोशनी
और वह विराट छाया ही
उस वामन मूर्ति की
अहस्ताक्षरित वसीयत है।"

'खण्डित-सेतु' की विभिन्न कविताए ँ भिन्न-भिन्न शाश्वत सन्देश देती हैं। 'निषेध' के माध्यम से कवि ने आसुरी प्रवृत्ति से बचने का निर्देश दिया है और प्रतीकों के माध्यम से साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का विनाश कर दक्षिण अफ्रीका या अमेरिका में बसने वाले गौरवर्ण दानव के संहार की प्रेरणा दी है। 'एक गाय की वसीयत' के द्वारा उसने 'अस्तित्ववादी' दर्शन पर विचार किया है। यहाँ उसने कागज पर दर्शन लिखने मात्र को अनुचित बताया है। दर्शन का रस प्राप्त करना, उसे आत्मसात करना ही उचित है।

डा॰ शम्भुनाथ सिंह का कवि वस्तुत: सौन्दर्य का दर्शक रहा है। उनके काव्य में इसीलिए 'शिवं' और 'सुन्दरं' का तत्त्व सर्वत्र मिलता है। प्रयोगवादी कवियों का 'मूत्र सिंचित मृत्तिका का वृत्त' उन्हें प्रेरणा नहीं दे सका है। मध्य-वर्गीय चेतना और कुण्ठा के नाम पर कुछ भी लिख डालना उन्हें अभीष्ट नहीं है। उनकी रचना में व्यक्तिगत अनुभूति सामाजिक चेतना और जागृति का स्वर मिलता है। वे एक द्रष्टा कवि हैं।

हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका

•

डॉ० किशोरीलाल गुप्त

'हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका' डॉ० शम्भुनाथ सिंह की नवीनतम विचारपूर्ण कृतियों में से है। जिस विचारधारा का प्रतिपादन इस ग्रंथ में हुआ है उस पर डॉ० सिंह ने एक अरसे से चिन्तन किया है जिसकी कुछ झलक सर्वप्रथम उनके 'छायावाद-युग' में देखी गयी थी। ग्रंथ के प्रारम्भ में डॉ० सिंह ने प्राक्कथन में अपनी बात अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दी है। उनका कहना है—

'इतिहास केवल घटनाओं और व्यक्तियों के जीवन-वृत्त का संग्रह नहीं है, न तो वह विचारधाराओं का आकलन मात्र है। वह मानव चेतना की सक्रियता का विवेचनात्मक अभिलेख है। मानव की चेतना जिन प्रत्यक्ष या परोक्ष क्रिया प्रतिक्रियाओं द्वारा अभिव्यक्त होती है उनके समग्र रूप का आकलन ही इतिहास है।......इतिहास मानव की विकास-प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है। यह सोचना नितान्त भ्रमपूर्ण है कि किसी समाज या देश के राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्रों की क्रियाएँ परस्पर असम्बद्ध होता हैं और उनका इतिहास भी अलग-अलग होता है। वस्तुतः इतिहास एक अखण्ड सत्ता है जिसमें चेतना के सभी आयाम अविच्छिन्न होते हैं। इस दृष्टि से देखन पर इतिहास एक प्रवाह प्रतीत होगा जिसमें राजनीति, धर्म, संस्कृति, समाज-व्यवस्था, साहित्य, कला, विज्ञान, प्रविधि आदि सभी मानवीय प्रयत्नों का समावेश रहता है।'' लेखक के ही शब्दों में ''प्रस्तुत ग्रंथ की रचना इसी धारणा को स्थापित करने की दृष्टि से हुई है।''

ऊपर जो उद्धरण दिये गये हैं उनमें इतिहास के सम्बन्ध में आज की नवीन धारणा व्यक्त की गयी है। उससे कोई असहमत नहीं हो सकता। परन्तु उक्त नवीन धारणा इतिहास के सम्बन्ध में है, न कि साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में। मैं भी डॉ० सिंह की भाँति स्वीकार करता हूँ कि किसी समाज या देश के राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्रों

की क्रियाएँ परस्पर सम्बद्ध होती हैं और ऐसा जो नहीं मानते, वे भ्रम में हैं। किन्तु मैं डॉ० सिंह से सहमत नहीं हूँ जब वे कहते हैं कि ऊपर वर्णित राजनीति आदि का इतिहास अलग नहीं होता, सबका इतिहास समग्र एवं सामूहिक होता है। जैसे हमारा शरीर एक समग्र और समस्त इकाई है, पर हाथ, पाँव, आँख, नाक, कान आदि उसके अंग हैं, उसी प्रकार मनुष्य की समस्त चेतन क्रिया का जहाँ एक समग्र इतिहास आंकलित हो सकता है—जो वस्तुतः एक कल्पना ही है, वहीं उसकी विभिन्न कोटि की चेतन क्रियाओं का अलग-अलग इतिहास होता है। डॉ० सिंह प्राक्कथन के दूसरे अनुच्छेद में कहते हैं--

'हिन्दी साहित्य का इतिहास उपर्युक्त ऐतिहासिक अवधारणा के अनुसार भारतीय जनता के मानस विकास के इतिहास का एक अंग है।"

और इस एक अंग का अलग इतिहास हो सकता है। इस एक अंग के इतिहास को प्रस्तुत करने में, राजनीतिक इतिहास, राजाओं, रानियों-गवर्नरों की सारी नामावली और उनका शासनकाल, समस्त राजनीतिक आन्दोलन, राजनीतिक सुधार, अर्थनीति, समाजनीति, धार्मिक आन्दोलन कहाँ तक सहायक हो सकते हैं, नहीं कहा जा सकता। इन सब का वर्णन वहीं तक आवश्यक है, जहाँ वह प्रत्यक्ष रूप से हिन्दी साहित्य को प्रभावित करता हो, प्रेरित करता हो, मोड़ उत्पन्न करता हो। पुस्तक का आधे से अधिक भाग अन्य अनावश्यक विस्तारों से लदा है। एक चौथाई भाग में हिन्दी-काव्य का इतिहास है। हाँ, भक्तिकाल के धार्मिक आन्दोलन एवं आधुनिक युग के आर्यसमाज आदि ने निश्चय ही हिन्दी साहित्य को प्रभावित किया है। इनका आवश्यक विवरण दिया जा सकता है। इस ग्रंथ के पृष्ठ पर पृष्ठ पढ़ते चले जाइये, आपको पता ही नहीं लगेगा कि आप हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका पढ़ रहे हैं या और कुछ।

ग्रन्थ में कुल ११ अध्याय हैं। प्रथम दो अध्याय भाषा सन्बन्धी हैं। प्रथम में 'हिन्दी भाषा का उद्भव' विवेचित है। इसमें लेखक का निष्कर्ष है कि अपभ्रंश कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है। जिसे हम अपभ्रंश कहते हैं उसके दो रूप हैं—(१) प्राकृतापभ्रंश—यह प्राकृत के निकट है, (२) ग्राम्यापभ्रंश--यह पुरानी हिन्दी है। प्राकृतापभ्रंश की रचनाओं को प्राकृत साहित्य के अन्तर्गत परिगणित होना चाहिए और ग्राम्यापभ्रंश की रचनाओं को पुरानी हिन्दी के अन्तर्गत। इतना निर्णय कर लेने के पश्चात् डा० सिंह अपना निष्कर्ष प्रतिपादित करते हैं कि हिन्दी का उद्भव ५०० ई० के पश्चात् छठीं शताब्दी ईस्वी में हुआ और हिन्दी का उद्भव काल ५०० ई० से १००० ई० तक माना जा सकता है।

दूसरा अध्याय है 'हिन्दी की बोलियाँ और उनका विस्तार-क्षेत्र ।' विस्तार-क्षेत्र से डा० सिंह का अभिप्राय हिन्दी-भाषी प्रदेश से है । डा० ग्रियर्सन ने अपने भाषीय सर्वे ग्रन्थ में बिहारी और राजस्थानी को हिन्दी भाषा के अन्तर्गत नहीं स्वीकार किया है, परन्तु 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' में राजस्थानी एवं बिहारी के भी साहित्य को समाविष्ट किया है । डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भी डा० ग्रियर्सन का पदानुसरण किया है । यदि बिहारी और राजस्थानी हिन्दी की विभाषाएँ नहीं हैं, तो इनके साहित्य का भी हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत विवेचन कम से कम इन दो महारथियों द्वारा न किया जाना चाहिए था । परन्तु हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत बिहारी और राजस्थानी को न केवल इन दो विद्वानों ने स्वीकार किया है, बल्कि हिन्दी साहित्य के समस्त इतिहासकारों ने इनको अपने इतिहासों में स्थान दिया है । ऐसी स्थिति में भाषा-विज्ञान की भ्रान्त धारणा को नष्ट किया जाना चाहिए ।

डॉ० शम्भुनाथ ने इन दो अध्यायों को पूर्ण एवं प्रौढ़ चिन्तन के साथ प्रस्तुत किया है । हिन्दी के भाषावैज्ञानिकों को डॉ० सिंह का उत्तर देना चाहिए, यदि वे दे सकें, नहीं तो डॉ० सिंह के मत को उन्हें मान्यता प्रदान कर देनी चाहिए ।

तीसरा अध्याय है 'हिन्दी साहित्य का उद्भव' । डॉ० सिंह ने हिन्दी भाषा का उद्भव ५०० ई० के आस-पास स्वीकार किया है और साहित्य-रचना के लिए भाषा के वांछनीय परिपक्वता के निमित्त २०० वर्षों का समय देकर हिन्दी साहित्य का उद्भव-काल उन्होंने ७०० ई० के आस-पास माना है । वे ७०० ई० से १२०० ई० तक के ५०० वर्षों के समय को हिन्दी साहित्य का उद्भव काल मानते हैं । यह अध्याय भी उत्तमतापूर्वक प्रस्तुत है ।

चौथा अध्याय है—'हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन' । पुराने काल-विभागों को असमीचीन एवं उसके नामकरण को असंगत ठहराते हुए डॉ० सिंह ने हिन्दी काव्य के इतिहास को निम्नांकित ५ कालों में विभक्त किया है—

(१) उद्भव-काल — ७०० से १२०० ई० ।
(२) विकास-काल — १२०० से १४०० ई० ।
(३) उत्कर्ष-काल — १४०० से १६५० ई० ।
(४) ह्रास-काल — १६५० से १८५० ई० ।
(५) आधुनिक-काल — १८५० से १९४० ई० ।

उन्होंने पुनः आधुनिक काल के तीन उपविभाग किये हैं :—

(१) संक्रान्ति-युग — १८५० से १९०० ई० ।
(२) पुनरुत्थान-युग — १९०० से १९२० ई० ।
(३) विद्रोह-युग — १९२० से १९४० ई० ।

आगे के सात अध्यायों में इन्हीं प्रथम चार कालों एवं आधुनिक काल के तीनों युगों का एक-एक कर विवेचन है । लेख के प्रारम्भ में मैंने जो असहमति-सूचक टिप्पणी दी है, वह इन्हीं सात अध्यायों पर लागू है, ग्रंथ के प्रथम चार अध्यायों से मेरी कोई असहमति नहीं । मैं उनका पूर्ण प्रशंसक हूँ । इन अध्यायों में भी एक-एक काल की भिन्न-भिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियों का जो विश्लेषण किया गया है, वह हिन्दी साहित्य के भावी वृहत् इतिहास के विभिन्न अध्यायों का बखूबी काम दे सकता है, मेरा यह भी स्पष्ट अभिमत है । इस दृष्टि से इन अन्तिम सातों अध्यायों की भी उपयोगिता एवं महत्त्व है ।

अन्त में तीन और त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ—

(१) इस ग्रंथ में सर्वत्र ईस्वी सन् का प्रयोग किया गया है—यह राष्ट्रीय दृष्टि से अपमानजनक है । क्या हमारा—हिन्दी भाषी प्रदेश का—अपना कोई सर्वमान्य संवत् नहीं है ?

(२) हिन्दी साहित्य के इतिहास का जहाँ वर्णन किया गया है, है तो संक्षिप्त और पूर्ण अधीत, पर उसमें अनेक भूलें हैं, जिनका दिग्दर्शन या परिगणन यहाँ अनावश्यक है ।

(३) ग्रंथ वैसे तो पर्याप्त शुद्ध छपा है, पर अनेक व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ अशुद्ध छपी हैं, जिनका शुद्धीकरण सामान्य विद्यार्थी के बस की बात नहीं है ।

समय की शिला पर

•

विन्ध्यवासिनीदत्त त्रिपाठी

'समय की शिला पर' डा० शम्भुनाथ सिंह के सौ गीतों का संकलन है। उनमें से अधिकांश गीत उनके पूर्व प्रकाशित काव्य-संकलनों—'रूपरश्मि', 'छायालोक', 'उदयाचल' 'दिवालोक' और 'माध्यम मैं'—से लिये गये हैं। विगत पचीस वर्षों में हिन्दी गीत-काव्य ने जो विकास किया है उसके स्पष्ट चरण-चिह्न इन गीतों में दिखाई पड़ जाते हैं। इस अवधि में शम्भुनाथ सिंह ने कई सौ गीत लिखे तथा गीतेतर काव्य की भी रचना की। 'समय की शिला पर,' नामक पुस्तक में संग्रहीत गीत कवि के समस्त काव्य से चुने गये सर्वश्रेष्ठ गीत हैं। इस अवधि में हिन्दी का गीत-काव्य छायावाद के प्रभाव को उत्तरोत्तर छोड़ता हुआ अधुनातन नवगीत तक पहुँचा है। इस संकलन में छायावाद-युग और वर्तमान नयी कविता-युग के बीच की अवधि में कवि द्वारा लिखे गये स्वच्छन्दतावादी, प्रगतिवादी और लोकगीतात्मक गीतों का समुचित प्रतिनिधित्व हुआ है।

कवि ने इन गीतों को कालक्रमानुसार न रखकर भावबोध के अनुसार कुल छह वर्गों में विभाजित किया है :—

(१) समय की शिला पर (२) कामस्तोम (३) हिम-ऊष्मा (४) आदिम उत्पीड़न (५) अग्नि-रस और (६) मृन्मय छवि। वर्गों के दिये गये ये शीर्षक विभिन्न मानसिक स्थितियों और भाव-दशाओं के प्रतीक हैं। इन वर्गों में संकलित कविताएँ शीर्षकों के प्रतीकों को स्पष्ट कर देती हैं। 'समय की शिला पर' शीर्षक वर्ग के अन्तर्गत कवि की वे प्रख्यात रचनाएँ सम्मिलित हैं जो शाश्वत काव्य की कोटि में आती हैं। वैसे तो संसार में कुछ भी शाश्वत नहीं होता, किन्तु कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हजारों-लाखों वर्षों तक काल के थपेड़े खाकर भी बची रह जाती हैं। मूर्ति-कला, चित्र-कला और काव्य के क्षेत्र में भी यही बात लागू होती है। जो कलाकृतियाँ विभिन्न युगों के परिवर्तित भावबोध और कला-प्रतिमानों के अवरोधों को पार करती हुई काल की ध्वंसात्मक शक्ति को अतिक्रमित करके मानव-जाति के स्मृति-पटल पर चिरकाल तक

अंकित रहती है उन्हें शाश्वत कहा जा सकता है। 'समय की शिला पर' शीर्षक वर्ग के अन्तर्गत अधिकतर कविताएँ इस कसौटी पर खरी उतरती हैं। वे गुफाओं में शिलाओं पर अंकित उन अमर चित्रों के समान हैं जो युग-युग तक मानव-चेतना को उद्बुद्ध और सौन्दर्यबोध को तृप्त करते आ रहे हैं। ये कविताएँ भी उन्हीं चित्रों के समान काल के पटल पर चिरकाल तक अंकित रहेंगी, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। द्वितीय वर्ग (काम-स्तोम) की कविताओं में यौवन के रस का उच्छल प्रवाह, प्यार का उन्मद संगीत बनकर अभिव्यक्त हुआ है। प्रथम प्रेम में भावुकता के साथ-साथ तृप्ति की जो गहरी अनुभूति होती है उसे इस वर्ग के गीतों में कवि ने अत्यन्त तन्मयता और उल्लास के साथ व्यक्त किया है। तीसरे वर्ग का शीर्षक हैं 'हिम-ऊष्मा'। यह संज्ञा विरह की भावना का प्रतीक है। विरह में अभावात्मक और भावात्मक दोनों मनोभावों का सम्मिश्रण होता है जिससे विरह आनन्दात्मक और दुःखात्मक दोनों ही होता है। इसी विरोधाभास को 'हिम-ऊष्मा' शीर्षक द्वारा व्यक्त किया गया है। इस वर्ग में संग्रहीत अठारह गीत मिलन के आनन्द के बाद विरह के ताप की तीव्रता और प्रेम की गहराई को पूर्णतया व्यक्त करते हैं। चौथे वर्ग 'आदिम उत्पीड़न' में काम की अतृप्ति और लालसा की संवेदना को वहुत ईमानदारी और कलात्मक ढंग से चित्रित किया गया है। पाँचवें वर्ग का शीर्षक है 'अग्नि-रस' जो राष्ट्रीय एवं मानवतावादी अनुभूतियों का प्रतीक है। इसमें कवि की सोलह चुनी हुई राष्ट्रीय, प्रगतिशील एवं मानवतावादी कविताएँ संकलित हैं। छठें वर्ग 'मृन्मय छवि' में सोलह गीत हैं। ये सभी प्रकृति की गरिमामयी छवि और लोकगीतों की अनुभूति को चित्रित और ध्वनित करने वाले गीत हैं।

इस तरह 'समय की शिला पर' नामक यह काव्य-ग्रन्थ कवि शम्भुनाथ सिंह के वैविध्यपूर्ण गीत-काव्य का सही प्रतिनिधित्व करता है। शम्भुनाथ सिंह छायावादोत्तर युग के निराले कवि है जिन्होंने गीत-विधा को सफलता के साथ साधा और उसे पूर्णता तक पहुँचाया है। उन्होंने अपने गीतों द्वारा सामान्य पाठकों की इस धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया है कि गीत एक हलकी और उथली काव्य-विधा है जिसमें केवल शृङ्गारिक अथवा भावुकतापूर्ण अनुभूतियों की ही अभिव्यक्ति हो सकती है और जो केवल कवि-सम्मेलनों में गाकर श्रोताओं का मनोरञ्जन करने और खाली समय में गुनगुनाने के लिये ही है। छायावादी गीत अपनी अतिशय कल्पनाशीलता और अतीन्द्रिय भाव-चेतना के कारण सामान्य पाठकों के लिये बोधगम्य नहीं थे। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में छायावादोत्तर काल में ऐसे गीतों का प्रचलन हुआ जो उथली भावुकता और

भाँसल गोमांस से ओतप्रोत थे। शम्भुनाथ सिंह ने इन दोनों अतिवादी छोरों के बीच से गीत-बिधा का एक ऐसा सहज मार्ग निकाला जिस पर चलकर गीत-काव्य वहु-जनसुलभ भी हो सका और काव्यात्मक ऊँचाई और गहराई को भी सुरक्षित रख सका। हिन्दी गीत-काव्य को यही डा० शम्भुनाथ सिंह की सबसे बड़ी देन है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रथम वर्ग की कविताओं में शाश्वत काव्य के गुण वर्तमान हैं। इसका पहला ही गीत कवि को अमर बनाने के लिये पर्याप्त है। यह कविता हिन्दी प्रदेशों में ही नहीं, समस्त भारत में इतनी लोकप्रिय हुई है जितनी आधुनिक युग की शायद ही कोई दूसरी कविता हुई हो। किसी अच्छी कविता की लोकप्रियता प्रायः यह खतरा उत्पन्न कर देती है कि लोग कविता को ही जानते हैं और उसका रचयिता अज्ञात ही रह जाता है। 'समय की शिला पर' शीर्षक कविता के साथ भी ऐसा ही हुआ है। अपढ ग्रामीण, अर्ध शिक्षित मजदूर, छात्र, अध्यापक, मध्यवर्गीय व्यक्ति तथा अन्य विभिन्न सामाजिक वर्गों के लोगों द्वारा इस कविता को गाते और गुनगुनाते सुनकर यदि कोई उनसे उसके लेखक का नाम पूछे तो बहुत कम व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो कवि का नाम बता सकें। इससे इस कविता की महत्ता तो सिद्ध होती ही है, कवि का महत्त्व भी प्रतिपादित होता है। मध्यकाल के कवि इसी कारण अपनी कविताओं में अपनी मुद्रा या नाम डाल देते थे जिससे कविता की लोकप्रियता के साथ कवि का नाम न लुप्त होने पाये।

इस खण्ड की अन्य कविताओं में "तुम्हें लहर पुकारती" "तुमने माँन ली क्या हार" और "मुखरित पर मधुर गान" शीर्षक कविताएँ भी बहुत लोक-प्रिय हुई हैं। कवि ने इन कविताओं में अपनी अनुभूतियों को इस प्रकार व्यक्त किया है कि उनमें जन-जन की अनुभूतियाँ प्रतिबिम्बित हो उठी हैं। सौन्दर्य, प्रेम की उदात्तता, मानवता के प्रति गहन आस्था और सामान्य मानवीय अनुभूतियों की सच्चाई इन कविताओं में इतनी अधिक है कि आसानी से उन्हें हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ गीतों में गिना जा सकता है। कवि ने मन के गहरे स्तरों में बन्द सूक्ष्म और रहस्यमय मनोदशाओं को बहुत ही सफलता से उद्घाटित किया है। किन्हीं अलौकिक क्षणों में कवि के मन की प्राचीरें सहसा ढह जाती हैं और वे रहस्य अपने समस्त सौन्दर्य को लेकर अभिव्यक्त हो जाते हैं:—

एक तान नभ में भटकी हुई
आ मुझको इस तरह डुबो गयी,

मेरा अस्तित्व कहीं खो गया
मेरी सीमा असीम हो गयी।

एक शब्द ने मुझको यों छुआ
मन की सब प्राचीरें ढह गयीं। (पृ० : ६)

'कामस्तोम' खण्ड में कवि की युवावस्था की प्रेमानुभूतियों का उच्छल आवेग सहज रूप में प्रवाहित हुआ है। प्रेम के प्रथम अनुभव में जो ताजगी और शक्तिमत्ता होती है वह इस खण्ड की कविताओं की पंक्ति-पंक्ति में अभिव्यक्त हुई हैं। किन्तु कवि की इस प्रेमाभिव्यंजना में कहीं भी ओछापन, छिछलापन और स्थूल मांसलता नहीं है। कवि सौन्दर्य के बाह्य आवरणों का भेदन कर उत्तरोत्तर उसके अन्तर्लोक में प्रवेश करता जाता है और अन्त में उस रस दशा तक पहुँचता है जो मन की परम शान्ति और स्थैर्य की दशा है। सौन्दर्य की पहली चोट जब उसके हृदय पर पड़ती है तो वह गा उठता है :—

तुम गगन-दामिनी,
पूर्णिमा - चाँदनी।

रूप की दीप-लौ
तुम धरा की बनी

चिर जलन के तृषित
इस शलभ-प्राण की

प्राण तुम तृप्ति भी
प्राण तुम प्यास भी।

प्राण तुम दूर भी
प्राण तुम पास भी (पृष्ठ : ३१)।

इन कविताओं में कहीं तो एकाकी प्रेम की तन्मयता है, कहीं मिलनजन्य महोल्लास, कहीं प्रिय के प्रति हार्दिक आभार-प्रदर्शन, कहीं स्थूल प्रेम से उठ कर अतीन्द्रिय प्रेम की अनुभूति। एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा :—

अचल जिनसे बना चंचल
धरा का हिल उठा अंचल

गगन गूँजा, विजन गूँजा
बजे दो प्राण के पायल,

किरण का गान बन आये
तुम्हारे प्यार के ये क्षण। (पृष्ठ : ४२)

लेकिन प्रेम में केवल मिलन ही सब कुछ नहीं है। मिलन का नैरन्तर्य प्रेमी युगल के हृदय में एकरसता और ऊब भी उत्पन्न कर देता है। प्रेम की पहली आग धीरे-धीरे ठंडी होती जाती है और हृदय कुछ नया पाने के लिए व्याकुल होने लगता है। यह मानव-मन की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस मन:स्थिति को कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

तुम्हारे पास ज्यों-ज्यों आ रहा मैं
स्वयं से दूर होता जा रहा मैं

रहे ज्वाला भरे क्षण बीत मेरे
खिले जिनमें सुरभिमय गीत मेरे

रहा मैं हार अपनी इस विजय से
रहे अरमान हारे जीत मेरे

मुझे क्षण-क्षण हँसाती जा रहीं तुम
हँसी मेरी कि रोता जा रहा मैं। (पृष्ठ : ९०)

'हिम-ऊष्मा' खण्ड में विरह-दशा की विविध अनुभूतियों का विवृत चित्रण हुआ है। डा० शम्भुनाथ सिह का गीत-काव्य नि:सन्देह विरह की इन सूक्ष्म और गहरी अनुभूतियों के कारण अत्यधिक भाव सम्पन्न हो सका है। मिलन के गीतों के बाद इन विरह-गीतों को रखना स्वाभाविक ही था क्योंकि प्रेम का निखार मिलन में नहीं, विरह में ही दिखलायी पड़ता है। इन विरह-गीतों में घनानन्द जैसी गहरी प्रेमानुभूति दिखलायी पड़ती है। विरह के क्षणों में प्रेमी की तन्मय दशा का एक चित्र दर्शनीय है :—

न तप कर मैं निखर पाता
न मिट कर मैं बिखर पाता

बँधा किन बन्धनों में मैं
न जी पाता न मर पाता

गरजते आज यौवन में
किसी के रूप के बादल। (पृष्ठ : ६८)

प्रिय के रूप के ये बादल केवल गरजते ही नहीं, बरसते भी हैं। उस समय प्रेमी की आँखों में प्रिय की बरसती आँखों की घटाएँ छा जाती हैं, बिजली रागारुण चरणों की झलक दे जाती है, काली घटाएँ उसकी लहराती केशराशि की घटा घहरा देती हैं। रात में प्रिय की याद रजनीगंधा बनकर उसे गंध-अंध करती और तन-मन की चेतना हर लेती है। गत दिनों के निकुंज से प्रिय की चकित दृष्टि-सुधा वृष्टि करती है और कवि देश-काल के बन्धनों को मिटाकर दिक्कालहीन अनुभूति मात्र रह जाता है। सर्वत्र उसे प्रिय की पुकार ही सुनायी पड़ती है :—

पहचान मैं न पाया
कुछ जान मैं न पाया
अनजान कौन स्वर यह
मन-प्राण में समाया
भर प्राण-रन्ध्र मेरे
स्वर-इन्द्रजाल द्वारा
किसने मुझे पुकारा (पृष्ठ : ७६)

'आदिम उत्पीड़न' खण्ड में ऐसे गीत संकलित हैं जिनमें प्यास, अतृप्ति और मानसिक अशान्ति की अनुभूतियों की विशद अभिव्यक्ति हुई है। प्रेम की विविध अनुभूतियों का आस्वादन कर लेने के बाद भी कवि को ऐसा प्रतीत होता है कि अभी कुछ ऐसा रह गया है जो उसे नहीं मिल सका। अप्राप्त की जिज्ञासा, खोज और आकांक्षा इस खण्ड की पन्द्रह कविताओं में अनेक रूपों में व्यक्त हुई है। वह किसी को बार-बार पुकारता है पर उत्तर नहीं पाता। उसे सब कुछ शून्य और अथाह सा प्रतीत होने लगता है और वह मृत्यु का वरण करने को तैयार हो जाता है। जीवन की व्यर्थता का बोध अतृप्ति और असन्तोष के कारण ही उत्पन्न होता है। इसका एक चित्र यह है :—

न इस राह का आदि मैं जानता हूँ
न इस राह का अन्त है, मानता हूँ
दिशा पंथ की एक पहिचानता हूँ
नहीं जानता छल रहा पंथ को मैं

स्वयं पंथ से या छला जा रहा हूँ।
चला जा रहा हूँ।

उसे समस्त सामाजिक सम्बन्ध क्षणिक और झूठे लगने लगते हैं और वह एक असम्भव कल्पना को अपना आदर्श मान लेता है :—

है छलक रहा मेरा चुम्बन
अंगड़ाई लेता उर-स्पन्दन
मैं किस बन्धन में बँध जाऊँ,
चिर बन्धन कोई हो भी तो।

बहते जाते गलकर प्रतिक्षण
इन नयनों के पागल हिम-कण
मैं राधा बन किस पर मिट लूँ,
मनमोहन कोई हो भी तो। (पृष्ठ:१०५)

यदि उपर्युक्त चार खण्डों की कविताओं को ही पढ़कर कवि के सम्बन्ध में राय बनानी हो तो यह कहा जा सकता है कि डॉ० शम्भुनाथ सिंह के काव्य में गहराई और सूक्ष्मता भले ही हो, विषय वैविध्य और काव्य-फलक का विस्तार अधिक नहीं है। किन्तु इस ग्रंथ के अन्तिम दो खण्डों—'अग्निरस' और 'मृणमय छवि'—की कविताएँ पढ़ने के बाद उक्त धारणा निर्मूल हो जायेगी। 'अग्नि-रस' में देश-भक्ति और सामाजिक समता की भावना वाले गीत संकलित हैं। इन गीतों से स्पष्ट हो जाता है कि कवि की संवेदनशीलता केवल सौन्दर्य और प्रेम के क्षेत्र में ही नहीं, राष्ट्रीयता और मानवता के क्षेत्र में भी बहुत तीव्र और गहरी है। राष्ट्रीय और प्रगतिवादी काव्य लिखने वाले कवियों की संख्या हिन्दी में कम नहीं है, किन्तु उनके समस्त काव्य में वास्तविक काव्यत्व कितना है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। प्रायः वक्तव्य, पुरजोश भाषण और गाली-गलौज जैसी भाषा में पूँजीवाद और सामन्तवाद के विरुद्ध नारेबाजी को ही प्रगतिवादी और राष्ट्रीय कविता समझा जाता है। शम्भुनाथ सिंह ने ऐसी एक भी कविता नहीं लिखी है। उनकी राष्ट्रीय और सामाजिक कविताओं में न तर्क-वितर्क है, न सस्ती भावुकता। इसके विपरीत उनमें देश और मानवता के प्रति गहरी ममता और तादात्म्य भावना की अनुभूति विविध रूपों में अभिव्यक्त हुई है। स्वतन्त्रताप्राप्ति के पूर्व देश की दुर्दशा का चित्र अंकित करने के साथ-साथ कवि ने भारतीय जनता को विद्रोह करने तथा गुलामी की जंजीरें तोड़ने के लिए काव्यात्मक ढंग से ललकारा भी है :—

तोड़ो, कारा तोड़ो !
टूटे लो जग-बन्धन,
जाग्रत अब जड़-चेतन,
तुम भी जड़ बन्धन की
ममता - माया छोड़ो । (पृ० : १२६)

जड़ बन्धनों को तोड़कर नयी दुनिया और नये समाज के निर्माण की कल्पना कवि शम्भुनाथ सिंह के उस विद्रोह को सदैव जाग्रत रखती है जो सामाजिक अन्याय, अमानवीय क्रूरता, भ्रष्टाचार, परतन्त्रता आदि मानवताविरोधी प्रवृत्तियों के विरुद्ध युद्ध करने की प्रेरणा देने वाली शक्ति है। 'अग्नि-रस' में यह विद्रोही प्रवृत्ति पूरी तरह उभर कर सामने आयी है। कभी वह जागरण के गान और ज्योति की ऋचा के रूप में अभिव्यक्त होती है, कभी बापू और जवाहर के निधन पर फूट पड़ने वाले उद्गार के रूप में और कभी भारत पर होने वाले बाह्य आक्रमणों के विरुद्ध जनोद्बोधन के रूप में।

इस पुस्तक का अन्तिम खण्ड है 'मृन्मय छवि' जिनमें जन-जीवन में घुले-मिले सांस्कृतिक और रागात्मक तत्वों को पकड़कर तथा धरती के अगाध रूप-सागर में डूब कर उपलब्ध किये गये भाव-रत्नों की माला पिरोई गयी है। इन गीतों का स्वाद और सौन्दर्य ऐसा है जो कवि शम्भुनाथ सिंह को आधुनिक गीतकारों में सबसे अलग खड़ा कर देता है। लोक-जीवन की अनुभूतियों को तो इनमें वाणी मिली ही है, लोक-भाषा और लोक-गीतों की शैली की छौंक भी इस रूप में आ गयी है कि एक विचित्र ताजगी, सोंधापन, खुलापन और नवीनता का अनुभव होने लगता है। आंचलिक उपन्यासों और कहानियों में जो बातें बहुत विस्तार से कही जाती हैं और फिर भी पूर्ण प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पातीं, वे इस ढङ्ग से व्यक्त हुई हैं कि उनका पाठकों के मन पर बहुत ही स्वस्थ और मोहक प्रभाव पड़ता है। उसी प्रकार प्रकृति के लघु और विराट, कोमल और परुष सभी रूपों और विविध रंगों और स्वरों को इन गीतों में आबद्ध कर कवि ने अपनी भूमि और वातावरण को पाठकों के मन में पुनः जीवित किया है। इस तरह परिचय-जन्य अनुराग द्वारा देशप्रेम उत्पन्न करने की क्षमता भी इन गीतों में है। कवि ने समूचे भारत की प्रकृति-सुषमा को अपना वर्ण्य-विषय बनाया है। हिमालय, समुद्र, विन्ध्य की पर्वतीय भूमि, गंगा-यमुना के मैदान, सभी क्षेत्रों के प्राकृतिक दृश्यों को उसने अपनी सम्वेदना के धरातल पर चित्रित किया है। विन्ध्य की पर्वतीय सुषमा के बीच जन-जीवन को उसने इस प्रकार चित्रित किया है :—

धरती मँह मँह मँहकी।
वही रात कातिक पूनों की
शरद जुन्हैया डहकी।
कमठ-पीठ सी चिपटी चोटी
पर पूनों का मेला,
वह मुण्डा-उरावँ नर-नरी
का नर्तन अलबेला,
वही बाँसुरी-मादल की धुन
आयी बहकी-बहकी ! (पृ० : १५३)

डा० शम्भुनाथ सिंह ने अब तक जितनी कवितायें लिखी हैं उनके कथ्य और शिल्प दोनों ही में बहुत अधिक विविधता है। स्पष्ट है कि 'समय की शिला पर' नामक इस ग्रन्थ में उन सभी कविताओं का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता था क्योंकि इसमें केवल गीत-विधा को ही लिया गया है। ये सभी गीत सन् १९६० के पूर्व के हैं। इस समय वे जो गीत लिख रहे हैं वे इन गीतों से, कथ्य और शिल्प में, नितान्त भिन्न हैं। पर युग-बोध के बदल जाने के बाद भी इन गीतों का महत्त्व किसी भी अंश में कम नहीं हुआ है। इसका कारण है इन गीतों में अभिव्यक्त कवि की अनुभूतियों की प्रामाणिकता और शैलीगत सौष्ठव एवं गरिमा। पुस्तक की भूमिका में कवि ने लिखा है :—"गीत बिंधे मन की अभिव्यक्ति है, बँधे या मुक्त मन की नहीं।" इस कथन की सत्यता को इस संग्रह का प्रत्येक गीत प्रमाणित करता है। उन अनुभूतियों में प्रामाणिकता के साथ गहराई भी बहुत अधिक है जिससे ये गीत छायावादोत्तर युग की कविता में अपना विशिष्ट स्थान बना सके हैं और इसी गुण के कारण ये गीत हिन्दी साहित्य के इतिहास में अमर बन कर रह सकेंगे।

●

एक कविता—दो दृष्टियाँ

[सन् १९४५ की एक पत्रात्मक बहस]

विजयदेवनारायण साही—शम्भुनाथ सिंह

[सन् १९४५ में श्री विजयदेवनारायण साही ने अपने मित्र श्री महेन्द्र प्रताप (अब के० जी० के० कालेज, मुरादाबाद में हिन्दी विभागाध्यक्ष) को शम्भुनाथ सिंह की प्रसिद्ध कविता "समय की शिला पर" के सम्बन्ध में एक लम्बा पत्र लिखा था। उस समय वे प्रयाग विश्वविद्यालय के बी० ए० के छात्र थे। महेन्द्र जी ने वह पत्र शम्भुनाथ जी को दिया। शम्भुनाथ जी ने उसका विस्तृत उत्तर लिखा और साथ ही ये दोनों पत्र साप्ताहिक 'आज' में प्रकाशित भी करा दिया। शम्भुनाथ जी के पत्र को पढ़ कर विजयदेवनारायण साही ने उन्हें भी एक पत्र लिखा। ये तीनों पत्र एक आलोचमात्मक बहस के ऐतिहासिक उदाहरण हैं। अतः उन्हें यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत किया जा रहा है। —सम्पादक-मण्डल]

एक कविता

समय की शिला पर मधुर चित्र कितने
किसी ने बनाये किसी ने मिटाये।

किसी ने लिखी आँसुओं से कहानी,
किसी ने पढ़ा किन्तु दो बूँद पानी;
इसी में गये बीत दिन जिन्दगी के
गयी घुल जवानी गयी मिट निशानी,

विकल सिन्धु से साध के मेघ कितने,
धरा ने उठाये गगन ने गिराये!

शलभ ने शिखा को सदा ध्येय माना,
किसी को लगा यह मरण का बहाना;
शलभ जल न पाया, शलभ मिट न पाया
तिमिर में उसे पर मिला क्या ठिकाना ?

प्रणय - पन्थ पर प्राण के दीप कितने
मिलन ने जलाये विरह ने बुझाये !

जलधि ने गगन-चित्र खींचे नयन में
उतरती हुई उर्वशी देख घन में,
अचल किन्तु चल-चित्र ये हो न पाये
कि सहसा बुझी रूप की ज्योति क्षण में,

जलद-पत्र पर इन्द्रधनु-रंग कितने
किरन ने सजाये, पवन ने उड़ाये !

भटकती हुई राह में वञ्चना की,
रुकी श्रान्त हो जब लहर चेतना की,
तिमिर-आवरण ज्योति का वर बना तब
कि टूटी तभी शृङ्खला साधना की,

नयन-प्राण में रूप के स्वप्न कितने,
निशा ने जगाये उषा ने सुलाये !

सुरभि की अनिल-पंख पर मौन भाषा–
उड़ी, बन्दना की जगी सुप्त आशा,
तुहिन-बिन्दु बनकर बिखर पर गये स्वर,
नहीं बुझ सकी अर्चना की पिपासा।

किसी के चरण पर वरण-फूल कितने,
लता ने चढ़ाये, लहर ने बहाये।

[श्री शम्भुनाथ सिंह के इस गीत की विवेचना श्री विजयदेवनारायण साही ने श्री महेन्द्र को लिखे गये अपने एक पत्र में की है, जो नीचे प्रकाशित किया जा रहा है। श्री महेन्द्र के आग्रह पर श्री शम्भुनाथ ने गीत पर किये गये आक्षेपों का उत्तर श्री विजयदेवनारायण साही को अपने एक पत्र में दिया है। वह पत्र भी अगले अङ्क में प्रकाशित होगा। —सम्पादक 'आज']

प्रिय महेन्द्र,

भाई, तुमने श्री शम्भुनाथ की कविता लिख दी, इससे लाभ से अधिक मेरी हानि ही हो गयी। ईमानदारी की बात तो यह है कि पहले कम समझने के कारण उस कविता का जितना आनन्द उठाया करता था अब उसमें कुछ कमी हो गयी। बुरा मत मानना, दुर्भाग्यवश मेरा आलोचनात्मक तत्त्व मेरे ऊपर इतना अत्याचार करता है कि मैं एक सुन्दर पंक्ति से जितना आनन्द उठा पाता हूँ एक त्रुटिपूर्ण पंक्ति से वह आनन्द उतना ही बिखर जाता है। मैंने पहले तुमको कुछ अशुद्धियाँ बतलाई थीं; अब तो उनकी संख्या में यथेष्ट वृद्धि हो गयी है, क्योंकि सम्पूर्ण गीत अब भली-भाँति देख सका हूँ। क्या करूँ, किसी प्रकार मेरा समाधान करके मुझे इस भँवर से उबारो, क्योंकि मैं उस कविता को फिर भी बहुत प्यार करता हूँ। अपनी कठिनाइयाँ तुम्हारे पास भेजता हूँ, श्री शम्भुनाथ से भेंट हो तो उन्हें सुलझा कर मेरे पास भेजना।

पहली पंक्ति के बारे में तो तुम्हें बता चुका हूँ कि शिला के ऊपर चित्रों का इस सरलता से बनना और मिटना संगत नहीं प्रतीत होता। फिर भी पंक्ति मधुर है और रोमांस से ओत-प्रोत है।

पहला छन्द मुझे बहुत ही अच्छा लगता है। ऐसा लगता है मानो कुछ ही पंक्तियों में करुणा की आत्मा भर दी गयी है; यद्यपि, जैसा कि मैंने तुमसे कहा है, जवानी के घुलने से थाइसिस की याद आ जाती है जो इस श्रेष्ठ लड़ी में अशोभन है।

"विकल सिन्धु से साध के मेघ कितने
धरा ने उठाये, गगन ने गिराये।"

इस पंक्ति का साथ देने के लिए इतनी ही ऊँची वस्तु की आवश्यकता थी।

दूसरा छन्द बिलकुल ठीक है, सुन्दर है, यद्यपि इसमें पहले की-सी ऊँचाई नहीं है, वह वस्तु नहीं है जो हृदय में घर कर लेती है। 'शलभ' का बार-बार आना भी संगीत को बिगाड़ देता है।

तीसरे छन्द से गड़बड़ी प्रारम्भ हो जाती है। सुन्दर शब्दों और पंक्तियों ने कवि की कल्पना को बहका दिया है; इसलिए अर्थ एक भूल-भुलैया में खो गया है। पहले तो मैं यही नहीं समझ पाता कि तीसरी लड़ी में अध्यात्म है अथवा यथार्थ।

'जलधि ने गगन चित्र खींचे नयन में' यह तो एक प्राकृतिक यथार्थ का चित्रण है। परन्तु फिर 'उतरती हुई उर्वशी' क्या है? कदाचित् उर्वशी इन्द्र-धनुष हो, परन्तु वह तो स्थिर होता है, 'उतरता हुआ' कहाँ होता है? फिर तीसरी पंक्ति 'अचल किन्तु चल-चित्र ये हो न पाये' तो बिलकुल ही रहस्यमय है। मैं इसका कोई अर्थ नहीं समझ पाता और न इसे ऊपर की कल्पना में फिट कर पाता हूँ। देखने में तो यह पंक्ति बिलकुल आध्यात्मिक है, परन्तु ऊपर तो यथार्थ की कल्पना है। यह 'चलचित्र' क्या है? और इसके 'अचल' हो जाने में सृष्टि की कौन सी महत्ता छिपी हुई है? फिर ये कहाँ अचल होंगे, 'जलधि' के नयन में अथवा 'गगन' में? चित्र तो 'जलधि' के नयन में ही खींचे जा रहे हैं। जलधि का मानवीकरण (परसानिफिकेशन) तो बड़ा सुन्दर हुआ है, परन्तु उर्वशी और चित्रों की कल्पना उलझी हुई है। 'कि सहसा बुझी रूप की ज्योति क्षण में'—लीजिये यह बिलकुल नयी वस्तु आ गयी। घन के अन्दर 'रूप की ज्योति' विद्युत की याद दिला देती है। तो, क्या उर्वशी घन-विद्युत है? यह विचार कुछ जँचता नहीं। इन चार पंक्तियों का अर्थ कवि ही जाने। 'जलदपत्र पर इन्द्र-धनु रंग कितने, किरन ने सजाये पवन ने उड़ाये' यह सचमुच अछूती, ऊँची और काव्यमय पंक्ति है। इसमें एक काव्य-गुण है जो मुझे बहुत ही भला लगता है। मैं इस पंक्ति से प्यार करता हूँ।

चौथा छन्द गम्भीर और छायावादी है, इसलिए न यहाँ उसका जोड़ बैठता है और न इसका अर्थ सीधा और सम्पूर्ण है। मैंने जो कुछ पढ़ा-लिखा है उससे मैं यही समझ पाया हूँ कि इस प्रवञ्चक माया-संसार में भटकती हुई जीवात्मा की चेतना-लहर जब शान्ति प्राप्त करके रुक जाती है तब वह गुणातीत, स्थितिप्रज्ञ की स्थिति होती है। चेतना की लहर का शान्त हो जाना साधना का अन्त हो जाना है—फिर साधना की शृङ्खला के टूटने का भय नहीं रहता। पता नहीं मेरे कवि किस आत्मा और परम-आत्मा की कल्पना कर रहे हैं? 'शान्ति' और 'चेतना' और 'साधना' का अर्थ गीता के अन्दर बड़ी ही सुन्दरता से समझाया गया है। दूसरा और तीसरा अध्याय पढ़ लेने के बाद तुम मेरी कठिनाई समझ लोगे। फिर सबसे आश्चर्यपूर्ण पंक्ति तो है, 'तिमिर-आवरण

ज्योति का वर बना तब' अर्थात् जब चेतना की लहर शान्त हो जाती है तब उसके चारो ओर अन्धकार हो जाता है। यह बिलकुल भ्रमपूर्ण और निरर्थक कल्पना है। सत्य बिलकुल उल्टा ही है। जब तक जीव भटकता रहता है तबतक अन्धकार का आवरण रहता है। जब वह शान्ति प्राप्त कर लेता है तब उसके चारो ओर ज्योति ही ज्योति हो जाती है। इसके अतिरिक्त एक शब्द 'वर' का अर्थ मैं न समझ सका। इसका यहाँ क्या अर्थ और आवश्यकता है? 'वर' का अर्थ सुन्दर होता है, क्या ज्योति का तिमिर-आवरण बड़ा सुन्दर है? वाह! 'नयनप्राण' का कोई अर्थ मैं नहीं समझ सका। ऐसा लगता है—श्री शम्भुनाथ को प्राण शब्द का बड़ा मोह है। इसीलिए उसे मौके-बे-मौके ठूँस देते हैं। भला नयनरूपी प्राण में कैसे स्वप्न दिखाई देंगे? प्राणरूपी नयन में यदि स्वप्न हों तो ठीक भी है। उपमान-उपमेय को उलट दिया है और अर्थ बिलकुल उलट गया है। फिर स्वप्नों के जागने का स्थान यह 'नयन-प्राण' है क्या वस्तु और इसका ऊपर की पंक्तियों से क्या सम्बन्ध है? उलझन यहाँ यह है कि एकदम से गम्भीर अध्यात्म और योग से आ गये रोमाण्टिक यथार्थ पर। मैं सोचता हूँ कि इस गीत से यह लड़ी निकाल दी जाय तो अच्छा हो।

पाँचवें छन्द में भी कल्पना की उलझन है। पहले तो 'मौन भाषा' एक पिटी हुई लकीर है। यह शब्द इतना प्रयुक्त हो चुका है कि इसका जादू अब समाप्त हो गया है। यदि हम इसका विचार न भी करें तो भी 'सुरभि की मौन भाषा' एक विचित्र वस्तु है। केवल इतना ही नहीं, वह भाषा उड़ती भी है और हवा के पंखों पर! उड़नेवाली भाषा न तो मैंने देखी, न सुनी। बजाय सुरभि की मौन भाषा के उड़ाने के यदि केवल सुरभि को ही उड़ाया होता तो क्या बुरा था? और फिर इस सुरभि की भाषा के उड़ने से और वन्दना की 'सुप्त आशा' के जागने से क्या सम्बन्ध है? यह वन्दना की आशा किसके हृदय में जाग रही है, इसका कोई वर्णन नहीं है। क्या कवि के? तब तो हमारे कवि का 'सुरभि की मौन भाषा' से एक बड़ा ही रहस्यमय सम्बन्ध प्रतीत होता है और फिर यह वन्दना किस प्रकार रहस्यमय आराध्य के लिए की जायेगी? इन सब प्रश्नों को सोच कर मैं घबरा जाता हूँ कि मैं यथार्थवाद पढ़ रहा हूँ अथवा रहस्यवाद। 'सुप्त आशा' को पढ़कर तो मुझे हँसी छूटती है। साफ झलकता है कि सुप्त इच्छा की जगह तुक मिलाने के लिए सुप्त आशा कर दिया है; वर्ना वन्दना की आशा क्या होती है? यह कवि की कमजोरी है। आगे और मजा है। वन्दना के अन्दर स्वर कहाँ से आ गये जो 'तुहिनबिन्दु' बनकर बिखर

जायेंगे ? वन्दना तो अङ्ग की एक विशेष दशा है उसमें कोई स्वर नहीं होता। 'नहीं बुझ सकी अर्चना की पिपासा' एक सुन्दर पंक्ति है। 'किसी के चरण पर वरण फूल कितने, लता ने चढ़ाये लहर ने बहाये' में कवि फिर अपनी पुरानी आश्चर्यमय ऊँचाई को पहुँच गया है। यथार्थ और आदर्श का इतना सजीव और सहृदय सम्मेलन मैंने बहुत कम कवियों में पाया है। यह पंक्ति कीट्स से टक्कर ले सकती है।

यह है इस भोले और सुन्दर गीत का विश्लेषण। कृपा करके मेरी कठिनाइयों को सुलझाने का प्रयत्न करना। पूरी कविता पढ़ने के पश्चात् ऐसा लगता है कि कवि में कवित्व-गुण प्रकृति-प्रदत्त है, परन्तु वह काव्य-रचना के समय लापरवाह हो जाता है या रहता ही है। इसीलिए कुछ पंक्तियाँ तो बहुत ही ऊँची निकल आती हैं और कुछ एकदम निकृष्ट। भाषा और मुहावरे की गलती तो तकलीफ दे जाती है। कवि की कल्पना में स्वर्ण होता है परन्तु मिट्टी के साथ मिला हुआ। उसकी योग्यता इसी में है कि वह स्वर्ण को मिट्टी से अलग कर पाठकों के सम्मुख रख दे। परन्तु हमारे श्री शम्भुनाथ मिट्टी-सोना सब साथ ही साथ वेचते हैं। खेद है कि इतनी सुन्दर कल्पना केवल लापरवाही के कारण निरर्थक हो रही है।

तुम्हारा—

विजयदेव नारायण साही

[२]

[गताङ्क में प्रकाशित पत्र का कवि द्वारा लिखित उत्तर]

प्रिय भाई साही जी,

आपका श्री महेन्द्र को लिखा पत्र मैंने पढ़ा। उनके आग्रह से उत्तर दे रहा हूँ। वस्तुतः यह उत्तर देना नहीं, प्रत्युत् कविता का अर्थ स्पष्ट करना है।

सर्वप्रथम मैं यह बात बता दूँ कि आपकी आलोचना का ढंग मुझे बहुत पसन्द आया। अधिक प्रसन्नता तो आपकी कल्पना, बिम्बग्राहिका शक्ति तथा बुद्धि की तीक्ष्णता देखकर हुई।

आपका कहना सच है कि जब वह कविता लिखी गयी थी तब मैं बहुत सचेत नहीं था। अमूमन कवि कविता लिखते समय अधिक सचेत नहीं रहता (कलाबाजों की बात मैं नहीं करता); उस समय वह एक वायवीय लोक में रहता है और शब्द, ध्वनि, स्वर सभी उसकी भावनाओं के अनुरूप स्वयं आते-जाते हैं, उसे इनके लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। मनोविज्ञान के शब्दों में उसका उपचेतन या अन्तर्मन (सबकांशस) अधिक जाग्रत रहता है, कुछ-कुछ स्वप्नावस्था की-सी उसकी स्थिति रहती है, उसे प्रयास करना नहीं पड़ता। जब कोई बात भूल जाती है तब उसे याद करने का जितना ही प्रयास किया जाता है उतनी ही वह भूलती जाती है। बाद में वह स्वयं ही याद आ जाती है। यही बात कविता के लिए भी सही है। सौन्दर्य और सत्य की अनुभूति उपचेतन या अन्तर्मन में शान्त पड़ी रहती है। स्वप्न की भाँति ही वह सहसा बिना प्रयास निकल पड़ती है, पर बुद्धि का योग उसमें अवश्य रहता है। स्वप्न निर्माण में बुद्धि का योग नहीं रहता। शायद इसीलिए कलाकार स्वप्नद्रष्टा कहा जाता है।

हाँ, जब यह कविता लिखी गयी थी तब मैं भी इसी स्थिति में था। उस काल की मन:स्थिति का हूबहू वर्णन तो नहीं कर सकता, इतना जानता हूँ कि उस समय मैं व्यक्तिगत सुख-दु:ख से ऊपर उठकर सार्वभौम (यूनिवर्सल) सत्यों के क्षेत्र में पहुँच गया था, सारी पृथ्वी, सारा आकाश, सारा नक्षत्र-लोक मुझे दूर से एक ही साथ दिखाई पड़ते थे। काल का समूचा स्वरूप मुझे एक चित्रपट की तरह दिखाई पड़ा जिस पर सृष्टि-सौन्दर्य के असंख्य चित्र बनते-मिटते जान पड़े। फिर वे चित्र भी समय की शिला पर खोदे और बनाये जाते तथा अजन्ता के चित्रों की भाँति हजारों वर्षों तक बने रहते और फिर मिट जाते जान पड़े। महाकाल का अन्धकारपूर्ण हाथ उन चित्रों पर फिर जाता है, वे समाप्त हो जाते हैं। ताजमहल, पिरामिड, विश्व के सप्ताश्चर्य सभी उस पट पर मिटते दिखाई पड़ रहे हैं; साथ ही सृष्टि का निजी सौन्दर्य भी स्थायी नहीं प्रतीत होता, वह भी सिनेमा के चित्रों की भाँति सरकता हुआ अनन्त की ओर प्रवाहित होता रहता है। उन सब चित्रों की पृष्ठभूमि पर दिखलाई पड़ता है अनन्त शक्ति धारण करनेवाला मानव जिसमें ऐसा कुछ है जो अन्यत्र नहीं। पर वह विचित्र (काम्प्लेक्स) लगता है, स्वयं ही उलझता-सुलझता रहता है। वह स्वप्नों और सत्यों का निर्माण करता है और वे सब एक क्षण में या हजार दो हजार वर्षों में मिट जाते हैं। कैसे--क्यों मिट जाते हैं, यह अवश्य आश्चर्य की बात है।

रूप के स्वप्न यानी सौन्दर्य और सत्य के चित्र मानव के नयनों और प्राणों में एक विशेष स्थिति में जाग उठते हैं और दूसरी विशेष स्थिति में सो जाते हैं। फिर जागते हैं, फिर सोते हैं। उनकी स्थिति रहती है पर विशृङ्खलित और परिवर्तित, जिस तरह पदार्थ (मैटर) सार्वकालिक है परन्तु वाद, प्रतिवाद और समन्वितवाद के क्रम से परिवर्तित होता है। अनुभूतियों और विचारों के क्षेत्र में भी यही बात होती है। फिर मानव की एक और जटिल मनोवृत्ति आत्म-समर्पण की होती है जिसकी आशा उसके मन में जन्म से ही निहित रहती है और प्रकृति के भीतर से जो सौन्दर्यानुभूतियाँ उसे प्राप्त होती हैं उनसे उसकी सोयी आशा जाग उठती है। पर वह आत्म-समर्पण भी नहीं कर पाता। मानव की ये जटिल मनोवृत्तियाँ भी उस काल के पट पर मैं चित्रित देखता हूँ और इस तरह उन सहस्रों चित्रों में से कुछ चुने चित्र मेरी पकड़ में आ जाते हैं और कविता बन जाती है।

यह तो हुई कविता के निर्माण-काल की मेरी मानसिक चित्रावली (अलबम)। इन अनुभूतियों की समुचित अभिव्यक्ति, इनका बन्धान, इनकी कलात्मकता ठीक बन सकी है या नहीं, यह अवश्य एक विचारणीय प्रश्न है। मुझे कविता लिखते समय उसमें जोड़ना-जाड़ना अविचेष्टित क्रिया (रिफ्लेक्स ऐक्शन) जैसा लगता है। उस समय का सत्य तो वे अनुभूतियाँ हैं जो मन पर उतर आती हैं। छन्द, शब्द आदि तो अनजाने अभ्यास रूप में आ जाते हैं। यह अवश्य है कि कवि जितना ही संस्कृत और अभ्यस्त रहेगा सुन्दर और सफल अभिव्यक्ति के लिए उसे उतना ही कम प्रयास करना पड़ेगा। इस तरह कविता लिख दी जाती है परन्तु बाद में देखने पर पता चल जाता है कि अनायास किये गये इस काम में भी अशुद्धियाँ कम हैं या बिलकुल नहीं हैं--जैसे कोई व्यक्ति गम्भीर बात सोचता हुआ सड़क को देखकर भी न देखता हुआ, एक-दो मील का रास्ता पार कर घर पहुँच जाता है, और बहुधा अपने ही घर पहुँचता है, दूसरे के नहीं। यह कविता भी कुछ इसी तरह लिखी गयी थी। बाद में भी जब मैने देखा—निरपेक्ष होकर—तब भी कुछ त्रुटि नहीं मिली; फिर उसे 'पास' कर दिया। पर यह मैं नहीं कह सकता कि उसमें कोई त्रुटि नहीं है। मुझे त्रुटि न दिखाई पड़े तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह त्रुटिहीन है; यदि कोई दोष दिखा दे तो मैं प्रसन्न ही होऊँगा, सुधारने का प्रयत्न करूँगा, बशर्ते कि वह दोष वस्तुतः दोष हो।

अब आपकी दिखाई त्रुटियों का यानी आपकी शङ्काओं का समाधान करूँ—

(१) समय कहने का तात्पर्य ही यह है कि वह चित्रपट बहुत सूक्ष्म और फैला हुआ है। शिला से कठिनता का आभास होता है। उस पर बनने वाला चित्र भी कठिनाई से बनेगा, बहुत दिनों तक रहेगा और वह भी कभी मिट जायेगा। ऐसी अवस्था में सरलता से बनने-मिटने का प्रश्न ही कहाँ से आया ?

(२) यौवन का घुलना वृद्धावस्था को प्राप्त होना है। निशानी मिटने का अर्थ मृत्यु है। दोनों करुणा के चिरन्तन प्रश्न हैं और आदि काल से मनुष्य-जाति को चिन्तित करते आ रहे हैं, गौतमबुद्ध ने जिन्हें देखा और जिन्हें हम आप भी हर घड़ी देखते हैं। गम्भीरतापूर्वक सोचने से घुलने से राजयक्ष्मा की याद शायद न आये।

(३) शलभ सार्वभौम प्रेम (यूनिवर्सल लव) का प्रतीक है। सृष्टि के अणु-परमाणु एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं। यह आकर्षण प्रत्येक वस्तु का गुण या स्वभाव है। आकर्षण के साथ ही आत्मसमर्पण भी जुड़ा हुआ है जो चेतना-प्राप्त जीवों में अधिक सुलभ है। परन्तु आत्मसमर्पण की साध सदैव पूरी नहीं होती और बिना उसके चेतना अन्धकार में भटकती रह जाती है। शलभ की आवृत्ति केवल कलात्मकता के लिए हुई है।

(४) अध्यात्म तो पूरी कविता में कहीं भी नहीं है, यों तो खींच-खाँचकर कर कहीं से भी आध्यात्मिक अर्थ निकाल सकते हैं। तीसरे पद में प्रकृति के पल-पल परिवर्तित होनेवाले सौन्दर्य की एक झलक का चित्र है। सान्ध्य काल, बादलों में इन्द्रधनुष, नीचे सागर की उठती-गिरती लहरें, ऊपर तैरते-से बादल; सागर में उस सौन्दर्य का चल प्रतिबिम्ब यदि अचल हो जाता तो अच्छा लगता, पर उसी समय सब चित्र लुप्त हो गये; चलचित्र अचल न हो पाये। रूप की ज्योति या प्रकाशमय सौन्दर्य पवन के झकोरों में बह गया। सम्भवतः उसी समय अन्धकार भी बढ़ आया और सबके सब दृश्य गायब हो गये। उतरती हुई उर्वशी इसलिए कहा गया कि वह सौन्दर्य उत्पन्न होते ही लुप्त हो गया। कवि उस चलचित्र के गगन और जलधि दोनों में अचल होने की इच्छा प्रकट करता है। ऐसे सुन्दर चित्रों के अचल हो जाने पर सृष्टि का महत्त्व क्या कई गुना बढ़ नहीं जाता ? घन के अन्दर रूप की ज्योति वही इन्द्रधनुषी सौन्दर्य है जिसे उर्वशी—सौन्दर्य के प्रतीक—की संज्ञा दी गयी है।

(५) चौथा पद छायावादी नहीं है। छायावादी भावना से मैं दूर भागता हूँ। ईश्वर में मेरी आस्था नहीं, अनात्मवादी-सा ही हूँ, किन्तु दर्शनशास्त्र का

विद्यार्थी होने के नाते नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान से थोड़ा परिचय है। उसी की झलक इस पद में आ गयी है। आपने छायावादी मानकर इस पद का बिलकुल उल्टा, यद्यपि तर्क से ठीक अर्थ किया है। इस पद में चेतना और सहज ज्ञान की बात कही गयी है। स्वप्न-सिद्धान्त की भी इसमें झलक है। जीवात्मा की चेतना लहर जैसी होती है जो आगे बढ़कर फैलने और सिकुड़ने वाली होती है, जैसे पानी में ढेला फेंकने पर लहरों की कई परिधियां एक ही केन्द्र से चारों ओर फैलने लगती हैं, बाहरी परिधि को चेतना और भीतरी परिधि को उपचेतन कहते हैं। स्वप्न की स्थिति में बाह्यचेतना सिकुड़ कर उपचेतन में आ जाती है। उस समय अनेक भूली बातें, अनेक सुप्त इच्छायें, अतृप्त वासनायें प्रत्यक्ष या प्रतीक के रूप में सामने आती हैं। कई बार तो बिलकुल नये ज्ञान प्राप्त हो जाते हैं। प्रातिभ ज्ञान भी इसी तरह की चीज है जिसे सहज प्रेरणा या सहज ज्ञान कह सकते हैं। कर्म-जगत् के कोलाहल में असफलताओं और प्रवंचनाओं के कारण चेतना को आघात लगता है। उसकी लहरें थक कर रुक जाती हैं। यानी चारों ओर से निराशा और अन्धकार उसे घेर लेते हैं। तभी कहीं से प्रकाश की रेखा आ जाती है, स्वप्न के रूप में। इस तरह तिमिर का आवरण ही ज्योति का वर (वरदान) बन जाता है (श्रान्त शब्द का अर्थ शायद आपने शान्त लगाया है—उसका अर्थ थकना है, वैसे ही वर का अर्थ वरदान है) पर यह स्थिति अधिक देर तक नहीं रहती, वह प्रकाश की रेखा विद्युत् की भाँति आकर फिर लुप्त हो जाती है, वह शृङ्खलित नहीं हो पाती, चेतना जाग कर काम बिगाड़ देती है। इस तरह ज्ञान या स्वप्न-साधना की शृङ्खला टूट जाती है। (शृङ्खला का अर्थ लड़ी या पाँत लीजिए। जंजीर होने पर अर्थ उल्टा हो जायेगा।)

नयन-प्राण में रूप के स्वप्न कितने,
निशा ने जगाये उषा ने सुलाये।

इसका अर्थ बिलकुल ऊपर वाली व्याख्या से सम्बद्ध है। दृश्य जगत का प्रतिबिम्ब नयनों में पड़ता है, वहाँ से वह बिम्ब मस्तिष्क (मार्तण्ड) में जाता है, जहाँ से हृदय में जाकर अनुभूति की संज्ञा प्राप्त करता है। नयन का बिम्ब मस्तिष्क में आकर ज्ञान और हृदय में आकर अनुभूति बनता है। मैं हृदय को बहुधा प्राण शब्द से अभिव्यक्त करता हूँ। इस तरह स्वप्न में दृश्य जगत् मन की आँखों से देखा जाता है और हृदय पर उसका प्रभाव पड़ता है। जो सौन्दर्य-चित्र ऊपरी चेतना में दबे पड़े रहते हैं वे स्वप्नावस्था में या चेतना की तमसाच्छन्नता

की दशा में जाग उठते हैं। निशा सुषुप्ति का प्रतीक है, उषा जागर्ति का। जागने पर स्वप्न का लय हो जाता है, सौन्दर्य-चित्र गायब हो जाते हैं। उषा बाहरी चेतना को जगाने वाली है और उपचेतन के चित्रों को सुला देती है। (प्राण शब्द से मुझे मोह जरूर है और गहराई ले आने के लिए इस शब्द का प्रयोग मैं करता हूँ, पर अनुपयुक्त स्थान पर इसे ठूँसूँ, यह प्रवृत्ति नहीं है और अब तो इस शब्द को मैं बराने लगा हूँ—लोगों के कहने से ही) मैंने ऊपर कहा है कि स्वप्न उपचेतन में उठते हैं पर कार्य-कलाप जाग्रत अवस्था जैसे होते हैं, इसी से इन्द्रियों पर उनका प्रभाव पड़ता है। अतः वे नयन और प्राण (नयनरूपी प्राण नहीं) में जागते हैं। ऊपर की पंक्ति से इसका सम्बन्ध भी आपने देख लिया होगा। इस तरह यह रोमानी (रोमाण्टिक) यथार्थ के स्तर पर तो है ही। इसमें अध्यात्म मत ढूँढ़िये। गीत से इस पद को निकालने की आवश्यकता अब शायद आप न समझें।

अन्तिम पद मुझे बहुत पसन्द है। यद्यपि कल्पना कुछ जरूर सूक्ष्म है, पर उलझी नहीं है। जैसा पहले एक बार कह चुका हूँ, आत्मसमर्पण की भावना सार्वभौम है जो काम या सेक्स-मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखती है। कवि को लगा कि सारी सृष्टि ही किसी ओर आकृष्ट होकर आत्मसमर्पण करना चाहती है : यह आपने मन का प्रकृति पर आरोप मात्र है, कल्पना है, पर यह अनुभूति सार्वजनीन है। सम्भवतः विराट् पुरुष और प्रकृति की कल्पना इसी मनोवृत्ति के आधार पर की गयी हो।

अब इस पद को लें। वस्तुतः कवि ही वह वन्दना करने वाला साधक है, पर कामेषणा का पवित्र और निखरा रूप प्रेम और आत्मसमर्पण होता है जो जन-जन में स्वाभाविक रूप से है। अतः वन्दना करने वाला कोई भी हो सकता है। सबके मन में यह वृत्ति बीज-रूप में होती ही है। उसी इच्छा का अगला कदम आशा भी मन में उत्पन्न और तिरोहित होती रहती है। अनेक सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों के साथ उसकी आशा दब जाती है। पर अनुकूल वातावरण में प्रकृति द्वारा उद्दीपन मिलने पर आशा जाग जाती है। प्रयत्न भी शुरू हो जाता है ? इच्छा से उपयुक्त मुझे आशा शब्द लगता है। तो, जब उस व्यक्ति ने देखा कि प्रकृति भी अनिल के पंखों पर आरती के सुरभि-स्वर अपने प्रिय के पास भेज रही है—उस मौन स्वर में किसी की अर्चना कर रही है तब उसकी सोयी वन्दना की आशा भी जाग उठी। [वन्दना का अर्थ मैंने मोटे रूप में पूजा-अर्चना लिया है, कम-से-कम ध्वनि तो उस शब्द की यही

है] अस्तु, उसने भी पूजा के गीत गाये, पर परिणाम में मिले अपने ही दो-चार अश्रु-कण, जैसे प्रकृति को मिले बिखरे ओस-कण, अथवा उस व्यक्ति के स्वर ऊपर उठकर प्रियतम तक नहीं जा सके, पिघल कर ओस-रूप में इधर-उधर बिखर गये और इस तरह उसकी आशा नहीं पूरी हुई, वह अतृप्त ही रह गया।

इस पूरे पद में पूजा की भावना ही मूल में है, उस के उपकरण आत्म-समर्पण के साधनों के प्रतीक हैं और अन्तिम दो पंक्तियों में उसी पद का नहीं, पूरी कविता का चरम विन्दु (क्लाइमेक्स) है।

मौन-भाषा पुराना मुहावरा जरूर है पर उसका मूल्यांकन करना चाहिए। शब्द तो सभी पुराने हैं और मौन भाषा शब्द वहाँ जादू प्रदर्शन के लिए नहीं, भाव की अभिव्यक्ति के लिए रखा गया है। सुरभि की भाषा क्यों? सुरभि ने साधक के मन में कुछ भाव जगाये तो वह भाषा नहीं हुई क्या? एक गुलाब की सुगन्धि लेकर उस प्रेयसी की विविध बातें नहीं जान ली जातीं जिसने उसी तरह की गन्ध वाला एक गुलाव कभी दिया था? तात्पर्य यह कि सुरभि में भाषा-शक्ति है, मौन ही सही। उड़नेवाली भाषा आपने न देखी-सुनी हो पर यदि आप भाषा को ध्वनि पर आश्रित मानते हैं तो मानना पड़ेगा कि भाषा उड़ती है अन्यथा आप रेडियो पर घर बैठे दुनिया भर की भाषायें न सुन लेते। ये सब हवा या ईथर के पंखों पर ही उड़कर आपके पास आती हैं। यदि केवल सुरभि को उड़ाया गया होता तो उसका कुछ अर्थ न होता। सुरभि की भाषा ही सुप्त आशा को उद्दीप्त कर देती है, वन्दना रहस्यमय आराध्य को भी हिला सकती है, पर कवि किसी अपरोक्ष सौन्दर्य-सत्ता की ही वन्दना में सदा विश्वास रखता है।

इस तरह मैंने अपने इस गीत को समझा है समझा इसलिए कहा कि वह लिखनेवाला इस समझनेवाले से बहुत ऊँचा और गूढ़ था। उसकी मुझे अंशतः याद भर है।

मेरा काम कविता की अपनी ओर से व्याख्या कर देना था। आपने इसको इतना प्यार किया, उसके लिए आभारी हूँ। जहाँ आपकी कटु आलोचनायें मुझे बुरी नहीं लगीं वहीं अपनी प्रशंसा सुनकर मुझे लज्जा का अनुभव हुआ; उसे भी आपकी गुणग्राहिता समझ कर ग्रहण करता हूँ।

यदि मैंने कोई कटु बात लिख दी हो तो क्षमा करेंगे। बस!

आपका नवपरिचित—

शम्भुनाथसिंह

[३]

[साही जी का शम्भुनाथ सिंह के नाम पत्र]

दरगाह, शाहपीर,
मेरठ
६-६-४५

आदरणीय शम्भुनाथ जी,

बहुत दिनों से आपकी निकटता प्राप्त करने की इच्छा थी, और जब मैं इसकी आशा भी नहीं कर रहा था, दीवानगी में लिखे हुए एक पत्र के द्वारा वह सौभाग्य सहसा प्राप्त हो गया। पत्र पाते ही जी में आया कि अभी-अभी इसके एक-एक पृष्ठ के उत्तर में एक-एक पत्र लिख डालूँ, परन्तु दुर्भाग्य, बीमार था, शय्याग्रस्त। मेरा पढ़ना, लिखना, उठना, बैठना, जागना, सोना सब डाक्टर के हाथ में। कुछ करने की आज्ञा भी न थी। तिलमिला कर रह गया। इधर एक हफ्ते से ज्वर उतरा है, आज पत्रों का उत्तर देने की आज्ञा मिली है। मुझे खेद है, केवल आप ही को नहीं, कई पत्रों के उत्तर देने में विलम्ब हो गया। जिस समय मैंने महेन्द्र को पत्र लिखा था उस समय आशा हो चली थी अच्छे हो जाने की, परन्तु ज्वर का फिर आक्रमण हो गया। खैर!

आप तक मेरा पत्र पहुँच गया, यह सोचकर मुझे बड़ा कौतूहल और संकोच होता है। आप मुझसे बड़े हैं, केवल अवस्था और अध्ययन ही में नहीं वरन् ज्ञान और अनुभव में भी। मेरे लिए यह धृष्टता और सीमाक्रान्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कि आपकी कविता की 'आलोचना' करूँ। अवश्य मैं उस कविता को प्यार बहुत अधिक करता हूँ—और उसे हिन्दी की उत्तम कविताओं में से मानता हूँ—उसी भाँति जैसे एक सामान्य मनुष्य एक फिलम को देखकर कहता है कि वह अच्छी है अथवा बुरी। एक 'समालोचक' की न मेरे अन्दर योग्यता है न वह मेरा अधिकार ही है। आपको कदाचित् यह ज्ञात होगा कि हिन्दी से अत्यन्त प्रेम होते हुए भी मुझे उसे पढ़ने का सौभाग्य न प्राप्त हो सका। अपनी इस सीमित बुद्धि के कारण मुझे अधिकतर कविताओं इत्यादि को समझने में बड़ी कठिनाई हो जाती है और तब मैं अपने हिन्दीविद् मित्रों से पूछ कर अपनी बुद्धि की परिधि को बढ़ाने की चेष्टा करता रहता हूँ। मैंने अपने महेन्द्र-वाले पत्र में भी हर स्थान पर 'कठिनाई' ही लिखा है, यद्यपि मैं मानता हूँ कि उस पत्र का तरीका ऐसा ही है—जैसे समालोचना की जा रही हो। परन्तु वह

तो एक बराबर वाले को 'सखेतिमत्वा' कही हुई बात है। मैंने स्वप्न में भी न सोचा था कि वह समूचा पत्र आप तक पहुँच जायेगा। मुझे आशा है कि यदि अनजान में कोई अनकहनी बात मुझसे निकल गयी हो तो आप मुझे अप्रमेय समझ कर मेरी धृष्टता को क्षमा करेंगे। जो-जो भाव मेरे हृदय में उस कविता को पढ़ कर उदित हुए उन्हें मैंने उस पत्र में इतने खुले तौर से लिख डाला है जो महेन्द्र के पत्र के लिए तो कुछ नहीं था, परन्तु यह सत्य है कि बड़े लोगों के सम्मुख बात इस तरह नहीं करनी चाहिए। क्या कहूँ, मैं बहुत लज्जित हूँ; विशेषत: यह सोचकर कि आपने भी मेरी 'कठिनाइयों' को 'आलोचना' समझा।

फिर भी मुझे एक बात का सन्तोष है। जो मेरी इच्छा थी वह पूरी हो गयी। आपने मेरा बड़ा उपकार किया कि 'आलोचना' का उत्तर न देकर कविता का अर्थ एवं उसकी पृष्ठभूमि स्पष्ट कर दी। आपका गहन, गम्भीर और विचारपूर्ण पत्र मेरे लिए एक बड़े प्रोफेसर के लेक्चर से किसी भाँति कम नहीं। सचमुच आपने कविता के निर्माण-काल की जो मानसिक चित्रावली उपस्थित की है वह इतनी विलक्षण किन्तु स्पष्ट है कि मैं उसे बार-बार पढ़ता हूँ और मेरे कल्पना-नेत्रों के सम्मुख गीता का ग्यारहवाँ अध्याय विराट् रूप धारण करके उपस्थित हो जाता है। मुझे तो उस वर्णन को पढ़ते समय गद्यकाव्य का आनन्द आ गया।

परन्तु एक बात कहूँगा। मनोविज्ञान के सिद्धान्त और सूक्ष्म तर्क-वितर्क हृदय का कोमलतम अनुभूतियों में मिलाकर एक मीठा और मादक शरबत तैयार कर देना आपही का काम है, आपही का काम इस अर्थ में कि यह एक बिल्कुल ही नयी चीज है और मैं समझता हूँ कि हिन्दी-संसार शीघ्र ही आपकी इस देन को सर झुकाकर स्वीकार करेगा। पर यह चीज इतनी नयी और सूक्ष्म है कि जब तक यह वस्तु अधिक नहीं तो भी यथेष्ट रूप से स्पष्ट शब्दों में नहीं कही जायेगी तब तक केवल पुरानी रूढ़ि से परिचित सामान्य पाठक उसकी सम्पूर्ण सुन्दरता का आनन्द नहीं उठा पायेंगे। कम-से-कम मैं तो बिना बताये हुए चमेली के इस हलके-फूलके फूल की सुगन्धि में इतने गम्भीर और सूक्ष्म वैज्ञानिक तत्व की कल्पना भी नहीं कर सकता था। इस शरबत को पीने वाला उसकी मधुरता को तो समझ लेगा परन्तु यह नहीं बता सकता कि यह किस चीज का शरबत है। आपका पत्र पाकर तो मेरी दृष्टि में उस कविता का रूप-रंग सब बदल गया। कितने अधिक में से कितना कम मैंने समझा था! मेरी

आँख जैसे खुल गयी। आप मानेंगे कि मुझ जैसों के लिए वह कविता कुछ अधिक गूढ़ और क्लिष्ट है। फिर यदि उसमें मुझे अपनी भटकी हुई विचारधारा के अनुसार असम्बद्धता, अर्थगोपनता अथवा अपूर्णता दिखाई पड़े तो क्या आश्चर्य ?

बहरहाल आपका पत्र पढ़ने पर मेरी लगभग सभी कठिनाइयाँ दूर हो गयी हैं—करीब ९०% प्रतिशत, और उस कविता का मूल्य मेरे निकट सौगुना से भी अधिक बढ़ गया है। जितना ही मैं उस कविता को पढ़ता हूँ और सोचता हूँ कि कितने नवीन रूप से रोमांस तथा मनोविज्ञान एक साथ घुल गये हैं और इतनी गहरी तार्किकता होते हुए भी कितनी हृदयवेधी उफान उन हवाई पंक्तियों में भरी हुई है, तो मुझे शेली की कल्पना और कीट्स की सौन्दर्य-ग्राहकता का एक अनूठा भारतीय रूप दर्शित होता है। सच कहता हूँ, आपकी कविता को सचमुच एक अनुपम वस्तु समझता हूँ। मैं यह अतिशयोक्ति-युक्त प्रशंसा के लिए नहीं कह रहा हूँ बल्कि इसलिए कि सचमुच मेरे हृदय में यही भाव है और मैं उसे कहे बिना नहीं रह सकता।

रह गयीं मेरी १०% कठिनाइयाँ—तो वे इतनी छोटी और नगण्य हैं कि कविता की महत्ता के आगे उनका महत्त्व कुछ भी नहीं है। इसके अतिरिक्त वे कठिनाइयाँ नहीं हैं प्रत्युत कविता और उसकी भाषा एवं वर्णन-शैली पर मेरी व्यक्तिगत धारणायें हैं। उनकी कसौटी पर मैं यह अवश्य कहूँगा कि कविता की भाषा और वर्णन-शैली इतनी शक्तिवान और बहाने वाली नहीं है जितना मस्तिष्क पर छा जानेवाले उसके भाव तथा हृदय में सिहरन उत्पन्न कर देने वाली अनुभूतियाँ हैं। मैं फिर कहूँगा कि भाषा और वर्णन-स्पष्टता की ओर से आप कुछ लापरवाह से हैं। यह जोड़ना-जाड़ना या रिफ्लेक्स ऐक्शन नहीं है। यह केवल पहले थोड़ी-सी चेष्टा और बाद में अपने आप ही आ जाने वाली वस्तु है। यही वस्तु वर्ड्सवर्थ में नहीं थी और कीट्स में थी। यद्यपि वर्ड्सवर्थ की भावनायें अपनी ऊँची उड़ानों में कीट्स को कभी-कभी बहुत पीछे छोड़ जाती हैं परन्तु उसके पश्चात् वह बहुत नीचे आ जाती हैं। परिणाम है कि कीट्स को शेक्सपीयर के टक्कर का कवि कहा ही जाता है। क्या कीट्स या शेक्सपीयर की भाषा सायास है ? खैर यह, जैसा मैंने कहा, मेरी व्यक्तिगत धारणा है। अभी मैंने जाना ही क्या है, पढ़ा ही क्या है ? क्या मैं और क्या मेरी धारणा ? आशा है कि आप लोगों के संसर्ग में तथा अध्ययन और अवस्थावृद्धि के साथ धीरे-धीरे ठीक और पुष्ट

धारणायें बना सकूँगा। आप लोगों ने उत्साह बढ़ाया तो मैं बहुत कुछ सीख सकूँगा, ऐसा मेरा विश्वास अवश्य है।

एक महीने से अधिक हो गया, मैंने महेन्द्र को पत्र लिखा था। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि कोई उत्तर नहीं आया। महेन्द्र आज कल कहाँ है? मैंने नहीं जाना था कि पत्रों का उत्तर देने में वह इतना आलसी है। यदि आपसे मुलाकात हो तो मेरी ओर से उसे एक झिड़की दे दीजियेगा।

क्या आप जुलाई में प्रयाग आयेंगे? मेरा आना तो अवश्यम्भावी ही है। मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी आपसे मिलकर। मैं विचार करता हूँ कि अब आप से अक्सर मिलने का सौभाग्य मिलता रहेगा।

पत्र के छपाने के बारे में मुझे बड़ा संकोच होता है। मेरे लिए यह एक बड़ी वस्तु है कि मेरा पत्र कहीं 'छपे'। मैं अभी इसके लिए बहुत अयोग्य हूँ और कदाचित् इतना सम्मान बर्दाश्त न कर सकूँगा। मेरी कोई भी चीज अभी तक किसी पत्र-पत्रिका में नहीं छपी है। मुझे बड़ा डर लगता है। आप अपना पत्र अवश्य ही कविता के साथ-साथ किसी पत्रिका में छपवा दें। मेरा पत्र तो कदाचित् कोई छापे भी न। यदि बहुत आवश्यक हो तो आप उस पत्र को संशोधित करके उसमें की हुई 'आलोचना' को गुमनाम तौर से छपवा दीजिये, अपने पत्र के साथ-साथ। परन्तु यह सोच कर कि जनता से यह कहूँ कि अपने अमूल्य समय का कुछ अंश यदि तुम मेरी वस्तु को पढ़ने में लगाओ तो यह उसकी उपयोगिता तथा तुम्हारी बुद्धि को बदलेगा, मैं सिहर उठता हूँ। क्या मैं पाठकों के पाँच-दस मिनट पर अधिकार करने के योग्य हूँ? यह अतिक्रम तो न होगा? छोटे मुँह में बड़ी बात शोभा नहीं देती।

आशा है कि आप उत्तर शीघ्र देने की कृपा करेंगे और मेरा परिचय केवल इस कविता अथवा इन दो पत्रों ही तक न सीमित रखेंगे। मेरी लिखावट एक तो यों ही अच्छी-सी है, दूसरे बीमारी की कमजोरी के कारण और भी भीषण हो गयी है। अशुद्धि तो कदाचित् न हो परन्तु मेरी प्रार्थना है कि इसकी अपठनीयता को आप क्षमा करेंगे और दूसरी क्षमा मैं अपनी स्पष्टवादिता के लिए माँगना चाहता हूँ क्योंकि मेरी आदत जरा कुछ बेधड़क होकर लिखने-बोलने की पड़ गयी है। जो जी में आता है उसे छिपा नहीं पाता। इसलिए यदि किसी बात के कहने का ढंग ठीक न बन पड़ा हो तो उसे नादानी परन्तु ईमानदारी समझ कर टाल दीजियेगा।

आपका अनुज

विजयदेव नारायण साही

'दीवार की वापसी' और 'अकेला शहर'

कुँवर जी अग्रवाल

[१]

दीवारी की वापसी—सत्यान्वेषण का संकट

श्री शम्भुनाथ सिंह कृत एकांकी 'दीवार की वापसी' अपने शिल्प की नवीनता और गम्भीर अर्थ-सांकेतिकता के कारण तुरन्त ध्यान आकृष्ट कर लेता है। लेकिन मैं इसकी सबसे बड़ी सफलता यह मानता हूँ कि इसके द्वारा लेखक ने रंग-मंच माध्यम के प्रति अपनी संवेदनशीलता के विकास का परिचय दिया है। अपने अपरिहार्य माध्यम रंगमंच की सम्भावनाओं और शक्तियों के दोहन की ओर सजग हुए बिना नाटककार श्रेष्ठ कलात्मक नाट्य-कृतियों का सृजन नहीं कर सकता।

'दीवार की वापसी' की दीवार रंगमंच की चौथी दीवार है। इस चौथी दीवार ने पाश्चात्य रंगमंच के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है—उस समय भी जब एक-एक ईंट रखकर दृढ़तापूर्वक इसका निर्माण किया जा रहा था और तब भी जब रंगकलाकार और रंगशास्त्री इसकी ईंट से ईंट बजा रहे थे।

प्राचीन और मध्यकालीन रंगपरम्परा में दीवार सम्बन्धी कोई खास नियम नहीं था—अक्सर कोई दीवार नहीं होती थी, लेकिन कभी-कभी तीन दीवारें तक हो जाया करती थीं। चौथी दीवार का तो कोई अता-पता ही नहीं था। दर्शकों और अभिनेताओं के बीच सीधा सम्बन्ध था। अभिनेता दर्शकों को अपने 'करतब' दिखलाता था और दर्शकों की 'वाहवाही' प्रत्यक्ष रूप से लूटता था। दर्शकों और अभिनेताओं के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र निरन्तर चला करता था जिससे दर्शकों में भी एक किस्म की सक्रियता बनी रहती थी। किन्तु रूढ़ियों से बोझिल मध्यकालीन रंगपरम्परा को अस्वीकार करते हुए आधुनिक रंगमंच के यथार्थवादी उन्नायकों ने चौथी दीवार के प्रत्यय का विकास किया और रंगमंच तथा दर्शक-मण्डप के मध्य प्रत्यक्ष आदान-प्रदान की धारणा को

अपरिष्कृत मान कर उसे उखाड़ फेंकने की कोशिश करने लगे। दर्शकों के प्रति प्रत्यक्ष सम्बोधन, स्वगत, जनान्तिक, दर्शकों की ओर पीठ न करने आदि की रूढ़ियों को खत्म करके उन्होंने रंगमंच के दर्शकों की ओर वाले हिस्से को पारदर्शी दीवार से मढ़ दिया। वहाँ अभिनेताओं के लिये दर्शकों का अस्तित्व है ही नहीं। वे यह मानकर चले कि वे अपने कमरे की चारदीवारी के भीतर हैं और दर्शकों की ओर दीवार है तथा उन्हें कोई देख नहीं रहा है। वे चाहें तो दर्शकों की ओर पीठ कर सकते हैं, और उस ओर फर्नीचर भी लगा सकते हैं। दर्शकों को भी यह मानना पड़ा कि अभिनेता तमाशा दिखलाने वाले लोग नहीं हैं बल्कि परकाय-प्रवेश की अपनी कलाशक्ति के कारण अपने-अपने जीवन-कार्यों में व्यस्त वास्तविक मानवों को साकार कर रहे हैं, किन्तु उनके सामने कोई नाटक नहीं हो रहा है, बल्कि वास्तविक घटनाएँ घट रही हैं और वे उनके आकस्मिक, अवैध एवं अप्रत्यक्ष साक्षी मात्र हैं। चतुर्थ दीवार की इस धारणा ने रंगकला और नाट्य-लेखन को यथार्थवाद-प्रकृतवाद के सूक्ष्म विवरणों का आत्मसात कर, मध्यकालीन रूढ़ियों को तोड़ते हुए आधुनिकीकरण का पथ प्रशस्त करने में बड़ी सहायता दी। लेकिन एक दिन किसी रंगचिन्तक ने इस चतुर्थ दीवार के अस्तित्व की सार्थकता पर बड़ा-सा प्रश्न चिह्न लगा दिया और फिर इसे तोड़ने के प्रयत्न शुरू हो गये। तोड़ने की यह प्रक्रिया रंगमंच के आधुनिकीकरण को और आगे बढ़ा कर इस माध्यम की सम्भावनाओं और शक्तियों के नये द्वार खोल रही है।

अननुपातिक-सी लगने वाली चतुर्थ दीवार की यह चर्चा इसलिए मुझे आवश्यक जान पड़ी कि इस पृष्ठभूमि के बिना इस एकांकी की तकनीक और उपलब्धियों को अच्छी तरह समझा नहीं जा सकता। इसमें लेखक ने इस चौथी दीवार को ही अपना कोट टाँगने की खूँटी बनायी है।

नाटक के पात्रों में से एक सहसा एक दिन आश्चर्य के साथ लक्ष्य करता है कि उसके कमरे की एक दीवार गायब है और बहुत सारे लोग बैठे हुए बाहर से उसकी ओर घूर रहे हैं। लेकिन नाटक के दूसरे पात्र न केवल दीवार के इस अनस्तित्व से बेखबर हैं बल्कि 'क' के इस रहस्योद्घाटन के आग्रह को उसका पागलपन समझ बैठते हैं। नाटक का अधिकांश 'क' और अन्य पात्रों के इसी द्वन्द्व पर आधारित है। 'क' इस प्रकार आचरण करता है और यह समझाने की कोशिश करता है कि दीवार नहीं है। दूसरे पात्र 'क' की इस सनक को दूर करने की कोशिश करते हैं। इस प्रकार यह नाटक ऊलजलूल (ऐब्सर्ड)

शैली का आभास देता है। लेकिन इसे अर्थहीन या बिलकुल ऐब्सर्ड धारा का नाटक समझ बैठना भूल होगी, क्योंकि इसके पीछे निराशावादी दर्शन नहीं है।

वाक्य में किसी शब्द का अर्थग्रहण करते समय जब उसके मुख्यार्थ का बाध होता है अर्थात् अभिधेयार्थ अप्रासंगिक और निरर्थक हो उठता है, तब हम लक्षणा से उसमें नवीन अर्थ की कल्पना कर संगति और सार्थकता ढूँढ़ने की अपनी मनोवृत्ति को सन्तुष्ट करते हैं। यही मानसिक प्रक्रिया उस समय भी क्रियाशील होती है जब हम किसी अमूर्त (ऐब्स्ट्रैक्ट) चित्र का आदर्शन करते हैं। ऊलजलूल (ऐब्सर्ड) नाटकों के प्रेक्षकों के मानस में यह प्रक्रिया और भी अधिक शक्ति के साथ इस कारण सक्रिय हो उठती है कि रंगशाला में उनकी एकाग्रता बढ़ जाती है। अर्थहीनता को स्वीकार कर लेने पर उनकी उकताहट एवं आत्महीनता इतनी बढ़ जाती कि उन्हें रंगशाला छोड़ कर बाहर निकल आने के लिए विवश हो जाना पड़ता। इसका परिणाम यह होता है कि रंगमंच पर दिखलाई जाने वाली संगतिहीन या अत्यन्त सामान्य महत्त्व की क्रियाएँ भी व्यंजनापूर्ण, ध्वन्यात्मक, प्रतीकात्मक, साध्यावसानक या सांकेतिक हो उठती हैं, फिर भले ही उनकी कोई योजना लेखक ने सचेत रूप से की या न की हो। यह विशिष्ट अर्थग्रहण काफी हद तक प्रेक्षकों की अपनी मनोभूमि या संदर्भपरिधि पर आश्रित है।

इस नाटक में चौथी दीवार का प्रसंग भी बहुत अर्थगर्भित हो उठा है। पहला अर्थ तो सीधे रंगमंच के सौन्दर्यशास्त्र से सम्बन्धित है। यह पूर्वोक्त चतुर्थ दीवार की यथार्थवादी-प्रकृतवादी धारणा पर ही प्रहार है। अभिनेता दर्शकों का मनोरंजन करने, उन्हें कलात्मक रूप से प्रभावित करने के लिये ही रंगमंच पर आते हैं। दर्शकों की उपस्थिति और रंगसृजन के प्रति उनकी अनुकूल प्रतिक्रिया उन्हें प्रेरणा देती हैं, वे निरन्तर दर्शकों के प्रति संवेदनशील बने रहते हैं; उनकी कला दर्शकों की उपस्थिति से अनुकूलित होती रहती है। ऐसी स्थिति में उन्हें अस्वीकारने का भ्रम क्या सचमुच औचित्यपूर्ण है? क्या इस भ्रम के आवरण से आवृत अभिनेता अपनी कला द्वारा सत्यबोध करा सकने में समर्थ हो सकता है? फिर क्या इस चौथी दीवार की कल्पना की आड़ में अभिनेता को उन आत्मीय और निजी कार्यों को करने की आजादी मिल जाती है जिन्हें करने का आदी व्यक्ति अपने कमरे की ऐकान्तिक दुनिया में होता है? इस अन्तर्विरोध पर तीखा व्यंग्य उस प्रसंग में मिलता है जिसमें 'क' अपने सारे कपड़े उतार कर केवल एक जाँघिया पहने रह जाता है।

किन्तु अर्थ का यह आयाम केवल रंगकला-विशेषज्ञों तक ही सीमित रह जाने वाला है। शेष दर्शक तो सामान्य जीवन के सन्दर्भ में ही अर्थों की खोज करेंगे।

आधुनिक साहित्य का पाठक चौथी दीवार के अनस्तित्व से पीड़ित मि० 'क' की इस कहानी में अस्तित्ववादी दर्शन की अनुगूँज आसानी से सुन लेगा। सार्त्र के श्रेष्ठ नाटक Huis dos की प्रतिपत्ति 'दूसरे की अवांछित निरन्तर उपस्थिति ही नरक है' उसे इस नाटक में भी प्रकरान्तर से प्रतिध्वनित होती जान पड़ेगी :—

'कमबख्त यहाँ की दीवार क्या हो गयी ? अजीब बात है ! अपने घर में भी एकान्त नहीं। इतने सारे लोग मेरी ही ओर टकटकी लगाये देख रहे हैं, जैसे मैं कोई चोर होऊँ। हुँह, अब यहाँ बैठना है तो कपड़े पहनो ! या खुदा !

'बस, बस यार ! यही तो कहना चाहता हूँ कि हम अपने घर में रहते हुए भी सड़क पर हैं।'

'मेरी खुशी वापस आ गयी...दीवार वापस आ गयी।'

इन वाक्यों में यह संकेत काफी स्पष्ट हो सका है।

लेकिन मुझे तो ऐसा लगता है कि जिस प्रतीक को यह एकांकी सर्वाधिक शक्ति और सार्थकता के साथ प्रस्तुत कर सका है वह एक ऐसे व्यक्ति की लाचारी है जिसके कंधों पर सत्य के उद्घाटन का भार आ पड़ा है। वह व्यक्ति लेखक, कलाकार, दार्शनिक या बिलकुल सामान्य व्यक्ति, कोई भी हो सकता है। उस सत्य को उन सब तक सम्प्रेषित करना कितना कठिन है जो असत्य को ही सत्य मानने के आदी हो चुके हैं और बहुमत में हैं। सत्यद्रष्टा को संघर्ष करना पड़ता है और लोग उसे भी अपने समान बौना बना डालना चाहते हैं। पागल कहलाने से बचने के लिए अक्सर सत्यद्रष्टा को अपनी उपलब्धि छोड़कर दुनिया का असत्य स्वीकार करने के लिये विवश होना पड़ता है।

आदतों की अन्धपट्टी हट जाने से 'क' जब दीवार न होने के सत्य का ज्ञान कर लेता है तब उसकी पत्नी और नाटक के दूसरे पात्र आदत से हटने की अपनी असमर्थता के कारण दीवार होने के भ्रमदर्शन से अपने को मुक्त नहीं कर पाते।

"... ... ... तुम्हें रोज देखने की आदत है, जिससे दीवार दिखाई पड़ रही है... ..."

समस्या यह है कि किसी एक व्यक्ति के सत्य को दूसरे अनेक व्यक्ति कैसे स्वीकार कर लें ? बड़े सत्य को असत्य के बहुमत से झुठलाया जा सकता है ?

"......आपकी दो आँखों का देखना सही है या हमारी छः आँखों का ?"

किन्तु 'क' का सत्यबोध केवल दो आँखों का सत्यबोध नहीं है—हजारों आँखों का सत्यबोध है, यह दर्शकों का भी सत्यबोध है। वे भी देख रहे हैं कि दीवार नहीं है।

वास्तव में यहाँ रंगमंच माध्यम की एक विशेष शक्ति क्रियाशील हो उठती है जिसे पश्चिम के पुराने नाट्यशास्त्रियों ने अपने ढंग से नाटकीय बिडम्बन (ड्रैमेटिक आयरनी) कहा है। यह दर्शकों के अर्थबोध का अपना अतिरिक्त आयाम है जो नाटकीय घटनाओं के साक्षी होने के नाते उन्हें प्राप्त होता है। इस प्रसङ्ग में इसका सृजनात्मक उपयोग हुआ है। यह दर्शकों के मन में विश्वास जगाता है कि 'क' का सत्यबोध उसकी सनक मात्र नहीं है, स्वयं उनका भी अनुभूत सत्य है।

स्वानुभूत सत्य से बड़ा सत्य व्यक्ति के लिए कोई दूसरा नहीं हो सकता :—

"मेरी दो आँखों का, क्योंकि ये मेरी आँखें हैं; आप तीनों की या हजारों लाखों की नहीं।"

व्यक्ति के सत्यबोध को झुठलाने के लिए असत्य का आग्रह कई तरीके अपनाता है। सत्यद्रष्टा को फुसलाया जाता है :—

"का—एक बात सुनो, तुम हमेशा मेरी बात मानते हो न ?"

"क—हाँ, मानता तो हूँ।"

"का—तो इस बार भी मान लो कि दीवार है।"

उसे सम्मोहित किया जाता है :—

"का—केवल समझौते के लिए मत मानो। अपने मन में बैठा लो कि वहाँ दीवार थी, है, और रहेगी।"

उसे दीवाना बताया जाता है :—

"अब लो, हम तीन जन देख रहे हैं कि वह दीवार है और यह कहता है कि दीवार नहीं है। पागल और किसको कहते हैं ... ...।"

और अन्त में जब कोई चारा नहीं रहता तो सत्यदर्शन करने वाली आँखों पर पट्टी बाँध कर उससे अपने सत्यबोध की पुनर्परीक्षा करने को कहा जाता है।

'क' वास्तव में सत्यान्वेषी ही है। वह मानव को झूठी सभ्यता के पर्यावरण से बेलौस कर, उसके कंचुकों का उच्छेदन कर, उसे नंगा खड़ा कर देना चाहता है। यहाँ नाटककार विशेष रूप से बधाई का पात्र इसलिए है कि उसने अपनी थीम को मूर्त करने के लिए जो रूपबंध चुना है वह पूरी तरह से दृश्य, नाटकीय, सांकेतिक और संप्रेषणीय है। इतना ही नहीं, रंग-माध्यम का उपयोग करते हुए एकांकीकार ने एक स्थल पर एक ऐसे नाट्य बिम्ब का निर्माण किया है जो बिलकुल क्रांतिकारी और भारतीय रंगमंच के लिए अब तक अजाना है।

सदियों से काटते चले आने पर भी मनुष्य अपने नाखूनों से अब तक मुक्ति नहीं पा सका है। अपनी सारी प्रगति के बावजूद मनुष्य वहशी बना हुआ है। यदि कृत्रिम सभ्यता के सारे आवरण उतार दिए जाएँ, जिन्हें उसी प्रकार आसानी से उतारा जा सकता है जिस प्रकार कपड़ों को, तो आदमी फिर वही बन्दर जैसे मुँह वाला बिलकुल नंगा आदि मानव बन जायगा। ठीक यही बिम्ब नाटककार एक स्थल पर प्रेक्षकों के मानस में मूर्त कर देता है।

'क' दर्शकों के सामने अपने सारे कपड़े उतार देता है और सिर्फ एक जाँघियाँ पहने रह जाता है। फिर जाँघिये के बन्द पर हाथ रखे हुए रंगमंच पर बने कमरे के पीछे की कोठरी में चला जाता है। उस कोठरी से रंगमंच की ओर की दीवार में एक इतनी बड़ी खिड़की है कि खड़े होने पर आदमी के कमर से ऊपर का पूरा हिस्सा दिखाई पड़ता है। इस खिड़की के जरिये वह जाँघिया भी बाहर दर्शकों के सामने गिरा देता है। दर्शक अब आसानी से कल्पना कर सकते हैं कि वह कोठरी में बिलकुल नंगा है जिसके ऊपर के नंगे हिस्से को तो वे स्पष्ट ही देख रहे हैं। दर्शकों के मन में कहीं यह भ्रम न रह जाए कि उसने कोई दूसरा कपड़ा पहन कर जाँघिया उतारा है, इसलिए नाटककार बाहर दरवाजा खटखटाए जाने पर उससे कुछ सेकेण्ड तक पाजामा ढुँढ़वाता है जिसे पहन कर वह कोठरी के बाहर निकल सके। इस प्रकार कोठरी में बिलकुल नंगा होकर जब वह बन्दर का मुखौटा लगा लेता है तो आदि मानव के प्रतिरूप को आसानी से साकार कर देता है। नाटककार का यह प्रयोग बहुत ही साहसपूर्ण है।

मुखौटों के उपयोग द्वारा नाटककार ने नाटकीय और शक्तिशाली ढंग से आज के आदमी की असली तस्वीर पेश की है। आज का आदमी बन्दर की तरह असंस्कृत, लोमड़ी की तरह मक्कार, गीदड़ की तरह कायर, गधे की तरह मूर्ख और भेंड़ की तरह विवेकहीन है। आदमियों के नकली चेहरों पर उनकी असली सूरतों को व्यक्त करने वाले इन जानवरों के चेहरे लगाकर 'क' सत्यान्वेषण की

अपनी उपलब्धि को इस प्रकार मूर्त कर देता है कि दर्शकों के मन पर उसकी गहरी छाप पड़ जाती है। इस तकनीक के उपयोग द्वारा नाटककार ने अपनी कल्पनाशक्ति और अभिव्यंजना-कौशल की मितव्ययिता का परिचय दिया है।

सत्यान्वेषी 'क' की दृष्टि में आज की दुनिया कैसी है, इसे नाटककार ने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। एक पात्र द्वारा 'क' से यह पूछने पर कि वह सामने क्या देखता है, 'क' उत्तर देता है :—

'भीड़, भीड़ में आदमी, आदमियों के चेहरे, चेहरों में आँखें, आँखों में भय, पीड़ा, मक्कारी, धोखा, फरेब, हिंसा...' क्या मानव-समाज के आधुनिकीकरण की यही उपलब्धि है ?

लेकिन इस नाटक के पात्र अन्यापदेशिक नाटक के पात्रों की तरह सिद्धान्तों एवं अमूर्त भावों की स्थूल मूर्ति मात्र नहीं हैं—बिलकुल नहीं। नहीं इस नाटक की सतह पर तैरने वाला जीवन का स्वरूप यथार्थ की दुनिया से बिलकुल कटा हुआ है। सतही रूप से इसे एक ऐसे सनकी (न्यूरोटिक) व्यक्ति की कहानी माना जा सकता है जो क्रमशः विक्षिप्तता (साइकोसिस) की ओर बढ़ रहा है, उसकी क्रियाओं की व्याख्या डिल्यूजन और हैल्युसिनेशन जैसे मनोरोग-लक्षणों द्वारा आसानी से की जा सकती है। पात्रों के अमूर्तीकरण से बचकर लेखक ने वास्तव में रंगमंच-माध्यम की अपनी सही पहचान का सबूत दिया है। नाटक की शक्ति का सबसे बड़ा आधार अभिनेता है जिसकी सार्थकता अपने सारे भाव-बोध की समृद्धि के साथ मानव के बिम्ब को रूपायित करने में है। अमूर्त पात्र अभिनेता की इस शक्ति को पंगु कर देते हैं।

यों यह एकांकी बिलकुल प्रहसन है। नाटककार हल्के-फुल्के प्रहसनात्मक ढंग से दर्शकों का मनोरंजन करता हुआ गहरे अर्थों के केवल संकेत देता है। नाटककार की बड़ी सफलता इस बात में भी है कि प्रहसनकार के दायित्व से वह एक क्षण के लिए भी स्खलित नहीं हुआ है। यदि अप्रौढ़ नाटककार इस कैनवास पर काम करने बैठता तो दर्शकों के लिए अच्छा-खासा सर-दर्द बन जाता।

कारीगरी की दृष्टि से इस नाटक का प्रौढ़ शिल्प हिन्दी में पश्चिमी नाटकों का नमूना पेश करता है।

●

(२)

'अकेला शहर' : अग्रिम रास्ता

'अकेला शहर' हिन्दी का सम्भवतः एकमात्र अभिव्यंजनावादी (एक्सप्रेशनिस्टिक) नाटक है। किन्तु इस समय हिन्दी का नवीनतम फैशन 'ऊलजलूल नाटक' होने और अभिव्यंजनावादी नाटक में भी एक प्रकार की बाह्य असंगति की निहिति के कारण इसे भी ऊलजलूल नाटक समझ लेने का भ्रम आसानी से हो सकता है। वैसे इस नाटक में प्रतीकों, अन्यापदेशिकता तथा ऊलजलूलपन का भी प्रयोग हुआ है। इन फैशनपरस्त कला-प्रवृत्तियों के प्रयोग सम्भवतः मुझे उतना आकर्षित न कर पाते यदि ये केवल शाब्दिक स्तर पर होते। किन्तु इसके विपरीत इस नाटक में रंगमंच-माध्यम की कुछ ऐसी विशेष शक्तियाँ उभर सकी हैं जो सम्भवतः यथार्थवादी शैली में उतनी स्पष्टता से न उभर पातीं। स्पष्ट ही यह नाटक अग्रिम दस्ते (अवांगार्द) की रचना है, और ऐसी कृति की सार्थकता यही हो सकती है कि यह उन कला-मूल्यों का अन्वेषण करे और उन्हें सघनीकृत रूप में उपस्थित करे जिनका बाद में सामान्य जन के स्तर पर व्यापक वितरण हो सके।

अयथार्थवादी कला-प्रवृत्तियों की नाटक के सन्दर्भ में सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि ये नाटक को कहानी के विवरणों की स्थूलता से मुक्त कर देती हैं और कथा की तर्कसंगत परिणति के लिये आवश्यक सूचनाओं और स्थितियों के संयोजन की अनिवार्यता से मुक्ति पाकर नाटककार अपनी थीम को सीधे नाटकीय प्रभावों द्वारा व्यंजित कर सकता है। तब उसकी रचनाशीलता उन बिम्बों के निर्माण की ओर उन्मुख होती है जिनका मूल स्रोत रंगमंच-माध्यम की शक्तियाँ होती हैं और तभी वह भाषा के साहित्यिक प्रयोग की रूढ़ियों से अलग हटकर उसका नाटकीय प्रयोग सीख सकता है।

इस दृष्टि से 'अकेला शहर' की रचना महत्त्वपूर्ण है—नाटककार के लिये और अध्येताओं के लिये भी। इसमें उसे असफलताओं का सामना करना पड़ा है तो सफलता की मंजिलों की सीमाएँ भी समीप आयी हैं। जहाँ बहुत कुछ कह डालने का मोह नाटककार को भाषा के मामले में अतिव्ययी बना देता है और शिल्प को अनपेक्षित स्फीति देकर प्रभाव को बिखरा देता है, वहीं उससे अर्थों के आयामों में विस्तार भी होता है। काव्य रचने का अभ्यास जहाँ नाटककार को जगह-जगह शब्द-बिम्बों के आकर्षण के हाथों पराजित कर देता

है वहीं उससे उसने शक्तिशाली नाटकीय प्रभाव भी पैदा किये हैं और उसे अन्तर्मन की गूढ़ अनुभूतियों को साकार करने में सुन्दर सफलताएं भी मिली हैं।

'अकेला शहर' में यथार्थ, स्वप्न, और फैंटसी के धरातल आपस में गड्डमड्ड कर दिये गये हैं और स्थानों, कालों तथा पात्रों में कौन यथार्थ हैं और कौन फैंटसीमूलक, यह पहचान पाना सरल नहीं रह गया है, आवश्यक भी नहीं। कभी दो पात्र आपस में बात करते-करते सहसा समाधिस्थ से हो जाते हैं और अन्तर्मन को स्वगत के रूप में उँडेलने लगते हैं। इस समानान्तर स्वगत से एक विलक्षण बुनावट तैयार होती है जो अक्सर नयी कविता बन गयी है।

स्वभावतः ही इस नाटक में प्रतीकों का खूब उपयोग हुआ है। ये प्रतीक शब्दों, घटनाओं, व्यक्तियों, वस्तुओं और शारीरिक व्यवहारों के लक्षणों द्वारा भी बनते हैं। इन प्रतीकों की खूबी यह है कि ये काफी उभरे हुए हैं और अपनी ओर ध्यान आकृष्ट कर उनका अर्थ ढूँढ़ने के लिये विवश करते हैं और इस प्रकार ये नाटकीय भी हैं। उनमें भी शारीरिक लक्षणों वाले प्रतीक रंगमंच की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि ये अभिनय-कला को अभिव्यंजनात्मक आधार प्रदान करते हैं। किन्तु इन प्रतीकों में अक्सर सटीकता की कमी और बिखराव भी है। और इसीलिये इस नाटक के निहितार्थ और जीवनदर्शन सम्बन्धी उपलब्धियाँ अस्पष्ट, बहुअर्थक या परस्पर विरोधी भी हो गयी हैं। तब भी इसे एक आधुनिक सुशिक्षित दम्पति के व्यक्तित्वों के विघटन, उनके चिन्तन और कारणों की खोज की कहानी माना जा सकता है। वास्तव में इस दम्पति की मनोकामनाओं, दुःस्वप्नों, स्मृतियों आदि से ही इस नाटक का ताना-बाना बुना गया है और इनके सहारे ही आधुनिक भारतीय जीवन की कुछ विसंगतियों, संकटों तथा समाधानों की ओर इंगित करने का प्रयास नाटककार ने किया है।

तकनीकी दृष्टिकोण से मुझे इस नाटक की बड़ी उपलब्धि लगती है नाटककार का फ्लैशबैक-प्रयोग। इस नाटक में फ्लैशबैक के दो स्थल हैं और दोनों एक दूसरे से किंचित भिन्न। ये दोनों ही अपनी मनोवैज्ञानिकता, नाटकीयता और सरसता में हिंदी नाटकों में अपना सानी नहीं रखते।

पहला फ्लैसबैक श्री और श्रीमती कपूर की विगत अनुभूतियों का डुएट है। अपनी-अपनी और एक दूसरे की जीवन-उपलब्धियों या असफलताओं का आकलन करते हुए वे तन्द्रिल हो जाते हैं और अपने लिबिडो की पूर्व अभिव्यक्ति के स्वप्न में डूबने लगते हैं। इस फ्लैशबैक का क्रमिक विकास होता है और चेतन से उपचेतन तथा वर्तमान से अतीत की यात्रा बिलकुल स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक

सरणि पर चलती है। पहले कुछ देर तक दोनों एक दूसरे के स्मृति-अनुभव के हिस्सेदार होते रहते हैं. चेतन जगत् से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध बनाये रखते हैं, किन्तु फिर वे बाहरी दुनिया से बिलकुल कट कर स्मृतिलोक में ही विचरण करने लग जाते हैं।

दूसरा फ्लैशबैक अकेले श्रीमती कपूर के पूर्व प्रणय की स्मृति है। इसमें पूर्व घटना का स्थूल पुनर्निर्माण किया गया है और स्मृति का पात्र, श्रीमती कपूर का प्रणयी सदेह मंच पर आ उपस्थित होता है। श्रीमती कपूर को भी अतीत में केवल मानस-यात्रा करते ही नहीं दिखलाया जाता, वह स्थूलतः भी अतीत जीवन की आकृति ग्रहण करती है। इतनी दूर तक तो यह फ्लैशबैक बिलकुल स्पष्ट और परम्परित है और इसमें कोई विशेषता नहीं। किन्तु इसके साथ ही नाटककार एक ऐसी विशेष युक्ति का आश्रय लेता है जिससे उसका यह प्रयोग सर्वथा विलक्षण हो उठता है। वह अतीत की घटनाओं और पात्रों का पुनर्निर्माण तो करता है लेकिन स्थान का दृश्यपीठ अतीत में नहीं ले जाता। वर्तमान का कमरा और दहलीज ही अतीत की सड़क और पार्क बन जाता है; मेज पर रखा हुआ फूलदान गुलाब की झाड़ी बन जाता है। दृश्यपीठ के स्थूल बिम्ब का अभिनय और शब्दों के बिलकुल दूसरे बिम्बों के सायास आरोपण द्वारा यह नाटकीय रूपान्तरण सौन्दर्यानुभूति का एक नया आयाम उपस्थित करता है और अभिनय तथा शब्दों द्वारा दृश्य-निर्माण की संस्कृत के रंगमंच की ऊँची कला का स्मरण दिलाता है।

इन प्रसंगों में भाषा के नाटकीय प्रयोग का सुन्दर निदर्शन प्राप्त होता है। रंगमंच-माध्यम, विशेष रूप से अभिनय-कला, साधारण भाषा को भी कितनी प्रभावशाली बिम्ब-विधायकता प्रदान कर सकती है, इसे यहाँ स्पष्ट देखा जा सकता है।

अभिनय-कला की सूक्ष्म अभिव्यंजनाओं की सम्भावनाएँ इन टुकड़ों को कुशल अभिनेताओं के लिये गहरे आकर्षण की वस्तु बना देती हैं।

पश्चिमी यथार्थवाद-प्रकृतिवाद के प्रचलन से सख्त हुए रंगमंच को ये फ्लैशबैक स्थान और कालगत तरलता पुनः प्रदान करते हैं।

डा० शम्भुनाथ सिंह की इतिहास-दृष्टि

•

कृष्णनाथ शर्मा

पहले तो इतिहास-दृष्टि की जरूरत ही क्या है ? ऐसा लगता है कि हर पीढ़ी अपनी वर्तमान परिस्थिति और भविष्य की आकांक्षा की दृष्टि से इतिहास को एक खास नजरिये से ही देखती है। हर पीढ़ी का हर कोई ऐसा करता है, ऐसा भी नहीं है क्योंकि लोक तो बहुत कर के गतानुगतिक ही होता है। वह अपने इतिहास की विरासत को भी—वह जैसी भी, जिस रूप, रूपाकार में मिली हो—प्राय: जस-की-तस स्वीकार लेता है। अलबत्ता लोक में से ही, एक अत्यन्त अल्पमत—सृजनशील अल्पमत—इतिहास की इन गढ़ी-गढ़ायी मान्यताओं को ललकारता है। यह अल्पमत पूरा-का-पूरा बुद्धिजीवी वर्ग नहीं होता, क्योंकि इस वर्ग का भी बहुमत तो आत्म-तुष्टों का होता है। इनका विद्रोही अपलमत—जिन्हें बौद्धिक कह लें—इतिहास की परम्पराप्राप्त अवधारणाओं को चुनौती देता है क्योंकि वह इतिहास का जो दायभाग वर्तमान को मिलता है उससे कहीं-न-कहीं गहरे में असन्तुष्ट होता है। इस असन्तोष से असहमति उपजती है या असहमति से असन्तोष, यह तो वैसा ही प्रश्न है कि अण्डे से मुर्गी पैदा होती है या मुर्गी से अण्डा। जो हो, वर्तमान पर इतिहास को छाया से मुक्ति पाने की चेष्टा में, कम-से-कम भविष्य को इससे बचाये रखने के प्रयत्न में, प्राय: प्रत्येक पीढ़ी का यह अत्यन्त सृजनशील अल्पमत अपनी वर्तमान स्थिति और भविष्य की परिकल्पना पर से इतिहास को नये सिरे-से सिरजता या कम-से-कम एक नयी ही व्याख्या, पुनर्व्याख्या करता है।

ऐसा सहसा नहीं हो जाता। पहले तो शायद एक वाक्य—मनातीत असन्तोष पैदा होता है। यह असन्तोष इतिहास के प्रसंगों को, पात्रों को, कृतियों को नये सिरे से देखने के लिए उकसाता है। इस दरस-परस से, इतिहास के तहखानों में भूलने-भटकने और खोने और पाने से, और समय-समय पर वर्तमान और भविष्य की किरण के कौंध जाने से कभी किसी को एक दृष्टि मिल जाती है जो अनदेखे में देखने की आँख देती है। लेकिन इस दृष्टि का मिल जाना ही अलम् नहीं। इस दृष्टि से फिर सब दूर देख कर, इसे सुअंजन से आँज कर, द्रष्टा को

अपने दृश्य को भली प्रकार देखना पड़ता है और फिर इन्हें टाँकना, माँजना, निखारना वगैरह आपसी बात-चीत, परिचर्चा, लेख, पैम्फलेट, पुस्तक वगैरह के रूप में चलता रहता है। इस अभ्यास और अनुशासन के क्रम से गुजर कर वह दृष्टि अपने युग के इतिहास को उजागर करती है। जरूरी नहीं कि असहमति या असन्तोष से उपज कर यह दृष्टि अपनी परिणति तक पहुँच ही जाए। प्रायः हमेशा ही मामला बीच में ही फँस जाता है तो फिर यह इतिहास-दृष्टि पूरी नहीं उतरती, और इस तरह बहुत करके यह अधूरी ही रहती है। ऐसी हालत में यह प्रक्रिया अगली पीढ़ी के असन्तोष, असहमति वगैरह का कारण बनती है और इतिहास की यह गति चलती रहती है।

इतिहास की इस अवधारणा में एक किस्म का दर्शन कहीं-न-कहीं जरूर जुड़ा हुआ है। एक किस्म का दर्शन इसलिए कह रहा हूँ कि जरूरी नहीं कि इसके पीछे कोई व्यवस्थित दार्शनिक प्रणाली ही हो। लेकिन हाँ, जैसा भी हो कालात्मा का दर्शन तो इसके पीछे होना ही चाहिए। अब यह कालचक्र पूरा-पूरा घूम गया है या एक सीधी रेखा में ऊपर जा रहा है या द्वन्द्वात्मक रीति से बढ़ता है या फिर यदृच्छा से चलता है, यह अलग बात है।

इतिहास-दृष्टि को एक खतरा भी है। जब यह दीठि बँध जाती है तो फिर एक पूरे काल को एक खास नाम, रूप, गुण, कर्म के मुताबिक ही देखती है, अन्यथा नहीं। जब कि जहाँ समाजविज्ञान एक ओर इतिहास का सामान्यीकरण प्रस्तुत करता है, वहीं व्यक्तिगत भेद के मनोविज्ञान को भी उभारता है। इनमें से जो सिर्फ इतिहास की सामान्य चेतना को ही देखता है वह नहीं देखता, जो सिर्फ व्यक्तिगत भेद को देखता है वह भी नहीं देखता; जो एक साथ सामान्य और विशेष को अलग-अलग और साथ-साथ देखता है वही देखता है। क्योंकि अगर जनश्रुति को सही मान लिया जाए तो प्रायः एक ही आर्थिक-सामाजिक परिस्थिति में तुलसी और कबीर दोनों ही काशी में रहे। लेकिन इनमें जो व्यक्तिगत भेद हैं वह जबर्दस्त है। इस इतिहास को छोड़ दें, क्योंकि शायद यह कहना बहुत ठीक न होगा कि तुलसी और कबीर की स्थिति प्रायः एक थी। इसलिए अगर बिलकुल अपनी आँख के आगे घटे प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानें तो प्रायः एक देश, काल, परिस्थिति, पीढ़ी और जाति के सर्वश्री शम्भुनाथ सिंह, वासुदेव सिंह उर्फ त्रिलोचन शास्त्री, ठाकुरप्रसाद सिंह, नामवर सिंह, बच्चन सिंह, शिवप्रसाद सिंह वगैरह की सम्वेदनाओं में और इनकी कृतियों में अन्तर है। असल में इतिहास तो पार्श्व-छवि है, इस पार्श्व-छवि को उकेरता है व्यक्ति।

समाजविज्ञान की परिभाषा में मानव-व्यवहार अन्य बातों के अलावा, पात्र, पर्यावरण और प्रस्तुत आवश्यकता—इसकी तीव्रता—न्यूनता पर निर्भर करता है। और जो बात मानव-व्यवहार के लिए सही है, वही बहुत करके कवियों, लेखकों, आलोचकों वगैरह पर भी लागू है।

जो हो, आज-कल जैसा अबौद्धिक वातावरण देश में है, खास तौर पर हिन्दी के लेखकों, कवियों, आलोचकों वगैरह में है, उसमें इन प्रश्नों पर विचारों का परस्पर आदान-प्रदान प्राय: नहीं ही हो पाता। अज्ञेय जी से लगा कर नामवर जी तक 'परस्पर सम्प्रेषण' या 'संलाप' के टूट जाने का शिकवा करते रहते हैं। इसलिए जो लोग इन प्रश्नों से उलझते हैं वे एक किस्म का जोखिम ही उठाते हैं।

डाक्टर शम्भुनाथ सिंह अपने पचासवें वर्ष के आस-पास पहुँच कर भी ऐसा जोखिम उठा रहे हैं, और उस असंतोष और असहमति को दर्ज कर रहे हैं जो बौद्धिक प्रयत्नों के लिए आधारभूत है। उदाहरण के लिए, **हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका** (वाराणसी, १९६६) का प्राक्कथन देखिये :—

"अब तक हिन्दी साहित्य के अनेक इतिहास लिखे जा चुके हैं और उनमें से कई अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु इतिहास सम्बन्धी आधुनिक मान्यताओं के निकष पर वे खरे नहीं उतरते ......।"

आगे चल कर इतिहास की आधुनिक अवधारणाओं का जिक्र करते हुए शम्भुनाथ जी लिखते हैं :—

"वर्तमान समय में इतिहास के सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा बहुत बदल चुकी है। उस धारणा के अनुसार इतिहास केवल घटनाओं और व्यक्तियों के जीवन-वृत्त का संग्रह नहीं है, न तो वह विचार-धाराओं का आकलन मात्र है। वह मानव-चेतना की सक्रियता का अभिलेख है।......... वस्तुत: इतिहास एक अखण्ड सत्ता है जिसमें चेतना के सभी आयाम अविच्छिन्न होते हैं। इस दृष्टि से देखने पर इतिहास एक प्रवाह प्रतीत होता है जिसमें राजनीति, धर्म, संस्कृति, समाजव्यवस्था, साहित्य, कला, विज्ञान, प्रविधि सभी मानवीय प्रयत्नों का समावेश रहता है।"

(प्राक्कथन, वही, पृष्ठ—१)

शम्भुनाथ जी के अनुसार 'हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका की रचना इसी धारणा को स्थापित करने की दृष्टि से हुई है।' निश्चय ही, यह इस रचना का एक हेतु है क्योंकि इसमें तो लेखक की बात न मानने का कोई कारण या आधार नहीं है। लेकिन अगर इतिहास-दृष्टि के प्रयोजन का जो विश्लेषण यहाँ

किया गया है वह सही है, और मेरे लेखे तो वह सही है ही, तो फिर इस प्रत्यक्ष हेतु का भी कोई हेतु होना चाहिए। वह उस प्राचीन काल में न होकर आधुनिक काल में, बल्कि शम्भुनाथ जी के काल में ही कहीं होना चाहिए। ऐसा लगता है कि कहीं-न-कहीं समकालीन साहित्य का काल-विभाजन दोषपूर्ण था और इसी से वह काल-विभाजन या और नामकरण शम्भुनाथ जी को रास नहीं आया। वैसे यह बात शम्भुनाथ जी खुले-खजाने कहते हैं कि हिन्दी साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन 'त्रुटिपूर्ण' है, 'चाहे उन कालों के नाम आदि, पूर्व-मध्य, उत्तरमध्य, और आधुनिक (या वर्तमान) काल हो या वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और गद्यकाल।...'

लेकिन इन सभी कालों और नामों में भी शम्भुनाथ जी की दिलचस्पी अपने काल, नाम, रूप में हो, यह सहज है। इस सिलसिले में मुझे याद आता है कि शम्भुनाथ जी १९५० वाले दशक में 'जनवाणी' में एक नाम-रूप को उभार रहे थे, शायद 'स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद' का। मुझे ऐसा लगता है कि १९५० का दशक जैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वैसे ही साहित्य की राजनीति में दो शिविरों में अतलान्तिक और सोवियत' 'परिमल' और 'प्रगतिशील' में बँटा हुआ था। जहाँ तक मुझे स्मरण है, शम्भुनाथ जी की 'स्वच्छन्दतावादी यथार्थवाद' की स्थापनाएँ इन दो साहित्यिक 'वादों' और 'शिविरों' के बीच मिली-जुली अर्थव्यवस्था या मध्यम मार्ग या गुट-निरपेक्षता जैसी थीं। वैसे यह जो समन्वय था वह एक गहरे अन्तर्द्वन्द्व का भी हो सकता है : जड़-चेतन, भाववाद और यथार्थवाद वगैरह के द्वन्द्व और द्वैत का निरसन भी इस अद्वैत में रहा हो तो आश्चर्य नहीं।

जो हो, इसका कोई खास चर्चा १९६० के दशक में कम-से-कम मुझे सुनने को नहीं मिलता। (सुना है कि गत वर्ष कभी डाक्टर व्रजविलास श्रीवास्तव ने किसी गोष्ठी में इसका चर्चा किया था।) हाँ, यह जरूर याद है कि उन्हीं दिनों, पचास में, हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन पर नव-संस्कृति संघ में चर्चा हुई थी। शायद एक बैठक में आचार्य नरेन्द्रदेव भी उपस्थित थे जिसमें सर्वश्री शम्भुनाथ सिंह, विजयदेव नारायण साही आदि ने इन प्रश्नों को उठाया था। अब 'हिन्दी साहित्य की सामाजिक भूमिका' में इस पर एक अध्याय ही है।

वैसे अगर कारणों की तलाश को हम आगे बढ़ाते चलें तो फिर इसका अन्त नहीं, क्योंकि हर उत्तर के बाद यह प्रश्न उठ ही सकता है कि आखिर यह क्यों हुआ ? इस तरह हम अन्तिम 'क्यों' तक शायद कभी पहुँच नहीं सकेंगे और न

यह इसका अवसर ही है। वैसे भी इतिहास-दृष्टि के विश्लेषण में मूल उत्स क्या है, कहाँ है, इससे ज्यादा महत्त्व इस बात का हो जाता है कि इस पर से देखा क्या गया है? लिखा क्या गया है? और यह सब कैसा बन पड़ा है; क्योंकि चुनौती जो भी रही हो, महत्त्व जवाब का है, इसकी शैली का है और इसकी संवेदना और इतिहास और व्यक्ति की चेतना को पकड़ सकने की शक्ति-युक्ति का है।

इस दृष्टि से डाक्टर शम्भुनाथ सिंह की प्रकाशित पुस्तकों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण मुझे उनके **'हिन्दी काव्य का इतिहास'** की पाण्डुलिपि लगती है। लेकिन यह अप्रकाशित है, इसलिए इस पर यहाँ चर्चा करना कब्ल वक्त ही होगा।

वैसे भी इतिहासलेखक के बारे में कहा जाता है कि इतिहास की झलक या तो युवावस्था में ही दिख जाती है या फिर प्रौढ़ता के साथ आती है। शम्भुनाथ जी के पचास साल पूरा कर लेने पर हम उनको बधाई देते हैं; और यह आशा करते हैं कि वे भविष्य में, अन्य बातों के अलावा, 'इतिहास-दृष्टि' की दृष्टि से भी और ज्यादा प्रौढ़ और परिपक्व रचनाओं से हिन्दी साहित्य को परिपूरित करेंगे।

●

डॉ० शम्भुनाथ सिंह की कृतियों का रचना-क्रम

जगदीश चन्द्र मिश्र

कवि दो प्रकार के होते हैं, प्रातिभ और अभ्यासशील। प्रातिभ कवि में काव्य-रचना की प्रवृत्ति बाल्यावस्था में ही उत्पन्न हो जाती है और अवस्था-वृद्धि के साथ ज्यों-ज्यों बौद्धिक और व्यावहारिक ज्ञान की वृद्धि होती जाती है, वह प्रतिभा उत्तरोत्तर तीव्र और सशक्त बनती जाती है। ऐसी प्रतिभा युगीन सन्दर्भों से जुड़ी होती है जिसके कारण कवि की काव्य-धारा भी निरन्तर नवीन भूमियों पर प्रवाहित होती हुई उतरोत्तर व्यापक और गहरा प्रभाव डालने वाली बनती जाती है। अभ्यासशील प्रतिभा में यह क्षमता नहीं होती। ऐसे कवि की कविता अनुसरणशील, परोपजीवी और श्रमसाध्य होने से प्रायः स्थिर, रूढ़िबद्ध और अनाकर्षक होती है। डा० शम्भुनाथ सिंह की गणना प्रातिभ कवियों में होगी। प्रतिभा के बल पर ही उन्होंने अपने काव्य-व्यक्तित्व का निर्माण किया है। उन्होंने युग के फैशन के दबाव को कभी स्वीकार नहीं किया किन्तु संसरणशील काल की अनिवार्य माँगों को अवश्य पूरा किया है। इसीलिए वे सतत विकासमान कवि रहे हैं। उन्होंने साहित्य को ईमानदारी से ग्रहण किया और काव्य, कहानी, समीक्षा, शोध सभी क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का चमत्कार प्रदर्शित किया। अब तक उनकी जितनीं पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

काव्य

१—त्रिधारा—प्रकाशन वर्ष : १९३५, पृष्ठ : ६४, मूल्य : चार आने।

इस ग्रन्थ में ३ लम्बी कथात्मक कविताएँ संग्रहीत हैं जिनमें राष्ट्रीय भावना और समाज-सुधार की प्रवृत्ति भरी हुई है। कवि के ऊपर गाँधी जी के जीवन-दर्शन का जो प्रभाव पड़ा था उसे ये कविताएँ पूर्णतया व्यक्त करती हैं।

२—रूप-रश्मि—प्रकाशन वर्ष : १९४१, पृष्ठ : १३२, मूल्य : २ रुपये ।
प्रकाशक : साधना मन्दिर, जगतगंज, वाराणसी ।
आवरण चित्र : शमशेर बहादुर सिंह ।

इस संकलन में कवि की उस समय तक लिखी गयी ५१ सर्वोत्तम रचनाएँ संकलित हैं। सभी कविताएँ गीत विधा में ही हैं। कुछ लम्बी कविताएँ भी हैं जिनमें प्रकृति का उदात्त चित्र अङ्कित किया गया है। प्रायः सभी कविताएँ छात्रावस्था की लिखी हुई हैं जिससे उनमें कहीं-कहीं महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा और बच्चन का प्रभाव दिखायी पड़ता है। किन्तु अधिकांश कविताओं में कवि का निजी व्यक्तित्व उभर कर सामने आ गया है।

३—छायालोक—प्रकाशन काल १५ अगस्त १९४५, पृष्ठ: ७६, मूल्य: दो रुपये।
प्रकाशक : युग मन्दिर, उन्नाव ।

'छायालोक' में कुल ४० कविताएँ हैं। पहली कविता 'समय की शिला पर' है जो १९४४ में लिखी गयी और तब से उत्तरोत्तर विख्यात होती गयी। अन्य कविताओं में प्रेम की गहरी अनुभूतियों को स्वच्छन्द रूप में व्यक्त किया गया है। ये कविताएँ छायावादोत्तर काल में कवि सम्मेलनों में तो अत्यन्त लोकप्रिय हुईं ही, अपनी कलात्मकता और भावाभिव्यंजना के कारण भी तत्कालीन काव्यधारा से भिन्न प्रभाव डालने वाली सिद्ध हुईं। इन कविताओं का नये कवियों पर इतना प्रभाव पड़ा कि बहुत से कवि वैसी ही कविताएँ लिखने लगे और शम्भुनाथ सिंह का एक अलग स्कूल ही कहा जाने लगा।

४—उदयाचल—प्रकाशन काल: ३० अगस्त १९४६, पृष्ठ:६६, मू०: २ रुपये।
प्रकाशक : एजुकेशनल पब्लिसिंग हाउस, चारबाग, लखनऊ।

उदयाचल में कुल ३४ कवितायें संकलित हैं। प्रायः सभी गीत शैली में हैं जिनमें राष्ट्रीय भावना और प्रगतिशील विचारधारा की अभिव्यक्ति हुई है। इन कविताओं पर सन् १९४२ की क्रान्ति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। 'पंछी' और 'गीतशील मानव' लम्बी कवितायें हैं। अन्तिम दो कवितायें गोस्वामी तुलसीदास और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सम्बन्ध में हैं।

५—मन्वन्तर—प्रकाशन काल । १५ अगस्त १९५१,
पृ० : १०६, मूल्य : २ रुपये ।
प्रकाशन : अन्तर्राष्ट्रीय प्रकाशक मण्डल, पटना ।

मन्वन्तर में कुल १४ कवितायें हैं । इनमें से अन्तिम कविता रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'ओरा काज करे' शीर्षक प्रगतिशील रचना का अनुवाद है । शेष सभी क्रान्तिकारी विचारों वाली मौलिक रचनायें हैं । इनमें से एक 'जनधारा' को छोड़कर सभी मुक्त छन्द की आवेशयुक्त लम्बी कवितायें हैं । व्यंग्य द्वारा गहरी चोट करने की प्रवृत्ति इन रचनाओं में प्रधान रूप से अभिव्यक्त हुई है । सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की सम्पृक्ति इस ग्रन्थ की सर्वप्रमुख विशेषता है ।

६—दिवालोक—प्रकाशन काल : ३० अक्तूबर १९५३,
पृष्ठ : ७० मूल्य : ३·०० रुपये ।
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।

दिवालोक में कुल ४२ कवितायें संकलित हैं जिसमें से अधिकतर गीत विधा की हैं । अन्तिम दो कविताओं में से दस सानेट भी हैं । डा० शम्भुनाथ सिंह की सभी काव्य-प्रवृत्तियाँ इस संकलन में एक साथ दिखाई पड़ती हैं । यह कवि की प्रौढ़तम मनस्थिति की कृति है । कवि ने वैयक्तिक चेतना की सीमाओं से संघर्ष करते हुए जिस प्रकार वस्तु-जगत और लोक चेतना को अंगीकार करने की सतत चेष्टा की है उसकी अभिव्यक्ति इन कविताओं में क्रमिक विकास के रूप में दिखाई पड़ती है ।

७—माध्यम मैं—प्रकाशन काल : १९५७,
पृष्ठ : ९६, मूल्य : २ रुपये ७५ पैसे ।
प्रकाशक : सहकारी कविता प्रकाशन की ओर से—
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी ।

इस संकलन में कुल ५५ कवितायें हैं जो चार खण्डों में विभक्त हैं—१. शंख, सीपी और तट रेखाएँ २. ताबूत की कीलें ३. सोंधी प्रतिध्वनियाँ और ४. लाल हरी बत्तियाँ । प्रत्येक खण्ड में अलग-अलग मनःस्थिति और भाव भूमि की कविताएँ संकलित हैं । यह संकलन कवि के संक्रमणशील काव्य व्यक्तित्व का ऐतिहासिक अभिलेख है । प्रायः सभी कविताएँ नयी कविता

के प्रारम्भिक दौर में लिखी हुई हैं जिनमें मुक्त छन्द, गीत, सानेट, गजल, लोक गीत सभी शैलियाँ अपनाई गई हैं। दूसरे खण्ड में सभी शोक कविताएँ (Elegy) हैं जो हिन्दी के लिए एकदम नई हैं। यह काव्य-ग्रन्थ कवि के नये बनते हुए व्यक्तित्व का साक्षी है।

८—खण्डित सेतु—प्रकाशन काल : जुलाई १९६६,
पृष्ठ : १२१, मूल्य : चार रुपये।
प्रकाशक : समकालीन प्रकाशन, वाराणसी।

इसमें कुल ५६ कविताएँ हैं जो नयी कविता की नवीन उपलब्धि के रूप में मान्य हो चुकी हैं। इन कविताओं द्वारा कवि ने अपने व्यक्तित्व की ऐसी मूर्ति निर्मित की है जो नयी कविता के कवियों में सबसे अलग और अकेली है। आधुनिकता और परम्परागत भारतीयता का सूक्ष्म समन्वय इन कविताओं की विशेषता है। इस संकलन की सभी कविताएँ कवि की प्रौढ़तम मनोदशा का परिचय देती हैं।

९—समय की शिला पर—प्रकाशन काल : १५ अगस्त १९६६,
पृष्ठ : १५६, मूल्य : छः रुपये।
प्रकाशक : समकालीन प्रकाशन, वाराणसी।

यह कवि के अब तक लिखे गीतों में से चुने हुए सौ गीतों का संकलन है। इन गीतों को छः खण्डों में विभक्त किया गया है—१. समय की शिला पर २. काम स्तोम ३. हिम-ऊष्मा ४. आदिम उत्पीड़न ५. अग्नि-रस और ६. मृन्मय छवि। खण्डों का विभाजन कविताओं में व्यक्त मनस्थितियों और भावभूमियों के आधार पर हुआ है। गीत-विधा में वैशिष्ट्य उत्पन्न करके अपने को एक सफल गीतकार के रूप में स्थापित करने वाले कवि श्री शम्भुनाथ सिंह के सर्वश्रेष्ठ गीतों को इस संकलन में एक साथ देखा जा सकता है।

१०–धरती और आकाश (नाटक)—प्रकाशन काल : प्रथम संस्करण १९५३,
चतुर्थ संस्करण : १९६६, पृ० वर्तमान, मूल्य : २ रुपये २५ पैसे।
प्रकाशक : समकालीन प्रकाशन, वाराणसी।

यह एक सामाजिक यथार्थ को चित्रित करने वाला रंगधर्मी नाटक है। इसके प्रथम संस्करण में चार अङ्क थे किन्तु संशोधित और परिवर्धित

चतुर्थ संस्करण में केवल तीन ही अङ्क हैं। यह नाटक अनेक स्थानों पर सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुका है।

११–रातरानी (कहानी संग्रह)—प्रकाशन काल : १९४६, मूल्य : २ रुपये।
प्रकाशक : प्रदीप प्रकाशन, मुरादाबाद।

इसमें लेखक की १० कहानियाँ संकलित हैं जिनमें जीवन-संघर्ष में जूझते व्यक्तियों और उलझन पूर्ण स्थितियों का मार्मिक चित्रण हुआ है।

१२—विद्रोह (कहानी संग्रह)—प्रकाशन काल : १९४७, मूल्य : २ रुपये।
प्रकाशक : साधना मन्दिर,
जगतगंज, वाराणसी।

इसमें सन् १९४२ के विद्रोह, राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सामाजिक संघर्ष से सम्बन्धित ९ कहानियाँ संकलित हैं। इस ग्रन्थ की भूमिका आचार्य नरेन्द्र देव ने लिखी है। कहानियों में पर्याप्त प्रौढ़ता और भाषा-प्रवाह है।

१३—छायावाद युग (समीक्षा)—प्रकाशन काल : प्रथम संस्करण : १९५२,
द्वितीय संस्करण : १९६०, पृष्ठ : मूल्य : सात रुपये।
प्रकाशक : नन्दकिशोर ब्रदर्स, वाराणसी।

छायावाद के सम्बन्ध में यह अब तक का सर्वश्रेष्ठ आलोचना ग्रन्थ है। इसमें छायावाद की समीक्षा समाज शास्त्रीय दृष्टि से ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में की गई है। साथ ही भारतीय समीक्षा-सिद्धान्तों की दृष्टि से भी छायावाद का मूल्याङ्कन किया गया है।

१४—हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास (शोध ग्रन्थ)—प्रकाशन काल :
प्रथम संस्करण : १९५६,
द्वितीय संस्करण : १९६२,
पृष्ठ : ७१०, मूल्य : १२ रुपये।
प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।

यह श्री शम्भुनाथ सिंह का शोध-प्रबन्ध है जिस पर उन्हें हिन्दू विश्व विद्यालय से १९५५ में पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई थी। दस अध्यायों में विभक्त यह ग्रन्थ हिन्दी महाकाव्य के उद्भव और विकास के अध्ययन के लिए अपरिहार्य और प्रामाणिक है।

१५—मूल्य और उपलब्धि (निबन्ध)— प्रकाशन काल : १९६०,
पृष्ठ : २१६, मूल्य : चार रुपये ।
प्रकाशक : मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी ।

यह लेखक के १६ आलोचनात्मक निबन्धों का संकलन है। इनमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की समीक्षा के रूप देखे जा सकते हैं। सभी निबन्धों में लेखक ने समाज शास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाया है।

१६—हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका (इतिहास)—प्रकाशन काल :
१९६६, पृष्ठ : २०८, मूल्य : ७ रुपये ५० पैसे ।
प्रकाशक : चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी ।

लेखक ने अपने नवीन इतिहास-दृष्टि को प्रस्थापित करने के उद्देश्य से इस ग्रन्थ की रचना की है। यह आदि काल से अब तक के हिन्दी काव्य का समाज शास्त्रीय दृष्टि से लिखा हुआ इतिहास है। इसमें डा० शम्भुनाथ सिंह ने हिन्दी भाषा के उद्भव काल, हिन्दी की बोलियों और उनके विस्तार-क्षेत्र तथा हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल विभाजन के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी विचार और नवीन स्थापनायें प्रस्तुत की है।

१७—प्रयोगवाद और नयी कविता (समीक्षा)—प्रकाशन काल : १९६६,
पृष्ठ : ३००, मूल्य : ९ रुपये ।
प्रकाशक : समकालीन प्रकाशन, वाराणसी ।

प्रयोगवाद और नयी कविता के सम्बन्ध में यह प्रथम समीक्षात्मक ग्रन्थ है जिसमें इन दोनों काव्य-प्रवृत्तियों का निष्पक्ष तथा सांगोपांग आकलन किया गया है। इसमें लेखक ने आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में विषय का सूक्ष्म और गम्भीर विश्लेषण तथा मूल्याङ्कन किया है। इसमें प्रयोगवाद और नयी कविता विषय दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में ९ और दूसरे खण्ड में ८ अध्याय हैं। आधुनिक काव्य के अध्येताओं के लिए यह अपरिहार्य ग्रन्थ है।

सम्पादित ग्रन्थ

१ हिन्दी काव्यधारा—-प्रकाशक : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय ।
२ नव एकांकी—-प्रकाशक : समकालीन प्रकाशक वाराणसी ।

अनूदित ग्रन्थ

समाजसेवा का क्षेत्र (दो खण्ड)--प्रकाशक : हिन्दी समिति
उत्तर प्रदेश शासन।
मूल्य : प्रथम खण्ड ६-००,
द्वितीय खण्ड ८-५०।

अप्रकाशित ग्रन्थ

१—हिन्दी आलोचना का इतिहास	पृष्ठ संख्या	५००
२—हिन्दी काव्य का इतिहास	,,	५००
३—हिन्दी कथा साहित्य का इतिहास	,,	५००
४—हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास	,,	५००
५—काव्य और कला (समीक्षा)	,,	२००
६—अकेला शहर (नाटक)	,,	८०
७—दीवार की वापसी तथा अन्य एकांकी	,,	
८—हिन्दी साहित्य के प्रकाशस्तम्भ (समीक्षा)	,	

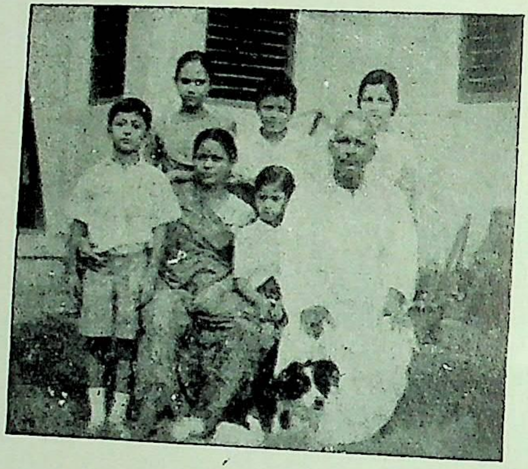
●

तृतीय खण्ड

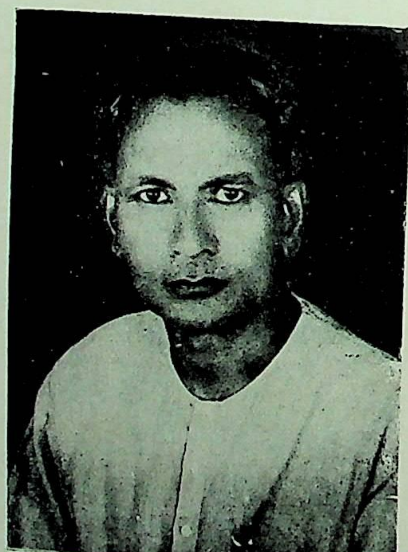
व्यक्तित्व



जनचेतना की गोष्ठी में जगजीवन राम एवं
रघुनाथ सिंह के साथ



परिवार के साथ



डॉ० शम्भुनाथ सिंह

कवि और आलोचक शंभुनाथ सिंह–
एक संप्रभाव

●

कृष्णदेवप्रसाद गौड़

शंभुनाथ सिंह हिन्दी-जगत के सामने गीतकार के रूपमें आये। कवि-सम्मेलनों में उनके गीतोंकी धूम थी और रसिक श्रोता उनके गीतों को सुनते नहीं अघाते थे। फिर पत्रोमें भी उनकी रचनाओंका स्वागत हुआ। उनके गीत रोमाण्टिक थे किन्तु छायावादी परम्परा से अलग थे। ऐसा नहीं था कि छायावाद का प्रभाव बिल्कुल न पड़ा हो, परन्तु उनके गीतों को छायावादी नहीं कह सकते। नयी कल्पनाओं तथा रूपकों को इन्होंने अपनाया। इनकी कल्पनाओं में अन्तरिक्ष की उड़ान नहीं थी, मानव-जीवन का साहचर्य था। जिस समय इन्होंने लिखना आरंभ किया था नयी कविता अथवा अ-कविता ने साहित्य-भूमिपर अवतारणा नहीं की थी। किन्तु उस युग के लिये वही नयी कविता थी क्योंकि प्रचलित परम्परासे हटकर इन्होंने नयी जमीन तोड़ी थी। गीतकार उस युगमें अनेक हुए और सबकी अलग-अलग शैली थी। साहित्य में मैं तुलना को महत्व नहीं देता। न तो शेक्सपियर और कालिदासकी तुलना हो सकती है और न बाल्मीकि और तुलसीदास की। एक ही ढंगके कवियों की तुलना, जैसे प्रसाद तथा पन्तकी या प्रसाद और निरालाकी रचनाओंकी तुलना करना मानव-प्रकृतिके प्रति अन्याय करना है। भाषामें समानता या भेद हो सकता है, अभिव्यक्ति की तुलना की जा सकती है किन्तु कविता के भीतर जो कवि का मानव छिपा है उसकी तुलना क्या हो सकती है ? और वही कविता है। शंभुनाथ सिंह ने अपने व्यक्तित्व को कविता में उतारा है। और सभी अच्छे कवियों का व्यक्तित्व उनकी कविता में छिपा रहता है जैसे सेव में मिठास छिपी रहती है। अंगूर और सेव की मिठास एक नहीं होती। इसी प्रकार सबकी रचनाओं द्वारा रसानुभूति समान नहीं होती। कृत्रिम रचनाओं को छोड़ दीजिये, प्रत्येक

सिद्ध कवि की कविता का स्वाद अलग-अलग होता है। शंभुनाथ सिंह रससिद्ध कवि हैं, इसमें संदेह नहीं किन्तु वहीं तक जहाँतक उनके गीतों का संबंध है।

बादमें इन्हों ने कुछ रहस्यवादी रचनाएँ आरंभ कीं। इन रहस्यवादी रचनाओं के संबंध में मैं लिखने का अधिकारी नहीं हूँ क्योंकि मैंने ईश्वरको जाना नहीं। तुलसीदास के अनुसार "जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई"। यदि ऐसा होता तो यह लेख लिखने में न बैठता। दूसरे लोग बता सकेंगे कि उन रचनाओं में क्या विशेषता है। नये गीत भी इन्होंने लिखे हैं। मैं उन लोगों से सहमत नहीं हूँ जो नयी कविता में कुछ नहीं पाते। यह भी जानता हूँ कि सब नयी कविता कविता नहीं है। कुछ भी नहीं है। केवल छन्द या तुक का बन्धन हटा देने से नयी कविता नहीं हो जाती। मात्रा तथा तुक विहीन कविताएँ हिन्दी, बंगला तथा विदेशी भाषाओंमें बहुत पहले से लिखी जा रही हैं। नयी कविता क्या है, यह कहने का मैं अधिकारी नहीं हूँ। किन्तु मेरी समझ से नयी कविता के बीज शंभुनाथ की कविता में हैं। इनकी रचनाएँ उस विकास या ह्रास तक नहीं पहुँची हैं जहाँ हम आज अधिकांश नयी कविता को देखते हैं।

बहुत सी इधर की रचनाओं में रहस्यवाद और कबीरी रंग आ गया है। ये रचनाएँ अच्छी लगीं। किन्तु मेरी समझ में ऐसी रचना उन्हें नहीं करनी चाहिये। अभी उनके लिये यह समय नहीं आया है कि वह आसन मारकर बैठें। आजका युग ऐसे साहित्य का है जो समाज का भला कर सके। योगी तो बहुत हो चुके, अब कुछ कर्मयोगियों की आवश्यकता है। इस समय मानव को जगाना अधिक आवश्यक है उन्हें सुलाने की अपेक्षा।

डाक्टर शंभुनाथ सिंह आलोचक भी हैं। छायावाद के विकास पर उन्होंने अच्छी और मोटी-ताजी पुस्तक लिखी है। छायावाद की गतिविधि समझने के लिये वह बहुत उपयोगी पुस्तक है और इस पुस्तक को पढ़ने से पता चलता है कि शंभुनाथ अध्ययनशील तथा परिश्रमी व्यक्ति हैं। आज जब हम अनेक पुस्तकें देखते हैं जिनमें कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा एकत्र करके बुलन्द इमारत खड़ी की जाती है जो अन्दर से कमजोर होती है तो दुःख होता है। शंभुनाथ ने खोज तथा परिश्रम के साथ यह पुस्तक लिखी है। कवि को काव्य की प्रवृत्तियों के

समझने में सरलता होती है। साधारण आलोचक में बहुधा वह पकड़ नहीं होती जो कवि को कविता की आलोचना में। इसे मैं सफल पुस्तक मानता हूँ।

उनकी और भी रचनाएँ हैं। किन्तु मैं उनका साहित्यिक मूल्यांकन इस समय नहीं कर रहा हूँ। इस समय इतना ही कह सकता हूँ कि वह प्रौढ़ कवि तथा साहित्यकार हैं। हिन्दी जगत में उन्होंने अपना स्थान बनाया है जो दृढ़ और सुरक्षित है। हमारी यही प्रार्थना भगवान से है कि वह दीर्घजीवी होकर हिन्दी को कुछ अमर वाणी दें।

मेरे जीवन के सहयात्री

•

ठाकुर प्रसाद सिंह

पिछले बाईस-चौबीस वर्ष शंभुनाथ जी के साथ बीते हैं। इस पूरे कालखंड में काशी के नये कवियों ने जयशंकर प्रसाद के बाद के व्याप्त सन्नाटे को अपने गीतों से भरा है, अपनी रचनाओं से नयी जमीन बनायी है और हिंदी की रचना-चेतना को कई नये नाम दिये हैं। इस बीच इस नगर के साहित्यकारों ने अभिव्यक्ति की कई लड़ाइयाँ लड़ी हैं। वे कई बार जीत कर हारे हैं, कई बार हार कर जीते हैं। लेकिन सारे प्रयत्न करके भी वे काशी को मुख्य साहित्यधारा से छूटता हुआ शहर बन जाने की नियति से बचा नहीं सके हैं। काशी के पीछे छूट जाने की यह प्रक्रिया अब लगभग पूरी हो चुकी है। पचासवीं वर्ष-गाँठ के दिन बजने वाले शंखों की गूँज के बीच काशी के पीछे छूट जाने का दर्द जिन्हें अनुभव होगा, वे और केवल वे ही शंभुनाथ जी का सही मूल्यांकन कर सकेंगे। पर शंभुनाथ जी क्या एकनिष्ठ भाव से काशी के होकर रह गये हैं? उन्होंने कभी सवैया-घनाक्षरी की, छायावाद-विरोधी, अनुदार असाहित्यिक प्रवृत्तियों को काशी के मंच पर से उतारने का ऐतिहासिक कार्य संपन्न किया था। वे स्वप्नदर्शी युवक के रूप में काशी में आये और छा गये। उनके आसपास नये से नये कवि और रचनाकार आये—सबने मिलकर एक विचित्र लोक की रचना की और लगभग-स्थगित हो गयी काशी की रचना-परंपरा को उन्होंने आगे बढ़ाया और आज लगता है कि वे काशी का मोह छोड़ कर आगे बढ़ गये हैं। काशी उनके साथ चल नहीं सकी।

यह आन्दोलन इस बीच तरह-तरह के कारणों से बिखर गया। शंभुनाथ जी एक बार लगभग अकेले छूट गये, उनके आस-पास जो लोग बच रहे उनका संबंध साहित्य की उस नवीन प्रक्रिया से लगभग नहीं के बराबर था। जिन्हें उनके अंतर्मन का अनुभव होगा वे जान सकेंगे कि शम्भुनाथ जी ने ये बंजर नगर-वर्ष कैसे बिताये होंगे। आज

उनकी पचासवीं वर्ष-ग्रन्थि मनाने के लिए जो लोग सन्नद्ध हुए हैं, उनमें से कई उनके पूरे जीवन के मित्र-संगी हैं, कई उनकी नवीन उपलब्धियाँ। कुल मिलाकर वे लोग एक बार मिल-जुलकर पुराना मेला पुन: जमाने का प्रयत्न कर रहे हैं। मेरे लिये इसीलिए यह उत्सव व्यक्ति-परक न होकर एक प्रतीक जैसा बन गया है। इधर कई वर्ष-ग्रंथि-उत्सव मनाये गये हैं पर किसी को भी यह गरिमा प्राप्त नहीं हो सकी। शंभुनाथ जी की निरंतरता उनकी सबसे बड़ी शक्ति रही है। उन्होंने इस आधी शती के अपने जीवन में कई जन्म लिये हैं। बड़े ही साहस के साथ उन्होंने पूर्व-जन्म के संस्कारों को 'अवान्तर' हो जाने दिया है। 'झरने के पूछे हुए प्रश्न और निरुत्तर अनाहत यायावर मन', 'नाम ले पुकारती वंशी की तान', 'देह पखियों की टेर' सभी अवान्तर हो गये हैं।

कभी वे 'लाल, पीले, श्वेत, नीले, क्षणों का एक लम्बा सिलसिला' थे, या 'लाल रंग में छपा वसंत का प्रातःकालीन समाचार पत्र' थे। 'सदानीरा नदी के रजत-सेतु' या 'घाट की सिंदूरी कंदील' जो भी थे वे अच्छे थे। आज उनके भीतर अपने परिवेश का बोध 'तुम सभी अकेले-अकेले मेरे भीतर कहीं हो'—की तरह जाग्रत है। वे विश्वास करते हैं कि 'युगों और देशों के ऊपर बना मेरे, इनके, उनके भीतर से जाता हुआ एक पुल है' और उनकी हर छलांग टूटे हुए सेतुओं को जोड़ती है। पहले 'दर्पणों के बीच जलती एक दीप-शिखा के खेल वे समझते बूझते थे। पर आज 'ठसाठस भरी गाड़ी के छूट जाने पर दौड़ कर पावदान पर लटक जाने वाले वे न तो स्टेशन पर हैं, न गाड़ी में, न नीचे, न ऊपर, न बाहर, न भीतर, वस्तुत: वे कहीं नहीं हैं' वे 'हवा में फड़फड़ाते सादे, बेदाग भोजपत्र हैं' और 'लावारिस सुधियों को कागज की नावों में रखकर उन किन्हीं तटवर्ती गाँवों में भेजना' चाहते हैं जो कभी उनके थे। यह सब इसीलिए है कि आज का समूचा युग ही इस 'कहीं-नहीं पन' के संत्रास से आक्रान्त है। काशी इस 'नहीं पन' के बोध से अपरिचित है।

इन कुछ वर्षों में शंभुनाथ जी भीतर-बाहर चाहे जहाँ भी रहे हों, पर गति का साथ उन्होंने कभी नहीं छोड़ा है। ठीक से बैठ न पाये हों या जल्दी में टिकट उन्होंने न लिया हो पर ट्रेन उनकी छूटी कभी नहीं, यह मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ। उनके कितने ही सहयात्री

ट्रेन से उतर गये, कितनों ने लूप-लाइन पकड़ ली, कुछ स्टेशन पर वेंडर हो गये, कुछ टिकट चेकर, पर वे हैं कि हर बार ट्रेन पर चढ़ जाते रहे हैं। केदार नाथ सिंह के शब्दों में शंभुनाथ जी की कुछ कविताओं में तेजो से साँस लेने जैसा आभास होता है। हो सकता हैं वे कविताएँ शंभुनाथ जी ने दौड़कर ट्रेन पकड़ते तथा पावदान पर झूलते समय लिखी हों।

इधर वे नाटक लिख रहे हैं। व्यर्थता-बोध तथा परिभाषाओं के गलत होने का एहसास उन्हें फिर नयी गहराइयों की ओर प्रेरित कर रहा है। इन सबके ऊपर अकेले में छूट गया उनका मन अपने तरीके से ताने-बाने फैला रहा है। उन्होंने लगभग हर विधा पर प्रयोग किये हैं। नाटक वे शुरू से लिखते रहे हैं पर इस बार उन्होंने उसे नये हाथों पकड़ा है। इतने सब प्रयोग करते हुए वे अपनी गीत-कवि होने की मूल-नियति भी बराबर झेलते रहे हैं। नयी से नयी कविता लिखते समय भी वे 'अंतर की लय' से मुक्त नहीं हो पाते, वह अपने 'सहज छंदित' गठन के कारण ही।

शंभुनाथ जी अकेले नहीं रह सकते, वे बराबर साथी खोज लेते हैं। वे सहज सामाजिक हैं, ग्रंथि-विहीन गृहस्थ हैं, जीवन में क्रम और व्यवस्था लाने के लिये उन्होंने पिछले वर्षों में असाध्य साधन साधे हैं। अपने ऊपर दृढ़ अनुशासन रखकर उन्होंने अपने पिछले पंद्रह वर्ष गढ़े हैं। पुस्तकें, घर, पत्नी, पुत्र-पुत्रियाँ और सबके उपर यश। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व का शंभुनाथ जी का जीवन जिन लोगों ने देखा है वे ही समझ सकते हैं कि उन्होंने कितना श्रम किया है, अपने को कितना साधा है। उन्नीस सौ इक्यावन के जाड़े की एक शाम की याद अब भी ताजी है। मैं रामविनायक सिंह के साथ बड़ागाँव से लौट रहा था। जाड़े की शाम गहरी हो गयी थी और हम जल्दी से शहर पहुँच जाने के लिए तेजी से साइकिलें चलाते शिवपुर के पहले पड़ने वाले एक पुल पर से गुजर रहे थे। तभी शंभुनाथ जी दीखे, उलटी ओर जाते। हम लोग रुक गये, उन्हें भी लौट चलने के लिए कहा पर वे वहाँ से बीस मील दूर कच्चे रास्ते पर पड़ने वाले एक गाँव की याद में खोये खड़े रहे। 'कोशिश कर रहा हूँ जो कहूँ उसे पूरा करने की' उन्होंने मुसकुराते हुए कहा और नमस्कार करके साइकिल पर बैठ

गये। उसी दिन मैंने रामविनायक से कहा था कि शंभुनाथ में गुणात्मक परिवर्तन आने लग गये हैं, ये या तो टूट कर बिखर जायेंगे या कुहरा चीरकर आगे बढ़ जायेंगे।

'तममय जीवन-नभ के टूटे हुए सितारों के अनजान दिशाओं से फेंके गये सुधियों के तीरों', से जर्जर शंभुनाथ जी की क्षत-विक्षत काया जिन्होंने उन्नीस सौ छियालीस-सैंतालिस में देखी थी उनके लिये शंभुनाथ जी का जाड़े की शाम में उलटे गाँव में जाना एक शुभ-सूचना थी। पह ़ी पत्नी तथा पुत्र रवीन्द्र की मृत्यु के दौरान वे घंटों मेरे घर बैठे शून्य आँखों से सामने घूरते रहते थे। हम लोगों का पूरा ध्यान उनकी ओर लगा रहता था, पता नहीं वे क्या कर बैठें ? डा० सेठ की पानी भरी शीशियों का भेद कुछ मैं जानता था, बहुत कुछ प्रमोद जानता था। हम सभी उन्हें जीवित रखने के षड्यंत्र में शामिल थे। इसी षड्यंत्र का चरम-विंदु था उनका दूसरा विवाह। डा० सेठ की राय थी और हम सभी जानते थे कि शंभुनाथ जी की मानसिक अस्वस्थता ही उनके शरीर के टूट जाने का कारण है।

कवि-सम्मेलनों के गैस के प्रकाश में उनका एनीमिया से पीला पड़ा चेहरा बड़ा ही मासूम लगता था। बीमार होते हुए भी वह छवि बड़ी प्यारी थी। स्वयं शंभुनाथ जी को अपना वह चेहरा काफी पसंद था। कानपुर में कैलाशनाथ कपूर के चित्रा-स्टूडियो ने उन दिनों उनकी एक छवि उतारी थी। शंभुनाथ जी के कमरे में वह चित्र अब भी सुरक्षित है। कितनी ही बार सम्मेलनों और अभिनन्दनों की मालाएँ वे घर तक बचाकर ले आते रहे हैं, महज उस तस्वीर को पहनाने के लिए। अस्वाभाविक जीवन बिताने का मोह, कमजोर चेहरे की याद बनाये रखने का ऐसा ही मीठा सुख होता है। शंभुनाथ जी पर अब भी रह-रहकर पिछले जीवन का मोह हावी होता है पर वे हर बार विजय पा लेते हैं। वे भीतर से बहुत ही हठी भी हैं। उनका यह जातीय गुण अक्सर उन्हें बचा लेता है।

यह इस बात का भी प्रमाण है कि वे एक साथ दो तरह का जीवन जीते हैं। सामाजिकता उन्हें प्रिय है, वे बिना साथ बनाये जी नहीं सकते। लेकिन वे अपने भीतर बिलकुल अकेले रहते हैं। बैठे-बैठे दूर चले जाना भी उन्हें भाता है। उनकी समस्त रचना-प्रक्रिया उनके इसी

अकेलेपन की पीठिका पर खड़ी है। वे किसी का अनुसरण नहीं करते। वैसे ही कोई उनका अनुसरण नहीं करता। उन्होंने ऐसा मंत्र विकसित किया है जिसका छंद केवल वे ही जानते हैं। अत्यन्त विस्तृत जमीन पर चलते हुए भी वे अपने तरीके से चलना कभी नहीं छोड़ते।

इसीलिए उनके मित्रों की केवल दो श्रेणियाँ हैं। या तो उनके साथ अन्तरंग हुआ जा सकता है या उनके समानान्तर चला जा सकता है। अन्तरंग होने की उनके निकट बड़ी टेढ़ी शर्त है, एक कपड़े पहनना, एक थाली में खाना, एक स्वर में गाना—कई व्यक्ति मिलकर एक हो जाना। मोती, महेन्द्र, हरिमोहन, विलास—ऐसे 'अन्तरंग' की परिधि में आने वाले मित्रों की संख्या अधिक नहीं है, पर यह मंडल कितने एकात्मभाव से एक था इसका अंदाज कम लोगों को होगा। दूसरी तरह के उनके मित्र वे हैं जो जीवन भर उनके साथ रहे हैं पर बराबर समानान्तर चलते। शम्भुनाथ जी का ऐसे मित्रों पर भी अनुराग कम नहीं रहा है :—

हम समानान्तर ही चलें
चलते जायें।
आँखों ही आँखों में
एक दूसरे का दुःख बाँटें।

मैं शम्भुनाथ जी के समानांतर मित्रों में हूँ। शायद नामवर, जगदीश गुप्त, केदार, भारती, साही या रमानाथ भी कमोवेश उनके इसी श्रेणी के मित्रों में शामिल किये जायँ। 'मैं सभी का हूँ न कोई किन्तु मेरा' लिखने वाले शम्भुनाथ जी के मित्रों की संख्या कम नहीं है। वस्तुतः इस पंक्ति में उनके मित्रों के बीच घिरे होने पर भी अकेले बने रहने की बात ही अधिक सफाई से उतरती है।

पिछले बाईस-चौबीस वर्ष देखते-देखते बीत गये। एक किशोर युवक के रूप में जिसे 'संसार' कार्यालय में मोती बी० ए० के साथ पहली बार देखा था वह नया-सा आदमी पचास वर्षों का जीवन पार कर चुका है। स्वयं भी उसी रास्ते पर बढ़ रहा हूँ और वह दिन दूर नहीं जब शम्भुनाथ जी की तरह पूरी तरह से श्वेत-केशी हो जाऊँ और मेरे भी मित्र एक बड़ा सा आयोजन करके मुझे केवल यह बताएँ कि मैं वृद्ध हो रहा हूँ। आज सोचता हूँ तो लगता है कि इतने सारे वर्ष

मैंने शम्भुनाथ जी के साथ समानान्तर चलते हुए बिताये, लेकिन दूरियों के बावजूद अब भी हम दोनों के बीच बना रहने वाला सम्बन्ध बड़ा ही ताजा है। विचित्र बात है कि शम्भुनाथ जी के साथ जब-जब होता हूँ बेतरतीब बातें बकता हूँ; जैसे बीत गये दिन फिर से जीने की अच्छी-बुरी कोशिश की जाय और सपने देखे जायँ। याद नहीं कितनी बार किन-किन परिस्थितियों में हम साथ रहे हैं। साप्ताहिक हिन्दुस्तान के संपादक के रूप में, गांधी हत्या-कांड के समय जुलूस निकाल कर आगे बढ़ते समय, 'नव-संस्कृति संघ' के उत्सवों में, साहित्यिक संघ की गोष्ठियों में, चेतना की नोक-झोंक में तथा बनारस में आये दिन उठने वाले साहित्यिक वात्याचक्रों की लपेट में हम बार-बार मिलते-उलझते आगे बढ़े हैं। बनारस छूट जाने पर जब भी उनकी याद की है, बराबर उन्हें अपने पास पाया है। देवघर में, लखनऊ में मेरा ऐसा कोई उत्सव नहीं हुआ है जिसमें शम्भुनाथ जी उपस्थित न रहे हों। मुझे आज भी याद नहीं आता कि मेरे किस आयोजन में वे नहीं आ सके थे। सब कुछ मिलकर निश्चित-सा एक क्रम बन गया है, हमारी नियति एक-सी हो गयी है। इसलिए आज जब अपने जीवन भर के कितने ही संस्मरणों की पिटारी खोलता हूँ तो उसमें ऐसे संस्मरण खोजने से भी नहीं मिलते जिनमें शम्भुनाथ जी की चर्चा न हो। ऐसी स्थिति में सिवाय संकोच से चुप रह जाने के और कोई रास्ता बचता नहीं। मैं चाहकर भी उन असंख्य क्षण-अक्षतों को अपने थाल से समर्पित कर देने के पक्ष में नहीं हूँ क्योंकि उसके बाद मेरे पास अपना कहने के लिए शायद कुछ भी बचा नहीं रह जायगा।

इतना होते हुए भी मेरा पूरा साहित्यिक जीवन शम्भुनाथ जी से अलग-थलग संगठित हुआ है। एक तरह से देखा जाय तो मेरा पूरा जीवन त्रिलोचन और शम्भुनाथ सिंह से अपने को बचाने में ही बीत गया है। कहाँ कितना छोड़ा है और किस मुश्किल से छोड़ा है और कहाँ कितना लिया है और किस ललक से लिया है, इसका विवरण आज देने का अवसर नहीं है। लेकिन आज भी निश्चय के साथ यह नहीं कह सकता कि मैं शम्भुनाथ जी से अछूता रहकर आगे बढ़ गया। सारी कोशिशों के बाद भी उनके कई तरह के प्रभाव मेरे ऊपर पड़े, यह बात स्वीकार किये बिना आज चलेगा नहीं। लेकिन मैं शम्भुनाथ जी का आभार इस प्रभाव के निमित्त स्वीकार नहीं करता। मैं उनके प्रति

आभारी यदि हो सकता हूँ तो अपने उस बीहड़ विकास के लिए जिसके निमित्त वे अवश्य थे लेकिन जिसके निर्माता वे नहीं थे। मैं उनका छोटा भाई हूँ और घनिष्ठ भाव से उन्हे स्नेह करता हूँ। लेकिन शायद उनसे सबसे अधिक लड़ा भी मैं ही हूँ। इस युद्ध के पीछे और जितने भी कारण रहे हों, लेकिन सबसे बड़ा कारण था उनका और मेरा नगर काशी। मैं नियति के आगे सिर झुकाता अवश्य हूँ लेकिन काशी के साहित्यिक जीवन के लिए मैंने शक्ति भर संघर्ष किया है, यह बात भी मैं भूल नहीं सकता। शम्भुनाथ जी के नेतृत्व में जयशंकर प्रसाद के बाद काशी के साहित्यिक गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने की लड़ाई हम हार गये हैं यह बात मुझे कभी भी भूलेगी नहीं। यह पराजय हम सब लोगों की है लेकिन सबसे अधिक शायद शम्भुनाथ सिंह की ही है। आज पचासवीं वर्षगांठ के दिन जब वे जीवन की लगभग सभी आकांक्षाएँ पूरी करके निश्चित होने जा रहे हैं मैं उनके भीतर छिपे इस घाव को कुरेदना चाहता हूँ। वे साहित्कार हो गये हैं लेकिन अभी उन्हें कुछ और बनना है। यही कुछ 'और' उन्हें साधारणता से असाधारणता की ओर ले जायेगा और उनका स्थान निर्धारित करेगा। उन्होंने कई जन्म लिये हैं और कई बार अपने को परिवर्तित किया है लेकिन इस बार की चुनौती बहुत कड़ी होगी। इसे स्वीकार किये बिना कोई गति नहीं है। पूरा जीवन, पूरी रचना सार्थक होने और निरर्थक होने के बीच उन्हें चुनाव करना है और सामान्य की सीमाओं को तोड़ कर विशिष्ट की ओर बिना किसी मोह-भाव के बढ़ना है।

हम कामना करते हैं कि वे चिरायु हों लेकिन उनकी सारी की सारी आयु अन्वेषण में लगे, अपने को उठाकर स्थापित करने में लगे, यह भी कामना है।

•

संगोष्ठी और सहजीवीभाव के सदाबहार कवि

•

राम विनायक सिंह

डॉ० शम्भुनाथ जी पचास वर्ष के हो गये, इस पर शायद उनकी सहज-सरल प्रकृति के सम्पर्क में आनेवाले लोग, विशेष रूप से नये लेखक-कवि विश्वास न कर सकें। कारण, वे सदाबहार की तरह जो ताजगी और जिन्दादिली समेटे जी रहे हैं और आज भी जिस स्वाभाविक उत्साह के साथ अपने नये-पुराने गीत गुनगुनाते-गाते सुने जाते हैं, और कुल मिलाकर नयों के साथ, यहाँ तक कि नवसिखुये कवियों–गीतकारों और लेखकों के साथ, शायद उनके उत्साह-वर्धन के लिये ही, जिस एकरसता के साथ हिल-मिल जाते हैं, उससे उनकी इस लंबी आयु-सीमा पर किसीको भी संदेह हो सकता है। उनका यह स्वभाव या यों कहें कि उनकी यह आदत आज की नहीं है, कम-से-कम उन्हें जब से जानता हूँ, उतनी पुरानी तो है ही और मैं उन्हें पिछले इक्कीस-बाईस वर्षों से जानता हूँ।

मैं, जैसा मैंने अभी कहा है, लम्बे अर्से से शम्भुनाथ जी के निकट सम्पर्क में रहा हूँ। उनसे मेरा पहला परिचय उन दिनों हुआ, जब मैं 'इण्टर' का छात्र था और जब भाई ठाकुर प्रसाद सिंह, शिवमूर्ति मिश्र 'शिव', मंगलनाथ सिंह, नर्मदेश्वर प्रसाद उपाध्याय और कमला प्रसाद सिंह आदि के साथ वाराणसी के दक्षिणी छोर पर स्थित ईश्वरगंगी मुहल्ले में 'नवयुवक साहित्यिक संघ' (बाद का नामकरण 'साहित्यिक संघ') के माध्यम से साहित्य-सेवा करना और 'कुछ' लिखना सीख रहा था। सीखने वालों का स्वभाव होता है कि वे जिस किसी से भी उत्साह और प्रेरणा पाते हैं, उसकी ओर सहज ही आकृष्ट होते हैं। शंभुनाथ जी अपने समकालीनों और समवयस्कों में शायद सबसे अधिक आकर्षक व्यक्ति थे, यही कारण है कि वे अपनी साहित्य-

साधना में कभी एकाकी या अकेले नहीं रहे। उन्होंने जिन लोगों के साथ साहित्य-साधना आरंभ की, उनके साथ तो उनका सुहृद और स्नेहपूर्ण सम्बन्ध था ही, अपने कनिष्ठ साहित्य-सेवियों को भी वे जिस निकटता और प्रेम से स्वीकार करते थे, उसके कारण वे बराबर उनसे सम्मानपूर्ण श्रद्धा प्राप्त करते रहे। सन् १९४० के बाद काशी या प्रयाग में साहित्य-सेवा की ओर उन्मुख होने वाला शायद ही कोई ऐसा कवि-लेखक हो, जो उनके इस स्नेह-भाव से अछूता रहा हो। वे जो कुछ भी लिखते थे, या सुनाते थे, उसमें उनका अपना अकेला स्वर नहीं रहा। मुझे भूलता नहीं, जब मैं उन दिनों (बीस वर्षों पूर्व) की गोष्ठियों और कवि-सम्मेलनों की याद मन में ताजी करता हूँ तो आज भी स्पष्ट सुनता हूँ कि मंच पर शंभुनाथ जी के गीतों की स्वर-लहरी में अनेक कंठों के स्वर समाहित हैं। ऐसा ही नहीं कि वे केवल अपने गीतों में औरों का स्वर समाहित करते रहे हैं, उनके साथ का कोई दूसरा भी जब गीत पढ़ता था, तो उसके स्वर में अपना कंठ स्वर मिलाकर बहुधा गुनगुना पड़ते थे और कभी-कभी उसके साथ-साथ मुखर हो उठते थे। उनके पूरे-के-पूरे गीत उनके साथियों और अनुज गीत-कवियों को याद रहते थे और जब कभी किसी गीत की कोई कड़ी वे भूल जाते (वैसे उनकी स्मरण शक्ति इतनी तीव्र और गहन है कि वे भूला कम करते हैं) तो मंच से एक साथ कई-कई लोग आगे की कड़ी बोल उठते थे। स्वयं उन्हें भी दूसरों के अच्छे गीत सुनते-सुनते कंठस्थ हो जाया करते थे और भूलनेवाले जब कभी कहीं अटकते तो उन्हें शम्भुनाथ जी उनके अगले बन्द और पद याद दिला देते थे। मुझे याद आता है कि गोष्ठियों में, सीमित और संक्षिप्त अंतरंग गोष्ठियों में, बिल्कुल कोरस की तरह उनके गीत लोग एक साथ मिलकर गाते थे, जिनमें मोती बी० ए०, महेन्द्र, सागर सिंह, हरिमोहन और व्रजविलास आदि, जिनके कंठों में जादू था, उनके गीत-स्वर में अपना स्वर मिलाकर गाते जाते थे।

काशी प्रयाग की उन दिनों की साहित्यिक गोष्ठियों की आज कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि तब साहित्यकारों और लेखकों में जैसा भाईचारा, जितना स्नेह, सौहार्द्र और परस्पर जैसा सम्मा-ननीय भाव था, उसके अब दर्शन भी दुर्लभ हैं—क्योंकि आज समय लंबी-चौड़ी बातों पर बहस करने, फतवे देने और विज्ञापनबाजी करने

का है। गोष्ठियाँ अब भी पहले से कम नहीं होतीं, पर उनमें एक-दूसरे की रचना को एक साथ मिलकर पढ़ने और सराहने की प्रवृत्ति नहीं रह गयी। झूठी सराहना के पक्ष में मैं नहीं हूँ और न यही चाहता हूँ कि गलत प्रोत्साहन की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिले, पर साहित्यकारों के परस्पर सम्बन्ध में कुछ ऐसा होना ही चाहिये, जिससे एक दूसरे को प्रेरणा और शक्ति मिले। और फिर आधुनिक हिन्दी-गोष्ठियों का श्रीगणेश जिस काशी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने इसी उद्देश्य से किया हो, उसकी परंपरागत विरासत की याद कर ऐसा जरूरी भी लगता है। आज जो हो या है, उस पर यहाँ अधिक कुछ क्या कहा जाय, यह बात प्रसंगवश आ गई, मैं तो उन दिनों की बात कर रहा था, जब कवि-लेखक हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनने का स्वप्न संजोये सच्चे अर्थों में हिन्दी की सेवा में लगे थे और विचार-भेद और 'वाद' के चक्कर में उतने न थे। उनमें परस्पर मिलने और मिलकर एक मित्र-मंडली के सदस्य की तरह रचनाओं का रसास्वादन करने की ललक थी। प्रयाग के 'परिमिल' और काशी की 'चेतना' तथा 'साहित्यिक संघ' की उन दिनों की गोष्ठियों में भाग लेने वाले अपने को आज भी सौभाग्यशाली मानते हैं।

यह नहीं कि उस समय लोग एक-दूसरे के अंध-भक्त थे। 'प्रगतिशील लेखक संघ' अपने क्रिया कलाप की जवानी पर था और बेमानी प्रेम और वासनाजन्य गीतों और गल्प कथानकों के प्रति विद्रोह की भावना काफी बलवती थी और गोष्ठियों में तत्सम्बन्धी विषयों पर काफी विवाद भी था पर ये सारे विवाद स्वस्थ और सृजनात्मक थे। स्मरण आता है उन दिनों काशी में 'साहित्यिक संघ' की अंतरंग बैठकों में उसके सदस्य सन् १६४५-४६ के आसपास श्रीरुस्तम सैटीन और अमृत राय जी से 'द्वन्दात्मक भौतिकवाद' की चर्चा में विशेष रूप से डूबे थे और दूसरी ओर प्रयाग में 'परिमल' की गोष्ठियों में कविता और गीत की लयात्मकता से आकर्षणबद्ध कवि-लेखक नये प्रयोगों की ओर उन्मुख हो रहे थे। और इस प्रकार विचार-भेद का एक अजीब माहोल उन दिनों भी था। 'हंस' कार्यालय में फिर भी इन दोनों विचारों के लोगों का जमघट होता था और कभी ऐसा महसूस नहीं होता था कि अलग-अलग सोचने-लिखने वालों के बीच कोई विभाजन रेखा थी। सभी अलमस्त किस्म के लोग थे और एक दूसरे से प्रभावित थे, न

कोई अपने को केवल शुद्ध मार्क्सवादी लेखक मानता था और न कोई अपने को मात्र प्रेमकाव्य प्रणेता गीतकार। यही कारण है कि सृजन की एक मिश्रित भाव-भूमि पर लोग आधृत दीखते थे। स्वयं शम्भुनाथ जी रुमानी कविताओं और गीतों के कवि कहे जा सकते हैं, पर उन पर राष्ट्रवादी और प्रगतिवादी प्रभाव कुछ कम नहीं दीखता। उनकी 'कब तक तुम मौन रहोगे ओ जन देवता' कविता स्वाधीनता के बाद की जन संबोधन की एक बड़ी सशक्त और समर्थ कविता थी। उसका उस समय इतना प्रभाव था कि लोग बार-बार उनसे यह कविता सुनने का आग्रह किया करते थे। शम्भुनाथ जी ने उस समय इस प्रकार की कई रचनाएँ लिखीं और समय के साथ समय की माँग को महसूस करते हुये वे औरों के लिये प्रेरणा-स्रोत बने रहे। प्रगतिशील कवियों में श्री शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन शास्त्री, नामवर सिंह, रामदरश मिश्र आदि की ऐसी रचनाओं की गोष्ठियों में परिचर्चा और सराहना करनेवालों में वे शायद सबसे आगे रहे। स्वयं मेरी उन दिनों की दो पंक्तियों का 'मन थका है किन्तु कोई कह रहा है गीत गाओ, तुम नये तूफान का परिचय बनो जन बीच छाओ' का उन्हें आजतक स्मरण है, यों यह कविता गाँधी जी की मृत्यु के पश्चात् की खामोशी में लिखी गई थी, जिसे वे मुझसे कवि-सम्मेलनों और गोष्ठियों में सुनने का आग्रह करते थे, मेरा ऐसा कहने का केवल यही मतलब था कि डाक्टर शम्भुनाथ जी को केवल अपनी ही रचनाओं और गीतों से ही प्रेम नहीं था, उनको अपने साथियों, कनिष्ठों और अपने पीछे आनेवाली पीढ़ी से भी अटूट लगाव रहा है और वे जिस स्निग्ध स्नेह भाव से साहित्यजीवी बनकर जिये, उसका कोई मुकाबला नहीं और यदि मैं यह कहूँ तो अनुपयुक्त न होगा कि उनके सम्पर्क में आनेवा उनका समवयस्क या अल्पवयस्क कोई भी साहित्यसेवी उनके व्यवहार, प्रेम और स्नेह के लिये आजीवन आभारी रहेगा।

पता नहीं अब तो पूरे देश की तरह काशी भी शायद उदासी के आलम में डूब गई है और काशीवासियों के वे 'साफा-पानी' और मौजमस्ती के दिन भी लद चुके हैं, इसलिये नौका-विहार और बजड़े की गोष्ठियों का लोप होता जा रहा है। पर दो दशक पहले छोटी-छोटी गोष्ठियाँ बजड़े पर आयोजित होती रहती थीं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की अध्यक्षता में सन् १९४७-४८ में 'आमिका' गोष्ठी के

कार्यक्रमों की याद आती है, जिसमें उस समय काशी का शायद ही कोई कवि-लेखक और रचनाकार भाग न लेता रहा हो। डा० शम्भुनाथ जी तो ऐसी गोष्ठियों के प्राण ही थे। उनके अतिरिक्त डा० विजयशंकर मल्ल, डा० बच्चन सिंह, त्रिलोचन शास्त्री, ठाकुर प्रसाद सिंह, नरेश मेहता, कहानीकार 'भिक्खु', वैद्यराज पं० गंगासहाय पाण्डेय, नर्मदेश्वर उपाध्याय, नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह और अन्यान्य नये लोग नियमित रूप से 'अनामिका' गोष्ठियों में उपस्थित होते थे। इतना सुखद और स्नेहपूर्ण वातावरण होता था कि वैसी गोष्ठियों के लिये आज भी मन ललकता है। 'अनामिका' की शरद पूर्णिमा की एक गोष्ठी मनमें ताजी हो आई है, जब डा० शम्भुनाथ जी ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'अम्बर तो आज दिगम्बर है' प्रस्तुत की थी और अकेले नहीं, अनेक लोगों ने एक साथ मिलकर उसे ऐसा गाया था कि पूनो की वह भरी-भरी रात अनेक कंठ-स्वरों से तरंगित मन के तार-तार हिला गयी थी। वैसी केवल एक ही और गोष्ठी की याद आती है, जो डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन' के तत्कालीन निवास-स्थान (काशी विश्वविद्यालय के प्राचीन छात्रगृह) पर आयोजित हुई थी, जिसमें 'निराला' जी उपस्थित थे और रात के दूसरे प्रहर उनकी स्वर-लहरी पूरे वातावरण को रससिक्त कर गयी थी।

और 'निराला' जी के नाम के साथ जुड़ी निराला जयन्ती (सन् १९४७-वसंत पंचमी) के समय की काशी की एक और याद मनमें महक उठी, जिसकी चर्चा यहाँ अप्रासंगिक लग सकती है, किन्तु उसका उल्लेख करने से इसका आभास मिल जायगा कि बीस वर्ष पूर्व कविता से लोगों के मनमें कितना प्रेम था। डा० शम्भुनाथ जी उन दिनों बड़े-बड़े दिग्गज कवियों-साहित्यकारों के साथ मंच पर विराजा करते थे और अपने कनिष्ठों को कवियों की लंबी-चौड़ी 'लिस्ट' में घुसवा कर उनसे कविता, गीत कुछ पढ़वाने के प्रयास में व्यग्र रहा करते थे (अपने छोटों के प्रति यह उनके स्नेह का परिचायक है।) पर हम 'साहित्यिक संघ' के कार्यकर्ता श्री ठाकुर प्रसाद सिंह के नेतृत्व में 'गेटकीपरी' करने या साहित्यकारों के अतिथ्य-सत्कार में लगा दिये जाते थे। तो उस साल 'राष्ट्रभाषा-विद्यालय' की ओर से आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के प्रयत्न से विराट् 'निराला-अभिनन्दन समारोह' का आयोजन किया

गया था। ठाकुर प्रसाद जी मंच के पास तैनात थे और डाक्टर शम्भुनाथ जी मंच पर आसीन कवि-सम्मेलन में कविता पढ़नेवालों की सूची बनाने में। निराला जी के प्रति हिन्दी लेखकों में कितना आदर और सम्मान था, इसे वही जान सकता है, जिसने वह विराट् 'निराला अभिनन्दन-समारोह' देखा था। हाँ, मेरे साथ भाई मंगलनाथ सिंह और नर्मदेश्वर उपाध्याय फाटक पर प्रवेश-पत्र जाँचने के लिये नियुक्त थे। उसी समय कृषक वेष में आचार्य शिवपूजन सहाय फाटक की ओर बढ़े थे। मंगलनाथ सिंह ने उनसे प्रवेश-पत्र माँगते हुये उन्हें दूर भागने का आदेश दे भयंकर अपराध कर लिया था। हम लोगों में कोई उन्हें पहचान न सका था और थोड़ी देर बाद जब लौटते हुये उन्होंने कहा था कि मैं बिहार से आया हूँ, मेरा नाम शिवपूजन सहाय है, तो हम हतबुद्ध हो गये थे। मैं मंच की ओर भागा था और शम्भुनाथा जी और ठाकुर प्रसाद जी को पकड़ लाया था। ऐसे मौकों पर उन्हीं की हम लोग आड़ ले लिया करते थे। शिवपूजन जी ने तब शंभुनाथ जी से कहा था—'ये तुम्हारे सेनानी पूरे बनारसी हैं' और हम बनारसी उनके निरन्तर आशीर्वाद के पात्र रहे। यह निराला-जयन्ती की हम लोगों की व्यक्तिगत उपलब्धि थी। जो कुछ सामूहिक था उसकी चर्चा करते हुए मैं यह अनुभव करता हूँ कि वैसा समारोह जिसमें 'निराला' जी की छत्रछाया में श्रद्धालु कवि डा० हरिवंश राय बच्चन, डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन', डा० शम्भुनाथ सिंह और आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री तथा कई दर्जन कवि अपनी अनेकशः रचनायें सुनाने को जिस प्रकार प्रस्तुत थे, वैसे उत्साह के साथ अब इतने कवि एक साथ शायद ही कभी एकत्र हो सकें। और श्रोताओं का क्या कहना ? उन्होंने डा० शम्भुनाथ जी की एक घोषणा पर बच्चन जी और 'सुमन' जी की चुनौती पर होड़ लगा दी कि देखें पहले कौन उठता है—आप कविजन या हम काशीवासी श्रोतागण। तो उस पूरी रात काव्य-पाठ होता रहा और सूर्य रश्मि के दर्शन कर ही लोग वहाँ से सीधे 'पार' (गंगा पार) निवटान और साफा-पानी के लिये जा सके। यह प्रसंग उस काशी की याद दिलाने के लिये था, जिसकी साहित्यसेवी परंपरा को डॉ० शंभुनाथ सिंह प्रमुख कवि के रूप में आज से पच्चीस-तीस वर्ष पूर्व से अपने संगी-साथियों के साथ आगे बढ़ाने में लगे थे। साथ जीने, लिखने

और साहित्य-साधना करने की स्वाभाविक रुचि लेकर शंभुनाथ जी काशी के साहित्यिक मंच पर अवतीर्ण हुए और आज भी अपनी उस रुचि को वे अक्षुण्ण बनाये हुये हैं।

डॉ० शम्भुनाथ जी ने साहित्य-सेवा के साथ बराबर तत्कालीन राजनैतिक गतिविधियों में भी भाग लेने का प्रयास किया। आचार्य नरेन्द्रदेव जी के नेतृत्व में स्वाधीनता के वर्षों के आसपास जिस समाजवादी आन्दोलन के प्रसार की कोशिश शुरू हुई थी, उसमें शंभुनाथ जी ने सक्रिय भाग लिया और अपने साथ-साथ अपने दोस्त-मित्र साहित्यकारों को भी इस दिशा में मोड़ा। सम्भवत: सन् १९४८ में काशी में आचार्य जी के प्रयास से जो नवयुवक समाजवादी सम्मेलन हुआ था, उसके साहित्यिक-सांस्कृतिक मंच (नव-संस्कृति संघ) के डॉ० शम्भुनाथ जी संयोजक थे और उनके प्रयास से ही डॉ० रामधारी सिह 'दिनकर' उस सम्मेलन का उद्‌घाटन करने काशी पधारे थे और श्री युधामन्यु शाह के निवास स्थान पर वे 'साहित्यिक संघ' के अतिथि थे। उसी समय भाई ठाकुर प्रसाद जी के अतिरिक्त मुझे तथा मंगलनाथ सिंह, नर्मदेश्वर और अन्य मित्रों को 'दिनकर' जी के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला था और 'दिनकर' जी के साथ मैं डॉ० भगवतशरण उपाध्याय के तत्कालीन मडुवाडीह स्थित निवास स्थान पर गया था, जहाँ मेरा डॉ० उपाध्याय से परिचय हुआ और उस दिन से आज तक उनके स्नेह का भागी रहा हूँ। तात्पर्य यह कि डॉ० शम्भुनाथ जी ने 'नव-संस्कृति-संघ' के माध्यम से उस वर्ष जिस साहित्यिक-सांस्कृतिक कार्यक्रम का काशी में आयोजन किया था, उससे सामूहिक और व्यक्तिगत रूप से उन्होंने अपने दोस्त-मित्र साहित्य-सेवियों को पूरी तरह लाभान्वित होने का हर प्रकार अवसर दिया। जैसा मैं पहले कह चुका हूँ, वे किसी कार्य के श्रेय के लिये स्वयं उतने लालायित नहीं रहे, वरन् उन्होंने चाहा कि जहाँ और जब कभी कोई साहित्यिक मंच तैयार हो उस पर बड़ों के साथ कनिष्ठों को, प्रसिद्‌धि-प्राप्तों के साथ अप्रसिद्‌धों को और पुरानों के साथ नयों को भी सम्मान तथा प्रोत्साहन मिले।

डॉ० शम्भुनाथ जी के व्यक्तिगत जीवन और सम्पर्क में केवल एकबार आनेवाले लोग भी जानते हैं कि जो कभी उनसे श्रद्‌धा और

प्रेम-भाव से एक बार मिला, हमेशा के लिये उनका निकटस्थ हो गया। काशी छोड़ने के बाद में उनसे दूर-दूर रहा, पर उनसे जब कभी भी मिला ऐसा लगा जैसे उनसे कभी दूर न रहा, बराबर उनके आस पास और निकट ही रहा हूँ। यही निकटता का भाव उनके व्यक्तिगत तथा साहित्यिक जीवन का सबसे बड़ा गुण है और इसके रहते ही डॉ० शम्भुनाथ जी कभी एकाकी न रहे, बराबर वे अपने में एक संगोष्ठी या सहजीवी भाव समेटे रहे।

आज उनकी पचासवीं वर्षपूर्ति पर हमें भगवान से यही प्रार्थना करनी है कि वे दीर्घजीवी हों और उनकी साहित्य-साधना जो हर नये परिवर्तनों की साक्षी है, समय के साथ-साथ और प्रौढ़ता तथा सामर्थ्य के साथ हिन्दी को धनी और सम्पन्न बनाये और उनके समय की तथा आनेवाली पीढ़ी उनके स्नेह सद्भाव से लाभान्वित होती रहे।

●

मेरे अग्रज : मेरे सहयात्री

•

सागर सिंह

शम्भुनाथ जी से मेरा परिचय उस समय हुआ जब मैं उदय प्रताप कालेज में सातवीं कक्षा का विद्यार्थी था। उस समय शम्भुनाथ जी उसी कालेज की बारहवीं कक्षा के छात्र थे। कालेज में कवि के रूप में उनकी ख्याति हो चुकी थी और सभी छात्र उन्हें कवि जी कहकर पुकारते थे। उसी समय मेरे भीतर भी काव्य-रचना की रुचि जागृत हुई थी और यह स्वाभाविक था कि मैं शम्भुनाथ जी की ओर आकृष्ट होता। मैं आदर और संभ्रम के साथ उनसे मिला। मिलने के कुछ दिनों बाद ही मुझे लगा कि मुझे एक ऐसा व्यक्ति मिल गया है जो प्रतिभाशाली कवि ही नहीं, अत्यन्त सहृदय और गुणग्राहक भी है। शम्भुनाथ जी ने मुझे सहज ही अपने छोटे भाई की तरह अपना लिया और उस समय हम लोगों के बीच जो भ्रातृ-सम्बन्ध स्थापित हुआ वह आजतक उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। इस तरह सन् १९३७ से लेकर अब तक के तीस वर्षों के उनके जीवन का मैं साक्षी हूँ। हम दोनों ने अनेक संघर्षों में एक साथ भाग लिया है, अनेक महान व्यक्तियों के सम्पर्क में रहकर एक साथ कार्य किया है और हम दोनों की विचार-धारा भी प्रायः एक जैसी रही है। अतएव डॉ० शम्भुनाथ सिंह मेरे अग्रज ही नहीं मेरे सहयात्री भी हैं।

मुझे उनको तीन दशकों तक अत्यन्त निकट से देखने का अवसर मिला है और मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि हृदय की संवेदनशीलता का इतना बड़ा गुलाम पाना कठिन है। इसी कारण उनके काव्य और उनके जीवन में बहुत कुछ एकरूपता है। मुझे ज्ञात है कि उनके जीवन की एक समय की अमिट प्रतीत होने वाली प्यास और उसके प्रति उन्हें प्राप्त हो रही उदासीनता ने उन्हें बहुत व्याकुल किया था। उस समय की उनकी कविताओं में निराशा, थकान और पराजय की भावना की

जो अभिव्यक्ति हुई है, वह उनकी तत्कालीन मनोदशा और जीवन-स्थिति का प्रमाणिक अभिलेख है—

उर के खुले के खुले ही रहे द्वार।
ज्योतित किया द्वार
जीवन शिखा वार,
जलता रहा आरती
दीप में प्यार,
पर बाँध पाये किसे ये किरण-तार ?

वस्तुत: उनका समस्त जीवन ही दु:खों और संघर्षों की कहानी रहा है। वे अपने बनाये हुए स्वावलम्बी और आत्माभिमानी व्यक्ति हैं। घोर आर्थिक अभावों और कष्टों में रहकर भी उन्होंने कभी धीरज नहीं छोड़ा। इसी तरह प्यार की दुनियाँ में भी अपने प्यासे मन को तृप्त करने के लिए उन्होंने कभी किसी ऐसे मार्ग का अवलम्बन नहीं किया जो वे आसानी से कर सकते थे। इसी कारण वे संवेदनशील और संघर्षशील जीवन के कवि रहे हैं। अभावों ने उन्हें सामाजिकता की ओर प्रेरति किया। शारीरिक अतृप्ति ने उन्हें मानसिक चिंतन की ओर अग्रसर किया। फलत: वे एक कोरे कवि बन कर नहीं रह सके, उन्होंने हृदय की आवाज सुनकर राजनीति में भाग लिया, परिवार की पुकार पर पत्रकारिता का पेशा अपनाया, साहित्य की आवश्यकता देखकर आलोचना, कहानी और नाटक के क्षेत्र में भी आगे बढ़े। इस तरह उनकी यात्रा भीतर से बाहर की ओर अथवा 'एक' से 'बहु' की ओर होती रही है। उन्होंने अपने जीवन का सतत् विस्तार किया है। वे अकेले रहकर भी सब के हो गये हैं, जैसा उन्होंने लिखा है—

'मैं सभी का हूँ न कोई किन्तु मेरा।'

उनकी प्रारंभिक कविताओं में जो भावुकता और हृदय की आकुलता दिखाई पड़ती है वह अल्पकालिक ही थी; कारण उनकी छात्रा-व्यवस्था तथा उसके बाद के कुछ वर्षों का जीवन उसी प्रकार की स्थितियों से पूर्ण था। किन्तु सन् १९३९ में इलाहाबाद से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद जुलाई मास में जब वे फिर वाराणसी आ गये तो उनके आर्थिक संघर्षों की कहानी शुरू हो गयी। अर्थाभाव के

कारण वे हिन्दू विश्वविद्यालय में एम० ए० में नाम नहीं लिखा सके और तब कोई न कोई नौकरी करके अगले वर्ष पढ़ने के लिए धन-संग्रह करना उनके लिए आवश्यक हो गया। उन दिनों प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता श्री शचीन्द्र नाथ सान्याल बनारस में ही थे। उनसे मेरा अच्छा सम्पर्क हो गया था। वे अपनी आत्मकथा हिन्दी में लिखना चाहते थे और उन्हें एक लेखक की आवश्यकता थी। मैंने शम्भुनाथ जी को उनसे मिला दिया। दूसरे दिन से उन्होंने सान्याल जी के यहाँ लेखन—कार्य शुरू कर दिया। मैं कह नहीं सकता, सान्याल जी से शम्भुनाथ जी ने कितना प्रभाव ग्रहण किया किन्तु शम्भुनाथ जी का सान्याल जी पर इतना प्रभाव अवश्य पड़ा था कि वे जब 'अग्रगामी' नामक दैनिक पत्र के सम्पादक हुए तो उन्होंने शम्भुनाथ जी को अपना प्रधान सहायक सम्पादक बना लिया। पत्रकार-जीवन में उनके प्रवेश की यही कहानी है। कई वर्षों तक उन्होंने 'अग्रगामी', दैनिक 'आज', साप्ताहिक 'आज' और 'क्षत्रिय मित्र' नामक पत्रों में सम्पादक-रूप में तथा अन्त में १९४७ में 'नया हिन्दुस्तान' नामक साप्ताहिक पत्र के प्रधान संपादक के रूप में कार्य किया। इस बीच उनकी आर्थिक स्थिति कुछ सुधरी और उनकी साहित्यिक रचनाएँ भी पर्याप्त संख्या में प्रकाशित हुईं। इसी अवधि में उन्होंने १९४४ में हिन्दी विषय से एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की और मैंने १९४७ में एल० एल० बी० की परीक्षा उत्तीर्ण करके वकालत का पेशा प्रारंभ कर दिया।

इन दिनों शम्भुनाथ जी शिवदान सिंह चौहान और अमृत राय के निकट सम्पर्क में थे। १९४३-४४ में वे कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता बन गये थे और मुझसे प्रायः उनकी झड़प हो जाया करती थी किन्तु कम्युनिस्टों ने जब पाकिस्तान के दावे का समकर्थन शुरू किया तो शम्भुनाथ जी की आँख खुली। उन्होंने साप्ताहिक 'संसार' में 'कामरेड पी० सी० जोशी के नाम खुला पत्र' शीर्षक एक निबन्ध लिखा जिसके फलस्वरूप कम्युनिस्ट पार्टी के लोग उनके शत्रु बन गये। इसके पहले इन्होंने अमृतराय के साथ मिलकर काशी में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की थी। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी उस संघ के अध्यक्ष थे। कम्युनिस्ट पार्टी से अलग होने पर शम्भुनाथ जी ने इस रहस्य का भण्डाभोड़ किया कि प्रगतिशील-लेखक-संघ में अब तक जो

भी कार्य होता रहा है उसकी रूपरेखा पहले कम्युनिस्ट पार्टी की 'सेल' की बैठक में तय हो जाती थी। इस घटना से प्रगतिशील लेखक संघ के सदस्यों में बहुत रोष फैला। मैं भी संघ का सदस्य था। हम लोगों ने निश्चय किया कि प्रगतिशील-लेखक-संघ का अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक-संघ से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया जाय। हम लोगों ने अपने संघ का नाम काशी-प्रगतिशील-लेखक-संघ रखा। शम्भुनाथ जी उसके मंत्री थे और मैं सहायक मन्त्री। जबतक आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी काशी में रहे, यह संस्था उत्साह के साथ काम करती रही।

सन् १९४५ में आचार्य नरेन्द्रदेव जी जब जेल से छूटे तो काशी विद्यापीठ में आकर रहने लगे। राजनीति में सक्रिय भाग लेने के कारण मैं शीघ्र ही उनके निकट सम्पर्क में आ गया। आचार्य जी ने मुझसे यह विचार व्यक्त किया कि समाजवादी विचारधारा वाले लेखकों का संघटन बनना चाहिए। मुझे तुरन्त शम्भुनाथ जी का ध्यान आया। उस समय तक वे कम्युनिस्टों के प्रभाव क्षेत्र के बाहर निकल चुके थे। मैं उन्हें आचार्य नरेन्द्रदेव के पास ले गया। आचार्य जी ने उन्हें प्रगतिशील लेखकों को लोकतान्त्रिक विचार-पद्धति के आधार पर संघटित करने का भार सौंपा। प्रगतिशील लेखक-संघ में हम लोगों ने लोकतान्त्रिक समाजवाद के विचारों को अग्रसर करना शुरू किया। इस तरह आचार्य जी तथा वाजपेयी जी के साथ हम लोगों का सम्बन्ध उत्तरोत्तर दृढ़ होता गया। इनके काव्य में जो मानवतावादी विचार और संघर्ष के दुर्दम्य भाव दिखाई पड़ते हैं, उनका कारण आचार्य नरेन्द्रदेव का अमिट प्रभाव ही है। आचार्य बाजपेयी के प्रभाव से उनके काव्य में राष्ट्रीयता और भारतीय संस्कृति का समन्वित रूप अभिव्यक्त हुआ है। अपने समय के संघर्षशील और आगे बढ़ते हुए समाज को उन्होंने न केवल निकट से देखा है बल्कि वे स्वयं उसका अभिन्न अंग बनकर रहे हैं। किसी संवेदनशील प्रतिभाशाली कवि को जब ऐसा अवसर प्राप्त हो जाता है तो उसकी वाणी से निकला हुआ काव्य यथार्थ का शरीर और कल्पना का सौन्दर्य ग्रहण कर आश्चर्यजनक आन्तरिक प्रभा से आलोकित हो उठता है। शम्भुनाथ जी उन्हीं सौभाग्यशाली कवियों में से हैं। यद्यपि राजनीतिक पुरुषों-आचार्य नरेन्द्रदेव, सम्पूर्णानन्द, डा० राममनोहर लोहिया-आदि से उन्हें सदैव स्नेह और प्रोत्साहन प्राप्त होता रहा किन्तु कभी भी उन्होंने राजनीति को अपना

पेशा बनाने की बात नहीं सोची। राजनीति के निकट सम्पर्क में रहकर भी वे उसके पंख से बचते रहे। इसका कारण मेरे विचार से यह था कि उनका कवि उनके राजनीतिक व्यक्तित्व पर सर्वदा विजयी रहा। आचार्य नरेन्द्रदेव और वाजपेयी जी के मन में यह मुगालता कभी नहीं रहा कि शम्भुनाथ जी कवि के अतिरिक्त और कुछ भी हैं, और यह शम्भुनाथ जी के लिए भी श्रेयष्कर रहा।

मेरे और उनके तीस वर्षों के लम्बे और घनिष्टतम सम्पर्क में अनेक घटनाएँ ऐसी हुई जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता। वे सभी एक ही तथ्य को सिद्ध करतो हैं कि शम्भुनाथ जी हृदयप्रधान व्यक्ति हैं। बुद्धि का सहारा लेने का उनका प्रयास आज के युग में विज्ञान के प्राबल्य के कारण है, उनकी आन्तरिक अभिरुचि के कारण नहीं। इस बात को मैं साधिकार कह रहा हूँ, क्योंकि वर्षों हम साथ साथ रहे हैं। वे ऊँची कक्षा के विद्यार्थी थे किन्तु सन् ४२ की क्रान्ति के बाद काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के विद्यार्थी के रूप में विजयशंकर मल्ल, वीरेन्द्र प्रताप सिंह 'परदेशी', शम्भुनाथ जी तथा मैं जिस प्रकार सहोदर की भाँति मां सरस्वती की आराधना गंगा तट पर कर रहे थे, वह पवित्र स्नेह-सूत्र ऐसा लगता था कि हम चारों को आजीवन बाँधे रहेगा। यह संयोग ही है कि विश्वविद्यालयों, सरकारी कार्यालयों और कचहरी जैसे अलग अलग क्षेत्रों में कार्यरत हम चारों इस समय काशी में ही हैं। इस कारण आज शम्भुनाथ जी की उन कविताओं को याद आती है जो उन्होंने उन्हीं दिनों लिखी थी। विश्वविद्यालय के सरस वातावरण में रहकर ही 'किसी के रूप के बादल', 'मैं तुम्हारी छाँह में चलता रहा तुमने न जाना', 'प्रिये प्राण में चाँदनो छा रही है' आदि कविताएँ लिखी गई थीं। उसी काल में महाकवि निराला की स्वर्ण-जयन्ती मनायी गयी थी और स्वयं महाकवि ने हम चारों को प्रोत्साहित किया था। यही नहीं, हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में आचार्य वाजपेयी जी ने निराला जी को जब ११०० रु० की थैली भेंट की, तो निराला जी ने वहीं उस राशि को ११ नवयुवक कवियों में बाँट देने का आदेश दिया। उन ११ नवयुवक कवियों में शम्भुनाथ जी के साथ मुझे भी चुने जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उन दिनों इस छोटी सी साहित्यिक मण्डली का नेतृत्व आचार्य नन्ददुलारे जी वाजपेयी करते थे। नित्य सन्ध्या समय दुर्गाकुण्ड वाले उनके मकान पर हमारी गोष्ठी

जमती थी। मुझे स्मरण है कि किस प्रकार हम लोग (वाजपेयी जी भी) आचार्य नरेन्द्रदेव से प्रभावित हुए थे और किस सीमा तक उस ज्ञानपुन्ज ने हमारे मन को आलोकित किया था। शम्भुनाथ जी इन सब घड़ियों में हमारे साथ थे। किन्तु हम चारों में चूँकि कवि वही थे, इसलिए चिन्तन की राह पर हम सबका अनेक बार उनसे साथ छूट भी जाता रहा और इसकी छूट उन्हें आज भी है।

शम्भुनाथ जी वस्तुतः संघर्षशील जीवन के कवि हैं। पीछे ले जाने वाली प्रवृत्ति से समझौता करना उनकी प्रकृति के विरुद्ध है। जीवन के घात प्रतिघात के प्रति वे सचेत हैं और उन्हें ज्ञात है कि नयी दुनियाँ का जो नया सपना वे देना चाहते हैं उसका मेल आज के जगत से बैठ नहीं पा रहा है। अपनी इसी भावना को व्यक्त करते हुए एक स्थान पर उन्होंने कहा है—

इन भटकी राहों में
अनचाही चाहों में

एक ध्येय मेरा है, एक ध्यान तेरा है।

शम्भुनाथ जी कहीं पर रुकते नहीं। नये संसार के निर्माण का जो दायित्व अपने विचार-जगत् में उन्होंने अपनाया है, उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं से वे परिचित हैं। धारा प्रतिकूल है, श्रम के व्यर्थ हो जाने की आशंका है, किन्तु मन में हार नहीं है, अन्तिम विजय का विश्वास है। यह अटूट विश्वास ही कवि की जीवनी शक्ति है। वह विध्वंस का नहीं, निर्माण का गायक है। वह स्वप्न और कल्पना का आलम्बन लेता है किन्तु सुख के लिए, गति के लिए, जीवन के लिए। इसीलिए जब आधुनिक कविता का अध्ययन निष्पक्ष दृष्टि से होगा, तो शम्भुनाथ जी शिवत्व के गायक माने जायेंगे। नये संसार के निर्माण के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है :—

विषम भूमि नीचे, निठुर व्योम ऊपर !
यहाँ राह अपनी बनाने चले हम
यहाँ प्यास अपनी बुझाने चले हम,
जहाँ हाथ औ पाँव की जिन्दगी हो
नयी एक दुनिया बसाने चले हम !

एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं:—

जीवन जागरण का नाम !
हो न सुख की तान जिसमें,
हो न गति का गान जिसमें,
हो न जीवन-प्राण जिसमें

क्रान्ति के गायक तुम्हें उस शान्ति से क्या काम !

शम्भुनाथ जी कवि हैं और समस्त समाज के लिये यही उनका कल्याणकारी और रचनात्मक रूप है। मेरे लिये वे इससे अधिक बहुत कुछ हैं। मुझे यह देख कर बड़ा सन्तोष होता है कि शम्भुनाथ जी मेरे उन मित्रों में से हैं जिनपर पूरा भरोसा निर्द्वन्द्व होकर किया जा सकता है। अब तक उन्होंने अपने ज्ञान और रचना से, सिद्धान्त और व्यवहार से, शील और संवेदना से मानव समाज की जो महत्व-पूर्ण सेवा की है वह अभिनन्दनीय है। मैं सचमुच विश्वास के साथ उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ जब शम्भुनाथ जी विश्वविख्यात उच्चतम साहित्य-कारों में माने जायेंगे। उनके काव्य और उनकी रचना में वे तत्त्व और गुण हैं जिनके कारण उस कोटि तक पहुँचा जा सकता है।

शम्भुनाथ सिंह—पत्रकार रूप में

•

विद्या भास्कर

श्री शम्भुनाथ सिंह मेरे उन थोड़े से कवि मित्रों में हैं जिन्हें मैं आज से २६-२७ वर्ष पूर्व महाकवि कहा करता था और आज भी यही आशा करता हूँ कि उनके अन्य मित्रादि उन्हें इस पद्वी से शीघ्र ही सम्मानित करेंगें। कवियों और उनकी पद्धतियों के विषय में मेरी जो धारणाएँ और मान्यताएँ हैं उन्हें शम्भुनाथ सिंह भली-भाँति जानते हैं कि मेरी यह धारणा और मान्यता अनादर की नहीं है। काव्य-रचना का काम मेरी दृष्टि में दुःसाध्य है। अनेक कवियों की रचनाएँ कर्ण-कठोर और दुर्बोध प्रतीत होती हैं। कवि-सम्मेलनों में अथवा आकाशवाणी पर जब कभी कवियों की आवाज सुनने को बाध्य होना पड़ता है तब संतज्ञानेश्वर फिल्म में भैंस के वेदोच्चारण करने का दृश्य सामने आ जाता है और कान में वही ध्वनि गूँजने लगती है। मित्रवर शम्भुनाथ सिंह की कविता सुबोध और सरल होती है और उनका पाठ सुनने से अच्छा लगता है। मैं चाहता हूँ कि यदि कविता करना ही हो तो शम्भुनाथ सिंह का अनुकरण करना श्रेयस्कर होगा। उन्हें महाकवि की उपाधि से सम्बोधित करने में मेरा आश्रय और अभिप्राय यही है कि वह इस उपाधि के अधिकारी हैं और इसके लिये आवश्यक सम्मानित होने के सभी गुणों से पूरित हैं। श्रेष्ठता की सीढ़ी पर चढ़ते आने वालों के लिए आधी ऊँचाई पर देखकर ठहरना उचित कैसे कहा जायेगा कम-से-कम मैं तो यही कामना करूँगा कि उन्हें महाकवि शम्भुनाथ के नाम से सम्बोधित किये बातें सुन सकूँ।

शम्भुनाथ से मेरा परिचय कवि के नाते नहीं पत्रकार के नाते हुआ है। पत्रकारिता में वह मेरे 'सीनियर' अर्थात् ज्येष्ठ इस अर्थ में कहा जा सकता है कि जिस दिन मैंने पहले-पहल वाराणसी के दैनिक 'अंकग्रामी' के सम्पादकीय विभाग में पैर रखा वहाँ उसी दिन मुझे शम्भुनाथ सिंह का सारा काम करने के लिए कहा गया।

मेरी नियुक्ति हो चुकी थी। फिर भी काम तो करके दिखाना ही था। मैं उससे पहले भी पत्रकारिता करता रहा हूँ किन्तु दैनिक समाचार पत्र कार्यालय में बैठकर काम करने का वह पहला लग रहा था। शम्भुनाथ सिंह ने मुझे काम दिया। कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आजाद के एक छोटे से वक्तव्य का अनुवाद कर उसे समाचार का रूप देने के लिए उस पर शीर्षक लगाना था। मैंने उस काम में देर नहीं की। जैसा बन पड़ा पूरा कर उन्हें दे दिया। उन्होंने उसे देखकर मुझसे प्रश्न किया—इससे पहले आपने किसी पत्र मे काम किया है। उत्तर में मैंने सिर हिलाकर नहीं की सूचना दी थी। उसके बाद ऐसा प्रतीत हुआ कि शम्भुनाथ सिंह मेरी ओर से निश्चिन्त हो गये और मैं काम की ओर से निश्चिन्त हो गया।

कुल चार या पाँच आदमी उस दैनिक समाचार पत्र में सहायक के रूप में काम करते थे। सम्पादक थे श्री सन्याल। चार-पाँच सहायक सम्पादकों में दो या तीन सज्जन विश्व विद्यालय के छात्र भी थे। मैं उन लोगों में था जिन्हें और कोई काम नहीं करना था। चौबीस में से १२-१६ घंटे उसी अखबार और उसमें प्रकाशित होने वाली सामग्री के पीछे पड़े रहने की मुझे लत लग गयी थी। अग्रगामी कार्यालय में प्रवेश करने के छः मास के अन्दर मैं उसका सम्पादक नियुक्त कर दिया गया। शम्भुनाथ सिंह अब मेरे सहायक हो गये लेकिन तब भी वह विश्वविद्यालय की एम० ए० कक्षा के छात्र ही थे।

छात्र और सम्पादक दोनों होते हुये भी शम्भुनाथ सिंह परिश्रम से थकते नहीं थे। उनके और हमारे भी एक और साथी थे। श्री मोती बी० ए० वह भी कवि थे। काव्य रचना साहित्यिक वार्तालाप विचार-विनिमय तर्क-कुतर्क वाद-विवाद और वितण्डावाद के साथ ही साथ पत्रकारिता का काम भी चलता था। जिसमें कठोरतम परिश्रम करने पर भी आनन्द का ही अनुभव होता था। स्वल्प साधन सीमोत क्षमता, घोर अर्थाभाव, उपेक्षापूर्ण व्यवहार आदि सबके होते हुये भी पत्रकारिता हम लोगों के लिए खिलवाड़ या नशा जैसा लग रहा था। शम्भुनाथ सिंह परिश्रम से डरते नहीं थे। स्फूर्ति से काम करते थे। भाषा और अभिव्यक्ति पर उनका आधा अधिकार था।

उनकी साहित्यिक प्रतिभा का पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए साप्ताहिक अग्रगामी का प्रकाशन किया गया जिसके वही कर्ता-धर्ता हुए।

कविता, कहानी, साहित्यिक विचार विमर्श आदि से पूरित वह पत्रिका भी शीघ्र ही लोकप्रिय हुई। शम्भुनाथ सिंह का प्रतिभा से लोहा लें, उस समय के अन्य समवसमवयष्क साहित्यकारों अथवा पत्रकारों के लिए कठिन था।

शम्भुनाथ सिंह की बहुमुखी प्रतिभा का यह एक मात्र प्रमाण नहीं है। वह अच्छे परिश्रमी, प्रतिभाशाली, आलोचक, कवि, कहानीकार और छात्र होते हुए भी अपनी प्रतिभा के विकास की अन्य दिशाओं की ओर आँख लगाये रहते थे। मैं स्वयं एकाग्रचित्त पत्रकार और सम्पादक बना रहा।

●

एक जीवन्त व्यक्तित्व

•

डॉ० युगेश्वर पाण्डेय

मैंने डॉ० शम्भुनाथ सिंह को सर्व प्रथम 'जनवाणी' में प्रकाशित नव संस्कृति संघ की रिपोर्ट से जाना था। बाद में देवघर जाने पर साहित्य विद्यालय के तत्कालीन आचार्य मेरे अध्यापक श्री ठाकुर प्रसाद सिंह ने उनसे मेरा परिचय कराया। तब तक मैंने उनके गीत नहीं के बराबर पढ़े थे। जो कुछ एकाध पढ़ा था उसके प्रति मेरी कोई रुचि न थी। क्योंकि उसमें जवानी बंदिनी न होने या प्राणों की प्यास पुरानी न होने की घोषणा थी। मैं तो किसान-मजदूरों के संघर्षों का गीत सुनना चाहता था और ऐसी ही स्थिति में 'कब तक तुम मौन रहोगे ओ जनदेवता' गीत ने मुझे काफी संतुष्ट किया। ऐसा लगता था कि हमारे समाजवादी नारों को ही शम्भुनाथ जी वाणी दे रहे हैं। वे जनता की आजादी की बेचैनी को व्यक्त कर रहे हैं। यद्यपि श्री ठाकुर प्रसाद सिंह बताते थे कि इस कविता की शब्दावली छायावादी है। किंतु वस्तु या विषय के प्रति आग्रह के कारण शब्दावली पर ध्यान नहीं जाता था। डॉ० शंभुनाथ जी की अन्य कविताओं में वैयक्तिक प्रेम-विरह का स्वर इतना तीव्र था कि सामूहिक चेतना के खोजी व्यक्तियों को उनके प्रति कोई आकर्षण न था। हिंदी साहित्य में तब संयुक्त मोरचे का नारा बड़े शोर के साथ लगाया जा रहा था। जैसे यह नारा राजनीतिक था उसी प्रकार इस नारे का विरोध भी कम्युनिष्ट विरोध की राजनिति के कारण था। हमें बताया गया था और हमने देखा भी था कि साहित्य में प्रगतिशीलता के नाम से केवल कम्युनिष्ट लेखक ही जाने जाते थे। जो लोग प्रगतिशील तो थे किंतु जिन्हें कम्युनिष्ट पार्टी की राजनीति बिल्कुल पसंद न थी वे इस स्थिति में ऊब चुके थे। विशेषकर साहित्य में रुचि रखनेवाले समाजवादी युवक और शायद आचार्य नरेंद्रदेव जैसे वृद्ध पुंगव भी। काशी में

नव संस्कृति संघ की स्थानपना के अनेक उद्देश्यों में एक उद्देश्य यह भी था कि लोग राष्ट्रीयता और जनतंत्र समन्वित अपने संदर्भों से युक्त प्रगतिशील चिंतन की खोज करें। डॉ० शंभुनाथ सिंह उस समय न केवल समाजवादी दल के सक्रिय और मान्य सदस्य थे बल्कि वे कम्युनिस्ट विरोधी भी थे। यह बात विशेष रूप से और भी उल्लेखनीय इसलिये बन जाती है कि तब तक बहुत से समाजवादी ऐसे थे जिन्हें कम्युनिस्टों के तीर्थ स्थलों और उनके पैगम्बरों के प्रति विशेष लगाव था। इनमें कुछ ने आगे चलकर कम्युनिस्टों की वैसाखी थाम ली।

सन् ५० के आस-पास बनारस में समाजवादी चिंतन को जो लोग संगठित और प्रखर कर रहे थे उनमें हमारे प्राध्यापक श्री राजाराम शास्त्री, प्राध्यापक मुकुट विहारी लाल, प्राध्यापक श्री रमाशंकर पांडेय, श्री विजय देव नारायण साही, डॉ० शंभुनाथ सिंह जैसे व्यक्तियों का महत्व पूर्ण स्थान था। डॉ० शंभुनाथ जी का स्थान इन व्यक्तियों से एक माने में अलग था कि शुद्ध साहित्य और उसमें भी साहित्य के रचनात्मक पक्ष के अनेक युवकों को आकर्षित करने का श्रेय इन्हें ही था।

डॉ० साहब न केवल युवक रचनाकार और साहित्यिक, बौद्धिक और रचना संबंधी आवश्यकताओं की चिंता करते थे बल्कि जीवन के दूसरे संघर्षों और आवश्यकताओं के लिये भी उनकी मदद करते थे। इनसे शैक्षणिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि कई प्रकार की सहायता पानेवालों में आज के अनेक साहित्यकार अध्यापक और लेखक हैं। इनमें मैं अपने को प्रथम समझता हूँ। किंतु न केवल मैं, क्योंकि मैं तो विचारों में डॉ० साहब से साम्य रखता था। बल्कि प्रसिद्ध मगही कवि श्री श्री नंदन शर्मा जैसे आदि व्यक्ति भी इनकी अनेक प्रकार की सहायताएँ पाते रहे। जब कि स्थिति यह थी कि श्री श्री नंदन शर्मा न केवल कम्युनिस्ट थे बल्कि साहित्यिक गुट की दृष्टि से भी वे विरोधी गुट से अपने को जोड़े हुए थे। काशी विद्यापीठ की यह परंपरा रही है कि विरोध के बावजूद अपने साथियों और सहयोगियों की मदद की जाय और उसके द्वारा उनका प्रेम प्राप्त किया जाय। आचार्य नरेंद्र देव और श्री गुरुवर राजाराम शास्त्री इनमें प्रमुख रहे हैं जिनके शिष्य देश के सभी दलों और सभी विचारों में फैले हैं। फिर भी गुरु

शिष्य का संबंध सदा स्नेह पूर्ण रहा है। देश के किसी भी हिस्से में जाइए काशी विद्यापीठ के छात्रों से मिलिए विद्यापीठ का स्मरण आते ही उसके चेहरे पर एक आदरपूर्ण भाव जगेगा। आचार्य जी और शास्त्री जी उसके लिये हिमालय की उच्चता हैं। जहाँ ऊँचाई स्वच्छता और उदारता की अवछिन्न प्रवाह है। डॉ० साहब में प्रकृति सायद बचपन से ही थी जिसे कि काशी विद्यापीठ के वातावरण में और भी विकसित होने का अवसर मिला था। जब मैं काशी विद्यापीठ के अध्यापकों की उदारता की बातें करता हूँ तो खतरा है कि लोग इसे अध्यापक का सामान्य गुण कहकर न छुट्टी पा लें। यह सच है कि विद्यापीठ के अध्यापकों की उदारता न तो नयी थी न अजनवी। किंतु विद्यार्थी की समस्याओं के उदासीनता और तटस्थता के इस युग में विद्यापीठ के अध्यापकों द्वारा बरती जाने वाली उदारता और सहिष्णुता विरुद्ध देश-काल में नवीन मूर्ति की प्रतिष्ठा अवश्य थी। ऐसी स्थिति में यह और भी महत्वपूर्ण था जब कि ये अध्यापक सक्रिय राजनीति और राजनीति के वैचारिक संघर्षों में भी लगे थे और कभी-कभी तो इनके राजनीतिक रूप और अध्यापक रूप को अलगाना बिल्कुल कठिन था।

अपने विचारों के लिये अकेले भी संघर्ष करना डॉ० शंभुनाथ सिंह की एक मुख्य विशेषता है। एक समय आया जब कि काशी के साहित्यिक समाज में या तो पुराने ढंग के साहित्यिक रह गए या युवकों में अधिकतर प्रगतिवाद के नाम पर संगठित कम्युनिस्ट प्रचार का शिकार हो कर अस्सी को ही वाराणसी समझने लगे। ऐसी स्थिति में डॉ० शंभुनाथ जी चेतना के माध्यम से साहित्यकार और बुद्धिजीवी वर्ग की चेतना को जगाने और आगे बढ़ाने का प्रयत्न करते रहे। लेखक और रचनाकार की स्वतंत्रता के प्रति असीम आग्रह के कारण ही डॉ० शंभुनाथ सिंह जी डॉ० धर्म वीर भारती, अज्ञेय, रघुवंश आदि साहित्यकारों को अपने अधिक निकट समझ सके। शायद यही बड़ा कारण है कि जहां उनकी पीढ़ी के कई लेखक या तो अपनी पुरानी सफलताओं को ही दुहराते रहे या अपनी लेखनी को विश्राम दे दिया वहीं शंभुनाथ जी ने न केवल रचना के क्षेत्र में बल्कि चितन के क्षेत्र में भी नवीन धरातल की खोज की। इस बात में मतभेद हो

सकता है कि वे प्रयोगवाद, नयी कविता और अकविता के आन्दोलनों की अगली पंक्ति में रहे हैं या पिछली में, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनका रचनाकार अनेक युगों, अनेक आन्दनेलनों और अनेक काव्य प्रयोगों को पार करता हुआ आज अत्यंत ही गंभीर और महिमा मंडित शिखर पर पहुँच चुका है। ५० की उम्र पर आकर भी डॉ० साहब में रचनाकार और चितक की अनेक संभावनाएँ हैं।

स्वराज्य के बाद जो राजनीतिक निराशावाद फैला और उससे जो अराजनीतिक वातावरण पैदा हुआ, उसका असर यह हुआ कि एक ओर तो कई पुराने राजनीतिज्ञ राजनीति से अलग हो गए और दूसरा यह कि नये व्यक्तियों का राजनीति में प्रवेश बन्द हो गया। इस स्थिति का प्रभाव डॉ० शंभुनाथ जी पर भी पड़ा। हो सकता है यह संस्कृत विश्वविद्यालय के अराजनीतिक वातावरण का भी प्रभाव हो कि डॉ० साहब न केवल सोशलिस्ट पार्टी से अलग हो गए बल्कि राजनीति के प्रति भी तटस्थ रहने लगे। यह भी कि साहित्यिक राजनीतिक आन्दोलनों में भी शिथिलता आ गयी थी। या यह कि साहित्यकार की स्वतंत्रता और मुक्त बौद्धिक वातावरण चाहने वालों का दल इतना बड़ा हो गया था कि किसी प्रकार के संगठित आन्दोलन के लिए उत्साह और प्रयत्न की आवश्यकता ही नहीं रह गयी थी। फिर भी यह कहना बिल्कुल कठिन है कि विचारों में डॉ० शंभुनाथ जी कभी बिलकुल अराजनीतिक थे। बात १९६० की है जब कि वाराणसी में अखिल भारतवर्षीय समाजवादी दल का सम्मेलन हुआ और इस अवसर पर एक भाषा परिचर्चा का आयोजन हुआ। समाजवादी दल के लिये यह वह काल था जब मध्यवर्ग इसे बिल्कुल अविश्वास और हीनता की नजरों से देखता था। श्री नेहरू के प्रति डॉ० राममनोहर लोहिया के रूख के कारण स्थापित साहित्यकार को समाजवादी पार्टी का नाम सुनते ही डंक मार जाता था। किन्तु डॉ० शंभुनाथ सिंह ने न केवल उस भाषा परिचर्चा का अध्यक्षीय भाषण किया वरन लोहिया के भाषण से पूर्ण सहमति प्रकट करते हुए उनके भाषण को ही अपना भाषण स्वीकार किया।

दूसरी ओर साहित्य-चितन में डॉ० साहब ने समाज और साहित्यिक प्रवृत्तियों संबंधी खोज जारी रखी। उनका छायावाद युग ग्रंथ,

इस बात का प्रतीक है। इस ग्रंथ में छायावाद युग की समस्त प्रवृत्तियों और उपलब्धियों का विश्लेषण युगीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधारों पर हुआ है। विषय की गहराइयों में जाने की अपेक्षा कुछ आलोचकों ने छायावाद संबंधी अपनी पुस्तकों में चमत्कार को अधिक महत्व दिया। ऐसे ग्रंथों में लेखन-शैली का महत्व अधिक है। किशोर मन को आकर्षित करने की प्रवृत्ति उससे भी अधिक। यह एक प्रकार की संपादन-कला या पुस्तक, व्यवसाय-कला है।

किन्तु डॉ० शंभुनाथ सिंह चिंतन के क्षेत्र में अपने जीवन के समान ही उद्‌घोषणाओं, नारों और आकर्षक सिनेमा स्लाइडी वाक्यों के विरोधी हैं। हिंदी में कुछ ऐसे लेखक हैं जिन्होंने अपने प्रचार, गुट और पार्टी के फैले हुए प्रचारकों द्वारा अपने लेखन और लेखकीय व्यक्तित्व को स्थापित कराया है। निश्चय ही डॉ० शंभुनाथ सिंह के साथ ऐसा नहीं है। शुरू के दिनों में उनके साहित्यिक और राजनीतिक व्यक्तित्व में किसी प्रकार की एकता भले ही न दीख पड़ी हो किन्तु आगे चलकर उन्होंने अपने साहित्यकार को राजनीतिक प्रचार और गुटों से बिल्कुल अलग कर लिया। सच्चाई तो यह है कि डॉ० साहब मूलतः साहित्यकार हैं। राजनीति को साहित्यकार के व्यक्तित्व की पृष्ठभूमि के लिए तथा चिंतन-फलक के विस्तार के लिए उन्होंने ग्रहण किया है। 'छायावाद युग' ग्रंथ के समान ही उनके व्यक्तित्व में छायावादी काव्य की स्वच्छंदता, कोमलता, कल्पनाशीलता, आध्यात्मिक रहस्यमयता है और युग की ऊबड़-खाबड़ राजनीतिक और सामाजिक चेतना है।

शायद प्रत्येक युग में अपनी रचना का सबसे अच्छा आलोचक रचनाकार ही होता है। कम-से-कम आधुनिक कविता के लिये तो यह बिल्कुल सत्य है। निराला, पंत महादेवी, अज्ञेय, मुक्तिबोध, साही आदि सबों ने स्वयं अपने-अपने समकालीनों के काव्य और रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण किया है। डॉ० शंभुनाथ सिंह ने इस कार्य को कुछ भिन्न स्तर पर किया है। आरंभ से ही अध्यापक होने के नाते उनकी आलोचनाओं में शैक्षणिक और अध्यापकीय व्यवस्था है। इसीलिए इन आलोचनाओं में शैक्षणिक आलोचना के गुण दोष दोनों हैं। यह बात कभी-कभी आश्चर्य में डालने वाली है कि किस प्रकार एक

अच्छा रचनाकार आलोचकीय तटस्थता को निभा पाता है। इसीलिए डॉ० शंभुनाथ सिंह का मूल व्यक्तित्व तो रचनाकार का है किन्तु उनके समग्र व्यक्तित्व के निर्माण में अध्यापन, सामाजिक चिंतन, आलोचकीय विश्लेषण, वैयक्तिक उदारता, उद्देश्यों के प्रति निष्ठा और किसी कार्य को पूरा करने का अथक प्रयास, राजनीतिक चेतना आदि कई प्रकार के तत्त्वों का योग है। साइकिल-सवार के समान जीवन में न कोई बड़ा खतरा है, न पैदल चलनेवाले का धीमापन और आधुनिक भाग दौड़ में पिछड़ जाने की संभावना।

डॉ० शंभुनाथ सिंह विद्यार्थी में संभावनाओं की खोज करने वाले अध्यापक हैं। वे परीक्षा को न तो पूर्ण और न अंतिम समझते हैं। रचनात्मक प्रतिभा के व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक भी हैं। यही कारण है कि उन्होंने अनेक ऐसे विद्यार्थियों की भी सहायता की जो परीक्षावीर कम किन्तु प्रतिभा के धनी थे। अगर किसी विद्यार्थी में कुछ खास, विशेषकर लिखने-पढ़ने की, प्रतिभा है तो उसे डॉ० शंभुनाथ सिंह की सहायता और प्रोत्साहन मिलने में दो राय नहीं हो सकती है। आचार्य नरेन्द्रदेव की दृष्टि में उनके जीवन के सबसे अच्छे दिन वे हैं जिन्हें उन्होंने काशी विद्यापीठ में बिताये और सबसे अच्छा कार्य वह है जिसे उन्होंने विद्यापीठ में अध्यापक की स्थिति में किया। शायद यह बात डॉ० शम्भुनाथ के लिए भी सही है कि उनके अब तक के अध्यापक जीवन का सर्वोत्तम अंश वह है जिसे उन्होंने काशी विद्यापीठ में बिताया था। काल-प्रवाह में व्यक्ति कहाँ पहुँच जायेगा, कहना कठिन है। फिर भी किसी भी व्यक्ति के जीवन में किसी महत्वपूर्ण कार्य का अवसर शायद एक बार ही आता है और डॉ० शम्भुनाथ सिंह के जीवन का वह अवसर विद्यापीठ में ही था। खादी का कुर्ता, खादी की धोती, टीम-टाम का अभाव और साधारण व्यक्तित्व का असाधारण कार्य कभी काशी विद्यापीठ की मुख्य विशेषता थी। ये बातें डॉ० शम्भुनाथ सिंह में सहज हैं।

•

सहज विश्वासी डॉ० शम्भुनाथ सिंह

●

रामप्रवेश शास्त्री

सत्ता का अर्थ इतना संकुचित हो गया है कि राजसत्ता के अतिरिक्त और किसी सत्ता का जैसे अस्तित्व ही न हो। ऐसे सत्ताधारियों के अभिनन्दन आये दिन होते ही रहते हैं और उनकी जयन्तियाँ भी खूब मनाई जाने लगी हैं। वस्तुत: यह सम्मान उस तथाकथित सत्ता के प्रति प्रदर्शित किया जाता है और राजसत्ता ऊपर से आरोपित होने के कारण अस्थायी हुआ करती है। फलत: सत्ता से अलग होते ही प्राय: लोग श्रीहीन जैसे हो जाते हैं। बनावट की जगह वास्तविकता ले लेती है और अभिनन्दन की जगह उपेक्षा।

इससे बिल्कुल भिन्न स्थिति साहित्यिकों, समाजसेवकों और साधकों की होती है। समाज आदिकाल से ऐसे मनीषियों की परीक्षा लेता आ रहा है और इसीलिए एक हद तक बाधक भी सिद्ध होता है। अनेक प्रकार की बाधाओं को पार करते हुए, मुसीबतों को झेलते हुए, अभाव और अन्याय का मुकाबला करते हुए जब ऐसे लोग दृढ़तापूर्वक अपने पथ पर अग्रसर होते जाते हैं तब एक दिन समाज नतमस्तक होकर उनकी सत्ता को स्वीकार करता है, उनका अभिनन्दन करता है और उनके जीवन को अनुकरणीय मानकर अपनी श्रद्धा-भक्ति अर्पित करता है। डॉ० शम्भुनाथ सिंह इसी कोटि के साधकों में से हैं जिन्होंने अपनी साधना द्वारा हिन्दी साहित्य की बहुमूल्य सेवा की है और ऐसा करते हुए उस स्थान पर पहुँच गये हैं जहाँ सरस्वती माँ के वरद पुत्र के रूप में उनकी प्रतिष्ठा समाज के मानस में हो चुकी है।

डाक्टर साहब को मैंने पिछले १४ वर्षों से देखा है। मुझे अपने को उनका शिष्य कहने का सौभाग्य भी प्राप्त है। इस बात को मैं संकोच पूर्वक इसलिए कह रहा हूँ कि उनकी प्रतिभा, पाण्डित्य और साहित्यिक चेतना से जिस हद तक लाभान्वित होना सम्भव था और उनका

शिष्य कहलाने के लिए जो आवश्यक भी कहा जा सकता है उस हद से बहुत पीछे मैं अब भी हूँ। काशी विद्यापीठ में जब वे अध्यापक थे, मैं वहाँ का छात्र था और अनिवार्य हिन्दी के अतिरिक्त वैकल्पिक विषय के रूप में भी हिन्दी ले रखी थी। विद्यापीठ उन दिनों तक सुसंगठित शिक्षा-संस्था से अधिक एक परिवार जैसा था। छात्रों और अध्यापकों का प्रत्यक्ष संबंध न केवल पाठ्य विषयों के अध्ययन की दृष्टि से वरदान स्वरूप था अपितु सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत जीवन में भी छात्रों का मार्ग प्रशस्त करता था और उस पारिवारिक वातावरण का ही प्रभाव है कि वहाँ से निकलने के बाद भी वहाँ की हर चीज अपनी जैसी लगती है। विगत १४ वर्षों का स्मरण करते हुए मुझे अफसोस हो रहा है कि डाक्टर साहब के निकट संपर्क म रहते हुए उनकी अनुकूल कृपादृष्टि के बावजूद भी उनसे सीखने का बहुमूल्य सुअवसर मैंने खोया है और इसीलिए एक योग्य शिष्य कहलाने के अधिकार से भी बंचित हूँ।

डाक्टर साहब की बहुमुखी प्रतिभा का सर्वाधिक विकसित रूप उनका साहित्यिक पक्ष है। वे इस देश में एक साहित्यिकार, एक विशिष्ट कवि क रूप में विख्यात हैं। इसी कारण उनके अन्यान्य पक्षों की ओर सहज ही लोगों का ध्यान नहीं जा पाता यद्यपि अध्यापन, समाजसेवा, संस्कृति, राजनीति, पत्रकारिता आदि भी उनकी अभिरुचि के क्षेत्र रहे हैं। इन क्षत्रों में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है और कुछ में तो आज भी उनकी दिलचस्पी पूर्ववत् बनी हुई है, जब कि समयाभाव के कारण स्वयं सक्रिय न रहने की स्थिति में लोगों को प्रेरणामात्र प्रदान करते रहते हैं।

डाक्टर साहब के साहित्यिक जीवन का मूल्यांकन करने में संभवतः मैं सक्षम भी नहीं हूँ और यह पक्ष इतना स्पष्ट भी है कि एक सामान्य आदमी को भी यदि मूल्यांकन की कसौटी दे दी जाय तो अपने ढंग से वास्तविकता को जान लेगा। इसीलिए इस सम्बन्ध में मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि जिन अभावपूर्ण प्रतिकूल परिस्थितियों में उन्होंने साहित्यिक साधना की है उनमें बहुत कम लोग अपने को साबित रख-कर इतनी ऊँचाई को छू सकते हैं और शायद साधक के लिए सिद्धि तक पहुँचने में ऐसी परिस्थितियाँ आवश्यक भी कही जा सकती हैं जैसा

कि इतिहास गवाही देता है। आलोचक, कहानीकार और नाटककार के रूप में डाक्टर साहब बुद्धिजीवियों के आदर के पात्र हैं लेकिन लोकप्रियता तो उनके अन्तर के उस कवि ने प्रदान की है जो लोक-कल्याण की दृष्टि से जन-मन को उद्वेलित, आन्दोलित, अनुप्राणित, प्रतिबिम्बित, प्रेरित और प्रकाशित करता आया है तथा जाने-अन-जाने उनके प्रत्येक कार्य-व्यवहार में अपनी छाप, कहीं हल्की, कहीं गहरी, छोड़ता आया है। इसीलिए डाक्टर साहब के व्यक्तित्व को प्रवृत्तियों के आधार पर भी टुकड़ों में नहीं बाँटा जा सकता। उनका कवि उन सब प्रवृत्तियों में वैसे ही विद्यमान है जैसे माला के सुमनों के भीतर धागा।

एक अध्यापक के रूप में डाक्टर साहब को विषय के साथ तन्मय होते हुए और उस तन्मयता का जादू पूरी कक्षा के ऊपर छात्रों को मंत्रमुग्ध बनाकर ज्ञानपिपासा को तृप्त करते हुए जिन्होंने देखा होगा उन्हें अवश्य ही उन छात्रों से ईर्ष्या पैदा हुई होगी। लेकिन यह बात उनकी मन:स्थिति या "मूड" पर निर्भर करती थी। उनका उन्मुक्त व्यक्तित्व अगर कक्षा (पीरियड) प्रारम्भ होने का ध्यान नहीं रख पाता तो यह भी भूल जाता है कि घंटा समाप्त हो गया है और दूसरा अध्यापक उनकी कक्षा छोड़ने की प्रतीक्षा कर रहा है।

यह बात केवल अध्यापन में ही नहीं, उनके दूसरे कामों में भी पाई जाती हैं। एक प्रसंग याद आ रहा है। काशी विद्यापीठ में मैंने एक काव्य-गोष्ठी का आयोजन किया था। डाक्टर साहब उसके प्रमुख थे। निश्चित समय पर सब लोग आ गये। घण्टों की प्रतीक्षा के बाद पूज्य प्रो० राजाराम शास्त्री अपने को "लेट" समझकर पहुचे। लेकिन यहाँ तो अभी गोष्ठी का अध्यक्ष ही गायब था। शास्त्री जी के पूछने-पर मैंने गोष्ठी में देर का कारण बतलाते हुए कहा कि शम्भुनाथ जी की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। (तबतक वे पी० एच० डी० नहीं हुए थे और प्रचलित नाम शम्भुनाथ जी था) तत्काल उन्होंने कहा कि "अपने तिलक का दिन तो उन्हें याद ही नहीं था तो तुम्हारी गोष्ठीं को कहाँ से याद रखेंगे" ? वस्तुत: बात थी भी यही। जब उन्हें किसी प्रकार ध्यान आया तो घबराये हुए विद्यापीठ पहुँचे जबकि लम्बी प्रतीक्षा के बाद गोष्ठी चल रही थी। इसे मैं विस्मरण की शक्ति मानता हूँ जो स्वाभिमानी व्यक्तियों में प्रायः देखी जाती है।

इस विस्मरण-शक्ति में थोड़ा असावधानी का भी अंश होता है और उस स्वाभिमानी व्यक्ति को उसके कारण नुकसान भी उठाना पड़ता है। मुझे याद है कि जब उन की पी० एच० डो० की थिसिस जमा होने वाली थी उसके एक दिन पहले एक टाइप का काम भी पूरा नहीं हो पाया था। उस रात उनके काली महाल स्थित निवास स्थान पर तीन-चार आदमी टाइप की शुद्धि-अशुद्धि का मिलान कर रहे थे और दो-तीन आदमी मणिकर्णिका घाट के पास से जहां टाइप का काम हो रहा था टाइप किया हुआ कागज ले आने का काम कर रहे थे। यदि इतने ताबड़-तोड़ में यह काम न हुआ होता तो सम्भव था कि ठीक समय पर थिसिस जमा न हो पाती।

एक और घटना याद आरही है—चतुर्थ अन्तर विश्वविद्यालय छात्र-समारोह से सम्बन्धित। विद्यापीठ को पहली बार उस समारोह में भाग लेने का अवसर मिला था। समारोह प्रारम्भ होने से एक-दो दिन ही पहले स्वीकृति प्राप्त हुई थी। किसो प्रकार केवल एक कार्यक्रम-नाटक-में भाग लेने का निश्चय करके विद्यापीठ के दल ने दिल्ली के लिए प्रस्थान किया। डाक्टर साहब और श्रीमती सुदर्शन कुमारी अध्यापकों में से दल क नेता थ। मुझे नाट्य-निर्देशक के रूप में जाने का सौभाग्य मिला था। नाटक म भाग लेने वाले एक श्री शमशेर सिंह जो अब चलचित्रों में सुजीतकुमार के नाम से विख्यात हो चुके हैं, तथा अन्य सात-आठ छात्र जिनम तीन छात्रायें थीं, चुने गये थे। लेकिन नाटक का चुनाव तो उस दिन ही प्रारम्भ होने से चार-पाँच घंटा पहले हो पाया था। बाजार जाकर नाटक की पुस्तक खरीदी गई। श्री भगवती चरण वर्मा का लिखा हुआ "दो कलाकार" एकांकी प्रस्तुत करने का निश्चय हुआ। दो घंटो पहले जानकारी मिली कि नाटक में स्त्री पात्र अनिवार्य है जबकि "दो कलाकार" में कोई भी स्त्री पात्र है ही नहीं। अबतो गाड़ी फँस गई। इतना भी समय नहीं रहा कि दूसरा नाटक प्राप्त किया जा सके। मैंने जिज्ञासा की कि इसी में स्त्री-पात्र जोड़ दिए जायँ तो कैसा रहेगा ? डाक्टर साहब ने आनन-फानन में एक कवि की पत्नी और दूसरा कलाकार की पत्नी का डायलाग बनाकर जोड़ दिया और स्टेज पर उस दिन का वह बेजोड़ नाटक सिद्ध हुआ जबकि दूसरे दो-तीन विश्वविद्यालयों का भी कार्यक्रम उसी दिन था। दूसरे दिन स्टेट्समैन में प्रकाशित हुआ कि

The best play of the night was Do kalatar playnd by the stuelents of kashi vidyapcetha. जहाँ दूसरे विश्व-विद्यालय महीनों की पूर्व तैयारी के बाद स्टेज पर उतरे थे, वहाँ हम लोगों का बिना किसी तैयारी के यशस्वी होने का श्रेय डाक्टर साहब प्रत्युत्पन्न के मतित्व और प्रखर ज्ञान को ही था।

काशी विद्यापीठ का अध्यापक होने के नाते सहज ही डाक्टर साहब को सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में जाने के अवसर सुलभ हुए। पूज्य आचार्य नरेन्द्रदेव जी से डाक्टर साहब अच्छी तरह प्रभावित रहे हैं और उन्हीं के प्रभाव के कारण उन्होंने अध्यापक-जोवन को श्रेष्ठ मानकर अपने लिये चुना है। सामाजिक क्रान्ति, नव-संस्कृति और समाजवाद के लिए रचनात्मक, वचनात्मक और लेखनात्मक रूप से आचार्य जी के मार्ग-दर्शन में डाक्टर साहब ने काफी काम किया है और इसके कारण उनके राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण हुआ है।

डाक्टर साहब के शिष्यों और मित्रों की बड़ी जमात देश भर में फैली हुई है। इनके भोलेपन से नाजायज लाभ उठाने वाले भी कम नहीं हैं। मेरी राय में इनके अपने लोगों के कारण इनका काफी नुकसान, एक अर्थ में शोषण भी, हुआ है। डाक्टर साहब सहज विश्वासी स्वभाव के हैं। इसीलिए सहज दुश्मनी मोल लेने में भी अपने ढंग के अनोखे व्यक्ति हैं। ऐसी दुश्मनी में विशेषता यह होती है कि डाक्टर साहब के कारण इनके दुश्मन का नुकसान होने के बजाय प्राय: लाभ ही होता है और वे स्वयं बहुत घाटा उठाते आ रहे हैं। इस तरह को दुश्मनी वह स्वयं करते भी नहीं, बल्कि परिचित अपरिचित जो मिलने वाले लोग हैं अधिकांशत: वे ही निमित्त बन जाते हैं। यदि कहा जाय कि अधिकांश बड़े लोगों की तरह एक हद तक डाक्टर साहब भी कान के कच्चे हैं तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। दुर्भावना बनाये रखना इनके लिए संभव नहीं है।

नवोदित कवि एवं साहित्यकारों के लिए डाक्टर साहब का मित्रवत् व्यवहार बड़ा ही उत्साहवर्धक है। ये स्वयं एक संस्था हैं, और नयी पोढ़ी को बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते आ रहे हैं। अपने लाभ के लिए स्वयं तो कुछ भी नहीं कर पाये, दूसरों ने भी

कभी ध्यान नहीं दिया जबकि आपके मार्ग-दर्शन तथा प्रत्यक्ष सहयोग से कितने ही लोग डाक्ट्रेट करके विश्वविद्यालयों में रीडर और प्रोफेसर हो रहे हैं।

इन दिनों डाक्टर साहब संस्कृत विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद को सुशोभित किये हुए हैं। उनके अभिनन्दन के सुअवसर पर उनके दीर्घजीवन की मंगल-कामना के साथ हम आशा करते हैं कि भविष्य में डाक्टर साहब की सेवाओं का उचित मूल्यांकन करके समाज उन्हें उचित सम्मान देगा। इस अवसर पर हम अपनी हार्दिक श्रद्धा सादर समर्पित करते हुए कृतार्थता का अनुभव कर रहे हैं। लेकिन इसकी पात्रता तो तभी आ सकती है, जब सही अर्थों में हम उनके शिष्य कहलाने के योग्य बन सकें।

शम्भुनाथ सिंह : आईने के सामने

विजय नारायण सिंह

विगत तीस वर्षों में हिन्दी-कविता ने जिन काव्य-आयामों से होकर अपना मार्ग प्रशस्त किया है, उनका कलात्मक तथा स्पष्ट दर्शन यदि किसी एक कवि के काव्य में होता है, तो वह डाक्टर शम्भुनाथ सिंह हैं। डाक्टर साहब के काव्य का प्रत्येक अध्येता जानता है कि हिन्दी कविता की जीवन-यात्रा और डाक्टर साहब की काव्य-यात्रा दोनों एक-दूसरे का पर्याय हैं। सम्भव है, किसी मोड़ विशेष पर डाक्टर साहब को हिन्दी कविता-धारा ने अपनी ओर आकृष्ट किया हो तो दूसरे मोड़ पर डाक्टर साहब हिन्दी-कविता का मार्ग-दर्शन करनेवालों की प्रथम पंक्ति में दिखाई पड़ेंगे। इतना होने पर भी हिन्दी के स्वनामधन्य समीक्षकों ने अपने समीक्षा-ग्रन्थों में डाक्टर साहब को वह स्थान नहीं दिया है, जो कि उनका सहज प्राप्य था। इसके अनेक कारण हो सकते हैं, किन्तु उनमें प्रमुख कारण है कि हिन्दी के समीक्षकों द्वारा तत्त्वान्वेषी-वृति को छोड़कर पिष्टपेषण-वृति का अपनाया जाना। अपने कवि-जीवन के प्रथम चरण में डाक्टर शम्भुनाथ सिंह ने जो गीत रचे वे काव्यगत और शिल्पगत ताजगी के कारण असाधारण रूप से प्रसिद्ध हुए। अत: स्वाभाविक रूप से उस काल के समीक्षकों ने डाक्टर साहब की गणना हिन्दी के प्रथम कोटि के गीतकारों में की। फिर क्या था, बाद के समीक्षकों ने आँख मूँद कर इसी तथ्य का पिष्टपेषण करना अपना कर्तव्य समझ लिया। इन लोगों को डाक्टर साहब के कवि-विकास-क्रम में दूसरे सोपान दृष्टिगत नहीं हुए। तीस वर्षों की अनवरत काव्य-साधना के बाद—पचास वर्ष की परिपक्व आयुमें ही सही—हिन्दी के समीक्षकों ने इस बात की आवश्यकता महसूस की है कि डाक्टर साहब के काव्य का सजग दृष्टि से सही मूल्यांकन होना चाहिए।

जब अनेक विद्वान एक समय में डाक्टर साहब के काव्य पर अपने विचार प्रकट करेंगे, तो निश्चय ही उनके विचारों में भिन्नता होगी और सभी के अपने-अपने तर्क भी होंगे। फिर पाठकों के लिए यह कठिनाई रह जाएगी कि वे किस विद्वान के विचार को कृतिकार के विचारों के समीप मानें। इस अनिवार्य कठिनाई के निराकरण के विचार से प्रेरित होकर मैंने कृतिकार डाक्टर शम्भुनाथ सिंह से 'निज-मति अनुसार' कुछ प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने में सफलता पाई है। आप चाहें तो इसे साक्षात्कार मान लें अथवा परीक्षक की परीक्षा कह लें।

मेरा पहला प्रश्न था—

❀ सर्व प्रथम मैं आपकी रचना-प्रक्रिया के विषय में जानना चाहता हूँ। दूसरे शब्दों में यह कि आप लेखन-कार्य क्यों और किस प्रकार करते हैं ?

उत्तर—जब बचपन में मैंने लिखना प्रारम्भ किया तो अनायास ही कुछ गीत जैसा लिख गया। स्वत: काव्य का उद्रेक हुआ। यही स्थिति आज भी है। कोई भी 'जेनुइन' कवि किसी प्रत्यक्ष या बाह्य उद्देश्य से प्रेरित होकर नहीं लिखेगा। कवि क्यों लिखता है, इस संबंध में मैं अपनी स्वानुभूति की बात कहता हूँ। मैंने किसी अवसर विशेष के लिए कोई रचना नहीं की है। मैं उस वक्त लिखता हूँ जब मैं लिखने के लिए कत्तई उद्यत नहीं रहता। अचानक किसी बिम्ब या कल्पना का 'फ्लैश' मुझे लिखने के लिए बाध्य कर देता है और ऐसा भीड़ में, रेल गाड़ी में, सोते समय नींद टूट जाने पर भी हो सकता है। मेरे विचार से कलाकार के पास दो मन—चेतन और उपचेतन—के अतिरिक्त एक तीसरा मन भी होता है जिसे पूर्वचेतन मन कह सकते हैं। रचना-काल में चेतन मन केवल इतना ही जाग्रत रहता है कि भाषा कृतिकार की मुट्ठी में रहती है और छन्द-ज्ञान भी बना रहता है। जैसे सड़क पर अर्द्ध निद्रा की अवस्था में भी साइकिल से बिना किसी दुर्घटना के गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाते हैं वैसी ही रचनाकाल की स्थिति होती है। मन की एक रहस्यमयी स्थिति है जिसमें काव्य का उद्रेक होता है। मैं पराशक्ति में विश्वास नहीं करता हूँ। लोग 'इलहाम' की बात करते हैं, लेकिन मेरा इसमें भी विश्वास नहीं है। मेरी मान्यता है कि कवि की रचना जीवनानुभूति से भिन्न नहीं हो सकती है। यदि 'इल-

हाम' या 'पराशक्ति' होती तो काव्य जीवनानुभूति से भिन्न कुछ और होता। अनुभूतियाँ पूर्व-आदिष्ट, पूर्व-नियोजित अथवा पूर्व-निर्मित नहीं होती, वे उपचेतन मन में गहराई में प्रसुप्तावस्था में रहती हैं और ज्यों ही काव्य-रचना का क्षण आता है तथा चेतन मन सुषुप्त हो जाता है, अनुभूतियाँ अपना रूप बदल कर सामने आ जाती हैं। उनका रूप बदलना आवश्यक है। ये अनुभूतियाँ कल्पना के योग से बिम्बों एवं प्रतीकों के रूप में ढलकर कविता का रूप ले लेती हैं।

इस रचना-प्रक्रिया द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कविता क्यों लिखी जाती है। अतः मैं यही कहूँगा कि मैं नहीं जानता कि मैं क्यों लिखता हूँ। मेरी रचना 'माध्यम मैं' में 'आटोमेशन' का यही सिद्धान्त नये ढंग से व्यक्त किया गया है :—

मैं माध्यम हूँ
विराट स्वर-तांत्रिक का,
मुझमें उतरा करती हैं आत्मायें।
तांत्रिक करता है प्रश्न
और आत्मायें उत्तर देती हैं।
मेरी वाणी
बन छन्द, गीत, लय
सहज निरंकुश निर्विकार
अस्पृष्ट अह से मेरे
फूट बहा करती।

❀ तो क्या मैं ऐसा मान लूँ कि आपकी काव्य-धारा का कोई निश्चित रूप नहीं है ?

उत्तर—कवि भी एक मानव ही है पर वह एक जीवन्त एवं सर्वाधिक संवेदनशील मानव होता है। इस कारण उसकी अनुभूतियों के आयाम अधिक व्यापक और गहरे होते हैं। साथ ही, जगत की स्थिति परिवर्तनशील है, वह सदा आन्दोलित एवं विक्षुब्ध रूप में रहता है, समुद्र की तरह। इसका प्रभाव कवि पर पड़ता है, यानी इसी के अनुरूप कवि की अनुभूतियाँ बनती हैं। अतः कवि की अनुभूतियाँ 'स्टेटिक' रह सकती हैं, ऐसा सोचना अनुचित होगा। हाँ, जो कवि अलौकिक शक्ति में विश्वास रखते हैं और इस जगत को अनित्य मानते

हैं, उनकी अनुभूतियाँ इस जगत से सम्बद्ध न होकर उस अलौकिक तथा नित्य शक्ति से सम्बद्ध होती हैं और चूँकि वह अलौकिक शक्ति उनकी दृष्टि में नित्य होती है, इसलिए उनकी अनुभूतियाँ भी 'स्टैटिक' हो सकती हैं। इसी कारण रहस्यवादी कवियों में अनुभूति का वैविध्य नहीं होता। लेकिन जो कवि जगत की यथार्थता में विश्वास रखते हैं और यथार्थ अनुभूतियों को अभिव्यक्त करते हैं तथा स्वयंभुक्त अनुभूतियों को ईमानदारी के साथ सहज भाव से व्यक्त करते हैं, वे युग-बोध से तटस्थ नहीं रह सकते। यही कारण है कि मेरी काव्य-रचना के लम्बे काल में परिवर्तित युगों के प्रभाव की अभिव्यक्ति हुई है। इस कारण यदि एक स्थिर विचारधारा या भावधारा मेरे काव्य में नहीं मिलती, तो इसे मैं कोई दोष नहीं मानता हूँ।

❀ तो क्या, अब तक आपने जो काव्य-रचना की है, उसमें आद्यन्त प्रवाहित कोई केन्द्रीय धारा नहीं है ?

उत्तर—इस प्रश्न का उत्तर देना मेरा काम नहीं है। यह काम पाठकों एवं समीक्षकों का है। फिर भी जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं मानता हूँ कि मेरे काव्य में ऐसी केन्द्रीय धारा है और वह है मानवता की एक विशिष्ट मूर्ति की कल्पना। मेरे समस्त काव्य-साधना के केन्द्र में मानव है। मानव के मंगलमय भविष्य में मेरी आस्था है। मैं, मानव को व्यक्ति और समाज दोनों रूपों में देखता हूँ और ये दोनों रूप अविच्छिन्न हैं। मेरी दृष्टि में व्यक्ति और समाज का यह संबंध सन्तुलित होना चाहिए। इस तरह मैं विचार की दृष्टि से लोकतांत्रिक समाज़वाद में आस्था रखता हूँ। ऐसे समाज में ही व्यक्ति को समाज की मर्यादा में रहकर स्वतंत्र रूप से जीने का अधिकार मिल सकता है। मैंने अपने काव्य में प्रारम्भ से अब तक इसी 'मानव' की 'मूर्ति' स्थापित करने का प्रयास किया है। यह मानव मेरे काव्य में अपने निजी दुःख-सुख पर रोता-हँसता दिखाई देगा। कभी वह सामूहिक रूप से सामाजिक हितों के लिए संघर्ष करता हुआ दिखाई पड़ता है और कभी आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता के विनाशकारी तत्त्वों के मध्य झुलसा, लड़खड़ाता एवं गिरता उठता दिखाई देता है। वह मानव 'विश्व-मानव' है, वह मैं हूँ।

❀ यद्यपि आपने प्रायः हर आधुनिक काव्य-विधा में सफल काव्य-रचना की है, फिर भी अधिकतर समीक्षक आपको गीतकार कवि ही मानते हैं। क्या आप भी ऐसा ही मानते हैं ?

उत्तर–आलोचकों की बात आलोचक ही जानें और आलोचकों का आज ही अन्त नहीं हो गया है। आगे आनेवाले युग में भी समीक्षक होंगे। इस विपुला पृथ्वी और निरवधि काल में कभी भी तो ऐसा समीक्षक आएगा जो मेरे काव्य का सही मूल्यांकन करेगा। वैसे मैं निजी तौर पर यह मानता हूँ कि सच्चा कवि किसी एक काव्य-विधा में बँधकर नहीं रह सकता। वस्तुत: विभिन्न प्रकार की अनुभूतियों के काव्यगत "पैटर्न' या विधाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। कवि जान-बूझकर या हठपूर्वक उन विधाओं को नहीं पकड़ता, बल्कि अनुभूतियाँ स्वयं अपना विशेष 'पैटर्न' लेकर अभिव्यक्त होती हैं। काव्य-रचना के क्षण में मैंने कभी पहले से यह निर्णय नहीं किया कि आज गीत-विधा में कविता लिखूँगा या मुक्त छन्द में। अनुभूति जो भी रूप ग्रहण कर लेती है वही उस काव्य की विधा होती है। मैंने कभी प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं किया। मैं प्रयोग करने का समर्थक हूँ, किन्तु परम्परागत विधाओं का विरोधी नहीं हूँ। मैं यह भी नहीं मानता कि परम्परागत काव्य- विधाएँ आज अनुपयुक्त या व्यर्थ हो गई हैं। प्रश्न उनके सही ढंग से प्रयोग करने का है। परम्परागत विधाएँ स्थिर एवं जड़ीभूत होकर आज अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं हो सकतीं। आधुनिक भाव-बोध की अभिव्यक्ति में काव्य के रूप-शिल्प में भी परिवर्तन अनिवार्य है। महाकाव्य, प्रबन्ध काव्य और गीत आज भी लिखे जा सकते हैं, लेकिन उनका स्वरूप पहले जैसा नहीं रह पायेगा। अतीत में भी विभिन्न युगों में ऐसा ही हुआ है।

❀ आज-कल हिन्दी कविता में एक नयी विधा की बड़ी चर्चा है। मेरा आशय नवगीत से है। क्या नवगीत नाम देना उचित है और आपकी दृष्टि में क्या नवगीत इस युग का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम है ?

उत्तर–गीत विधा भारतीय या पश्चिमी साहित्य में नया नहीं है। यह विधा समस्त विश्व-साहित्य में प्राचीनतम काल से प्रचलित रही है, भले ही गीत न कहकर इसे काव्य ही कहा जाता रहा हो। मध्यकाल में सन्तों एवं भक्तों ने इस विधा पर विशेष बल दिया। कारण यह था कि वे अपने आराध्य के प्रति अपनी आसक्तिपूर्ण अनुभूतियों को आत्मव्यंजक

शैली में गीत के माध्यम से ही व्यक्त कर सकते थे। रीतिकालीन कविता मुख्य रूप से बाह्यार्थपरक या वस्तुपरक थी, अतः उस काल में गीत-काव्य की रचना नहीं हुई। छायावाद, युग में पुनः अन्तर्वृत्तिनिरूपण और आत्माभिव्यंजना की प्रवृत्ति प्रारम्भ होने पर गीत का नये सिरे से उत्थान हुआ। इस काल के गीत मध्यकालीन गीतों से रूपशिल्प में बिल्कुल भिन्न हैं। युगानुरूप प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के लिए गीत-विधा के स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। छायावादोत्तर युग में जब आध्यात्लिकता की भावना और दार्शनिक चेतना समाप्त हो गई तथा केवल भौतिक एवं शारीरिक अनुभूतियों की ही अभिव्यञ्जना होने लगी तो उस काल के गीतों में भी रूप-शिल्पगत परिवर्तन आया। तात्पर्य यह कि गीत में युगानुरूप परिवर्तन होता रहता है। यही कारण है कि वर्तमान कविता में भी काव्य-वस्तु के अनुरूप ही रूपगत परिवर्तन हुआ और उसीके परिणामस्वरूप गीत की विधा में भी परिवर्तन हुआ है। इस तरह जो कवि आधुनिक कविता के वस्तुगत और शिल्पगत परिवर्तन को आवश्यक मानता है वह गीत के संबंध में भी नवीन प्रयोग करने को बाध्य होता है। नयी कविता में जिस तरह नवीन काव्य वस्तु की अभिव्यक्ति की अनिवार्यता के कारण शिल्पगत प्रयोग आवश्यक हो गये, उसी तरह गीत-विधा में भी युगीन संवेदना की अभिव्यक्ति की अनिवार्यता ने उसके शिल्प में परिवर्तन करने की बाध्यता उत्पन्न की। यह प्रयोग इतना अधिक हुआ है कि परम्परागत गीत-विधा बहुत कुछ परिवर्तित होकर नवीन रूप में ढल गयी है। केवल 'गीत' शब्द के प्रयोग से भ्रम उत्पन्न होने की संभावना थी, इसलिए नवीन वस्तु तथा नये शिल्पवाले गीतों को 'नवगीत' नाम देना अनिवार्य हो गया। यह कोई अनुचित बात नहीं हुई। यदि नवीन एवं परिवर्तित वस्तु और शिल्प के कारण ही वर्तमान कविता को नयी कविता कहा जाता है तो ठीक उन्हीं कारणों से नये गीतों को 'नवगीत' कहना उचित ही है।

नवगीत की नयी कविता से भिन्न कोई सत्ता नहीं है। कविता कविता है, चाहे वह गीतरूप में हो या मुक्त छन्द में या छन्दमुक्त शैली में अथवा छन्दोबद्ध रूप में। वह गजल या 'सानेट' रूप में भी हो सकती है। नवगीत की तरह 'नयी गजल' 'नवप्रबन्धकाव्य' और 'नव सानेट' भी

लिखा जा सकता है। जहाँ तक युग का प्रतिनिधित्व या युगबोध का प्रश्न है, यदि युग-बोध कवि के अन्तर्मन का अंग बनकर संवेदनात्मक स्तर पर अभिव्यक्त होता है तो वह नवीन शिल्प का आश्रय लेगा ही। पुराने शिल्प द्वारा उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। यदि नव-गीत का शिल्प नया और परंपरागत गीतों से भिन्न है और कवि ने प्रामाणिक अनुभूतियों की बाध्यातासूलक अभिव्यक्ति की है तो निश्चित रूप से उसका कथ्य युग-बोध से अप्रभावित नहीं होगा। नयी कविता की भाँति नवगीत में भी युग-बोध की ही अभिव्यक्ति हुई है।

❀ मैं जानना चाहूँगा कि युग-बोध से आपका तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—युग-बोध बना-बनाया फार्मूला नहीं है जिसे नये-तुले शब्दों में बता दिया जाये कि अमुक अमुक बातें युग-बोध हैं। युग-बोध वस्तुतः आधुनिकता बोध का ही पर्याय है। विभिन्न व्यक्तियों में आधुनिकता को लेकर लड़ाई हो सकती है और सभी अपने को सबसे बड़ा आधुनिकता-बोध का दावेदार सिद्ध कर सकते हैं। वस्तुतः प्रबुद्ध पाठक ही इसका निर्णय कर सकते हैं। कि कौन कवि आधुनिकतावादी है और कौन चौंकानेवाला, फैशनपरस्त और नकली आधुनिकतावादी। मेरे विचार से आधुनिकता बोध एक समग्र जीवनदृष्टि है, जो इतिहास-बोध और सर्जनात्मक व्यक्तित्व से उत्पन्न होती है। उस दृष्टि में निषेधात्मक तथा विधेयात्मक दोनों तत्त्व समन्वित रहते हैं। केवल निषेधात्मक या ध्वंसात्मक दृष्टि आधुनिकतावादी नहीं, बल्कि अराजकतावादी दृष्टि है। फैशन के दौर में नये-नये 'वादों' और काव्य-आन्दोलनों के भीतर अधिकतर ऐसे ही ध्वंसात्मक तत्त्व देखे जा सकते हैं। ऐसी कृतियों की प्रभावात्मकता में मुझे पूर्ण संदेह है।

❀ और अब अन्त में एक बात और पूछने की आज्ञा चाहता हूँ। क्या आपने लेखन के संबंध में भविष्य के लिए कोई योजना बनाई है ?

उत्तर—मैं ऐसा समझता हूँ कि मैंने अभी कुछ नहीं लिखा है। अब तक मैंने जो कुछ लिखा है उसमें से अधिकांश से मुझे संतोष नहीं है। ऐसा लगता है कि मैंने स्लेट पर रेखाएँ लिखी और मिटाई है और अभी तक सर्जनात्मक उपलब्धि जैसी कोई वस्तु मेरे हाथ नहीं लगी है। जीवन की आधी यात्रा तय कर लेने पर भी मुझे ऐसा लगता है कि मैं आज

भी निर्माण की अवस्था में हूँ। मुझे अभी बहुत लिखना है जो कुछ भी कहना है, वह कब किस विधा में व्यक्त होगा, यह बताना अभी मेरे लिए संभव नहीं है। इतना ही जानता हूँ कि मैं सीधी चढ़ाई के मोड़ पर आ गया हूँ। एक चट्टान से दूसरी चट्टान पर चढ़ते हुए यदि मेरा व्यक्तित्व टूटता नहीं तो मेरी सर्जनात्मक शक्ति भी शिथिल नहीं होगी, इतना विश्वास अवश्य है। यदि मेरा व्यक्तित्व एक समग्र और समन्वित व्यक्तित्व बनकर बौद्धिक और संवेदनात्मक स्तर पर निरंतर सृजनात्मक रूप ग्रहण नहीं करता तो मैं अपने जीवन को असफल मानूँगा।

●

डॉ० शम्भुनाथ सिंह : जीवन-वृत्त

●

हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी

डॉ० शम्भुनाथ सिंह हिन्दी के वर्तमान शीर्षस्थ कवियों में हैं। किन्तु केवल कवि कह देने से उनके व्यक्तित्व की समग्रता और महत्ता को बोध नहीं हो सकता। वे कवि, कथाकार, नाटककार आलोचक और साधक साहित्यकार तो हैं ही, साथ ही वे एक मनस्वी साधक, गम्भीर चिन्तक, निस्वार्थ समाजसेवी, सच्चे देशभक्त, मानवतावादी बुद्धिजीवी, सफल अध्यापक, और सर्वोपरि उच्च कोटि के मानव भी हैं। किन्तु इन समस्त गुणों की उद्धरणी के बाद भी उनका व्यक्ति-चित्र अधूरा रह जायेगा। यदि यह न बताया जाय कि वे अव्यावहारिक गृहस्थ, समय के बन्धनों से मुक्त भावुक व्यक्ति, अनायास ठग लिए जानेवाले उदार दाता और सहज क्रोधी किन्तु अन्तर से नित्य अक्रोधी भी हैं। ऐसे व्यक्ति के जीवन-वृत्त के अध्ययन से न केवल साहित्य के अध्येताओं, छात्रों और इतिहासकारों को बल्कि समाज के सामान्य लोगों का भी असीम उपकार हो सकता है। यही सोचकर मैंने उनके जीवन का इतिवृत्त संग्रह करने का संकल्प किया। वे मेरे गुरु हैं अतः उनके प्रति अगाध श्रद्धा के कारण इस जीवन-वृत्त में यदि कहीं अतिरिक्त आसक्ति का संस्पर्श आ जाय तो मैं इसके लिए क्षमा चाहूँगा। वैसे पर्याप्त तटस्थ भाव से मैंने यह जीवन-कथा लिखने का संकल्प किया है।

समाज की सोचने-विचारने की प्रक्रिया देश और काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती रहती है। हमारे समाज में अधिकांशतः इस धारणा को बल मिलने लगा है कि व्यक्ति के समुचित विकास के लिए उसे अधिक दृष्टि से अभिजात्य परिवार का होना ही चाहिए। आज व्यक्ति की चेतना का सम्बन्ध अर्थ से जोड़ा जाने लगा है, यह प्रवृत्ति समाज के लिए अहितकर है। अर्थ और मेधा में कोई सामञ्जस्य नहीं होता। चाहे वह विज्ञान-दर्शन का क्षेत्र हो या

काव्य-कला का क्षेत्र हो सभी जगह मानव-मन के आत्मसमर्पण की आवश्यकता होती है। सही आत्मसमर्पण वही होता है। इसलिए इस बात में किञ्चित् भी तथ्य नहीं है कि प्रज्ञा के विकास में बालक को अधिक दृष्टि से अभिजात्य-वर्गीय होना चाहिए। डॉ० शम्भुनाथ सिंह के विकास में भी हमें कुछ इसी प्रकार की बातें दिखाई पड़ती हैं। न तो ये किसी बड़े बाप के बेटे ही हैं और न परिवार से किसी भी प्रकार की साहित्यिक, आध्यात्मिक, और कलात्मक संस्कार ही इन्हें दाय के रूप में मिला है। जहाँ ऐसी परिस्थिति हो वहाँ बालक अपने को हीन पाता है और उसकी प्राण-शक्ति ऐसी दशा में विद्रोही बन जाती है। यह शाश्वत् सत्य है कि जब तक मानवीय आत्मा विद्रोह नहीं करती तब तक किसी प्रकार की गुणात्मक उपलब्धि नहीं हो सकती और इस विद्रोह के अभियान में लाघव वहीं होता है जहाँ का वातावरण ऐसी परिस्थितियों से संकुल हो।

जन्मभूमि और वातावरण

"कालात् क्रिया विभज्यन्ते आकाशात्सर्वभूर्तय:।" भर्तृहरि के इस कथन के अनुसार क्रियाशील जीवन का आधारकाल एवं सिद्ध वस्तु का आश्रय स्थान होता है। इसी को हम व्यक्तित्व विकास में काल-कृत एवं स्थान-कृत उपलब्धि कह सकते हैं। डा० शम्भुनाथ के विकास में हम महत्वपूर्ण काल एवं स्थान का योगदान पाते हैं। ग्राम रावत-पार देवरिया जिले के दक्षिणी भाग में सरयू-घाघरा नदी से कुछ दूरी पर छोटी गण्डक नदी के तट पर स्थित है। यह भूभाग ही प्राचीन काल में मल्ल जनपद के अन्तर्गत था। यहाँ की भूमि बौद्ध भिक्षुओं के लिए स्थान की रही है। यहाँ से थोड़ी दूर पश्चिम में सरयू के तट पर भागलपुर नामक ऐतिहासिक स्थान है जहाँ कालचुरि राजाओं ने आठवीं शताब्दी में काशी और मल्ल राज्यों को जीतने के बाद अपना विजय-स्तम्भ गड़वाया था, जो अब भी वर्तमान है। इसी जनपद (देवरिया) के कुशीनगर स्थान पर भगवान बुद्ध ने महा प्रस्थान किया। यहाँ बौद्ध बिहार और स्तूपों के ध्वंसावशेष अब भी वर्तमान हैं। रावतपार के पास ही सोहगरा और सोहनमा दो धार्मिक और ऐतिहासिक महत्व के स्थान हैं। इन दोनों स्थानों में बौद्ध तथा गुप्तकालीन अवशेष बिखरे पड़े हैं।

इसी ग्राम में ठाकुर रामदेव सिंह के यहाँ १७ जून १९१७ ई० को बालक शम्भुनाथ का जन्म हुआ। अतः इन ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक स्थानों का प्राथमिक प्रभाव बालक पर पड़े बिना नहीं रह सका और यह स्वाभाविक भी था। इस स्थान-कृत पर्यावरण ने बालक के व्यक्तित्व विकास में कितना योगदान दिया इसका प्रमाण डा० शम्भुनाथ सिंह के परवर्ती जीवन से मिल जाता है। स्थान-कृत उपलब्धि के साथ ही बालक को काल-कृत उपलब्धियाँ भी मिलती हैं। बालक के जन्म के समय राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन जोरों पर था। राष्ट्र में चारो ओर स्वतन्त्र होने के लिए अधिक आतुरता एवं स्फूर्ति थी। देवरिया स्थित चौरीचौरा की क्रूर घटना सन् १९२१ में घटित हुई थी। उधर जलियां वाले काण्ड से राष्ट्र की आत्मा अधिक व्यथित एवं शोकाकुल थी। गोरखपुर के प्रसिद्ध नेता बाबा राघवदास जी के नेतृत्व में वहाँ भी राष्ट्रीय आन्दोलन तीव्र गति से चल रहा था। इस तरह हम देखते हैं कि उस समय देश का वातावरण क्षोभ एवं विद्रोह से भरा हुआ था। इस विद्रोही काल ने भी बालक शम्भुनाथ को इस तरह प्रभावित किया कि वे बचपन से ही विद्रोही और राष्ट्रीयतावादी बन गये।

परिवार

बालक के पिता ठाकुर रामदेव सिंह दरभंगा राज्य में अमीन का कार्य करते थे। क्रमशः उन्नति करते हुए उन्होंने तहसीलदार के पद को पा लिया। वे प्रायः दरभंगा में ही रहा करते थे। घर बहुत कम आते थे। इनका परिवार बड़ा था। पितामह चार भाई थे जिसमें से दो जीवित थे। चारों के पुत्र-पौत्रादिक वर्तमान थे। छोटी सी जमींदारी दो-तीन गाँवों में थी और खेती ही परिवार के भरण-पोषण का मुख्य सहारा थी। बालक शम्भुनाथ की माता जो अपढ़ तो थीं किन्तु गृह-कार्य एवं व्यवहार में पटु थीं। उनकी चार सन्तानें थीं। सबसे बड़े लड़के स्वामीनाथ, मझोले शम्भुनाथ तथा इसके अलावा एक और लड़का और एक लड़की भी थी। बड़े लड़के स्वामीनाथ सिंह छोटी अवस्था में ही पढ़ने के लिए काशी भेज दिये गये। शेष तीन बच्चों को लेकर माता जी प्रायः अपने मैके छपरा जिलान्तर्गत रामगढ़ ग्राम में रहा करती थीं।

प्रारम्भिक शिक्षा

रामगढ़ में ही बालक शम्भुनाथ का अक्षरारम्भ हुआ। वहाँ के विद्यालय के अध्यापक एक पण्डित जी थे, जिन्होंने अक्षरारम्भ के साथ ही साथ बालक को सूर, तुलसी आदि की कविताएँ कण्ठस्थ कराई और गाना भी सिखाया। उसी समय ये अपने गाँव रावतपार चले आये, जहाँ की प्राइमरी पाठशाला में उन्हें कक्षा एक में प्रविष्ट कराया गया। प्रारम्भ में ये पढ़ने से दूर भागते रहे, किन्तु दूसरी कक्षा में पहुँचने के बाद इनकी प्रवृत्ति पढ़ने में जम गयी और इन्होंने न केवल पढ़ाई से भागना छोड़ा बल्कि अपने साथियों के साथ खेलना भी बन्द कर दिया। बालक की इस मनोभावना को देखकर परिवार के लोग चिन्तित रहने लगे। अध्यापक इन पर यहाँ तक प्रसन्न रहते थे कि जब कभी स्कूल में डिप्टी साहब आते थे तो इनकी ही कापियाँ दिखाई जाती थीं। बालक की कुशाग्र बुद्धि ने साथ दिया, जिसके फलस्वरूप इन्होंने जिलास्तरीय छात्रवृत्ति परीक्षा में छात्रवृत्ति प्राप्त की। वह छात्रवृत्ति मिडिल स्कूल में ३ वर्षों तक मिलती रही। प्राइमरी परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के बाद इनका नाम लार के मिडिल स्कूल में कक्षा पाँच में लिखा गया। वहाँ द्वितीय भाषा उर्दू पढ़नी पड़ती थी। अंग्रेजी पढ़ाने की व्यवस्था ग्राम के उस विद्यालय में नहीं थी। फलतः अगले वर्ष ये गांव से चार मील उत्तर राज-मझौली के स्कूल में पढ़ने के लिए भेज दिए गए।

घर से पूरे सप्ताह के लिए आटा-दाल लेकर ये सोमवार को मझौली चले जाते और शनिवार को शाम होते-होते घर चले आते थे। वहाँ का वातावरण बालक के अनुकूल मिल गया। विद्यालय के निकट ही गण्डक नदी थी जिसके सौन्दर्य से प्रभावित होकर बालक ने वहाँ भी खेलना छोड़कर नदी के किनारे घूमना शुरू कर दिया। बालक के हृदय में इस नदी की प्राकृतिक सुषमा ने अवश्य कविता के बीज बोये होंगे। उन दिनों मझौली में आर्य समाज का प्रचार चल रहा था, उसके अधिवेशनों में जो भाषण होते थे उसका प्रभाव शम्भुनाथ पर यहाँ तक पड़ा कि इन्होंने मोटी शिखा रख ली, प्राचीन अन्ध-विश्वासों एवं रुढ़ियों का खण्डन करने लगे और जमीन पर ही सोना प्रारम्भ कर दिया।

व्यक्तित्व-विकास का प्रारम्भ

उस समय मिडिल-स्कूल में लाला भगवान दीन द्वारा सम्पादित 'हिन्दी-मिडिल वर्नाक्लिर' नामक पुस्तक पढ़ाई जाती थी, जिसमें हिन्दी साहित्य के संक्षिप्त इतिहास के साथ ही प्राचीन पद्धति की कविताएँ भी छपी थीं। उसमें भारतेन्दु की 'यमुना-वर्णन' नामक कविता भी थी। उस कविता के अनुकरण पर बालक शम्भुनाथ ने 'गण्डक-वर्णन' नामक कविता खड़ी बोली में लिखी। इनकी काव्य रचना का प्रारम्भ यहीं से हुआ। मझौली के दो वर्ष के जीवन में ही इनमें कई प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ। पहली काव्य-प्रवृत्ति थी। वहाँ कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो इनकी कविताओं का संशोधन कर दिया करता। अध्यापकों ने इनकी काव्य-प्रतिभा की अत्यधिक प्रशंसा की। जब कभी कोई उत्सव विद्यालय में होता था तो उस उत्सव का श्रीगणेश इनके सस्वर कविता-पाठ के द्वारा होता था। इनकी दूसरी प्रवृत्ति आदर्शवाद की थी। ये आर्यसमाजी तो थे ही, साथ ही साथ कुछ उग्र भावनाएँ भी इनमें थीं। ये प्राय: अन्धविश्वासों एवं रुढ़ियों का खण्डन किया करते थे। एक बार की एक घटना बड़ी ही विचित्र घटी। बरहज के बाबा राघवदास जी के शिष्य सन्त सत्यव्रत जी राज मझौली आये हुए थे। वे प्रात:काल एक बृक्ष के नीचे ध्यान लगाये बैठे थे। अकस्मात् बालक शम्भुनाथ वहाँ पहुँच गये और उन्हें उलटी-सीधी सुनाने लगे। बाद में यह मालुम होने पर, कि वे सत्यव्रत जी थे, इन्हें बहुत ग्लानि हुई और उसी समय से इनकी उग्रवादी प्रवृत्तियाँ कम होने लगीं और आर्य समाज से भी आस्था धीरे-धीरे उठने लगी। इस प्रकार का जीवन व्यतीत करते हुए इन्होंने मिडिल स्कूल में प्रथम श्रेणी प्राप्त की।

राष्ट्रीय भावना का उदय

ऊपर इस बात का संकेत किया गया है कि, मिडिल स्कूल में अध्ययन करते समय ही इनमें अनेक प्रवृत्तियाँ विकसिक होने लगी थीं। उन्हीं में से एक प्रवृति राष्ट्रीयता एवं देश-भक्ति की थी। सन् १९३१ में गाँधी जी ने देवरिया जिले के भाटपार-रानी नामक स्थान का दौरा किया था। यह स्थान मझौली से करीब ३ मील है। वहाँ पर गांधी

जी के दर्शन एवं उनके भाषण सुनने के लिए ये अपने स्कूल से ही गये। आपार भीड़ थी। सजे सजाये एक ऊँचे मच पर गान्धी जी बाबा राधवदास जी के साथ आये। शम्भुनाथ ने सर्वप्रथम गाँधी जी का भाषण वहीं सुना। उनके भाषण का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा और साथ ही इन्होंने यह दृढ़ निश्चय किया कि अपना सम्पूर्ण जीवन ही सत्य-अहिन्सा के सिद्धान्तों पर चलकर राष्ट्र-सेवा में लगा देंगे, गांधी जी की विचार-धारण के अनुसार इन्होंने उसी समय से खद्दर पहनना शुरू किया जिसका क्रम आज भी चला आ रहा है। गांधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन के अन्तर्गत सभी जगह नमक कानून तोड़ा जा रहा था। ये भी अपनी कक्षा के भागीरथी नामक छात्र के साथ नमक बनाने के प्रयोग करने लगे। एक दिन ये पढ़ाई छोड़ कर देवरिया भाग गये और सत्याग्रही शिविर में प्रविष्ट हो गये। बाद में इस घटना की खबर मिलने पर घरवाले इन्हें पकड़ कर लाये। उसी वर्ष (१९३१) में पं० जवाहरलाल नेहरू का आगमन मैरवा नामक स्थान पर हुआ। वहाँ पर पं० नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद एवं कमला नेहरू के भाषणों का इन पर बहुत प्रभाव पड़ा, जिससे इनकी राष्ट्रीयता की भावना तीव्र होती गई। इनके घर के लोग मांस-भोजी थे। गाँधी जी की अहिंसा-प्रेरणा से इन्होंने उसी समय से माँस खाना छोड़ दिया।

माध्यमिक शिक्षा

सन् १९३१ ई०में इन्होंने मिडिल वर्नाक्यूलर की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। उसके पश्चात् बनारस के उदय प्रताप कालेज में इनका प्रवेश कराया गया। वहाँ विद्यालय के छात्रावास में ही रहना पड़ता था। यहाँ का वातावरण गाँव से अत्यन्त भिन्न एवं शहरी दुनियाँ की विविधताओं से असंलग्न होते हुए भी अपने आप में पूर्ण था। यहाँ का जीवन विद्यालय की समय-सारिणी में बँधा हुआ था। उस समय विद्यालय में हिन्दी के अध्यापक ठाकुर रामपलट सिंह थे, जो कवि एवं नाटककार भी थे। उन्हें जब मालूम हुआ कि छात्र शम्भुनाथ कविताएँ लिखता है तो उन्होंने इन्हें बुलाया और प्रोत्साहित किया। उसी वर्ष उनका देहान्त हो गया और उनकी जगह पर ठा० मार्कण्डेय सिंह हिन्दी के अध्यापक नियुक्त हुए। उन्होंने भी उन्हें खूब प्रोत्साहित किया। विद्यालय का पुस्तकालय संपन्न था। यहाँ इन्हें मनचाही

पुस्तकें पढ़ने को मिलने लगीं। इनकी काव्य-प्रतिभा को 'प्रसाद' के 'आँसू' ने अधिक संवेदनशील बनाया। इस तरह इन्होंने बहुत-सी कवि ताएँ एवं लेख लिख डाले जो समय-समय पर विद्यालय की पत्रिका में छपते रहे। जब ये कक्षा ६ में थे तो तुलसी जयन्ती के अवसर पर 'हरिऔध' जी को बुलाने की व्यवस्था हुई। 'हरिऔध' जी के विद्वत्ता-पूर्ण भाषण का इनके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा। उसी वर्ष डी० ए० वी० कालेज में एक कवि-सम्मेलन हुआ, जिसमें छात्र कविता-प्रतियोगिता का आयोजन भी था। उस प्रतियोगिता के निर्णायक 'प्रसाद' जी थे। शंभुनाथ ने 'दीवाली' पर कविता सुनाई जिस पर प्रसाद जी ने इन्हें प्रथम-पुरस्कार देने के साथ ही पास बुलाकर इनकी पीठ थपथपाई। उसी कविसंमेलन में इन्होंने 'प्रसाद' जी, सोहन लाल द्विवेदी, चोंच, बनारसी आदि कवियों की कविताएँ सुनीं।

अंग्रेज प्रिन्सिपल से संघर्ष

जिस समय शंभुनाथ सिंह उदय प्रताप कालेज में पढ़ रहे थे, उस समय वहाँ का प्रिंसिपल अंग्रेज हुआ करता था। जब ये १० वीं कक्षा में थे, उसी वर्ष कालेज के नये प्रिंसिपल कैप्टन लांग का आगमन हुआ। कैप्टन लांग का छात्रों के साथ व्यवहार अत्यन्त बर्बरतापूर्ण था, जिससे छात्र असन्तुष्ट थे। प्रिंसिपल महोदय ने छात्रों की परीक्षा से एक मास पूर्व होने वाले अभ्यासावकाश को समाप्त कर देने की घोषणा की। सभी छात्रों ने शंभुनाथ के नेतृत्व में यह निर्णय किया कि हड़ताल की जाय। हड़ताल हुई भी जिससे प्रिंसिपल महोदय को अपने निश्चय से डिगना पड़ा और अपनी घोषणा में परिवर्तन करने के लिए मजबूर होना पड़ा। छात्रों ने एक महीने का तो नहीं किन्तु १५ दिन का अवकाश ले ही लिया। अपने इस कार्य में तो शंभुनाथ सिंह को सफलता मिल गई, किन्तु इसका एक दूसरी दिशा में अहितकर प्रभाव पड़ा। कुछ अध्यापकों ने इनका नाम प्रिंसिपल से बता दिया था। प्रिंसिपल के हृदय में ये काँटे के समान बिद्ध थे। जब हाई स्कूल की परीक्षा समाप्त हुई, तो विदाई समारोह में प्रिंसिपल के कुछ पिट्ठू अध्यापकों के भाषण में कुछ छात्रों ने शर्म-शर्म की आवाज लगाई। फल यह हुआ कि उन अध्यापकों ने प्रिंसिपल से शिकायत की, कि शंभुनाथ सिंह और उनके साथियों ने मेरी बेइज्जती की है।

बस क्या था, प्रिंसिपल ने छात्रावास में जाकर चिल्ला कर पूछा कि शंभुनाथ कौन है ? उस समय छात्रावास के विद्यार्थी भोजन कर रहे थे। हाथ धोकर शंभुनाथ ने कहा कि मैं हूँ। प्रिंसिपल ने मारने के लिए हाथ उठाया और मारना शुरू कर दिया। प्रिंसिपल के इस क्रूर व्यवहार का इन्होंने भी उसी भाषा में उत्तर दिया। छात्र इकट्ठे हो गये और प्रिंसिपल की खूब पिटाई हुई। प्रिंसिपल लांग ने शम्भुनाथ को एक कमरे में बन्द कर दिया और पुलिस को सूचना देकर स्वयं कमरे के दरवाजे पर कुर्सी लेकर बैठ गये। एक घण्टे तक पुलिस की प्रतीक्षा करने के बाद मिस्टर लांग ने अपना निर्णय बदल दिया और इनसे कहा कि तुम विद्यालय से तत्काल चले जाओ। इन्होंने वैसा ही किया। प्रिंसिपल की पिटाई वाली घटना अखबारों में छपी। कुछ लोगों ने इसकी प्रशंसा और कुछ ने निन्दा की।

हाई स्कूल की परीक्षा में शम्भुनाथ ने प्रथम श्रेणी पाई और गणित में विशेष योग्यता थी। जुलाई के महीने में नाम लिखने की समस्या आई। शम्भुनाथ सिंह उदय प्रताप कालेज से निराश थे, फिर भी वहां पर आवेदन-पत्र देकर क्विंस कालेज नाम लिखाने की कोशिश में चले गये। सायंकाल उदय प्रताप कालेज आने पर मालुम हुआ कि कैप्टन लांग ने इनका नाम कई बार पुकारा था और इनके न आने पर भी नाम लिख लिया। अंग्रेज जाति की इस चरित्रगत उदारता ने इनके हृदय पर मार्मिक रेखाङ्कन किया। जब ये इण्टर मीडिएट के प्रथमवर्ष में पढ़ रहे थे, तो डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने यह घोषणा समाचार-पत्रों में छपवाई कि "सबा-हिन्द" विषय पर जो भी सर्वश्रेष्ठ कविता लिखेगा उसे सौ रु० का पुरस्कार प्रदान किया जायेगा। उस प्रतियोगिता में इन्होंने भी कविता लिखी और इन्हें आश्चर्य तब हुआ जब इनको प्रथम पुरस्कार मिलने की खबर अखबारों में पढ़ने को मिली। यह समाचार अंग्रेजी के "लीडर" पत्र में भी छपा था। मिस्टर लांग ने विद्यालय की प्रातःकालीन प्रार्थना में, जिसमें छात्र एवं अध्यापक सभी उपस्थित थे, यह घोषणा की कि यह हमारे विद्यालय के गौरव का विषय है कि हमारे छात्र शम्भुनाथ सिंह ने इस प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त किया है। उन्होंने शम्भुनाथ सिंह की प्रशंसा भी की। कैप्टन लांग की इस घोषणा को सुन कर सभी लोग दंग रह गये। इस अंग्रेज प्रिंसिपल की महनीय गुण-ग्राहकता की भूरि भूरि प्रशंसा

हुई। इस प्रकार इस कवि छात्र ने उदय प्रताप कालेज के प्राचार्य एवं अध्यापकों के आत्मीय एवं स्नेहित व्यवहार में रह कर सन् १९३७ में इण्टरमीडिएट परीक्षा उत्तीर्ण की।

उच्च शिक्षा

इण्टर की परीक्षा पास कर लेने के बाद बी० ए० में पढ़ने की समस्या थी। परिवार की आर्थिक स्थिति इनके आगे पढ़ने के मार्ग में बाधक हो रही थी। अर्थ की जड़ता ने चेतना से संघर्ष किया। कवि की प्राणवत्ता और चेतनता ने इस संघर्षशील चुनौती को स्वीकार किया। शम्भुनाथ सिंह ने प्रयाग विश्वविद्यालय में बी०, ए० प्रथम वर्ष में अपना नाम लिखाया तथा अर्थाभाव के कारण ये प्रयाग के हरिजन आश्रम में रहने लगे। हरिजन आश्रम के संचालक एवं सुप्रसिद्ध हरिजन सेवी मुन्शी ईश्वरशरण के कहने से वहाँ हरिजन छात्रों के साथ अपने हाथ से ही खाना बनाना एवं बर्तन धोना पड़ता था। इनके पास पुस्तकों के लिए भी पैसे नहीं जुट पाते थे। प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने इनकी पर्याप्त सहायता की और अर्ध शुल्क-मुक्ति भी करा दी। इनका बी० ए० का दो वर्षीय शिक्षा-काल अत्यन्त साधना एवं तपस्या का काल था। कभी-कभी उपवास करने तक की स्थिति आ जाया करती थी। फिर भी जीवन को एक निश्चित मार्ग पर ले चलने की प्रेरणा भी इन्हीं दो वर्षों में मिली। हरिजन आश्रम में रहने के कारण समतामूलक समाज-रचना की धारणा भी सुदृढ़ हुई। हरिजन छात्रों के बीच रहने के कारण एवं उनके बीच में रहने के संस्कारों ने इन्हें "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" की मान्यता की ओर उन्मुख किया। फलस्वरूप गर्मी की छुट्टियों में गाँव जाकर इन्होंने हरिजनों के मुहल्लों में भाषण देना एवं उनके साथ खाना-पीना शुरू किया। इस सर्वथा नई एवं गाँव के लिए अपरिचित स्थिति ने गाँव वालों को नाराज कर दिया। इनके बड़े भाई ने माँ से कहा कि खाने के लिए अलग थाली की व्यवस्था कर दो। माँ ने कहा कि मैं खुद हरिजन हो जाऊँगी किन्तु यह कार्य नहीं करूँगी। माँ की जिद रह गयी और इनके परिवार के साथ जाति वालों ने खाना-पीना छोड़ दिया। कई वर्षों बाद लोगों में सद्बुद्धि आयी और फिर इनके परिवार के साथ सामान्य व्यवहार करने लगे।

प्रयाग में इनकी साहित्यिक गतिविधियों को नई दिशा मिली। क्रान्तिकारी श्री झारखण्डे राय, साहित्यिक गंगाप्रसाद पाण्डेय एवं शिवनन्दन प्रसाद और कवि चन्द्रप्रकाश वर्मा इनके सहाध्यायी थे। प्रयाग विश्वविद्यालय के रजत-जयन्ती-समारोह के अवसर पर राव राजा श्यामबिहारी मिश्र की अध्यक्षता में एक विराट कवि-सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसमें शम्भुनाथ सिंह ने अपनी 'कृषक-बाला' नामक कविता सुनाई जिसे श्रोताओं ने अधिक पसन्द किया। डॉ० रामकुमार वर्मा एवं श्रीमती महादेवी वर्मा से इसी काल में इनका सम्पर्क हुआ। महादेवी जी ने इनकी एक कविता 'मेरे मन कोई हो भी तो' की बड़ी प्रशंसा की। डा० रामकुमार वर्मा की प्रेरणा से इन्होंने नाटक एवं कहानी लिखना प्रारम्भ किया। इनकी कविताएँ एवं कहानियां साप्ताहिक "भारत", साप्ताहिक "देशदूत" एवं मासिक सरस्वती में छपती रहती थीं। इस प्रकार सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक गतिविधियों में भाग लेकर अपने व्यक्तित्व का निर्माण करते हुए इन्होंने सन् १९३९ में बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की।

पर अभी इनके ज्ञान-सत्र की पूर्णाहुति नहीं हुई थी। उसकी एक महत्त्वपूर्ण आहुति अभी शेष रह गई थी। घर की आर्थिक दशा ने वहाँ भी एक प्रश्न-चिह्न लगाया, पर इस लक्ष्य-विन्दु के उपासक व्रती ने उस प्रश्न-चिह्न की परवाह किये बिना आगे बढ़ने का निश्चय किया। किन्तु अर्थाभाव के कारण उनका एम० ए० में नाम नहीं लिखा जा सका, यद्यपि यह वर्ष कुछ अर्थों में उपयोगी सिद्ध हुआ। इनके अभिन्न मित्र श्री सागर सिंह जी ने प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल से इनका परिचय कराया। सान्याल जी उस समय अपने क्रान्तिकारी जीवन के अनुभव लिख रहे थे और उन्हें एक हिन्दी लेखक की आवश्यकता थी। शम्भुनाथ सिंह को उस कार्य पर नियुक्त कर लिया गया। कुछ समय बाद सान्याल जी के सम्पादकत्व में 'अग्रगामी' नामक एक दैनिक पत्र निकला। सान्याल जी इन्हें अपना प्रधान सम्पाद बनाना चाहते थे। अतः उन्होंने आज कार्यालय में जाकर सम्पादन कार्य सीखने की सलाह दी। शम्भुनाथ सिंह ने मुन्शी कालिका प्रसाद के साथ बैठ कर अंग्रेजी समाचारों का हिन्दी में अनुवाद करने शीर्षक लगाने तथा प्रूफ देखने का काम शुरू किया। इसके एक मास बाद ये "अग्रगामी" के समाचार सम्पादक बना दिये गये।

एक वर्ष तक 'अग्रगामी' के समाचार-संपादक के रूप में कार्य करते हुए आपने इतना अर्थ-संग्रह कर लिया जिसके द्वारा अगले अध्ययन के लिये आपका मार्ग प्रशस्त हो सका। जुलाई सन् १९४० में आपने हिन्दू-विश्वविद्यालय में एम० ए० प्रथम-वर्ष में प्रवेश किया। आपके एम० ए० के अध्ययन का क्रम भी अत्यन्त कष्ट-साध्य एवं तपस्या का था। दिन में तो आप विश्वविद्यालय में अध्ययन करते एवं रात्रि में "अग्रगामी" का संपादन करते थे। १९४१ में व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन शुरू हुआ और उसी समय सरकार ने शचीन्द्रनाथ सान्याल को गिरफ्तार कर लिया। उनकी गिरफ्तारी के बाद दैनिक "अग्रगामी" के संपादक श्री विद्याभाष्कर एवं साप्ताहिक के संपादक श्री शम्भुनाथ सिंह जी हुए। इसी बीच राँची से आदिवासी विद्यालय में अध्यापन के लिए आपकी बुलाहट हुई और आप अपने कवि मित्र श्री मोती बी० ए० के साथ राँची चले गये। राँची से ५ मील की दूरी पर 'तीरोल' आश्रम में रामरक्ष ब्रह्मचारी द्वारा संचालित विद्यालय में आपने अध्यापन एवं सेवा-कार्य प्रारम्भ कर दिया। विद्यालय ने चल-शिक्षा योजना बनाई जिसके अन्तर्गत विद्यालय के सभी अध्यापकों एवं छात्रों को राँची जिले में २०० मील की पैदल यात्रा करनी पड़ी, जिसमें पहाड़ी मार्ग की यात्रा भी शामिल थी। पहाड़ी-मार्ग की यात्रा में आपको मलेरिया हो गया और आप गाँव चले आये। इन असामञ्जस्यपूर्ण घटनाओं को पार करके आपने जुलाई १९४३ में एम० ए० द्वितीय वर्ष में प्रवेश किया और पूरे वर्ष भर सुव्यवस्थित अध्ययन करके एम० ए० की उपाधि प्राप्त की।

[illegible]हार-जीवन

ए० ए० परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद मुख्य समस्या जीविका की आई। उस समय उदय प्रताप कालेज से "क्षत्रिय-मित्र" नामक मासिक पत्र निकलता था। जीविका की दृष्टि से उसके संपादन के साथ ही साथ उदय प्रताप कालेज में अस्थाई अध्यापक के रूप में भी कार्य करने लगे। एक वर्ष तक अध्यापन एवं संपादन का कार्य साथ-साथ करते रहे। १९४५ ई० में अध्यापन का कार्य छोड़ दिया और केवल "क्षत्रिय-मित्र" के संपादन का कार्य करते हुए अपनी प्रतिभा एवं कौशल के बल पर उस संकुचित जातीय-प्रचार मात्र करने वाले

पत्र को ऐसा साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पत्र बना दिया, कि उसमें से जातीय-संकीर्णता जाती रही। यद्यपि यह कार्य इन्हें महँगा पड़ा, क्योंकि पत्र के संचालक यह नहीं चाहते थे कि पत्र का मुख्य उद्देश्य तिरोहित होने पाये। आपके साहस एवं समाजवादी विचारधारा के कारण ही ऐसा हुआ।

इसी बीच सन् १९४६ ई० में साप्ताहिक 'आज' के सहायक संपादक पद पर आपकी नियुक्ति हुई और १ वर्ष तक आपने इस कार्य को अत्यन्त निष्ठापूर्वक किया। १९४७ ई० में आप के बड़े भाई डा० स्वामीनाथ सिंह जी ने वाराणसी से "नया-हिन्दुस्तान" नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला, जिसके आप प्रधान संपादक नियुक्त किये गये। चूँकि आप स्वतन्त्र एवं समाजवादी विचारधारा के आग्रही थे, इसलिए अपने भाई साहब से भी अधिक दिनों तक आपने अपने सिद्धान्तों के साथ समझौता नहीं किया। मतभेद की परिधि यहाँ तक बढ़ी कि आपको त्याग-पत्र देने के लिए विवश होना पड़ा। वस्तुत: आपकी काव्य-प्रतिभा निरंकुश एवं सिद्धान्तों के प्रति आग्रही थी, इसलिए किसी प्रकार के पूर्वग्रह एवं दबाव में आप नहीं लाए जा सके।

शिक्षण-कार्य

इस तरह एक वर्ष तक साहित्यिक कार्य करते हुए सन् १९४८ ई० में आपकी नियुक्ति काशी विद्यापीठ में हिन्दी के व्याख्याता पद पर हुई। इसके पूर्व विद्यापीठ में हिन्दी की शिक्षा का रूप अव्यवस्थित था। विद्यापीठ में आ जाने पर सर्व प्रथम आपने अन्तरिम एवं शास्त्री के हिन्दी पाठ्यक्रम को सुव्यवस्थित रूप दिया। सन् १९४८ से १९५८ ई० तक आपने विद्यापीठ में हिन्दी के विभागाध्यक्ष पद पर कार्य करते हुए ही हिन्दू विश्वविद्यालय से "हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास" नामक शोध-प्रबन्ध पर पी० एच० डी० की उपाधि भी सन् १९५५ में प्राप्त की। उन दिनों विद्यापीठ की आर्थिक-स्थिति ठीक नहीं थी क्योंकि सरकार से कोई सहायता नहीं मिलती थी। अध्यापकों का वेतन कई महीनों तक नहीं मिल पाता था, फिर भी इस आर्थिक संकट की परवाह किये बिना आपने विद्यापीठ को ही अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। इसमें कारण यह था कि उन दिनों

विद्यापीठ राजनीतिक गतिविधियों का केन्द्र था और उसके संचालक थे समाजवादी विचारधारा के अनन्य हिमायती आचार्य नरेन्द्रदेव एवं डा० सम्पूर्णानन्द जी। इन दोनों महापुरुषों का सानिध्य ही नहीं अपितु स्नेहिल वत्सलता भी आपको मिली। वास्तव में आप राजनीति एवं साहित्य के दो कूलों के मध्य सेतु का कार्य करते थे। आपके बचपन में ही जिस समतामूलक समाजवादी विचारधारा का अंकुर उगा था, उसे पल्लवित एवं पुष्पित होने का पर्याप्त सहयोग एवं प्रेरणा मिली। जिन सिद्धान्त-रत्नों का संग्रह आपने बचपन से ही किया था उनकी अभिव्यक्ति निःशंक एवं स्वच्छन्द रूप से करने का मौका आपको इन दोनों महापुरुषों के सान्निध्य में मिला।

विद्यापीठ में रहते हुए ही डॉ० साहब ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। जिस तरह काशी विद्यापीठ के कारण आपको ख्याति एवं सम्मान मिला, उसी तरह विद्यापीठ को भी आपने गौरवान्वित किया। "परस्परं भाषयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।"

सन् १९५७ ई० में डॉ० सम्पूर्णानन्द जी के प्रयत्न से वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना हुई और उसके प्रथम उपकुलपति डॉ० आदित्यनाथ झा नियुक्त हुये। श्री झा जी के अनुरोध पर १९५८ में आप वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में आ गये। वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय में अनिवार्य एवं ऐच्छिक हिन्दी के पाठ्यक्रम को अन्य विश्वविद्यालयों के समान रूप देने का महत्त्वपूर्ण श्रेय आपको है। सन् १९५८ ई० से ही आप संस्कृत विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष पद पर महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। आपके सशक्त नेतृत्व में विश्व-विद्यालय के छात्रों ने अनेकों नाटकों के सफल अभिनय के साथ ही साथ हिन्दी वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में भाग लेकर अच्छी सफलता पाई है।

पारिवारिक उपचयापचय

"प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः" महाकवि भारवि का यह श्लोकार्ध सचमुच ही उस स्थिति का सम्पूर्ण चित्र खींच देता है, जिसमें से समाज की भविष्णु विभूतियों को अपना मार्ग निकालना पड़ता है। इसके अपवाद डा०

शम्भुनाथ जी भी नहीं रह सके। सन् १९४७ में आपकी प्रथम धर्मपत्नी का देहान्त चेचक के कारण हो गया। उनकी मृत्यु के छः मास के अन्दर ही उनका एकमात्र-पुत्र भी चल बसा। इन दो आत्माओं के तिरोधान ने डॉ० साहब के हृदय को मानवीय नश्वरता एवं काल की गतिविधियों की अनिवार्यता की ओर मोड़ा, जिसके फलस्वरूप एक कवि का हृदय महान् दार्शनिक-चिन्तक भी बन गया। १९४८ ई० में आपकी दूसरी शादी श्रीमती प्रभावती देवी जी से हुआ। यहाँ यह अधिकार के साथ कहा जा सकता है कि डॉ० साहब के जीवन को अधिक व्यवस्थित एवं मौलिक बनाने में प्रभावती जी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। डा० साहब के आज के जीवन को हम मात्र कवि, चिन्तक और एक दार्शनिक के रूप में ही पाते हैं। आपको अत्यन्त नजदीक से भी देखने पर यह नहीं लगता कि आप कवि के साथ गार्हस्थ्य-जीवन के भी नेता हैं। कारण स्पष्ट है कि पारिवारिक सम्पूर्ण उत्तरदायित्वों से प्रभावती जी ने आपको मुक्ति दे दी है। श्रीमती प्रभावती जी से आपको ५ सन्तानें प्राप्त हुई, जिनमें ज्येष्ठ पुत्र प्रभात-कुमार ५ वर्ष की ही अल्पायु में कुएँ में गिर जाने के कारण काल-कवलित हो गया। इस दुर्घटना ने भी आपके कवि हृदय को अत्यन्त विचलित एवं विह्वल बना दिया। इस अवस्था में आते-आते आपके जीवन की धारा ही बदल गई। "माध्यम मैं" नामक काव्य-संग्रह के "ताबूत की कीलें" उप-शीर्षक खण्ड में जो कविताएँ संकलित हैं, वे स्वर्गीय प्रभातकुमार के लिए लिखे गये शोक-गीत ही हैं।

सृजनात्मक कृतियाँ :—

डा० साहब का जीवन पूर्णतः एक साहित्यिक का जीवन है। साहित्य आप का पेशा नहीं बल्कि धर्म है। आपने अपने जीवन को ही साहित्य-साधना में लगा दिया है। बाल्यावस्था में ही जो साहित्य की दीप-शिखा आपके हृदय में प्रज्ज्वलित हुई थी, उसका उत्तरोत्तर विकासात्मक परिवर्धन होता आ रहा है। जब आप छात्र थे, तभी से आपकी रचनायें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं। दशवीं कक्षा में अध्ययन करते समय ही सन् १९३५ में आपने "त्रिधारा" नामकी एक लघु काव्य-पुस्तिका प्रकाशित कराई, जिसमें तीन कथात्मक कवितायें संकलित हैं। बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण कर जब आप

वाराणसी आये, उसी समय सन् १९४१ में "रूप-रश्मि" नामक आपकी गीत-कविताओं का प्रथम संकलन 'सरस्वती-प्रेस' से प्रकाशित हुआ। "रूप-रश्मि" की कविताओं पर डा० रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा और बच्चन की तत्कालीन कविताओं का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। धीरे-धीरे आप छायावादी प्रभावों से मुक्त होते गये और शीघ्र ही अपनी प्रामाणिक अनुभूतियों एवं निजी शैली द्वारा छायावादोत्तर कवियों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। १९४५ ई० में 'छायालोक' नामक गीत-संकलन प्रकाशित हुआ। 'छायालोक' के गीत उस समय पत्र-पत्रिकाओं और कवि-सम्मेलनों के माध्यम से अधिक ख्याति-लब्ध हो चुके थे। तात्त्विक एवं गहरी अनुभूतियों से युक्त गीतों एवं उनके सुनाने की विशिष्ट संगीतात्मक शैली ने आपको कवि-सम्मेलनों में प्रमुख स्थान दिला दिया। १९४६ ई० में आपकी प्रगतिशील रचनाओं का संकलन "उदयाचल" एजुकेशनल पब्लिशिंग हाउस लखनऊ से प्रकाशित हुआ। १९४६ में ही आपकी कहानियों का प्रथम संकलन "रात-रानी" प्रदीप कार्यालय मुरादाबाद से प्रकाशित हुआ। १९४७ ई० में आपकी कहानियों का दूसरा संकलन "विद्रोह" नाम से प्रकाशित हुआ, जिसकी भूमिका आचार्य नरेन्द्र देव जी ने लिखी थी। सन् १९५० ई० में आपकी लम्बी कविताओं का संकलन "मन्वन्तर" प्रकाशित हुआ, जिसमें आपकी समाजवादी विचारधारा को मौलिक अभिव्यक्ति मिली है। १९५२ ई० में गम्भीर चिन्तन एवं अथक श्रम के फलस्वरूप आपका प्रसिद्ध आलोचनात्मक ग्रन्थ 'छायावाद-युग' नन्दकिशोर ब्रदर्स, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। छायावाद के मौलिक मूल्याङ्कन में आपके इस ग्रन्थ को जितनी प्रतिष्ठा एवं प्रामाणिकता मिली, उतनी शायद ही इस विषय के अन्य ग्रन्थ को मिली हो। इस ग्रन्थ ने आपको आलोचक के रूप में स्पृहणीय ख्याति दिलाई। सन् १९५३ ई० में आपके गीतों का संकलन "दिवालोक" नाम से राजकमल प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष आपके ख्याति-लब्ध नाटक "धरती और आकाश" का प्रकाशन हुआ। इस नाटक को इतनी लोकप्रियता मिली कि अब तक इसके चार संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। १९५६ ई० में आपका शोध-प्रबन्ध "हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप-विकास" डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में स्वीकृत हुआ। आपके इस शोध-प्रबन्ध को अधिकतर विश्वविद्यालयों ने पाठ्य-ग्रंथ के

रूप में स्वीकृत किया। आपका आलोचनात्मक निबंधों का प्रथम संकलन "मूल्य और उपलब्धि" नाम से मोतीलाल बनारसीदास के यहां से १९६० में प्रकाशित हुआ। १९६६ में समकालीन प्रकाशन द्वारा आपकी रचनाओं "खण्डित-सेतु" (काव्य-संग्रह) "प्रयोगवाद और नयी-कविता" (आलोचना ग्रंथ) "समय की शिला पर"—(पूर्ववर्ती १०० गीतों का संकलन) का प्रकाशन हुआ। "काव्य-धारा" एवं "नव एकांकी" आपके संपादित ग्रन्थ हैं, जो वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा में स्वीकृत पाठ्य-पुस्तकें हैं। १९६६ ई० में चौखम्भा संस्कृत सीरीज द्वारा "हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई जो एक बड़े इतिहास ग्रंथ का लघु-संस्करण है। आपके अनेक महत्त्वपूर्ण निबंध संपादित एवं अभिनन्दन ग्रंथों में प्रकाशित हो चुके हैं। "हिन्दी समीक्षा का इतिहास" शीर्षक साढ़े तीन सौ पृष्ठों का एक प्रबन्ध नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित "हिन्दी साहित्य का बृहद्-इतिहास" के तेरहवें खण्ड में प्रकाशित हुआ है। 'समसामयिक हिन्दी साहित्य' नामक पुस्तक में, जो साहित्य अकादमी, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुई है, आप का हिन्दी कविता पर एक ५० पृष्ठों का शोधपूर्ण निबन्ध प्रकाशित हुआ है। नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में "हिन्दी भाषा का उद्‌भव और विकास" नामक शीर्षक से आपका एक शोधपूर्ण एवं विचारात्मक निबन्ध प्रकाशित हुआ है, जिसमें एकदम नई स्थापनायें की गई हैं। श्री पं० सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी-अभिनन्दन ग्रंथ में आपका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निबंध "हिन्दी साहित्य उद्‌भव काल और विस्तार-क्षेत्र" प्रकाशित हुआ है, जिसमें हिन्दी साहित्य का उद्‌भव काल ७०० ई० के आस-पास माना गया है और राजस्थान से लेकर पूर्वी बिहार तक की बोलियों तक को हिन्दी के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त "हिन्दी साहित्य के प्रकाश-स्तम्भ" नामकी आपकी महत्त्वपूर्ण पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित होने वाली है।

अध्ययन एवं चिन्तनः—

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि साहित्य आपके लिए पेशा नहीं अपितु धर्म है। साहित्य मन्दिर के देवता की उपासना आपने श्रद्धा एवं कठोर श्रम के द्वारा की है एवं कर रहे हैं। काव्य-देवता की

उपासना की सामग्री के रूप में आपने पाश्चात्य एवं पौरस्त्य काव्य-वाङ्मय का गहनतम आलोडन करके जिन पुष्पों को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है वे वस्तुतः किसी भी साहित्य के लिए गौरवचिह्न हैं। आपका अधिकांश समय साहित्यिक चर्चाओं, विचार-गोष्ठियों में व्यतीत होता है। संस्कृत साहित्य एवं साहित्य-शास्त्र का अध्ययन तथा मनन आप करते रहते हैं। इस तरह पाश्चात्य एवं पौरस्त्य साहित्य का समन्वित प्रभाव आपकी कृतियों पर पड़ा है। अध्ययन करते समय प्रायः इतने समाधिस्त हो जाते हैं कि आपको किसी प्रकार की सुधि नहीं रह जाती। आपके अध्ययन में हमेशा एक तीव्रानुभूति एवं गुणात्मक उपलब्धि की खोज रहती है। ऐसे अनेक अवसर आये हैं जब आपकी चिन्तनशैली एवं अध्ययन-समाधि से मुझे अद्भुत उत्साह एवं प्रेरणा मिली है। सन् १९६६ ई० के अगस्त मास में शाम को मैं आपके घर गया था। उस समय आप "मुक्तिबोध" की कविता की कोई पुस्तक पढ़ रहे थे। शायद उस पुस्तक पर कोई आलोचनात्मक निबंध जल्दी ही लिखना था। कविताएँ बड़ी लम्बी थीं जिनका अध्ययन आपने दिन के २ या ३ बजे से ही प्रारम्भ किया था। सायं काल ७ बजे मुझे आया जानकर आपने बुलाकर कहा—तुम इन कविताओं को पढ़ो, मैं सुनूँगा, क्योंकि मुझे कल ही इस पर आलोचना लिखनी है। मैंने सोचा कि शीघ्र ही इन कविताओं को पढ़ दूंगा। बस, क्या था, मैंने पढ़ना शुरू किया और आपने सुनना। इस पठन एवं श्रवण में रात के ११ बज गये और वह पुस्तक अभी आधी भी नहीं समाप्त हुई। मेरा मन कुछ-कुछ ऊबने लगा और नींद भी आने लगी, फिर भी मैं पढ़ता रहा। दो बजे तक मैं किसी-किसी तरह कविताएँ पढ़ता रहा और अन्त में मेरी निद्रालु मनोभावना को समझ कर आपने कहा—"जाओ, यहीं सो रहो! मैं तो कविता लिखने जा रहा हूँ।" और करीब साढ़े तीन बजे रात्रि तक आपने कविताएँ लिखीं। आपके इस अनवरत अध्यवसाय को देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वस्तुतः आपकी यह तपश्चर्या किसी योगी अथवा साधक से कम कष्टसाध्य नहीं है। ऐसे अनेक उदाहरण आपके अध्ययन के विषय में मुझे व्यक्तिगत रूप से ज्ञात हैं।

सामाजिक कार्य

आपका व्यक्तित्व अत्यन्त सामाजिक है क्योंकि वह अन्तर्मुख नहीं बहिर्मुख है। इसी कारण सामाजिक गतिविधियों का प्रभाव आप पर अधिक पड़ता है। आप उन्हें तटस्थ होकर देखते नहीं बल्कि उनसे सम्पृक्त हो जाया करते हैं। शैशवकाल में ही आप पर आर्यसमाजी प्रभाव पड़ा था, जिसकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों, जैसे खण्डन-मण्डन, शास्त्रार्थ आदि, को आपने अपना लिया था। आगे चलकर राष्ट्रीय आन्दोलन में जो कुछ आपने किया उसका उल्लेख पहले हो चुका है। राँची के आदिवासी विद्यालय में पढ़ाते समय आप मुण्डा जाति के छोटे-छोटे बालकों को पढ़ाया करते थे और गाँवों में आदिवासियों के समक्ष भाषण एवं सफाई का कार्य भी किया करते थे। काशी विद्यापीठ में अध्यापक हो जाने के बाद भी आपका सेवा-क्रम चलता रहा। १९४८ ई० में वाराणसी में भीषण बाढ़ आने पर आपने अध्यापकों एवं छात्रों की टोलियों के साथ बाढ़-पीड़ित ग्रामीणों को आश्रय दिलाने एवं उनकी मदद करने का कार्य किया। आचार्य नरेन्द्रदेव जी की प्रेरणा से आपने काशी में "नव-संस्कृति-संघ" नाम की संस्था की स्थापना की जिसका प्रथम अधिवेशन डॉ० धूर्जटीप्रसाद मुखर्जी की अध्यक्षता में हुआ और उसका उद्घाटन आचार्य नरेन्द्रदेव जी ने स्वयं किया। इस संस्था द्वारा साहित्यकारों एवं बुद्धिजीवियों को पूर्ण संघटित करके उनमें मानवतावादी विचारधारा को प्रज्ज्वलित करने की कोशिश की जाती थी। इस संस्था में प्रति मास गोष्ठियों का आयोजन होता था जिनमें निबन्ध-पाठ, विचार-विमर्श आदि हुआ करते थे। १९४९ में इस संस्था का द्वितीय अधिवेशन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की अध्यक्षता में हुआ। इन सभी गोष्ठियों का आयोजन एवं संघटन आपके प्रयास से ही सम्भव हो सका। १९५० में वाराणसी में आपके प्रयत्न से "चेतना" नामकी एक साहित्यिक संस्था स्थापित की गयी जिसका मुख्य उद्देश्य काशी एवं बाहर के नवयुवक और आधुनिकतावादी कवियों-साहित्यकारों को एक मंच पर लाकर साहित्यिक गतिविधियों पर विमर्श करना था।

स्वभाव

आपका स्वभाव गम्भीर किन्तु भावुक है। अपने गम्भीर-चिन्तक स्वभाव के कारण ही आप किसी भी कार्य में गहराई को महत्त्व देते हैं। विस्तार की अपेक्षा गहराई में आपका अधिक विश्वास है। व्यक्ति की सबसे बड़ी उपलब्धि है कि वह अपनी आत्मा की गहनमत अनुभूतियों को समझ ले। चाहे काव्यकार हो या कलाकार, उसकी कृतियों की शाश्वतता के लिए यह परमावश्यक है कि वह अनुभूतियों के विस्तार की अपेक्षा गहराई को महत्त्व दे और यह गांभीर्य तभी संभव है जब कि कलाकार अपने को सही रूप में पहचान ले। इस दृष्टि से देखने पर हम डाक्टर साहब के गम्भीर चिन्तक स्वभाव को उन्हीं में नहीं, अपितु उनकी कृतियों में भी पाते हैं। उनका स्वभाव गंभीर होते हुए भी इतना सरल है कि आडम्बर, दिखावा और मर्यादा का झूठा दंभ आप में नहीं मिलता। अपने स्वभाव-सारल्य के कारण ही आपने अपनी वेश-भूषा को कभी अधिक महत्त्व नहीं दिया, यहाँ तक कि अपने पारिवारिक सम्बन्धों से भी आप निरपेक्ष रहते हैं और यही निरपेक्षता आपको आत्मभूत से सर्वभूत की ओर ले जाती है। आपने कर्म को देवता माना है। कर्म-देव की उपासना आपके लिए सबसे बड़ी उपासना है। आप प्रतिदिन कुछ समय कृषि कार्य में देते हैं। अपनी तत्त्वान्वेषी बुद्धि के कारण आपने हमेशा झूठी रूढियों की निर्भय होकर भर्त्सना की है। आपका जीवन जितना सरल है, सिद्धान्तों के प्रति उससे भी अधिक आग्रही हैं। आपने सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कभी विरोधियों से समझौता नहीं किया। यही कारण है कि आपकी सहज सरलता से लोगों ने पर्याप्त लाभ उठाया और जहाँ सिद्धान्तों और कर्तव्यों के प्रति आपके आग्रह को देखा वहाँ किनारा कसते गये। तत्त्व-चिन्तन और उसके प्रसार में आप अनवरत लगे रहते हैं। विभिन्न स्थानों से आये हुए अपरिचित छात्रों तथा जिज्ञासुओं के लिए आपका ज्ञान-कोष हमेशा खुला रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि डाक्टर साहब का जीवन वस्तुतः एक मनस्वी का जीवन है। आपके द्वारा समाज को बहुमूल्य निधियाँ मिली हैं और आगे भी मिलती रहेंगी।

●

डॉ० शम्भुनाथ सिंह : पुरातत्त्व के पथ पर

•

प्रो० रामाबल्लभ नारायण

वह दिन मेरे लिए सौभाग्य का था जब डॉ० शम्भुनाथ सिंह से मेरी पहली भेंट मसौनडीह के पुरातत्त्व-शिविर में हुई थी। वहाँ पर संस्कृत विश्वविद्यालय की ओर से मैं उत्खनन-कार्य करा रहा था। मुझे अच्छी तरह याद है, मई का महीना था और भीषण गर्मी पड़ रही थी। अचानक मैंने कुछ लोगों के निर्भीक भाव से शिविर में प्रवेश करने की आहट सुनी। मुझे ऐसा लगा कि आगन्तुक व्यक्तियों को पुरातत्त्व सम्बन्धी अन्वेषण से प्रेम था और उसी अधिकार और लगाव के बल पर वे भीतर घुसे थे। शुरू में तो मुझे यह बात पसन्द नहीं आयी कि शिविर में उत्खनन-कार्य से छुट्टी पाकर हमें जो आराम करने का अवसर हाथ लगा था उसमें कोई बाधा दे। किन्तु तत्काल वे मेरे इतने निकट आ गये कि मुझे विवश होकर अपने खेमे से बाहर निकलना पड़ा। मैंने उन लोगों का हार्दिक स्वागत किया क्योंकि उत्खनन-क्षेत्र में आने वाले जिज्ञासुओं का स्वागत-सत्कार करना हमारा स्वभाव बन गया है और हम इसे अपना सौभाग्य भी मानते हैं। हम लोग एक दूसरे से परिचित हुए। इस दल का नेतृत्व करने वाले डॉ० शम्भुनाथ थे जो गर्म दोपहरी में मसौनडीह के प्राचीन टीले पर चलने वाले हमारे उत्खनन-कार्य को देखने आये थे। हमारी प्रार्थना पर उन्होंने शर्बत पिया और उसके बदले में हम लोगों ने उनकी साहित्यिक रचनाएँ सुनीं। वस्तुतः ये क्षण हमारे जैसे उत्खनन के नीरस क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्ति के लिए प्रेरणादायक थे। पहले उन्होंने अपने को एक साहित्यिक व्यक्ति ही बताया था लेकिन धीरे-धीरे मुझे पता चला कि वे एक पुरातत्त्ववेत्ता और प्राचीन भारतीय कला के गहन अध्येता भी हैं। जब उन्होंने शिविर में उत्खनन में प्राप्त मृत्तिका-पात्र तथा अन्य वस्तुओं को देखा,

उनकी जिज्ञासा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। यह जानकर मुझे और भी प्रसन्नता हुई कि मेरे विश्वविद्यालय में पुरातत्त्व का एक और गहरा प्रेमी और सहयोगी वर्तमान है।

अन्वेषक के रूप में

तुरन्त ही मैं उन्हें उत्खनन-क्षेत्र दिखाने ले गया। उनकी अभिरुचि देखकर मैं उनके प्रश्नों का विस्तार और उत्साह से उत्तर देने लगा। मैंने उन्हें मसौन के प्राचीन टीले का परिचय दिया और उसका महत्त्व बताया। डॉ० सिंह अपने निजी अनुभव के आधार पर टीले पर बिखरे मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े, मनके और मूर्ति-खण्ड चुनने लगे। इसके बाद उन्होंने इन वस्तुओं के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न किये। मुझे याद है कि उन्होंने डी-लक्स मृत्तिका-खण्ड जैसे एन० वी० पी० बर्तनों तथा बाद में परिवर्तित बर्तन के रूपों तथा मिट्टी की मूर्तियों के सम्बन्ध में कितने रोचक प्रश्न किये। उन्होंने भारत में मन्दिर-निर्माण-कला के उद्‌भव के सम्बन्ध में जो बातें बतायीं वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थीं। उसी से उनकी तत्संबन्धी नवीनतम जानकारी का भी पता चला। उन्होंने स्वयं भिलसा के निकट हेलियोडोरस-स्तम्भ और उसके पास बेसनगर के उत्खनन में प्राप्त मन्दिरों के अवशेष के सम्बन्ध में अनेक बातें बतायीं। मसौन क्षेत्र के सम्बन्ध में उनके कुछ विचार बहुत मूल्यवान और विचारणीय थे। उत्खनन-कार्य ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता गया, मैंने यह पाया कि डॉ० शम्भुनाथ सिंह के कुछ सुझाव सचमुच बहुत महत्त्व के थे।

उत्खनन संबंधी रुचि

टीले को चारों ओर से दिखाने के उपरान्त मैं उन्हें खाइयों की ओर ले गया जहाँ उत्खनन-कार्य चल रहा था। उत्खनन-कला संबंधी उनकी जिज्ञासु चेतना और बुद्धिमत्तापूर्ण प्रश्नों से उनकी गहरी रुचि और अध्ययन का पता चलता था। मैंने अपनी शक्ति के अनुसार उत्तर देकर उनकी जिज्ञासा शान्त करने का पूरा प्रयत्न किया। मैं नहीं जानता कि मेरे उत्तर से वे कितने संतुष्ट हुए क्योंकि उत्खननविज्ञान का क्षेत्र इतना व्यापक है कि उससे संबन्धित सभी प्रश्नों का उत्तर पूर्ण विश्वास के साथ देने का दावा मैं नहीं कर सकता।

इसी समय उत्खनन-कार्य के मध्यान्तर का अवकाश समाप्त हुआ

और कार्य करनेवाले तथा शिविर के कर्मचारी खाइयों में पहुँचकर काम करने में जुट गये। डॉ० शम्भुनाथ सिंह ने हमारा काम देखने में इतनी रुचि ली कि वे वहाँ बहुत देर तक रुके रहे। वे खाई में नीचे उतरे, मेरे हाथ से चाकू ले लिया और हमारे ही तरीके से खोदाई करने लगे। मुझे ऐसा लगा कि यदि इसी प्रकार के कुछ और व्यक्ति हमारे दल में सम्मिलित हो जाते तो हमारा काम बहुत आसान हो जाता और इससे हमारे दल के लोगों को बहुत प्रेरणा मिलती। काफी देर तक वहाँ रहने के बाद उन्होंने हमसे विदा ली और वचन दिया कि जब उत्खनन का कार्य पूरी गति से होने लगेगा तो वे एक बार और वहाँ आयेंगे। सन् १९६५ के जून महीने में हमारे तत्कालीन उपकुलपति श्री सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी ने हमारा कार्य देखने के लिए मसौन आने का वादा किया। मैंने डॉ० सिंह से प्रार्थना की कि वे भी उपकुलपति महोदय के साथ वहाँ चलें।

जून की भीषण गर्मी की परवाह न कर डॉक्टर सिंह उपकुलपति महोदय तथा विश्वविद्यालय के कुछ अन्य लोगों के साथ मसौन आये। इस बार उन्होंने मेरा कार्य हल्का किया और आगन्तुक व्यक्तियों को हमारा उत्खनन-कार्य दिखाने तथा सभी बातें समझाने में मेरा साथ दिया। यह देखकर मुझे और भी प्रसन्नता हुई कि संस्कृत विश्वविद्यालय में पुरातत्त्व जैसे नवीन विषय का समर्थक एक और व्यक्ति मिला।

गहन कलाप्रेमी

उनसे हमारी घनिष्ठता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। उन्होंने स्वयं अपने घर पर एक छोटा संग्रहालय स्थापित किया है। उन्होंने मुझे अपना संग्रहालय दिखाने का वचन दिया। अपने बैठकखाने में उन्होंने बहुत सी प्राचीन मूर्तियाँ एकत्र कर रखी हैं। इस विषय में और भी अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए मैंने उनका संग्रहालय देखने का निश्चय किया। मुझे उनका संग्रहालय देखकर आश्चर्य हुआ। उन्होंने जिन कलाकृतियों का संग्रह किया है उन्हें देखकर पूर्वी उत्तर प्रदेश, विशेषकर गंगाघाटी, की प्राचीन सभ्यता और इतिहास के संबन्ध में सुनिश्चित धारणा बनाने में बहुत सहायता मिल सकती है। उनके संग्रहालय में बहुत सी प्राचीन सुन्दर मूर्तियाँ, मृत्तिकाभांड, गुरिया, तथा पालिश किये हुए ठीकरे वर्तमान हैं। उन ठीकरों में एन० बी० पी० ब्लैकस्लिप्ट-

वेयर, ब्लैक एण्ड रेड वेयर और रेड वेयर नामक ठीकरे विशेष महत्त्व के हैं। शम्भुनाथ सिंह ने इन वस्तुओं को इतने सुन्दर ढंग से सजा कर रखा है कि कोई भी आसानी से थोड़े समय में उनके ऐतिहासिक महत्त्व को समझ सकता है। ये सभी वस्तुएँ उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश के प्राचीन खण्डहरों और ध्वंसावशेषों से एकत्र की गयी हैं। कुछ मृत्तिकाभाण्ड तथा मूर्तिखण्ड उन्होंने एटा जिले के महाभारतकालीन स्थान अतरंजी खेड़ा से भी प्राप्त किये हैं। वे इस दिशा में निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। मेरा पूर्ण विश्वास है कि उनका संग्रहालय शीघ्र ही प्राचीन भारतीय कला का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन जायेगा।

उनके इस व्यक्तिगत संग्रहालय में विभिन्न कालों के दो सौ से अधिक खण्डित तथा अखण्डित मूर्तियाँ, प्रागैतिहासिक प्रस्तर तथा हजारों मृत्तिकाभाण्ड के ठीकरे हैं। यह सब कुछ उन्होंने अपने निजी प्रयत्न, रुचि और अध्यवसाय द्वारा किया है। उनके संग्रहालय में सब से महत्त्व की मूर्तियाँ ये हैं :—

अर्धनारीश्वर, उमामहेश्वर, नवग्रह, बुद्ध, प्रज्ञा पारमिता आदि। मूर्तिकला की दृष्टि से ये अमूल्य कृतियाँ हैं। मैं आशा करता हूँ कि उनका यह पुरातत्त्व, प्रेम उत्तरोत्तर बढ़ता जायगा और वे पुरातत्त्व-शास्त्र के उतने ही बड़े विद्वान माने जायँगे जितने हिन्दी साहित्य के हैं।

शम्भुनाथ सिंह: शल्य चिकित्सा की मेज पर

●

हसिं थनाम्भुश

शम्भुनाथ सिंह को जितने निकट से और जितना अधिक मैं जानता हूँ उतना कोई नहीं जानता होगा। मैं उन्हें तब से जानता हूँ जब से वे स्वयं को जानने लगे थे। मैं उनके भीतर के भीतर के भीतर की बातें जानता हूँ क्योंकि एक मात्र मैं ही उनका प्रामाणिक साक्षी हूँ। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' की भाँति हम दोनों आजीवन सहजीवी, सहभोक्ता, सहद्रष्टा और प्रायः सहकर्मी भी रहे हैं। इस लिए उनके सम्बन्ध में मैं जो कुछ कहूँगा उसे उन्हीं का कहा माना जा सकता है।

शम्भुनाथ सिंह एक मामूली इन्सान हैं और मामूली इन्सान के सभी गुण-दोष उनमें भी हैं। अपने मामूलीपन को छिपाने के लिए यदि वे गरिमा का आवरण ओढ़ लेते तो उनका व्यक्तित्व सचमुच बड़ा ही भव्य और प्रभामय हो गया होता। लेकिन शुरू से ही उन्हें यह लत लग गयी थी कि मामूली लोगों के बीच मामूली बन कर उन्हीं की तरह रहना चाहिये। यह भी नहीं है कि केवल प्रदर्शन के लिए उन्होंने मामूलियत का जामा पहन लिया है। दर असल वे भीतर से जो कुछ हैं, वही बाहर से भी हैं; न पण्डित न पैगम्बर, न नेता न रहनुमा, न शासक न अधिनायक, न इलहामी न बड़बोले। बस वे जो हैं, वही हैं; हस्बमामूल जिन्दगी बसर करने वाला एक मामूली इन्सान जिसकी हस्ती कोई बड़ा अर्थ नहीं रखती और जिसकी सार्थकता केवल पैदा होने, जीने, जीते चलने और एक दिन मर जाने में ही है।

लेकिन मामूली होते हुए भी एक मानी में वे गैरमामूली हैं। साधारणतः लोगों को अपने गुणों का ही अहसास होता है, अपने दोष नहीं दिखाई पड़ते। शम्भुनाथ सिंह इसके अपवाद हैं। उन्हें अपने दोष, अपनी कमजोरियाँ, अपने अभाव साफ साफ दिखाई पड़ते हैं। वैसे औरों की तरह वे भी मनुष्य हैं तो कुछ गुण तो उनमें भी होंगे ही। पर उन गुणों को दूसरे देखते होंगे, शम्भुनाथ सिंह को और मुझे भी

वे नहीं दिखाई पड़ते। वे कबीर की तरह निन्दकों को आँगन में कुटी छवाकर रखना चाहते हैं ताकि वे इनके दोष बता दिया करें। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि उनके परोक्ष में और कभी-कभी उनके सामने ही अन्य व्यक्ति उनके जिन दोषों का वर्णन करते हैं वे उनमें या तो एकदम नहीं हैं या हैं तो बहुत कम मात्रा में। उनके दोषों की खोज करने वालों को उनके असली दोष नहीं दिखाई पड़ते। जो दोष वे देखते हैं वे स्वयं उन्ही की पूर्वग्रह कल्पना की उपज हैं। इस लिए मैं शम्भुनाथ सिंह के चरित्र के वास्तविक दोषों को उजागर कर देना चाहता हूँ ताकि वे वक्तजरूरत लोगों के काम आयें और उन्हें अधिक अटकलबाजी न करनी पड़े।

चरित्रगत गुण-दोष की किसी भी कसौटी पर कसने पर शम्भुनाथ सिंह का चरित्र गुणों के कारण विशिष्ट नहीं दिखाई पड़ता। हाँ, यदि उसे किसी सीमा तक विशिष्ट माना जा सकता है तो बस दोषों के कारण ही। शम्भुनाथ सिंह एक चालू सिक्का है। चल पड़े हैं, इसलिए चल रहे हैं। अन्यथा वे असली सिक्के के रूप में खोटे सिक्के ही हैं। वे ऊपर से जो दिखाई पड़ते हैं भीतर से वह नहीं हैं। उनके बाहर और अन्तर के रूप अलग-अलग हैं। उनकी कथनी और करनी में कोई मेल नहीं है। ऊपर से तो वे बहुत आदर्शवादी बनते हैं किन्तु अपने आदर्शों को उन्होंने कभी भी जीवन में चरितार्थ नहीं किया। इस दृष्टि से वे पहले सिरे के ढोंगी और प्रपंची हैं। बचपन में ही उन्होंने संकल्प किया था कि वे देश के प्रति समर्पित जीवन व्यतीत करेंगे। पर उनका संकल्प बराबर खण्डित होता रहा। यदि उनका देशप्रेम एकनिष्ठ होता तो सन् ४२ के आन्दोलन में गिरफ्तारी से बच न निकलते, आचार्य नरेन्द्रदेव का शिष्यत्व ग्रहण करके भी सक्रिय राजनीति से असम्पृक्त न रह जाते। हालाँ कि वे देशप्रेम का दंभ हमेशा भरते रहे पर देश के लिए उन्होंने कोई कष्ट नहीं उठाया, न जेल गये, न लाठी खायी। यह जरूर हुआ कि देश के लिए कष्ट उठाने वालों की तरह स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद उस कष्ट की हुण्डी भुनाने के कलंक से भी वे बच गये, अन्यथा वे भी नेता हो गये होते, चुनाव लड़कर एम० एल० ए० या एम० पी० हो गये होते या संविद सरकार में मंत्री तो हो ही गये होते। राजनीति और देशप्रेम को उन्होंने दो अलग वस्तुएँ मानने की मूर्खता की जिसका परिणाम यह

हुआ कि उनका देशप्रेम भी निरर्थक आदर्श और खोखली भावना मात्र बन कर रह गया ।

शम्भुनाथ सिंह संकल्प के धनी नहीं हैं। इसलिए उनकी निष्ठा बहुधा-विभक्त रहती आयी है । कभी उन्होंने राजनीति का पल्ला पकड़ा तो कभी साहित्य का, कभी समाजसेवा का व्रत लिया तो कभी शिक्षण-व्यवसाय का । वे किसी एक के होकर नहीं रह सके । कभी वे कम्युनिस्ट हुए तो कभी समाजवादी, कभी आर्यसमाजी हुए तो कभी अनीश्वरवादी, कभी राष्ट्रीय संस्कृति के पोषक हुए तो कभी विश्व-मानववादी । गरज यह कि वे कुछ भी नहीं हो सके, पूरी तरह किसी के भी नहीं हो सके; न राजनीति के न समाज के, न संस्कृति के न साहित्य के, न शिक्षा के न धर्म के, न परम्परा के न आधुनिकता के । चाहें तो उन्हें बेपेंदी का लोटा भी कह सकते हैं । गनीमत थी कि यह लोटा चाहे जहाँ भी रहा, भरा रहा । इसीलिए वह लुढ़कने नहीं पाया, अन्यथा शम्भुनाथ सिंह आज जो कुछ हैं वह भी नहीं हो पाये होते । यदि उनसे इस सम्बन्ध में पूछा जाय तो वे उत्तर देंगे कि यह तो प्रगति का लक्षण है; वह मनुष्य कैसा जो एक ही जगह खड़ा रहकर 'मार्कटाइम' करता रहे ? लेकिन मैं जानता हूँ कि उनका यह तर्क केवल तर्क भर है। उनका यह निष्ठा-परिवर्तन निष्ठाहीनता के निकट ही माना जायेगा ।

बहरहाल, अन्त में जाकर उनकी निष्ठा साहित्य में टिक गयी। वय-वृद्धि के साथ उनका विवेक भी इस काबिल हुआ कि उन्होंने साहित्य के प्रति आत्मदान करने का निश्चय दृढ़ कर लिया । किन्तु साहित्य में भी उन्होंने जमकर काम नहीं किया । उनके साहित्य में रखा ही क्या है ? उसमें बहुत सा अधकचरा माल और कूड़ा-करकट भरा है जिसे देखकर अब उन्हें लज्जा का अनुभव होता है। बहुत दिनों तक तो वे प्रेम-वेम के बारे में लिखते रहे। वहाँ से ऊबे तो वामपन्थी राजनीतिक दलों के चक्कर में पड़कर थोथी बकबास और नारेबाजी में जुट गये। खैर, वहाँ से भी किसी तरह उबरे तो सीधे आधुनिकतावादी भवजाल में आकर गिरे। यहाँ उनकी गाड़ी फँस गयी है । शायद इस भँवर से निकलने का कोई रास्ता भी नहीं है। वैसे शम्भुनाथ सिंह को बखूबी मालूम है कि एक उपाय उनके पास है जिसे अपनाकर वे सभी चक्करों और भँवरों से निकल सकते हैं। वह है उनके निजीपन का रास्ता जिसे उन्होंने पूर्णतः पाया भले ही न हो पर पूरी तरह कभी छोड़ा भी

नहीं था। उनके पास एक अपनी टार्च लाइट भी हमेशा रही है जिसके प्रकाश में वे अपना रास्ता देखते रहे हैं। इसीलिए वे किसी के गुरुडम के शिकार न हो सके और किसी गुट या 'वाद' के जुलूस में शामिल होने से बाल बाल, बचते रहे। मैं जानता हूँ कि उनके निजीपन का रास्ता, जिसे वे इधर-उधर भटककर निरन्तर खोजते रहे हैं, कभी-न कभी उन्हे पूर्णत: उपलब्ध होगा। वही रास्ता उन्हें अन्तिम लक्ष्य तक ले जायेगा।

किन्तु साहित्य के प्रति उनकी निष्ठा भी एकदम दृढ़ और अटूट हो, ऐसी बात नहीं है। इस बात को वे स्वीकार नहीं करेंगे पर सच्चाई यही है कि साहित्य को भी उन्होंने ईमानदारी से नहीं ग्रहण किया है। अपने लक्ष्य के साथ वे हमेशा बेईमानी करते आये हैं और साहित्य के साथ भी उन्होंने वही किया है। उन्होंने साहित्य को आत्मसमर्पण तो किया किन्तु 'घर जोड़ने की माया' में फँस कर वे अध्यापक बन गये। लेकिन ईमानदारी से वे अध्यापन भी नहीं कर सके। ईमानदार अध्यापक को साहित्य-सर्जना के लिए फुरसत नहीं मिल सकती। पर वे हैं कि जब लिखने लगते हैं तो भूल जाते हैं कि उन्हें कक्षा में पढ़ाना भी है। अपने अध्यापक-जीवन का बहुलांश चुरा कर वे अपने साहित्य-सर्जक को दे देते हैं। किन्तु जब कर्तव्य का ध्यान आता है तो साहित्य को जहाँ का तहाँ छोड़कर कक्षा लेने के लिए भागते हैं। इस तरह दो नावों पर सवार होकर वे जीवन-सागर के पार जाना चाहते हैं। पर उनका अन्तर्यामी ही जानता है कि घर जोड़ने की माया के कारण विवश होकर उन्हें ऐसा करना पड़ता है। वे मूलत: रचनात्मक साहित्यकार हैं। किन्तु उस माया ने उन्हे कोंच-कोंचकर आलोचक बनाया है क्योंकि अध्यापक होने और किसी विश्वविद्यालय में उच्चपद पाने के लिए आलोचनात्मक ग्रन्थों का लेखक होना आवश्यक माना जाता है। इस तरह अपने जीवन का न जाने कितना बहुमूल्य समय उन्होंने शोधकार्य करने यानी इस कोठरी का धान उस कोठरी में करने में गँवाया है या ऐसे समीक्षात्मक ग्रन्थ लिखने में लगाया है जिनमें तथ्य-संग्रह और व्याख्या के अतिरिक्त कुछ नहीं है। साहित्य के अन्तर्निहित सौन्दर्य और सत्य का उद्घाटन अध्यापक के लिए भले ही आवश्यक हो, साहित्य-सर्जक के लिए बिलकुल आवश्यक नहीं है। यह भी घर जोड़ने की माया के कारण ही हुआ है क्योंकि इससे अध्यापन की अर्हता तो पूरी होती

ही है, रायल्टी की राशि भी अधिक मिलती है। कविता और कहानी की पुस्तकों से उतना धन नहीं मिल सकता जितना आलोचनात्मक पुस्तकों से। एक सीढ़ी और नीचे उतर कर उन्होंने धन के लोभ से पाठ्यग्रंथों का सम्पादन भी किया है जो रचनात्मक साहित्यकार के लिए किसी तरह शोभनीय नहीं है। मैं जानता हूँ कि उनके पास ऐसा बहुत कुछ है जिसे लिखकर वे साहित्य को महत्तम दान दे सकते हैं। पर उनके पास अवकाश कहाँ है जो लिखें ? अध्यापन का पेशा उन्हें अपनी ओर खींचता है तो परिवार अपनी ओर। दोस्त-अहबाब एक ओर खींचते हैं, यश-लिप्सा दूसरी ओर। वे विवश होकर कातर दृष्टि से साहित्य को देखते और उसके बिलकुल पास जाकर बारबार उससे दूर हट जाया करते हैं।

शम्भुनाथ सिंह स्वार्थी भी कम नहीं हैं। व्यक्तिगत सम्बन्धों में वे जो हार्दिकता प्रदर्शित करते हैं उसके भीतर भी उनका कोई न कोई स्वार्थ निहित रहता है, भले ही वे स्वयं इस निहित स्वार्थ से अनभिज्ञ हों। हार्दिकता, मैत्री, स्नेह, प्रेम इन सब भावनाओं के भीतर छिपा स्वार्थ जब धीरे-धीरे बाहर अभिव्यक्त होने लगता है तो सम्बन्धित व्यक्ति भी क्रमशः शम्भुनाथ सिंह से दूर हटता जाता है। इस तरह दो चार को छोड़कर अन्य कोई भी व्यक्ति—चाहे वह गुरुजन हों चाहे मित्र या शिष्य—उनका अन्यतम या अभिन्न अन्त तक नहीं रह सका। यह दूसरी बात है कि वैयक्तिक सम्बन्धों में दोनों पक्षों में स्वार्थ भाव निहित होता है, किन्तु उलझन तब उत्पन्न होती है जब उनमें से एक पक्ष निःस्वार्थ और सच्चा स्नेह प्रदर्शित करने का ढोंग रचने लगता है। शम्भुनाथ सिंह को ऐसे ही ढोंगियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। वे अपने निःस्वार्थ स्नेह, तटस्थ उदारता और सच्चे प्रेम का ढिंढोरा पीटते रहे हैं पर हर बार उनकी कलई खुल जाती रही है। यदि किसी मित्र को उन्होंने कुछ दिया होगा तो उससे कुछ पाया भी होगा। यदि किसी शिष्य की सहायता की होगी तो उससे कुछ बेगार भी अवश्य लिया होगा।

लेकिन शम्भुनाथ सिंह को क्या कहा जाय जो इस प्रकार के सम्बन्धों के बारे में हमेशा भ्रम में रहते आये हैं। उनकी शिकायत है कि उनके अधिकतर मित्र और शिष्य धोखेबाज निकले और अन्ततक स्नेह-सम्बन्ध का निर्वाह केवल उन व्यक्तियों ने किया जो इतने अपने

थे कि भाग कर कहीं जा ही नहीं सकते थे जैसे भाई, पत्नी, कुछ गुरु तुल्य महामनीषी तथा छात्रावस्था के वे साथी जिनके साथ स्वार्थपूर्ण नहीं बल्कि उत्तरोत्तर गाढ़ा होता हुआ अदृश्य रागात्मक सम्बन्ध चला आ रहा है। अन्य लोग उनके जीवन में आँधी की तरह आये और तूफान की तरह कुछ तोड़-फोड़ की निशानी छोड़ते हुए चले गये। ऐसे लोगों से यदि शम्भुनाथ सिंह ने नि:स्वार्थ मैत्री की आशा की तो यह निश्चय ही उनकी खामख्याली थी। जब वे स्वयं नि:स्वार्थ भाव से मैत्री का निर्वाह नहीं कर सके तो इसका कुफल भो उन्हें भोगना ही था। न जाने कितने लोग उनसे अपना उल्लू सीधा करने के बाद उन्हें अँगूठा दिखाकर चले गये। शम्भुनाथ सिंह बाद में पश्चात्ताप भी करते हैं पर इस पछताने का भी कोई नतीजा नहीं निकलता क्योंकि उन्हें ऐसे लोगों की ख्वाहिश रहती ही है जो उन्हें घेरे रहें और उन्हें घेरनेवालों में अधिकतर वे लोग होते हैं जो उनसे कविता का संशोधन कराना चाहते या पत्र-पत्रिकाओं में अपनी रचनायें छपवाना चाहते या शोध-प्रबन्ध लिखने में सहायता चाहते हैं या उनके जरिये कोई नौकरी पाना चाहते हैं। कुछ दिनों तक इनके आगे-पीछे रहकर ये लोग उन्हें अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं और जब काम निकल जाता है तो तिड़ी हो जाते हैं। इतना ही होता तो कोई बात नहीं थी पर जब उनकी स्वार्थपूर्ति हो जाती है, वे नामवर और प्रतिष्ठित हो जाते हैं तो उलटे उन्हें पिछड़ा हुआ और महत्त्वहीन साहित्यकार कह कर उनकी उपेक्षा करते या कटु आलोचना करने लगते हैं अथवा उनके प्रतिद्वन्द्वी बनकर अखाड़े में उतर आते और ताल ठोकने लगते हैं।

वे दम्भी भी बहुत हैं। उनके भीतर यह झूठा गर्व है कि वे बड़े परोपकारी हैं, मानवतावादी हैं, प्रगतिशील हैं, समाजसेवी हैं और न जाने क्या-क्या हैं। किन्तु मुझे मालूम है इन प्रवृत्तियों के मूल में उनका दम्भ छिपा है जो अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता है। कभी वे साहित्यकारों के संघटन के लिए व्याकुल होकर घूमते दिखाई पड़ते हैं, कभी साहित्यिक आयोजनों के सरगना और संयोजक बनकर परीशान रहते हैं मानो साहित्यकारों के हित और साहित्य के उन्नयन का ठेका उन्हीं ने ले रखा हो। उनका यही दम्भ साहित्यिक संस्थाओं की स्थापना के मूल में भी होता है। ज्यों ही उनके दम्भ को जरा ठेस

लगती है वे अपने उस कार्य से उदासीन होकर बैठ जाते हैं। उन्होंने न जाने कितनी संस्थाओं की स्थापना की, संघटन बनाये जो अब नाम-शेष मात्र हैं। काशी प्रगतिशील लेखक संघ, नव संस्कृति संघ, चेतना और भारती नामक संस्थाओं के इतिहास में इनके दम्भ का लेखा-जोखा पढ़ा जा सकता है। वे पक्के आरम्भशूर हैं। किसी योजना की कल्पना और उपस्थापना के समय उनका उत्साह देखने लायक होता है। उस समय चाहे लाख समझाया जाय कि आपकी योजनायें अव्यावहारिक हैं, पर ये कुछ भी सुनना नहीं चाहते, उलटे समझाने वालों को ही संकीर्ण और निष्क्रिय सभमझने लगते हैं। योजना को कार्यान्वित करते समय भी उनका उत्साह स्पृहणीय होता है। किन्तु जब मार्ग में बाधायें आने लगती हैं तो क्रमशः उनका उत्साह मन्द पड़ने लगता है और अन्त में वे उस कार्य को ही छोड़कर अलग हो जाते हैं। सम्भवतः उस समय तक उनका 'अहंभाव सन्तुष्ट हो गया रहता है, कार्य भले ही अधूरा रह गया हो।

शम्भुनाथ सिंह बहुत ही जिद्दी हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे बालहठ करते हैं या गलत बातों के लिए जिद करते हैं। इसके विपरीत उनकी जिद ऐसी बातों के लिए होती है जो उचित होती हुई भी सामान्यतया अव्यावहारिक मानी जाती हैं। कभी-कभी उनकी जिद पूरी हो जाती है। पर इस प्रक्रिया में वे बहुत से लोगों को अपना शत्रु बना लेते हैं। कुछ लोग तो इस लिए नाराज हो जाते हैं कि ये दूसरों की बात न मान कर अपने पथ पर अकेले ही बढ़ते चले जाते हैं। कुछ इन्हें अधिनायकवादी कह कर इनसे अलग हो जाते हैं। कुछ इनके तर्कों से पराजित होने के बाद कह उठते हैं—अच्छा बाबा, जो जी चाहे करो, हमसे क्या मतलब! इस तरह जब अन्त में ये बिलकुल अकेले हो जाते हैं तो विवश होकर दूकान बढ़ाने के लिए सोचने लगते हैं।

अपने जिद्दी और दम्भी स्वभाव के कारण वे निपट अकेले व्यक्ति हैं। अपने घर में वे अव्यावहारिक माने जाते हैं क्यों कि दुनियादारी उन्हें बिलकुल नहीं आती। सामाजिकरीति-रिवाजों, लोकाचारों और धार्मिक रस्मों से वे इतने अनभिज्ञ हैं कि लोग-बाग उन्हें असामाजिक समझते हैं। वे न समाज में खप पाते हैं न इसके लिए कभी कोशिश ही करते हैं।

लेकिन मैं जानता हूँ कि उनका यह अकेलापन इतना सतही नहीं है जितना ऊपर की बातों से प्रतीत होता है। वैसे वे इतने अकले हैं भी नहीं। दिन में वे कुछ समय तक तो जरूर अपने मित्रों, शिष्यों और प्रशंसकों से घिरे रहते हैं। पर यह घिराव उनकी विवशता है। इन लोगों में से बहुत कम–शायद दो एक ही–ऐसे होते हैं जो इनके मन के आदमी होते हैं। मन का आदमी खोजते-खोजते इनकी इतनी जिन्दगी बीत गयी पर आज तक मन का आदमी तो दूर, सही आदमी भी इन्हें कम ही मिले। आदमियों की भीड़ में इन्हें जानवर अधिक दिखाई पड़ते हैं, बौने और कुरूप आदमी, लँगड़े, लूजे और बीमार आदमी, झूठे, मक्कार और क्रूर आदमी, व्यर्थ, निकम्मे और अनैतिक आदमी। इनके बीच शम्भुनाथ सिंह अपने को निपट अकेला पाते हैं। भीड़ के लोग इन्हें अजनबी, कभी-कभी पागल समझते और परोक्ष में मजाक उड़ाते हैं। ऐसे आदमियों के बीच अपने को पाकर इन्हें ऐसा लगता है कि बरसात की सँझवाती बेला में ये एक दीपक लिए खड़े हैं और असंख्य कीट-पतंग, अनन्त शक्लों और रंगों के कीट-पतंग इनको घेर कर मँडरा रहे हैं।

दरअसल शम्भुनाथ सिंह एक निहायत ऊलजलूल और बेसलीके के आदमी हैं। गन्दे और साफ कपड़े में उन्हें कोई फर्क नहीं मालूम पड़ता। दाढ़ी बढ़ाये, गन्दे कपड़े पहने कहीं भी शहर में निकल जाते हैं। साइकिल की सवारी करने में उन्हें अपनी प्रतिष्ठा की हानि नहीं दिखाई पड़ती। सड़क के किनारे वाली किसी चाय की दूकान के सामने बेंच पर बैठकर चाय पीने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता। उनके समवयस्क प्रतिष्ठित मित्र उन्हें बारबार चेतावनी देते हैं—"आप अपने पद और प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं रखते। जरा ढंग से रहा कीजिये। लोग क्या सोचते होंगे?' पर शम्भुनाथ सिंह सोचते ही नहीं कि लोग इनके बारे में क्या सोचते हैं। इनका खयाल है कि दुनिया में किसके पास फुरसत है कि वह इनके बारे में सोचे और यदि दूसरे इनके बारे में कुछ सोचते भी हों तो इससे उनका क्या बनता बिगड़ता है? अपने इन तमाम ऊलजलूलपन को वे दार्शनिकता का जामा पहनाते हैं। अपनी सुरक्षा में कभी गान्धी और टालस्टाय की मिसाल देते हैं, कभी बीटनिकों और हिप्पियों का सहारा लेते हैं। पर जानने वाले जानते हैं और सबसे अधिक मैं जानता हूँ कि सभ्य और शिष्ट समाज में रहने

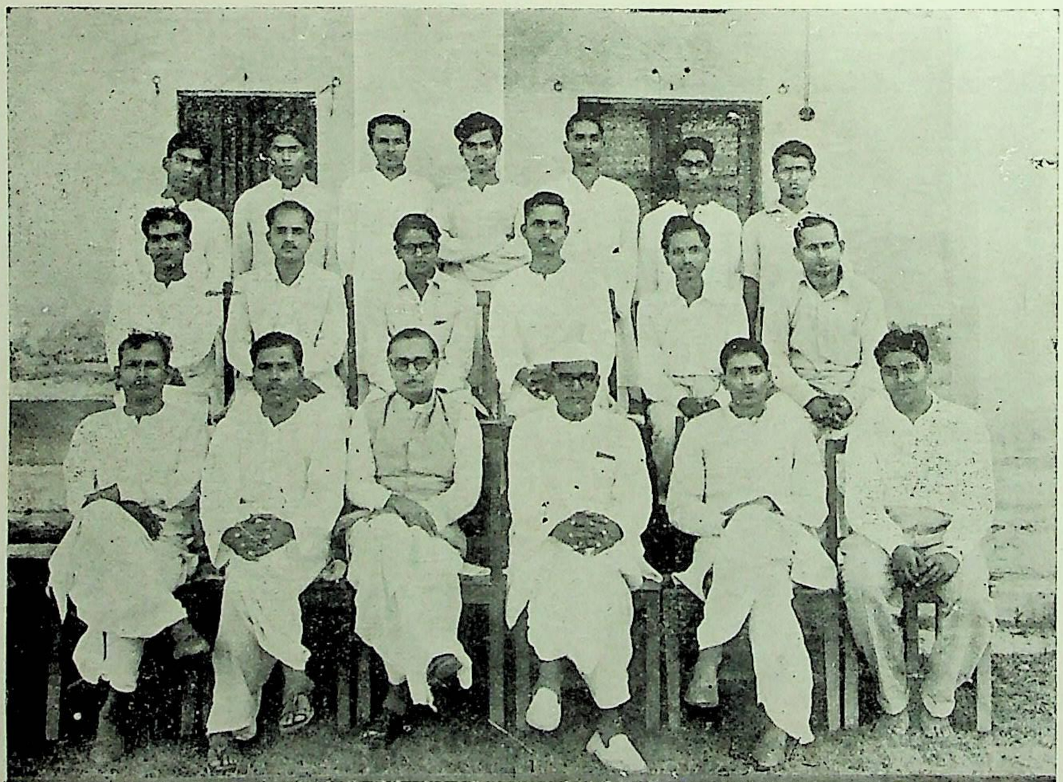
का तौर-तरीका इन्होंने सीखा ही नहीं। गाँव में पैदा हुए और वही ग्रामीण संस्कार लेकर आज भी चले जा रहे हैं।

शम्भुनाथ सिंह के जीवन की बिडम्बना यह है कि दुनिया में कोई भी व्यक्ति उनसे खुश नहीं रहता और न वे किसी से खुश रहते हैं। वस्तुतः दुनिया उन्हें किसी कदर सहन करती और वे दुनिया को सहन करते हैं। उनके परिवार के लोग उनसे इस कदर नाराज रहते हैं कि उनकी नाराजगी घृणा की हद तक पहुच जाती है। वे घर में रहकर भी अजनबी बने रहते हैं। उनके भीतर प्रतिभा देखने वाले शुभेच्छु भी इनसे इसलिए नाराज रहते हैं कि उन्होंने अब तक कोई क्लासिक—जैसे महाकाव्य, बड़ा उपन्यास या युगान्तरकारी नाटक—नहीं लिखा, सारा समय घर परिवार को दे देते हैं। मित्र इसलिए नाराज रहते हैं कि शम्भुनाथ सिंह ने मित्रों की हाँ में हाँ नहीं मिलाया, अपना सब कुछ दाँव पर रख कर उनकी शर्तों पर मैत्री का निर्वाह नहीं किया, बीच-बीच में अपनी शर्तें टपकाते रहे।

ऐसे हैं किबला शम्भुनाथ सिंह जो इस मुगालते में रहते हैं कि वे अफालातून हैं, सुकरात हैं, सरमद हैं, ईसामसीह हैं, गान्धी हैं और दुनिया उन्हें सूली पर लटका रही है या जहर का प्याला पिला रही है। गनीमत है कि दुनिया वालों का ध्यान उनकी मसीहाई की ओर बिलकुल नहीं जाता। वे चाहे क्रान्तिकारी साहित्य लिखें या युगान्तरकारी भाषण दें, उसे पढ़ने-सुनने वाले लोग बहुत कम होते हैं, समझने वाले तो और भी कम होते हैं। अधिक से अधिक यही होता है कि लोग उनकी मसीहाई को ढ़ोंग, दम्भ या नाटक कह कर हँसी उड़ा लेते हैं। और मेरे किबला के अहं की तुष्टि यह सोचकर रह जाती है कि ये सब लोग किसी न किसी दिन, भले ही वह दिन इनके मरने के बाद आये, इनके महत्त्व को समझेंगे और इनकी मसीहाई की पूजा करेंगे। खैर दिल को बहलाने और इसी तरह जीते चलने के लिए यह खयाल भी अच्छा ही है।

चतुर्थ खण्ड

प्रतिनिधि रचनाएँ



आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी और श्री राजारामशास्त्री के साथ



नेहरूजी के साथ

कोई हो भी तो

मेरे मन, कोई हो भी तो !
मेरे यौवन के प्याला में
मेरी जीवन-मधुशाला में
जागेगा कौन अरे भोले, चिर यौवन कोई हो भी तो !

मैं दीपक बन जलता प्रतिपल
निज ज्वाला से भर भर अंचल
उर शीतल कौन करे मेरा चिर चन्दन कोई हो भी तो !

मेरे अन्तर के राग ललक
आकुल हो उठते छलक छलक
मैं युग युग किसमें लय होऊँ, चिर जीवन कोई हो भी तो !

है छलक रहा मेरा चुम्बन
अंगड़ाई लेता उर स्पन्दन
मैं किस बन्धन में बँध जाऊँ, चिर बन्धन कोई हो भी तो !

बहते जाते गल कर प्रतिक्षण
इन नयनों के पागल हिम कण
मैं राधा बन किस पर मिट लूँ, मनमोहन कोई हो भी तो !
मेरे मन, कोई हो भी तो !

१९३९

'रूपरश्मि'

किसी के रूप के बादल,

किसी के रूप के बादल;
मुझे सोने नहीं देते
मुझे रोने नहीं देते
कभी क्षण एक भी अपना
मुझे होने नहीं देते!
रहे घिर प्राण-आँगन में
किसी के रूप के बादल!
कभी कुछ गा न पाता मैं
कभी मुस्का न पाता मैं
किसी को खोल उर अपना
कभी दिखला न पाता मैं!
रहे छा आज तन-मन में
किसी के रूप के बादल!
मुझे चलने न देते ये
मुझे जलने न देते ये
स्वयं को स्वप्न से भी तो
कभी छलने न देते ये!
उठें भर आज जीवन में
किसी के रूप के बादल!
न तप कर मैं निखर पाता
न मिट कर मैं बिखर पाता!
बँधा किन बन्धनों में मैं
न जी पाता न मर पाता!
गरजते आज यौवन में
किसी के रूप के बादल!

'छायालोक' १६४३

तुमने न जाना

मैं तुम्हारी छाँह में चलता रहा, तुमने न जाना !
सच कभी तुमने न जाना !
रूप की किरणें तुम्हारी
ले सदा मैं मुस्कराया !
याद के बादल तुम्हारे
ले नयन अपना सजाया !
मैं तुम्हारे स्वप्न में पलता रहा तुमने न जाना !

सच कभी तुमने न जाना !
साँस की छाया तुम्हारी
छू सदा जीवन बिताया !
प्राण का सौरभ तुम्हारा
छू सजल यौवन बनाया !
मैं तुम्हारा स्नेह ले जलता रहा, तुमने न जाना !

सच कभी तुमने न जाना !
ओ नयन तारा, तुम्हारी
ज्योति से ज्योतित हुआ मैं !
हँस उठी तो हँस उठा मैं
रो पड़ी तो रो पड़ा मैं !
मैं तुम्हारे रूप में ढलता रहा तुमने न जाना !
सच कभी तुमने न जाना !

जीवन-गति

चला जा रहा हूँ !
न इस राह का आदि मैं जानता हूं,
न इस राह का अन्त मैं मानता हूँ,
दिशा पन्थ की एक पहिचानता हूँ

नहीं जानता छल रहा पन्थ को मैं
स्वयं पन्थ से या छला जा रहा हूँ !
चला जा रहा हूँ !

नहीं है मुझे ध्यान जीवन मरण का
नहीं ज्ञान है तप्त कण और तन का
मुझे एकही ज्ञान है बस जलन का ?

नही ज्ञात, मरु जल रहा आज मुझमें
स्वयं या कि मरु में जला जा रहा हूँ
चला जा रहा हूँ

नहीं ज्ञात तट पर कि मझधार हूँ मैं,
निराधार हूँ या कि साधार हूँ मैं
यही लग रहा बस, निराकार हूँ मैं

नहीं जानता, ढल रहा शून्य मुझमें
स्वयं शून्य में या ढला जा रहा हूँ !
चला जा रहा हूँ !

'छायालोक' १९४३

पाषाण मत बनो तुम

जिसने मधुर स्वरों से
छू-छू तुम्हें जगाया
निज प्रणय रागिनी से
वेसुध तुम्हें बनाया

कलिके उसी भ्रमर से
अनजान मत बनो तुम !
पाषाण मत बनो तुम !

सोई तिमिर भवन में
जिसकी प्रणय कहानी,
कुछ राख के कणों में
जिसकी बची निशानी,

प्रिय अब उसी शलभ की
पहिचान मत बनो तुम !
पाषाण मत बनो तुम !

जिसने मिटा स्वयं को
तुमको अमर बनाया;
आराधना सदा की
वरदान पर न पाया,

उसकी प्रणय चिता पर
मधुगान मत बनो तुम !

मुखरित कर मधुर गान

मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई ?

बीते यह गहन रात
अब न बहे व्यथा-वात
झुलसे जीवन वन में
लहराये मधुर प्रात ?

रह न जाय बीती निशि का वन्धन कोई !
मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई !

किरण उठें नींद त्याग
कुंज-कुंज उठें जाग
तरु - तरु तृण–तृण में भर
जाये यह मधुर राग !

रह न जाय प्यास-विकल वेसुध-तन कोई !
मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई !

सौरभ ले बहे पवन
उड़ें विहग ले यौवन
कलिका-उर में स्पन्दन
भर दे अलि का गुंजन !

रह न जाय गति-लय से रहित चरण कोई !
मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई !

मुसकाये नयन-कमल
खुल जायें उर के दल
लहराये जीवन, हट-
जायें तम के बादल ।

गायक भू पर उतार स्वर्ण-किरण कोई !
मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई !

‘उदयाचल’ १९४३

समय की शिला पर

समय की शिला पर मधुर चित्र कितने
किसी ने बनाये, किसी ने मिटाये !
किसी ने लिखी आँसुओं से कहानी
किसी ने पढ़ा किन्तु दो बूँद पानी
इसी में गये बीत दिन जिन्दगी के
गयी घुल जवानी गयी मिट निशाना !
विकल सिन्धु से साध के मेघ कितने
धरा ने उठाये गगन ने गिराये !
शलभ ने शिखा को सदा ध्येय माना
किसी को लगा यह मरण का बहाना,
शलभ जल न पाया, शलभ मिट न पाया,
तिमिर में उसे पर मिला क्या ठिकाना !
प्रणय–पन्थ पर प्राण के दीप कितने
मिलन ने जलाये, विरह ने बुझाये !
जलधि ने गगन–चित्र खींचे नयन में,
उतरती हुई उर्वशी देख घन में,
अचल किन्तु चल चित्र ये हो न पाये
कि सहसा बुझो रूप की ज्योति क्षन में !
जलद–पत्र पर इन्द्रधनु–रंग कितने
किरण ने सजाये, पवन ने उड़ाये !
भटकती हुई राह में वंचना की
रुकी श्रान्त हो जब लहर चेतना की,
तिमिर–आवरण ज्योति का वर बना तब
कि टूटी तभी शृंखला साधना की !
नयन–प्राण में रूप के स्वप्न कितने
निशा ने जगाये उषा ने सुलाये !
सुरभि की अनिल–पंख पर मौन भाषा—
उड़ी, वन्दना की जगी सुप्त आशा,
तुहिन विन्दु वन कर विखर पर गये स्वर
नहीं बुझ सकी अर्चना की पिपासा !
किसी के चरण पर वरण–फूल कितने
लता ने चढ़ाये लहर ने बहाये !

१९४४

अपराजेय

तुम्हें लहर पुकारती !
न पास स्वर्ण की तरी
न पास पर्ण की तरी
न आस-पास दीखती
कहीं समुद्र की परी,
अपार सिन्धु सामने
मगर न हार मानना

असीम शक्ति बाहु में
अनन्त स्वप्न के व्रती !
तुम्हें लहर पुकारती !

न प्यास ज्योति की किरण
न दूर मृत्यु के चरण
मिटा विभाग काल का
मुँदे कि काल के नयन !
तिमिर अभेद्य सामने
मगर न हार मानना,

सहस्र कण समुद्र लो
रहा उतार आरती !
तुम्हें लहर पुकारती !

तड़प रहे विनाश-घन,
न दूर हैं विनाश-क्षण,
सवेग डोलती धरा
सशब्द काँपता गगन,

प्रलय – प्रवाह सामने
मगर न हार मानना

अजेय शक्ति साँस में
महान कल्प के कृति !
तुम्हें लहर पुकारती !

अशब्द हो चला गगन
न साँस ले रहा पवन
विलीन हो चली धरा
ठहर न पा रहे चरण !
विनष्ट विश्व सामने
मगर न हार मानना

नवीन सृष्टि स्वप्न ले
तुम्हें लहर निहारती
तुम्हें लहर पुकारती !

'उदयाचल' १९४४

दो बड़े नयन

भर गया सजल घन से नभ का सूना आँगन,
सूने नयनों में उमड़ पड़े दो भरे नयन !

काली, काली बरखा की रात घुमड़ आई,
सन्देश वहन करती सी आई पुरवाई ।
भूले प्राणों में बरस गया सुधि का सावन,
खोये नयनों में झलक पड़े दो बड़े नयन ।

बिजली बन चमके चपल चरण दो रागारुण,
रिमिझिम बूँदों में बरस पड़ी पायल रुनझुन ।
मृत मन को जिला गया सुधि का विषमय दंशन,
रीते नयनों में ढुलक पड़े मधु-भरे नयन !

वह चले पवन धारा में घन श्यामल, श्यामल,
लहराये मन में फिर काले काले कुन्तल ।
सुधि की साँसों से भीग उठा जलता जीवन,
प्यासे नयनों में बरस पड़े जल भरे नयन ।

दिशि-दिशि से उमड़ पड़ीं तम की बेसुध लहरें,
भर गये व्यथा के चित्र विवश मन में गहरे ।
घुल गया हृदय के कण कण में सुधि का अंजन,
बंदी नयनों में बंद हुए दो खुले नयन ।

दिवालोक १९४५

स्वप्न और सत्य

स्वप्न की रात है सत्य का प्रात क्षण !
हासमय गान हैं,
मुग्ध मुसकान हैं,
भीगते जा रहे
किन्तु मन प्राण हैं,
प्राण, मैं स्नेह - सर का कुमुद हूँ, मुझे
हासमय नींद है, अश्रुमय जागरण !
रंगमय कल्पना,
ज्योतिमय अर्चना,
छल रही प्राण को
पर जलन – साधना,
प्रिय, मिलन – रात का दीप मैं हूँ, मुझे
है सुधामय तिमिर, है गरलमय किरण !

चाँदनी पास है,
तृप्त हर साँस है,
बढ़ गई किन्तु
अनजान में प्यास है,
प्राण के सिन्धु का ज्वार मैं हूं, मुझे
शूलमय है धरा, फूलमय है गगन !

आँकता रंग भर,
मैं तुम्हें प्राण पर,
अश्रु में किन्तु ये
चित्र जाते बिखर,
दूर तुमसे हुआ यक्ष मैं हूं, मुझे
शापमय याद, वरदान मय विस्मरण !
स्वप्न की रात है सत्य का प्रात क्षण !

'दिवालोक'

१९४६

जन देवता

कब तक तुम मौन रहोगे ओ जन-देवता !
कब तक तुम मौन रहोगे ओ गण-देवता !

हो गया प्रभात, रात घुल गयी,
ज्योति हंसी दिशा-दिशा धुल गयी,
तम से अवरुद्ध राह खुल गयी,

फिर भी इस स्वप्न-धार में तन्द्रालस लिए
कब तक इस भाँति बहोगे ओ जन देवता !

रात गयी पर न खुली अर्गला
मुक्ति मिली पर न कटी शृंखला,
वन्दिनी अभी विमुक्त-कुन्तला

अपने ही घर में पर यह नवीन दासता
कब तक चुपचाप सहोगे ओ जन देवता !

गगन मिला पर न पंख खुल रहे,
किरण मिली पर न कमल खुल रहे
पंथ मिला पर न चरण हिल रहे

दीन सजल नयनों से निज असीम वेदना,
कब तक तुम मौन कहोगे ओ जन-देवता ।

कब तक यह अनृत यह प्रवंचना,
कब तक यह मोह, मरण-साधना,
कब तक यह करुण अश्रु-अर्चना

क्रान्ति शान्ति, समता आनन्द हेतु क्या कहो ।
प्रलयंकर रुद्र न होंगे ओ जन-देवता !
कब तक तुम मौन रहोगे ओ जन-देवता !

बन्द कमरों का सफर

देखता हूँ कहाँ क्या है, कहीं कुछ भी तो नहीं।

चार दीवारें घिरी हैं जो पारदर्शी हैं,
एक छत है जो गहरे नीले समन्दर सी है;
बन्द अँधियारी गुफाओं से अनगिनत कमरे,
यह है वीरान इमारत जो मेरे घर सी है!

अजनबी मैं इन्हीं कमरों में सफर करता हूं,
देखता हूं, कहाँ क्या है, कहीं कुछ भी तो नहीं!

एक मकड़ी जो यहाँ जाल बुना करती है
कभी रुक कर कोई आवाज सुना करती है
घर के हर कोने में दरवाजे खिड़कियों पर बैठ
मुझको बाहर कहीं जाने से मना करती है।

एक भौंरे की गूँज सी कोई आवाज भी है
और क्या इसके सिवा है कहीं कुछ भी तो नहीं

किन्तु यह शोर, ये नारे कहाँ से आते हैं?
दस्तकों के ये इशारे कहाँ से आते है?
घर के खामोश बगीचे में ये आहट कैसी?
ख्वाब फूलों की महक के जहां से आते हैं?

तोड़ इन रेशमी जालों को झाँकता हूँ जब
देखता हूं कि हवा है कहीं कुछ भी तो नहीं।

कब से सूना पड़ा महल है बरकरार अभी,
ज्यों के त्यों हैं वे सभी साज औ सिंगार अभी,
इसी महल में जनम कैद मिली है मुझको,
बन्द कमरों के सफर के हैं दिन हजार अभी!

तोड़ शीशे की ये दीवारें कहाँ जाउंगा?
मुझको बाहर का पता है कहीं कुछ भी तो नहीं?

१९६१

दिगन्वेषण

वे दिशाएँ भी हमारी हों
जिधर से हम नहीं गुजरे कभी
नहीं बाँधा जहाँ की
उजली किरन से मुकुट
वहाँ की भी हर कली
हर पंखड़ी, हर गंध अपनी हो
सगी हो !
वे दिशाएँ भी हमारी हों,
जहाँ की अनसुनी आवाजें
हवाओं पर छोड़ कर पदचिह्न
अनदिखी ही चली जाती हैं,
जहाँ के अनमोल सपने
जिन्दगी के सत्य को
सार्थक बनाते हैं।
उन दिशाओं की सभी सुनसान गलियाँ
अरौंदी राहें, अछूती हवा
अपनी हो
सगी हो !
वे दिशाएँ भी हमारी हों
काल का वह अश्व अन्धा जहाँ
नीले गगन के नीचे
बँधा है, पाँव से जो
नहीं धरती खूँदता है;
जहाँ दिन-रात, घड़ियाँ, पल-विपल
आ कर लहर से
लौट जाते हैं,
जहाँ के चाँद-सूरज
नहीं उगते, नहीं छिपते...
वहाँ की भी
अँधेरी चाँदनी,
उजली छाँह, काली धूप
अपनी हो
सगी हो !

'खण्डित सेतु' १९५६

रजनीगन्धा

दूर निशा के कुंजों में छिपकर
रजनीगन्धा न पुकारो मुझको।

मादकता यों न भरो,
गन्ध–अन्ध यों न करो,
बरबस तुम तन–मन की
चेतनता यों न हरो!
यों न सुरभि की ज्वाला सुलगाकर
लपटों के बीच उतारो मुझको!

स्वप्न-विहग मैं पल भर
कल्पना – तरी लेकर,
किरणों से खेल रहा
नभ-सागर बीच उतर!
दूर किसी तम-गह्वर में छिपकर
सुधियों के तीर न मारो मुझको!

मौन सुरभि के क्रन्दन
फैलाती तुम वन-वन!
मेरे क्रन्दन केवल
सुनता है नील गगन
मैं भी गलकर जल-धारा बनता
प्रस्तर-प्रतिमा न विचारो मुझको

१९४४ 'दिवालोक'

जन-धारा

जय जय जय जन-धारा !
जय जन--जीवन धारा ।।

आदि काल में जड ने जब कल्पना-पंख फैलाये,
सपनों के नीहार-जाल सूने नभ में घिर आये।
वह तम का अधिकार कि जिसमें जीवन खोया-खोया,
धरती के तममय उर में अति क्षुद्र बीज ज्यों सोया।
द्वन्दों का वह खेल कि जैसे इन्द्रजाल की माया,
जड़ घन के परदों पर चेतन इन्द्र-धनुष लहराया।

ओढ़े किरणों को दुकूल चेतना परी मुसकायी,
जाग उठा जड़ लेकर परिवर्तन कीं मधु अंगड़ाई।
सृष्टि-स्वप्नगर्भा घनमाला ले विद्युत का कम्पन,
करने लगी निरन्तर धरती पर जीवन का वर्षण
पुरुष प्रजापति ने सर्जन के महामन्त्र के द्वारा,
जिसे वहाया, तोड़ प्रकृति के अन्ध-गर्भ की कारा !

जय जीवन की धारा।

जड़--चेतन का अमर द्वन्द्व वह, वह अन्तर का मन्थन।
नर्तन, आकर्षण, संघर्षण बने रुप-परिवर्तन।
निखरा नव गुण-गन्ध लिये नव-नव रुपों का कंचन,
आत्म-ज्योति से हुआ प्रकाशित तमस-भरा अन्तर्मन !
जीवन की संज्ञा जड़-चेतन, तम प्रकाश का गुम्फन;
खिली रुप की पृष्ठ भूमि में छवि अरुप की शोभन।
महाशून्य की छाया में नव-सृष्टि चन्द्रिका छायी,
कहीं ज्योति-कलि खिली, अन्ध-उर कहीं पड़ी परछाई।
अमर चेतना की किरणों ने जिसको चूम जगाया,
एक द्विपद बन कर सहस्र पद कर्म भूमि में आया।
संकल्पों की शक्ति लिये, तर्कों का लिये सहारा
वही अमृत की निर्झरणी, जिसका मन कभी न हारा।

जय जन-जीवन धारा।

प्रथम कल्प के अरुणध्वज-शृंगों से जो गति फूटी,
उस सरिता की धारा शत कल्पों में कभी न टूटी।
महाकाल के जटाजूट में खोयी यह जन-गंगा,
खोयी कभी युगों के गिरि-गह्वर में चपल तरंगा।
मौन मरण ने बार-बार जीवन की गति को घेरा,
प्राण-तरंगित ज्योति-शिखा को डंसने लगा अंधेरा।
नव विकास के वृती, प्रगति की गंगा के अभिमानी,
जन-जीवन के अमर साधकों ने पर हार न मानी।
खुला पुनः अन्तः सलिला का उत्स गिरि-शिखर तल से
ज्योतिर्मय स्वर जल-तरंग के उठे धरा-अंचल से।
जिसे भगीरथ ने विवेक के धरती बीच उतारा,
स्वप्नों के दीपों ने जिसका गतिमय रूप संवारा।
जय जन-गंगा धारा।

यह विकास का चरम विन्दु, वह भौतिकता की माया
मानव ने निज कर्म-कुशलता से सुरत्व-पद पाया।
वह नव-नव आनन्द-महोत्सव, सत-चित की अवहेला।
वह विलास की अन्तिम सीमा, चिर-यौवन का मेला।
जीवन-धारा की अजस्र गति बंधी अगति-बन्धन में,
सतत् विश्व दर्शन की प्रतिमा लगी आत्म-पूजन में।
गतिमय जीवन की धारा पर अधिक नहीं रुक पायी,
निम्नमुखी हो देव-सृष्टि की धरती बीच समायी।
हुआ प्रलय-विस्फोट, क्रान्ति ज्वालामुखियों का गर्जन,
महानाश की स्मृति-सा जीवित कौन अकेला वह जन ?
वह मनु, सृष्टि-बीज, एकाकी, जीवन का ध्रुवतारा,
जिससे सृष्टि-चक्र फिर गतिमय हुआ प्रवर्तित प्यारा।
जय गति मय जन-धारा।

मनु की प्रजा बनी शतधा विखरी दिशि-दिशि में भू पर
वन-गिरि-गह्वर, समतल मैं, हिम मण्डित ध्रुव के ऊपर।
यह मानवता की सहस्त्रधारा अनन्त अविनाशी
बनने चली विश्व-संस्कृति का जल-निधि जय विश्वासी।

देशों में जन बंटे, बनी सरि-सागर की सीमाएँ
धरती बंटी, एक नभ में पर सबके स्वर लहराये ।
धर्म जाति, रंगों-वर्णों की बनीं नयी दीवारें
पर विराट जन-चरण न पथ की बाधाओं से हारे ।
मिली एकही नील गगन से सबको स्वप्निल छाया ।
हुई एक ही नील गगन से सबकी शीतल काया ।
जब-जब अन्यायों ने जनता को पथ में ललकारा
रावण, नीरो, वेणु सभी का टूटा भाग्य-सितारा
जय अजेय जन-धारा ।

इतिहासों के द्वार खुले, बंध गया काल बन्धन में,
स्वागत किया प्रकृति ने मानव का निज रंग भवन में ।
खिला ज्ञान का कमल, एक पर एक खुलीं पंखुड़ियां,
लिये सत्य-उपहार हुईं साकार स्वप्न की परियाँ ।
उड़ी कल्पना दूर क्षितिज में सतरंगे पर खोले,
गीतों के शत दीप काल की चपल लहर पर डोले ।
हुई साधना-भूमि प्रकाशित मानस की किरणों में,
भीग उठा धरती का अन्तर शीतल सुधाकणों से ।
भरा इन्द्रधनुषी चित्रों से जन-गन मन का आँगन
बंधा स्वरों में मन्द्र-तार बन हृदय-प्राण का कम्पन ।
ले जिससे रस-रंग कला ने अपना रूप निखारा
जिसके कूलों के अंचल में मिटा क्लान्ति-श्रम सारा ।
जन जन-संस्कृति धारा ।

पर वह गति की हार, पराजय जन के विश्वासों की
वह कलंकमय कथा लोक के उज्ज्वल इतिहासों की ।
जन-धारा की शक्ति व्यक्ति ने बाँधी अपने कर में,
बदल गयी वह वेगवती धारा अशक्त निर्झर में ।
कर्म-रुढ़िमय तर्क जाल में फंसी चेतना जन की,
साध्य धर्म बन गया साधना शोषण-उत्पीड़न की ।
अर्थ-काम की दीपशिखा में जले शलभ जीवन के,
उठे ज्वाल देशों-वर्गों के हिंसामय घर्षण के ।

वह दुःख-भरी प्रवृत्ति न जिस में कहीं मुक्ति की छाया,
घन-चित्रों के इन्द्रजाल-सी जिस की मोहक माया।
जिसे बुद्ध ने किया प्रवर्तित धर्मचक्र कह न्यारा,
शूली पर चढ़ कर ईसा ने जिस का नाम पुकारा
जय करुणा की धारा।

वही काल-पथ पर फिर वह धारा गति की अभ्यासी
देश-युगों की सीमाओं को तोड़ अमरता-प्यासी।
वह अबाध अभियान चेतना की स्वर्णिम धारा का।
वह नव-जीवन, वह मानस-बल दुखी सर्वहारा का।
जड़ प्रतिमा बन किन्तु हुए पूजित चिन्मय सन्यासी,
तमस-घनों में जन मंगल किरणें खोयीं अविनाशी।
फिर पापों के बहे प्रभंजन चला चक्र शोषण का,
व्यक्ति-वर्ग के संघर्षों में लुटा भाग्य जन-गन का।
बंधी अर्थ के भुज-बंधन में मुक्त कला कल्याणी,
वन्द हुई महलों में संस्कृति जन-जन की पहचानी।
रुका न अवरोधों में फिर भी जिसका स्वप्न दुलारा
जिसने अन्धकार में भी किरणों का पंख पसारा
जय जन-जीवन धारा।

वे तृष्णा की प्रबल आंधियाँ, तमस-घनों का गर्जन,
जिन की प्रलयंकर लीला से सिहर उठा जन-जीवन।
देशों का इतिहास बन गई अत्याचारों की जय,
लिखी गयी कब कथा किन्तु जन-जीवन की ज्योतिर्मय।
पीत स्वर्ण की छाया में छिप गयी रक्त की लाली,
आदर्शों के नील गगन में घिरीं निशाएँ काली।
वह भीषण उन्माद कि धरती काँपी जिसके भय से,
मिटे-बने शत राज-राष्ट्र शत झंझावात प्रलय से।
राज-क्षत्र तन गया चक्रवर्ती कानन-खंडहर में,
मुरझाये प्राणों के शतदल सूखे जीवन-सर में।

क्रूर बर्बरों ने विषमय शर जिसके उर में मारा,
काल-सर्प-सी जो फिर-फिर जी उठी और फुफकारा !

जय अनन्त जन-धारा !

अर्ध निशा में पर धरती-पुत्रों के सपने टूटे,
नये ज्ञान, विज्ञान, कलाओं के नव अंकुर फूटे।
नव-नव आविष्कार और वह कर्मों का कोलाहल,
प्रकृति पराजित हुई, अश्व बन गये धुएँ के बादल।
होने लगा लौह-चक्रों से महासिन्धु का मन्थन,
प्रकट हुए नव-नव रत्नों से नये देश, नव-नव जन।
सामन्ती दुर्गों में पुतली घर हो उठे निनादित,
नयी सभ्यता से धरती का आँगन हुआ प्रकाशित।
पिंजर-बद्ध बन गया बेबस राजसिंह अभिमानी,
पूँजी लिखने लगी नये शोषण की नयी कहानी।
जिन महलों में अस्थि-रक्त के लगे ईंट औ गारा
धधक उठे वे, दबा नींव में धधक उठा अंगारा।

जय जाग्रत जन-धारा !

राजनीति की मृत्यु-मशालों से जल उठी दिशायें,
महासमर-शोषण उत्पीड़न बन छायी विपदाएँ।
साम्राज्यों की ध्वजा हिली फिर जन के उछ्वासों से,
विजय स्तम्भ ढह गये प्रजा के प्रबल अट्टहासों से।
लगीं टूटने युग-युग के बन्दीगृह की प्राचीरें,
बढ़े क्षितिज के विवर फोड़ विप्लव-घन धीरे-धीरे।
दिशा-दिशा में गूँजे गर्जन रव जन-अधिकारों के,
लगे टूटने एक-एक कर गढ़ अत्याचारों के,
कहीं बाढ़ में रही डूबती आकुल विश्व-विषमता,
कहीं निकल आयी नव धरती ले नव-नव सुख-समता।
अमर मार्क्स-लेनिन-गाँधी ने जिसका पन्थ सुधारा,
क्रान्ति-महानद बनी तोड़ जो जर्जर कूल-किनारा—

जय असीम जन धारा !

यग-युग की यह रात पार कर प्रात-परी मुसकायी,
दिशा-दिशा के घन-शृंगों पर अरुण ध्वजा फहरायी ।

तम-प्रकाश की आँख-मिचौनी रुकी काल-अम्बर में,
उदित महा शतदल का केसर झरता लहर-लहर में ।

ज्योति-स्तम्भ गड़ गया क्षितिज पर, भू के अन्तस्तल में,
जिसकी हँसी धँसी जनधारा के गम्भीर अतल में ।

जल-समाधि लेंगी पल में वे सोने की नौकाएँ
जो कि धार-प्रतिकूल चल रहीं किरण-पाल फैलाये ।

लौ विवेक ने उठा दिया श्रद्धा का मुख-अवगुंठन,
यह गतिमय, रति, प्रकृत-पुरुष का यह अभेद आलिंगन ।

आज सृष्टि संगीत बना यह कंठ-कंठ का नारा—
जयति-जयति जाग्रत जन-धारा, जय अजस्त्र जन-धारा ।

जय जन-जीवन-धारा ।
जय जय जय जन-धारा ।

हिमालय

पत्थर भी है कितना रसमय, मैं जान गया,
इस जड़ में भी है चेतनता, मैं मान गया!
पत्थर की छाती पर सोई है हरियाली
भुज-बन्धन में कस रही लता, पहिचान गया।

मानिक मदिरा से भरी घाटियों की प्याली,
मधु बालायें चम्पई धूप, छाया काली,
वासना नहीं बुझती है पीकर भी क्षण-क्षण
काँपते खड़े शत देवदारु बन रोमाली।

घन की उड़ती परियाँ करती हैं आलिंगन,
पथराये अधरों का करती विद्युत चुम्बन,
बहने लगता गिरि-शिरा-शिरा में रस मन्थर
खिल जाते हैं तन में लघु-लघु मुस्कान-सुमन।

निर्झर नदियों में गल बहता जिसका अन्तर
जाने क्यों फिर भी कहलाता यह गिरि पत्थर।

'दिवालोक' १४-६-४९

"निज जन्म दिवस पर कवि मित्रों के नाम पत्र"

साही, नामवर, विलास, त्रिलोचन, हरिमोहन
सर्वेश्वर. रमा, महेन्द्र, भारती औ' गिरिधर
चन्दोला, ठाकुर, बच्चा. केशव, विश्व, नमन
करता सबको निज जन्म दिवस के अवसर पर।

तुम सबका स्नेह, प्रेम, श्रद्धा कटु आलोचन
मैंने पाया, आ रही इसी से बार बार
साथियों, तुम्हारी आज याद! सुनता' इस क्षण
मैं बैठ हिमालय की चोटी पर पुकार

पिछले जीवन की घाटी की। चौंतीस वर्ष
इस जीवन के तो बीत गये हैं अनजाने।
बीते सपनों से दीख रहे अवसाद - हर्ष
वे जो थे कभी सत्य, प्राणों के पहिचाने।

वे ओढ़ समय की राख बुझे से अंगारे
कर्मों के सोये हैं, उनकी उष्मा लेकर
ही जीवन ऊपर उठा। सदा गाढ़े हारे
तुम सबने टेक मुझे दी जीवन के पथ पर।

तुम सबसे जो कुछ मिला वही तो जीवन का
पाथेय बना; जीवन - यात्रा का यह सम्बल
मेरे कंधों का भार नहीं होगा; मन का
संवेग, हृदय की आग, बुद्धि - विस्तार नवल,

चरणों में गति की प्यास, कण्ठ का गीत मुखर,
अधरों की बहती हँसी, प्यार के विरह - मिलन,
प्राणों की करुणा - धारा, नयनों के द्रव स्वर—
वह सब कुछ जिसको मैं कहता हूँ अपना पन

जिसमें मैं पाता बिम्ब तुम्हारा भी। खेती
यह जीवन की लहलहा रही, मैं देख रहा
इस नये मोड़ पदे बैठ मेड़ की; यह रेती
किन प्राणों के रस से हरियाली बनी, कहाँ

से फूटा वह चेतना-स्रोत जिसका प्रवाह
मेरी खेती की माँमलता बन लहराया
इस मरु में ? पिछले जीवन का वह दुसह दाह
बह गया; उतर धरती पर सावन घन आया !

+ + +

ऐ साही वह दिन याद ? समय के शिला-चित्र
का अनदेखा अलबम मन में खुल गया, सहज
यह जीवन अपने ऊपर उठ गया। मित्र,
तुमने मुझको पहिचाना पथ पर; कह पंकज

पंक से उठा कर लिया कण्ठ का हार बना।
उर के सर में जो उगा कमल था क्या उसका
ही चित्र गीत मेरे थे जो तुमने अपना
सब स्नेह अयाचित ढाल दिया मुझ पर; जिसका

आभार-वहन कर सकते मेरे शब्द नहीं !
मानव-आत्मा के शिल्पी से तुम आज चतुर
बन गये खिलाड़ी राजनीति के किन्तु कहीं
तुम जला न देना निज सपनों के चित्र मधुर !

हे श्रेष्ठनाम, तुमको मैंने देखा सरपट
दौड़ते रेल सा ही जीवन की पटरी पर
अति तीव्र वेग से; मेरे इतने रहे निकट,
फिर भी देकर अपना श्रद्धानत स्नेह अमर

तुम मुझसे आगे निकल गये। होते जाते
अब दूर - दूर आँखों से ओझल, मेरे शश !
पर मैं कच्छप गति से चलता हूँ, इस नाते
उपहास नहीं करना मेरा। प्रिय, आलस - वश

पथ पर न बैठ रहना, न भटक जाना वन में
वादों के और विवादों के, यह अभिलाषा
मेरी। मानवता से है बढ़कर जीवन में
कोई न वाद; पूरी करना मेरी आशा !

हे वाणी के मधुमय विलास, तुम यों निराश
होकर क्यों बैठ गये पथ पर ? बन कर स्वासी
जीवन का भोगो उसे; नहीं जल जाय प्यास !
लड़कर खोजो वह स्रोत की जिससे आगामी

पीढ़ियाँ बुझाती रहें प्यास; तुम बनो अमर
यश के शरीर से, इस तन की चिन्ता छोड़ो !
वह स्वयं करेगा अनुधावन। वाणी का वर
तुमने पाया, अपने जीवन का रथ मोड़ो

नूतन पथ पर। जो स्नेह और जो सुविधायें
है तुम्हें मिलीं, उनका उपयोग करो हो रत
कर्मों में। टल जायेंगी सारी विपदायें,
शारदा - पुत्र ! देखो जीकर शत ग्रीष्म - शरत।

हे मित्र त्रिलोचन तुम हो, है तीसरा नयन
वाणी में, सुधा - स्निग्ध नयनों में है वाणी;
कर दिया व्यर्थ तुमने तुलसा का सिद्ध वचन,
फूटती हृदय के फौव्वारे सी कल्याणी

कविता जिससे अनवरत, तुम्मारी बन्धु धन्य
वह है निर्झर लेखनी, अग्नि – हिम सुधा—गरल

जिससे झरते रहते अह हर। तुम हो अनन्य!
आभारी हूं, मैंने तुमसे वह ज्ञान सरल

पाया जिससे जीवन – मंथन करना जाना,
दुख - व्याल नाथ फन पर सवार होना सीखा।
तुमसे आशंसा, आलोचना, हँसी ताना
पाकर पी गया, मिला जो कुछ मीठा - तीखा।

हे हरिमोहन, प्रिय मंत्र तुम्हारा हृदय हरण
मैंने सीखा तुमसे, तुम तो हो मात्र हृदय;
उन्मुक्त हृदय ही बन्धु तुम्हारा सम्मोहन।
तन की जीवन की ममता तज तुम निस्संशय

बढ़ रहे हृदय के पथ पर, नहीं विवेक – ज्ञान
के तुम गुलाम! मकड़ी के जाले सा बुनते
रहते मन का ताना – बाना, फिर हार मान
खुद ही उसमें फँसते, खुद को खाते; सुनते

तुम हो किसकी? फिर भी कहता महानन्द
के हे विश्वासी, हृदय कर्म - बाधक न बने।
जीवन – संघर्षों बीच उतर बन कर अमन्द
प्रज्वलित ज्योति सा साधक, सत्य करो सपने!

सर्वेश्वर, तुमको सरस्वती ने वरण किया
करके कुछ सोच – विचार, देर से; लेकिन जब
वर लिया बाँस को वन के वंशी बना दिया।
अधरों पर धर वह चमत्कार कर दिया कि अब

तुम भी निज को शायद पहिचान नहीं पाते।
है बुद्धि चमत्कृत हुई तुम्हारी, पर न हृदय;
अब भी गा गा कर मेरे गीत न तुम थकते;
मेरे गीतों का मान नहीं, वह तो सहृदय

कवि के प्रणों के वन का है मर्मर उत्सव
रन्ध्रों में बँधने को आकुल। तुम आज यन्त्र
वाणी के नये प्रयोगों के! लय – स्वर अभिनव!
इस कोलाहल में खो देना मत स्वर स्वतन्त्र,

प्रिय रमानाथ, यह सत्य कि तुम हो कवि केवल।
उज्ज्वल आत्मा का सित प्रकाश भीतर–बाहर
फैला समान बनकर प्राणों का प्यार, विमल
ममता, मधुमय मुस्कान, कण्ठ काकली मधुर।

नवनीत हृदय! गल कर तुम निज को रहे जला
देने को मधुर प्रकाश जगत को। आलिंगन
करते रहते झंझाओं का। तप कर निकला
व्यक्तित्व तुम्हारा इस जग की ज्वाला से। मन

मेरा कितना है निकट तुम्हारे यों रहकर
भी दूर-दूर तुमसे! अपने इस जन्म दिवस
पर पाता मैं ज्योतित तुमको भी निज पथ पर।
हे दीप, न होना मन्द देश या काल-विवश।

मेरे महेन्द्र, जीवन-सरि के हे शिला खण्ड
अप्रतिहत, स्थिर, आ गया कभी बहता-बहता
तिनके सा पास तुम्हारे मैं। फिर रुक अखण्ड
धारा को तज मैं चक्कर देता रहा। पता

मुझको न लगा कैसे बीता युग क्षण सा।
सहसा मैं फिर बह चला कहीं धारा में मिल,
पर देख रहा, तुम अब भी ज्यों के त्यों मनसा
निर्लिप्त खड़े, करके शरीर का स्पर्श सलिल

बह जाता, पर तुम समाधिस्थ अपने में प्रिय
मैं बुला रहा तुमको, अब भी करके हलका
निज भार बह चलो धारा में, सहचर, सक्रिय
बन अब, कल-कल संगीत सुनाओ तुम कल का।

भारती, भारती नये वेश में है उतरी
तुममें, तज कर वीणा, लेकर तूणीर, भरे
जिनमें फूलों–शूलों के शर। स्वर की लहरी
से नहीं, व्यंग से चमत्कार से वह गहरे

व्रण मन में कर देती। देखा जब प्रथम - प्रथम
अनुभूति मात्र तुम लगे, आज कल्पना कान्त
बन नई भूमिका में उतरे। क्या लगती भ्रम
अनुभूति-भूमि ? भारत की वह भारती भ्रान्त

मत बने, भूमि के संघर्षों को आकर्षक
उसको नभ में उड़ने मत दे, बहुजन का मन
वह मोह सके। कहता तुममें पा अपनापन,
प्राचीन सभी क्या बुरा ? भला क्या सब नूतन ?

गिरधर, यह जीवन है भारी गिरि गोवर्धन।
इसको निज उँगली पर धारण कर सको अगर
मिट जाय भाग्य-भ्रम, शव - साधना, मृत्यु-पूजन।
तम के बादल फट जायँ, दिशायें उठें निखर,

नव जीवन नव आशाओं का केशर-कुमकुम
किरनों से झरने लगे, जाय बन कर्म मुखर
खोई–खोई जिन्दगी। जवानी यह गुम सुम
बह चले प्रखर जल-धारा सी करती हरहर

मस्ती की बाढ़ लिये। तुमसे मैंने पाया
निश्छल उर पर बदले में कुछ भी दे न सका।
मेरे पिछले जीवन ने था जो सिखलाया
तुमको मैं हूं दे रहा मन्त्र वह जीवन का।

चन्दोला, तुमसे हुआ द्वन्द में जो परिचय
कितना अभिन्न वह बना ? स्वप्न से दिन बीते

लगते। हिमके कोकिल, पत्थर का कठिन हृदय
तुमने पिघलाया कभी, रूप मन्दिरा पीते
गिरि-घाटी की प्याली से, स्वर से बरसाते
मधु की ज्वाला तुम थे क्षण-क्षण; काकली कहाँ
वह ? मध्य वर्ग में पैदा होने के नाते
तुम दो वर्गों के द्वन्द्व बीच पिस रहे; यहाँ
हम सब की है गति वही। न मधुकण, आज गरल
आओ मिलकर कण्ठों से बरसायें, हे कवि !
जो कोटि-कोटि के लिए बन्द उस रंग महल
के द्वार तोड़ देखें हम भी जीवन की छवि !

ठाकुर, मैं सबसे अधिक तुम्हारा आभारी !
तुम मेरे पथ पर कभी मील के पत्थर बन
या खतरे का सिगनल या सुमन-शूल - क्यारी
बन कभी मलय-मधुवात कभी कोकिल-कूजन
मुझको बल देते रहे, उड़ाई धूलि अनिल !
तुमने जो उससे हुआ हृदय दर्पण निर्मल।
पर एक बात कह दूँ, अग्रज के नाते, दिल
पर हाथ रखो, सोचो, जो कुछ है शिव-मंगल
वह सत्य और सुन्दर से यदि है बहुत दूर
तो क्या वह है आराध्य ? नहीं क्या मानवता
की माँग कि शिव हो सुन्दर, सत्य न बने क्रूर ?
कवि बनो बन्धु, कविता ही देगी राह बता !

प्रिय विन्ध्यवासिनी दत्त, तुम्हारा सम्बोधन
"बच्चा" ही है व्यक्तित्व तुम्हारा मूर्तिमान,
विद्रूप बने व्यक्तित्व अगर "बच्चू" "बच्चन"
कह तुम्हें पुकारुँ मैं, तुमने देवता मान
मेरा पूजन ही किया, नयन में लिए हृदय
तुमने मेरा सत्कार किया, दे उर-आसन

मैंने भी बैठाया तुमको। सहसा मधुमय
सपनों के क्षण उड़ गये, आग से घिर जीवन

यह मेरा तपने लगा, कर्म का कोलाहल
बन गया सत्य जीवन का। पर तुम में बचपन

अब भी हँसता। तज कर उसकी ममता पागल,
आओ बढ़ ज्वाला-पथ पर, बुला रहा यौवन !

केशव, हे स्मिति मुस्कान हास के सम्मिश्रण,
परिहास व्यंग के रंग रंगे, हे आराधक

साहित्य-कला के, है ऐसा कुछ सम्मोहन
तुममें, कि कसौटी भूल कला का आलोचक

मेरा मन बह जाता। अनजाने अधरों पर
खिल जाते हैं उन्मुक्त हास के रजत-सुमन।

हँसते बचपन बीता, यौवन यह तिल-तिलकर
जलता पथ पर चलता; मिट जाती किन्तु तपन

हंसती आती जब याद तुम्हारी। जीवन भर
यह हंसी-खुशी मस्ती बेफिक्री का आलम

रह सके अगर तो केशव, केशों से क्या डर?
मन हो जवान तो वृद्धावस्था तो है भ्रम !

हे विश्व, भारती के भावक, कवि-चित्रकार।
हे मानवता के वृती, बन्धु सच्चे सहृदय।

आ रही आज क्यों याद तुम्हारी बार बार ?
मैं एकाकी, सम्मुख उन्नत गिरि पहन वलय

मेघों के बैठे मग्न; उस ओर पार
पर्वत शिखरों की लहरो के, मेखला धवल

हिम-शृ्गों की लगती जैसे यह सिंहद्वार
अलका का चाँदी से निर्मित। यह छवि चंचल

वाजी में बाँध नहीं पाता, हे निर्माता
नव-नव रूपों के, काश कि तुम होते इस क्षण
इस चोटी पर। रेखा रंगों में बंध जाता
यह रूप प्रकृति का उच्छृङ्खल।
कर रहा नमन
मैं उन सबको जो भी मेरे हैं हम राही।
शारदा-पुत्र! चौंतीस सीढ़ियाँ जीवन के
चढ़कर मैं हूं देखता कि मंजिल मनचाही
मिल ही जाती है; व्यर्थ नहीं सपने मन के

होते, कुछ कदम साथ चल वे बल जाते भर।
मानव जो लगते साथ कदम से कदम मिला
बन जाते एक इकाई, ज्यों बूदें जमकर
बन जाती हैं हिम शिला। चेतना जड़ित शिला

को भी करती शत–खण्ड कला के दीवाने
भी सुन युग की ललकार मिलाकर कदम चलें,
मानव आत्मा के शिल्पी निज पथ पहिचानें!
सामाजिकता की नयी चेतना ले निकालें!

मानवता की मंजिल है हमसे दूर नहीं,
वर्गों–भेदों की तोड़ विषम ये दीवारें
समता का खोलें द्वार, ध्येय हो आज यही!
साथियों उठो, पथ पर आगे आओ प्यारे!

माध्यम मैं

मैं माध्यम हूं
विराट स्वर-तांत्रिक का,
मुझमें उतरा करती हैं आत्मायें।
तांत्रिक करता है प्रश्न
और आत्मायें उत्तर देती हैं।
मेरी वाणी
बन छन्द, गीत, लय
सहज निरंकुश निर्विकार
अस्पृष्ट अहं से मेरे
फूट बहा करती।
तांत्रिक जब जो पूछा करता
वाणी उत्तर बन जाती है।
इस शब्द चित्र में मेरा 'मैं' कुछ नहीं
क्योंकि मैं माध्यम हूं।

सात बजे

रात बीत गयी !

दीख रही घास हरी,
किरण कलित ओस भरी,
इन्द्र-धनुष मयी !

उतर रही तरु-तृण पर
कुहा धूम में छिप कर
धूप-वधू नयी !

धरती पर विहग रचित
गूँज रहे गीत हरित
बन कर चम्पई !

जाड़े का मुखर प्रात,
टन टन कर बजे सात
एक साथ कई !

रात बीत गयी !

१९५१ 'माध्यम में'

टेर

टेर रही प्रिया, तुम कहाँ ?
किसकीं यह छाँह
और किसके ये गीत रे ?
बरगद के छाँह
और चैता के गीत रे ।
सिहर रहा जिया तुम कहाँ ?
किसके ये काँटे हैं
किसके ये पात रे ?
बैरी के काँटे हैं
केलें के पात रे ।
बिहर रहा हिया तुम कहाँ ?
टेर रही प्रिया तुम कहाँ ?
कौन से टिकोरे ये
किसके ये फूल रे ?
आम के टिकोरे ये
महुये के फूल रे ।
विरम गये पिया तुम कहाँ ?
टेर रही प्रिया तुम कहाँ ?
किसकी यें आँखे हैं
किसकी यह रात रे ?
बिरहिन की आँखे हैं
मावस की रात रे ।
बुझता यह दिया, तुम कहाँ ?
टेर रही प्रिया तुम कहाँ ?

१९५२

माहदमपै

पूजाके बोल

बजता है ढोल कहीं, पूजा के बोल !

नवमी का चाँद बुझा
हवा उठी जाग,
तैरता अँधेरे पर
मिला-जुला राग !

गीत की हिलोरों पर रात रही डोल !
बजता है ढोल कहीं पूजा के बोल !

नीम का हिडोंला औ,
मालिन का द्वार,
एक बूंद की प्यासी
माँ रही पुकार !

यह पुकार नींद के किवाड़ रही खोल !
बजता है ढोल कहीं, पूजा के बोल !

बाहर की साँय-साँय,
भीतर की ऊब,
हलके पद चाप रहे
डिमडिम में डूब !

मन में सुगबुगा उठे सपने अनबोल !
बजता है ढोल कहीं, पूजा के बोल ।

गाने लगा जी, जैसे
बीन-ठगा साँप,
उठता गिरता स्वर का
लहरों पर काँप ।

पाल खुली, नाव बहीं सुधि की अनमोल ।
बजता है ढोल कहीं, पूजा के बोल !

१९५२

पतझर

मन का आकाश उड़ा जा रहा,
पुरवैया धीरे बहो !

बीती बातों पर सर टेककर
टेर रहा मन भूली नींद को,
धूप छाँह की गंगा-यमुना में
डुबो रहा हंस-हंस उम्मीद को !

अपना विश्वास लुटा जा रहा,
पुरवैया धीरे बहो !

सूनेपन की बाँहों में फँस कर
रुक रुक कर चलती दिन की साँस है,
बदरी की दीवारों में कस कर
करता कसमस फागुन मास है !

दुपहर का दीप बुझा जा रहा
पुरवैया धीरे बहो !

हाड़-मास की गठरी सा जीवन
जीवित जैसे नंगी डाल है,
खड़ खड़ कर उड़ते खगसे पत्ते
फैला भूपर झिलमिल जाल है !

आँखों का स्वप्न मिटा जा रहा,
पुरवैया धीरे बहो !

मैं वह पतझर, जिसके ऊपर से
धूल भरी आँधिया गुजर गयीं,
दिन का खँडहर जिसके माथे पर
अँधियारी साँझ की ठहर गयी !

जीवन का साथ छुटा जा रहा,
पुरवैया धीरे बहो !

१९५३ 'माध्यम में'

पगडंडी

छिप छिप कर चलती पगडंडी धनखेतों की छाँव में !

अनगाये कुछ गीत गूंजते
है किरनों के हास मे,
अकुलाई सी एक बुलाहट
पुरवा की हर सांस में !

सूनापन है उसे छेड़ता छू आँचल के छोर को,
जलखोत भी बुला रहे हैं बादल वाली नाव मे !

अंग-अंग में लचक उठी ज्यों
तरुणाई की भोर में,
नभ के सपनों की छाया को
आँज नयन की कोर में।

राह बनाती अपनी कस काँटों में, संख सिवार में,
काँदों-कीच पड़े रह जाते, लिपट-लिपट कर पाँव में !

पाँतर पार धुवाँरी भौहों
की ज्यों चढ़ी कमान है,
मार रहा यह कौन अहेरी
सधे किरण के बान है ?

रोम-रोम ज्यों बिंधे तीर, टूटी सीमा मरजाद की,
सुध-बुध खो चल पड़ी अकेली अपने पी के गाँव में।

रुनझुन बिछिया झींगुर वाली
किंकिन ज्यों वक-पाँत है
स्वयंवरा बन चली बावरी
क्या दिन है, क्या रात हैं।
पहरु से कुछ पीली कँलगी वाले पेड़ बबूल के

बरज रहे, री पाँव न धरना भोरी कहीं कुठाँव में।
अपना ही आँगन क्या कम जो चली परायें गाँव में ?

आठवाँ रंग

बन्द दरवाजे, खिड़कियाँ, ये रोशनदान,
सभी द्वार बन्द, नहीं कोई भी प्रवेशद्वार !

मेरे सप्ताश्व अतिथि, भूल कर रोका यान
तुमने यहाँ पर। सुन बन्दीगृह की पुकार
अरुण ने शत-शत वल्गाओं को खींचा व्यर्थ !
तुमने भी दुर्निवार सप्त शर मारे तान !

किन्तु व्यर्थ, इतना तुम्हारा श्रम किस अर्थ ?
विश्वनयन, रुके अन्ध साथी की बात मान
अन्धकूप से घर के द्वारे, जिसके भीतर
एक अन्ध गाता है जीवन के अन्धगान !

गहरा, गहरा, गहरा होता जाता सागर,
तल के वासी तक पहुँचे कैसे ज्योति-वाण
हे प्रकाशदेव निज लौटा लो सातो रंग ?
मैं हूँ आठवें रंग में डूबा, मैं अरंग !

१९५५

वर्जित पथ

यह आम रास्ता नहीं
इधर से मत जाओ,
इस गलियारे से जाना
वर्जित है !

इसमें जीवन की घड़ी
बन्द होकर सोई,
इसमें भीषण तूफान मचलते हैं।
इसमें अंधियारी
काली चट्टानों-सी जमी हुई,
इसमें विजली के अन्धड़ चलते हैं !
यह निर्गम कालदेव के
महादुर्ग का तोरण द्वार,

इधर से मत जाओ।
यह आम रास्ता नहीं,
इधर से जाना वर्जित है।

इस गलियारे में
महिष-कण्ठ की
किंकिणियाँ बजतीं,
इस महामार्ग में
भूतनाथ की बारातें
सजतीं ।

इस ओर न सूरज की किरनें आतीं,
इस राह न चन्दा की डोली जाती,
इसमें
सुनसान
दहाड़ें भरता है,
ज्वालामुखियों का
दर्द उमड़ता है !
यह नीलकण्ठ-सा गलियारा,

इसमें लहराता
विष का पारावार,

इधर से मत जाओ।
यह आम रास्ता नहीं,
इधर से जाना वर्जित है।

इसमें कितनी ही
प्यासी आत्मायें मंडराती हैं,
भूली-भटकी आँखों की
उल्कायें टकराती है।
घुंघवाती काली आग
यहाँ जलती,
इन उजड़े नीड़ों की
जो झंझावातों में
डालों से नुच कर
बिखर गये।
उन पंखों की
जो नभ में तुले नहीं
बस खुलते-खुलते
सहसा ठहर गये।
मैं द्वारपाल हूँ
प्रश्नचिह्न-सा महाकार

इस गलियारे के द्वार,
इधर से मत जाओ!
यह आम रास्ता नहीं,
इधर से जाना वर्जित है।

१९५५

डूबा नगर

एक अजगर सी लहर आयी
बहा कर ले गयी मुझको
उस द्वीप के तट पर
जहाँ सागर
पर्वतों के चरण पर रख शीश
बेसुध सो गया था।
कौन,
यह था कौन
जिसने अंक में ले
चुम्बनों से भाल, अधर, कपोल भर
नव जन्म मुझको दिया
स्वप्न का यह देश
जिसमें मुझे जाग्रत किया,
सिन्धु में उभरी
झुकी सी शिला पर मुझको बिठाया।
कहाँ ? मैं हूं कहाँ ?' मैं था प्रश्न,
उत्तर ....
कौधता सा एक अस्फुट स्वर:
तुम जहाँ बैठे हुए
वह सिन्धु में डूबी हुई मीनार का
उभरा शिखर है।
युगों से डूबा नगर
मेटालियन यह
ढका जल की पारदर्शी चादरों से,
उसे देखो,

सिन्धु में झाँको ······· ··
वह नगर दिखने लगा

वह नगर दिखने लगा
वे भव्य ऊँचे भवन
तिरछी भित्तियों पर झिलमिलाती मूर्तियां
वे अप्सरायें, राजकन्यायें,
विलासी पुरुष
जिनके हाथ के प्याले अधर तक
आज भी पहूँचे नहीं हैं !
मन्दिरों के गर्भ
जिनमें देवता अब भी प्रतिष्ठित
किन्तु पत्थर,
निरे पत्थर रह गये हैं।
ये चतुष्पथ
ये नगर के राजमार्ग विशाल,
ये अट्टालिकायें
और उनके पार्श्व की अन्धी अगम गलियाँ
नसों के जाल सी उलझी हुई हैं।
वह महल,
वह राजसिंहासन,
किसी सम्राट की अब भी प्रतीक्षा कर रहा जो।
मृत्यु के स्थापत्य में ये चैत्य
जिनमें
रत्नमण्डित स्वर्ण के ताबूत में
कुछ राजपुरुषों के ममी सोये हुए हैं,
पास में जिनके अतुल धन-राशि
रक्षित है समुद्री अजगरों से !

यह नगर
जल की गुफाओं में
युगों से सो रहा है!
सिन्धु की लहरें भयंकर
गरजती ऊपर
दिशाओं को हिलाती !
ज्वार का उद्दाम कोलाहल
समुद्री आंधियों का भीम गर्जन
सिन्धु के ऊपरी तल को ही
सदा विक्षुब्ध करते,
किन्तु नीचे की अतल गहराइयों मे
शान्ति, अक्षय शान्ति !
जहाँ यह निर्जन नगर
निस्पन्द
हर विक्षोभ से अस्पष्ट,
शीशे के महल में बन्द
औषधि-सिद्ध शव सा
सो रहा है !

तीव्र कांक्षा का उठा आवेग;
उस डूबे नगर ने
मुझे अपनी ओर खींचा ।
मुँद गयीं आँखें,
विवश मैं सिन्धु में कूदा
राज सिंहासन मुझी को टेरता था ।:

जब खुली आँखें,
कि यह क्या ?

कसा बाँहों में किसी की,
काष्ठ के टूटे फलक पर
एक निर्जन द्वीप के तट आ लगा हूं !
मैं कहां ? तुम कौन ?
दिशाओं में प्रश्न गूंजा,
सहज उत्तर मिला——
यह तुम्हारी मनः शृष्टि
अतृप्ति का यह द्वीप।
मैं तुम्हारी वधू प्रज्ञा
सिन्धु-कन्या हूं।'

१९५७ 'माध्यम में'

क्षण दर्शन

आज का यह क्षण नहीं पहला, अकेला।
राह पर छूटे, महकते,
लाल, पीले, श्वेत, नीले क्षणों का
यह एक लम्बा सिलसिला है।
आज का यह क्षण नहीं पहला, अकेला।

काल की वे लघु पताकायें
लिखे कुछ नाम जिन पर
इसी क्षण की एक संकरी राह से
उनका गुजरता काफिला है।
आज का यह क्षण नहीं पहला अकेला।

ढाल आगे, ढाल पीछे,
शिखर पर जलता हुआ यह क्षण गुलाबी,
रोशनी की गन्ध
दोनों ओर भरने को खिला है।
आज का यह क्षण नहीं पहला अकेला।

गन्ध में डूबी हुई इन घाटियों में
एक से दूसरे पर चढ़ते उतरते
अनगिनत क्षण और जीने के लिए
यह क्षण मिला है।
आज का यह क्षण नहीं पहला अकेला।

१९६० 'खण्डित सेतु'

गजल

प्यार किस देवता से कम मेरा।
प्यार की आरती है गम मेरा।

वो मेरे देवता छिपे रहना
खुल न जाये कहीं भरम मेरा।

चाँद सूरज है आइने जिसके
लोग कहते उसे वहम मेरा।

जिन्दगी की अंधेरी गलियों में
इसकी पूजा है हर कदम मे।

सर झुकाया तो देखता क्या हूँ
धूल में मिल गया अहम मेरा।

राज वह कौन सा छिपा जिसकी
खोज में हैं जनम-जनम मेरा।

याद करता हूं इसलिए हरदम
जाने कब टूट जाय दम मेरा।

१९६०

इन्द्र धनुष

सबके अपने-अपने इन्द्र धनुष होते हैं जिन्हें वे खूँटियों में टाँगते और आलमारियों में बन्द करते हैं।

हर दो के बीच का इन्द्रधनुष एक सेतु होता है जिसके ऊपर दूरियाँ घटती हैं और नीचें निकटता कटती है।

हर इन्द्रधनुष टूटता है और टूट कर जुड़ता नहीं है क्योंकि हवाएँ उसे उड़ा ले जाती हैं।

हवा में उड़ते इन इन्द्रधनुषों को छायाग्राही फूल खींच लेते हैं, रंग-जिह्वा तितलियाँ चूस लेती हैं और आकाशलोमी बच्चे पतङ्ग बनाकर उड़ाने लगते हैं।

घण्टी बजा कर रुई-सी मिठाई बेचने बाला इतिहास इन्हीं इन्द्र धनुषों की राह से गुजरता है किन्तु उसके पदचिह्न इन पर अंकित नहीं हो पाते।

अपने खण्डित शीशमहल में प्रतिबिम्वित होने वाले इन इन्द्रधनुषों की जगमगाहट को गाने वाला मैं अभी पैदा नहीं हुआ हूँ।

१९६१

खण्डित सेतु

मातृभाषा

समुद्र ने मेरे हाथों में शंखों की थाल दे दी और मैंने उसे वह बांसुरी, जिस पर बैठकर मैंने द्वीपान्तरों की यात्राएँ की थीं।

समुद्र के चेहरे पर एक उदास दिन अंकित हो गया। मैंने अपने सभी कीमती वस्त्र उतार कर उसके चरणों पर रख दिये और लहरों का एक झीना उत्तरीय पहन कर इस मत्स्यकन्या के साथ तटवर्ती भीड़ में घुस पड़ा।

मेरा वक्तव्य लिख लो कि मैं नंगा नहीं, पारदर्शी हूँ, अश्लील नहीं, सत्य हूं।

प्रवालद्वीप की यह राजकन्या मेरी विवाहिता वधू है। धूप, हवा, लहरें और वरुण देवता मेरे साक्षी हैं कि मैंने...लेकिन तट के पहरेदारों, तुम क्या मेरी मातृखाषा समझ रहे हो ?

१९६१ 'खण्डित सेतु'

डल झील की एक शाम

उस यहाँपन
और इस वहाँपन के बीच
एक गाँठ है जिसे घाटी की हेलेन
हर शाम आकर खोल देती है
झील में बुझती रोशनी की एक मोटरबोट
पश्चिम से पूरब को दौड़ जाती है
और मेरे भीतर
एक चौड़ी सड़क बन जाती है
जिसके दोनों ओर
सफेदा और चिनार की
लम्बी कतारें होती हैं
जिन पर आकाश
अपने डैने समेट कर बैठा होता है।
नदियों और झीलों का अर्घ्य लेकर
घाटी की हेलेन
बर्फीली चोटियों पर बेखबर सो जाती है।
घर-घर घूम पानी बाँटते पहाड़ी सोते
धान के खेतों में घुसकर
दुबक जाते है।
एक अनाम पक्षी
झेलम को बार-बार पुकारता है
और उस झील में अचानक
बिजली की रोशनी की बाढ़ आ जाती है
जिसमें शिकारों और हाउसबोटों की
रंगीन फासफोरसी मछलियाँ
डूबने उतराने लगतीं हैं।

१९६२ खण्डित सेतु

शहर में

शहर की दूषित हवाओं के बीच
मेरा आक्सीजन का थैला होता है मेरे पास
और एक अपनी टार्च लाइट भी होती है।

कौन जाने किस क्षण

शहर की बिजली गुल हो जाय
और अपनी ही आँखों को
सूझ न पड़ें अपने हाथ।

नयी दिल्ली की आधी रात

वे जाने चेहरे अनजाने-से हैं,
यह राह बिरानी पहचानी-सी है !

पानी से धुले हुए रंगों वाली
नीले-पीले धब्बों की शाम गयी !
उतरी है बरसे हुए बादलों से
ऊँचे महलों पर काली रात नयी !
है चाँद कैदखाने में कुहरे के
चाँदनी हुई पानी-पानी-सी है !

काली-गोरी तसवीरों के पन्ने
उड़ते थे जिन रंगीन हवाओं में;
उनकी मुट्ठी में बन्द कराहें हैं,
हल्की चीखें हैं कसी भुजाओं में !
वैभव की सतरंगी मीनारों में
सपनों की दुनिया दीवानी-सी है !

ये सूनी सड़कें, खाली चौराहे,
लगते हैं बदले हुए मुखौटे-से,
दिन के मेले से थके और ऊबे
लगते ये घर अपने घर लौटे-से !
यह रात अँधेरे के गलियारों में
लगती सन्नाटे की रानी-सी है !

काले पत्थर की दीवारों पर मैं
उजली रेखा खींचता चला जाता;
बादल को अपने कन्धों पर लादे
जलती सड़कें सींचता चला जाता!
पढ़ता मैं अंधियारे के हस्ताक्षर,
मुझको रोशनियाँ बेमानी-सी हैं।

जादूगरनी इस नगरी की रातें
कर देती हैं ऐसा जादू-टोना;
जो छूने जाता पत्थर बन जाता,
जो छू जाता हैं बन जाता सोना!
पर एक तिलिस्मों के सौदागर से
ये छाया-छवियाँ बेगानी-सी हैं।

तीन सुरंगे

पैगम्बर तो मर गये
पर क्रास पर लटका आदमी
अभी जी रहा है।
महासागरों की लहरों पर
लिखे हुए नाम
हवा में उछाल दिये गये है,
एक बूढ़ा मछुआ
ह्वेल को नाथता
और उसे अपने जहाज की ओर खींचता है,
और तभी एक भयानक गिद्ध
उस बूढ़े की छाती में
चोंच मारता है,
बूढ़ा जहाज के डेक पर गिर पड़ता है।
गो कि वह बूढ़ा मछुआ
अब मर गया है
पर वह आदमी अभी जी रहा है
जिसकी छातीं में
तीन सुरंगे बन गई हैं!
एक सुरंग अतीत के शिखरों के
नीचे से गुजरती हुई
यूनान के एथेन्स नगर में निकलती है
जहाँ एक बूढ़े दढ़ियल पागल को
जहर का प्याला पिलाया जा रहा है।
दूसरी सुरंग

वर्तमान की सात समुद्री लहरों के
नीचे से गुजरती हुई
अमेरिका के डलास नगर में निकलती है
जहाँ एक पागल नौजवान
गोली खाकर ऐंठता हुआ
अपनी पत्नी की गोद में लुढ़क गया है!
तीसरी सुरंग
भविष्य की अंधेरी गुफाओं में
गुम हो गयी है।
आगामी पीढ़ियों की लाशें
क्या इसी सुरंग के रास्ते
श्मशानों और कब्रिस्तानों में
पहुँचायी जायेंगी ?

१७-१२-६३ सेतुखन्डित

गुलमर्ग में दिसम्बर

प्यार, प्यार, प्यार,
एक साथ सातों कमरों में
एक ही आवाज गूंजती है।
कमरा नम्बर इतवार से कमरा नम्बर
शनिवार तक के दरवाज़े
बाहर से बन्द हैं!
उनमें लटकते बड़े बड़े ताले
इस आवाज से हिल रहें हैं!
बर्फ जमी छत,
निर्जन होटल,
शरीर को बेधने वाली तेज बर्फानी हवा
और कमरों में गूंजती एक ही
आवाज—
प्यार, प्यार, प्यार!

\+ + +

अहाते में
बेगुजारे हुए कुछ देवदारुओं के
क्षण हैं
जो अपनी अपनी जगह पर
मजबूती से खड़े हैं
मगर काँप रहे हैं
नीचे से ऊपर तक।
पहाड़ की इस फूल-कटोरी में
समय की सफेद भाग

जम कर कड़ी हो गयी है
जिसे कासिम का घोड़ा रौंद रहा है।
उसकी टापों से
टूटती हुई बर्फ में
एकही आवाज चोटी से चोटी तक
गूंजती है—
प्यार, प्यार, प्यार !

\+ + +

फर पहरेदार हैं
जंगलों के नीचे से गुजरती
पगडण्डी के।
धर पहरेदार हैं
आदमी के भीतर से गुजरते हुए आदमी के,
फिर चाहे वह
बैरा हो या मुसाफिर
या कासिम घोड़े वाला;
और मैं पहरेदार हूँ
इतवार से शनिवार तक के
इन सात कमरों के बीच से
गुजरने वाले
उस अदृश्य गलियारे का
जिसके इस छोर से उस छोर तक
बार-बार गूंजती है
एक ही आवाज—
प्यार, प्यार, प्यार !

१९६५

बातें घर की

छोड़ो बाते दुनियां भर की,
आओ, कुछ बात करें घर की।

गमलों को धूप से हटा दो ,
बुझी हुई अँगीठी जला दो,
गर्द झाड़ दो इन परदों की
बिस्तर की सलवटें मिटा दो।
लहरों में डूब दोपहर की
आओ, कुछ बात करें घर की!

बाहर ये कितनी आवाजें,
शोर-शराबे बाजे-गाजे !
छण भर अपनी भी कह-सुन लें,
बन्द करों खिड़की-दरवाजें!
बिगड़ी हैं हवाएं शहर की !
आओ, कुछ बात करें घर की!

सड़कों की ये दुर्घटनायें,
कमरों के भीतर मत आयें,
घर के अन्दर भी खतरे हैं,
देख कर चलो दाएं-बाएं !
छोड़ो बातें इधर-उधर की!
आओ, कुछ बात करें घर की !

मौसम की ठंढ से न कांपें,
भीतर की गरमाहट तापें,
देहरी से आंगन तक चल कर
अनजाने क्षितिजों को नापें !
ओ मेरी धूप दिसम्बर की !
आओ, कुछ बात करें घर की !

१९६५

कल की प्रतीक्षा

पिछले रविवार को
नाई ने बाल काटे थे, सोमवार को
माली ने लॉन की घास पर तलवार चलाई थी।
मंगलवार को खिड़की पर रखा बड़ा शीशा गिर कर
चूर-चूर हो गया था।
बुधवार को टामी ने एक छछूंदर मारी थी
वृहस्पतिवार-बच्चों के एक
झुण्ड ने कटी पतंग के पीछे दौड़ लगाई थी। शुक्रवार का
पूरा दिन एक समाचार था
किसी परिवार की सामूहिक आत्महत्या का,
शनिवार कसाईबाड़े के पास वाली गलीसे नाक पर
रूमाल रखकर गुजरा था। और आज रविवारका पूरा दिन
मैंने निरर्थक हस्ताक्षर
लिखने और काटने में गुजारा है।
मगर अभी शाम बाकी है जो हमेशा की तरह
अपनी है। इस शाम को लेकर अब मैं उस भीड़ में
घुस जाऊँगा जो
न कहीं शुरू होती है न खत्म।
भीड़ शहर की है और शहर एक ओर नदी में
पाँव लटकाये और दूसरी ओर खेतों में बांह फैलाए सोया है।
भीड़ शहर की नसों में
बहती है और भीड़ की नसों में
एक और मुर्दा शहर सोया है। मगर मैं
जानता हूं, कल शहर की नीद खुलेगी

और भीड़ की नसों का
मुर्दा शहर जी उठेगा। लोग-बाग
भीड़ से अलग हो कर नदी में नहायेंगे,
नौजवान धारा को काटते हुए आर-पार तैरेंगे,
अधपके बालों वाले
प्रौढ़ जन भीड़ को चीरते हुए
आगे बढ़ जायेंगे, और पाँवों के जंगल में
भटकते हुए बच्चे उससे बाहर निकल आयेंगे।
कल का दिन
बालों को बढ़ायेगा,
परसों का दिन लॉन की घास को
फिर अगला दिन, फ़िर अगला दिन, फिर.......

१९६५

घर और सड़कें

घर घर की खिड़कियाँ खुलीं,
सड़कें हैं धूप में धुलीं !

हर छत है नंगी चोटी
चट्टानों सी हर दीवार,
हर कमरा बन्द गुफा है
हर दरवाजा कटा पहाड़,

हर आँगन की घाटी में
खुशियाँ हैं क्रास पर तुली।

घूमते हुए सब पहिये
भागते हुए से सब पाँव,
चौरस्तों पर बहती भीड़
गलियों में बिखरा भटकाव,

उठती हैं बन कर संगीत
आवाजें ये मिलीं-जुलीं।

आँखों में खोई नजरें
जेबों में कटे हुए हाथ,
कन्धों पर लटकी बाँहें
छाती पर झुके हुए माथ,

खाली - खाली है सबकी
होठों से सटी अँजुली।

फुटपाथों के पेड़ों पर
झुक आयीं रिक्त दिशायें,
उलटी छवियों सी लगतीं
आकृतियों की छाया,यें,

संवेदन की शिरा - शिरा
तेजाबी गन्ध में घुली।

प्रश्नचिह्न सी सब रातें,
हर दिन है एक परीक्षा,
हर दुख जीने का दुख है
हर सुख है मरण-प्रतीक्षा,

जीवन ज्यों दरवाजे के
पल्लों में दबी अंगुली।

१९६५

दीवार की वापसी

●

[एक मध्यवर्गीय व्यक्ति के मकान का बैठका, जिसे वह बड़े गर्व से 'ड्राईंग रूम' कहा करता है, उसमें तीन कुर्सियाँ और एक छोटी मेज है जिस पर एक गंदा मेजपोश है; एक तरफ तख्त, जिस पर विस्तर लपेट कर रखा है। इस कमरे से भीतर के कमरे में जाने का एक दरवाजा है। दोनों कमरों के बीच की दीवार में एक ६ फीट लम्बी ४ फिट चौड़ी, छड़दार खिड़की है जिसमें लगा परदा दोनों ओर खींच कर हटा दिया गया है। खिड़की दीवार में इतनी ऊँचाई पर है कि भीतर इसके सामने खड़े व्यक्ति का कमर से ऊपर का हिस्सा ही दिखाई पड़ सकता है। भीतर वाला कमरा सोने का कमरा है जिसे वह व्यक्ति 'वेड रूम' कहता है। भीतरी कमरे में एक के ऊपर एक रखे कई बक्स तथा दीवार की अलमारी दिखाई पड़ती है जिस पर शीशा, कंघी, तेल आदि प्रसाधन की वस्तुएँ रखी हैं। बैठके में दायीं और बाहर जाने का दरवाजा है। दर्शकों की ओर बैठके की एक दीवार होगी पर इस समय वह नहीं है क्योंकि यदि वह होती तो नाटक नहीं देखा जा सकता था। अतः मान लिया जाये कि मंच का सामने का परदा ही वह दीवार है। नाटक दिखाना है; इसलिए उस दीवार को हटाना जरूरी है। परदा हटता है तो वह व्यक्ति- उसका नाम ? हटाइए उसका नाम जान कर क्या होगा ? सभी मध्यवर्गीय नौकरीपेशा लोगों की तरह वह भी समय और कायदे-कानून का पाबन्द एक सामान्य व्यक्ति है। इसलिए वह 'क' है—जो कमीज-पाजामा पहने हैं और अखबार पढ़ने में लीन दिखाई पड़ता है। एकाएक सामने की ओर देखकर वह आश्चर्य से बोलता है।]

क : अरे-अरे, यह क्या हो गया ? अजी सुनती हो ? कहाँ हो तुम ? दौड़ो यह देखो ! (भीतर की ओर देखता है। भीतर उसकी पत्नी—उसका नाम ? क की पत्नी है इसलिए उसे 'का' कह लीजिए—'सूटकेस' बन्द कर रही है।

वह जल्दी-जल्दी दरवाजे से बैठक में आती है। कपड़े पहन कर वह कहीं जाने को तैयार है।)

का : क्यों, हो गया ? इतना शोर क्यों कर रहे हो ?

क : (दर्शकों की ओर हाथ दिखा कर) देखती नहीं ? यहाँ की दीवार ? अरे, यहाँ की दीवार क्या हो गयी ? उड़ गयी या जमीन में चली गयी, आखिर वह हो क्या गयी ?

का : दीवार ? यह क्या दीवार है ? पागल हो गये हो क्या ? आँखों के सामने ही सही-साबित दीवार है और कहते हो कि दीवार उड़ गयी ? हुँ—अजीब आदमी हैं ?

क : दीवार है ? (आँखें मल कर देखता है) नहीं मैं दावे के साथ कहता हूँ, दीवार नहीं है। तुम्हें रोज देखने की आदत है जिसमें दीवार दिखाई पड़ रही है। मुझे तो नहीं दिखाई पड़ रही है।

का : (हँसती हुई) अच्छा मान लिया, दीवार नहीं है। लेकिन अपनी घड़ी तो देखो, क्या वक्त हुआ है ? साढ़े सात बज रहे होंगे। मुझे वहाँ साड़े आठ तक पहुँच जाना चाहिए। अभी बस के लिए जाने कितना रुकना पड़े।

क : तो कहाँ कलकत्ता-बम्बई जाना है तुम्हें ? नयी दिल्ली से पुरानी दिल्ली जाने में क्या देर लगती है। मगर का, आखिर यह दीवार! (सामने की ओर आश्चर्य से देखता है।)

का : (क्रोध से) बन्द करो यह बकवास ? मैं कहती हूँ, मुझे जाने की जल्दी है और तुम हो कि बस यह दीवार, यह दीवार की रट लगाये जा रहे हो। (भीतर चली जाती है)

क : (पीछे की ओर मुड़ कर) अच्छा तो फिर जाओ, मुझे इसमें क्या करना है।

का : (अपना 'वैनिटी बैग' लेकर लौटती हुई) देखो, मैंने अपना विचार बदल दिया हैं।

क : (चौंक कर) क्या अब वहाँ नहीं जाओगी ?

का : यह नहीं, मैं तो जाऊँगी ही, पर तुमको भी साथ ले चलूँगी। पता नहीं, तुम यहां क्या कर डालो।

क : (प्यार से) का, प्लीज, आज छुट्टी का दिन है। मुझे घर पर ही आराम करने दो।

का : नहीं, मुझे अब विश्वास नहीं हो रहा है कि तुम अकेले ठीक ढंग से रह सकोगे।

क : अरे वाह, मैं क्या कोई बच्चा हूं जो प्याले और गिलास तोड़ दूंगा ? क्या तुम डरती हो कि अकेला होने पर मुझे लकड़बग्घा उठा ले जाएगा ?

का : मैं तुम्हें खूब जानती हूं। मैं न रहूँ तो तुम्हारा एक भी काम पूरा न हो। अपने से न ठीक समय पर उठ सकते हो, न समय से खाना खा सकते हो, न आफिस जा सकते हो। तुम्हारा रत्ती-रत्ती काम मुझे करना पड़ता है। अगर मैं न होती तो बहुत पहले आफिस से निकाल दिये गए होते। न रहने का तरीका मालूम, न जीने का सलीका। मैं तो ऊब गयी हूँ तुम्हारे इस ऊलजलूलपन से।

क : उलजलूलपन ? तुम भूल रही हो कि यदि मैं ऊलजलूल होता तो दिल्ली में एक दिन भी नहीं टिक पाता।

का : तो तुम्हारा टिकना मेरी वजह से है, तुम्हारी वजह से नहीं। खैर, अब जल्दी से कपड़े बदल लो। (भीतर जाकर पैंट, कमीज लाती है) लो, कपड़े बदलो।

क : कपड़े बदल लूँ ? यहीं ? (दर्शकों की ओर दिखाता हुआ) इतने लोगों के सामने ?

का : कितने लोगों के सामने ? यहाँ कौन है ! अजीब बात है। सामने ही यह दीवार है और ......

क : तुम मुझे बेवकूफ बना रही हो 'का'। कहाँ दीवार है ?

का : अच्छा मान लिया, दीवार नहीं है। यहाँ शरम आ रही है तो भीतर जाकर कपड़े बदल आओ। लेकिन जल्दी करो। (ढकेल कर उसेभीतर कर देती है। स्वयं बैग खोलकर छोटा शीशा और लिपिस्टिक निकालती है। शीशे में देखकर लिपिस्टिक से ओठ रंगती, फिर गालों पर 'रूज' मलती है। एकाएक उसकी नजर कोने में पड़े एक बण्डल पर पड़ती है जो अखबार में लिपटा है।)

का : यह लो। यह कोने में क्या रख छोड़ा है ? मैं लाख बार कह चुकी हूं कि यह 'ड्राइंग रूम' है इसे 'ड्राइंग रूम' ही रहने दो, कबाड़खाना न बनाओ, पर तुम हो कि मानते ही नहीं। जो भी चीज लाते हो, यहीं पटक देते हो। जूते खोल कर यहीं रख दोगे, कपड़े कुर्सियों पर फेंक दोगे। (बण्डल उठाती

हुई) आखिर इसमें है क्या ? (मेज पर रखकर खोलती है। उसमें से पाँच मुखौटे निकलते हैं, रामलीला में बिकने वाले मुखौटे) अरे सुनते हो, यह क्या लाए हो ? (खिड़की से झाँककर) अजी तुम बोलते क्यों नहीं ? कहाँ हो ?

क की आवाज : 'बाथरूम' में हूं। आ रहा हूं। (जल्दी जल्दी बाहर आता है।)

का : (क को देख कर क्रोध से) यह सब क्या है ? रबिश।

क : अरे छोड़ो भी। ये खिलौने हैं।

का : तुम्हें शरम नहीं आती ? घर में बच्चे भरे पड़े हैं क्या जो ये पाँच-पाँच मुखौटे उठा लाये ?

क : आज नहीं हैं तो क्या कभी होंगे ही नहीं ? पड़े रहेंगे ये।

का : दस बरस शादी को हुए, अब तक एक चूहे का बच्चा भी नहीं जनमा और बच्चों के खेलने के लिए यह....

क : खैर छोड़ो इसे, जल्दी करो। (घड़ी देखता हुआ) देखो, आठ बज रहे हैं।

का : चलो, इसे भी लेती चलती हूं, बाहर फेंक दूंगी।

क : अरे अरे, यह क्या कह रही हो ? आखिर पैसे देकर खरीदे हैं।

का : इसीलिए तो फेकूँगी ताकि आगे फिर कभी ऐसी बेकार चीजें न खरीदो।

क : अगर तुम इन्हें फेंकने पर ही तुली हो तो फिर मैं तुम्हारे साथ न जाऊँगा।

का : (मुस्कुराती हुई) अच्छी बात है, रख लो। लेकिन 'ड्राइंग रूम' में नहीं, (हाथ में देती हुई) भीतर 'स्टोर' में रख आओ।

(क उन्हें लेकर भीतर जाता है और का वहीं से कहती है,) अजी सुनो स्टोर में तो मैंने ताला बन्द कर दिया है। 'बेड रूम' में ही कहीं नीचे रख दो। और बाहर के दरवाजे में बन्द करने के लिए ताला लेते आना।

का : (शीशा निकाल कर मुंह देखती है।) चाभियों का गुच्छा भी वहीं है, लेते आना। (जूड़ा ठीक करती है)

क : (ताला और चाभियों का गुच्छा हाथ में लिए हुए बाहर आता है) बाहर तो ताला बन्द करोगी, मगर यह दीवार तो है नहीं। इसका...

का : (अत्यन्त क्रुद्ध होकर) चुप रहो। मैं कहती हूं, मुझे पागल मत बनाओ।

क : (जोर से) तो क्या मैं झूठ कह रहा हूँ ? कहाँ है यहाँ की दीवार ? ये सामने इतने आदमी हैं, क्या यह झूठ है ?

का : हे भगवान। मैं कहती हूं या तो तुम्हारी आँखों को कुछ हो गया है या मेरी आँखों को।

क : बेशक, हममें से किसी एक की आँखों को कुछ हो गया है। लेकिन इसका निर्णय कौन करेगा कि किसकी आँखें खराब हैं, मेरी या तुम्हारी ?

का : (कुछ सोच कर) अच्छा, निर्णय हो जायेगा। लेकिन इस समय तो यहाँ से चलो, देर हो रही है।

क : हाँ अब तो काफी देर हो गयी है। तुम्हारे पिताजी ने तुम्हें साढ़े आठ बजे बुलाया था और आठ बज कर दस मिनट यहीं हो गये।

का : अरे तो क्या देर हो गयी ? बाहर निकलते ही दो मिनट में बस अड्डे पर पहुंचेंगे। अगर ९ नम्बर की बस मिल गयी तो सीधे कश्मीरी गेट १५ मिनट में पहुँचाएगी। कुछ भी देर नहीं हुई है, चलो।

क : लेकिन हम लोग इस विषय पर कोई समझौता करके तब चलें कि यहाँ दीवार है या नहीं ?

का : मैं तो देख रही हूँ कि है।

क : और मुझे दिखाई नहीं पड़ती।

का : एक बात सुनो, तुम हमेशा मेरी बात मानते हो न ?

क : हाँ, मानता तो हूँ।

का : तो इस बार भी मान लो कि दीवार है।

क : क्या मानने के सिवा और कोई चारा नहीं है ?

का : नहीं है, नहीं है, नहीं है। बस मान ही लो।

क : अच्छी बात है। अगर मेरे मान लेने से ही हम लोगों में समझौता हो जाए तो मान लेता हूँ कि वहाँ दीवार है।

का : केवल समझौते के लिए मत मानो। अपने मन में बैठा लो कि वहाँ दीवार थी, है और रहेगी।

क : मन में बैठा लूँ ? अच्छी बात है। मन में बैठा लिया कि यहाँ दीवार है, दीवार है, दीवार है, दीवार है, दीवार—

का : हाँ अब ठीक है। ऐसे ही अच्छे लड़के की तरह रहो।

[आगे पीछे दोनों निकलते हैं। बाहर से क दरवाजा बन्द करता है। कुण्डी बन्द करने और ताला लगाने की आवाज।]

[आगे के पाँच मिनट तक मंच खाली रहेगा। मंच पर पहले धुँधलापन छा जाता है, फिर नीली रोशनीं भर जाती है। थोड़ी देर में दरवाजा खटखटाने की आवाज होती है। बाहर से बोलने की आवाज़ें आती हैं।]

एक व्यक्ति : अरे बुद्धू, देखते नहीं, ताला बन्द है; खटखटाते चले जा रहे हो ?

दूसरा व्यक्ति : अरे हाँ, तो हज़रत के घर मे आज तालाबन्दी है।

पहला व्यक्ति : मरदूद इतवार को भी घर में आराम नहीं करता।

दूसरा : कौन जाने 'पिकनिक' मनाने ओखला गया हो।

पहला : हो सकता है, दोनों कोई अंग्रेजी फिल्म देखने गये हों।

दूसरा : हो सकता है, सब्ज़ी लाने गये हों।

पहला : खैर, कुछ भी हो सकता है। अब खड़े क्या हो यहाँ ? चलो दूसरा दरवाज़ा खटखटाएँ। यहाँ की चाय तो गयी।

दूसरा : चलो, सोनी के यहाँ चलें।

[आवाज़ें बन्द हो जाती हैं। फिर पूर्ववत् शान्ति। मंच पर रोशनी बुझ जाती है, अंधेरा हो जाता है। फिर पीला प्रकाश-वृत्त भीतर वाले कमरे में इधर-उधर घूमता है। सहसा वह बुझ जाता है और दूसरा नीला प्रकाश-वृत्त बैठक में एक कुर्सी पर पड़ता है, फिर दूसरी कुर्सी पर, फिर तीसरी पर, अन्त में मेज़ पर आकर स्थित हो जाता है। बाहर से ताला खोलने और बोलने की आवाज़। क दरवाज़ा खोल कर भीतर आता, पर दरवाज़े पर ही रुक कर बाहर वालों से बातें करता है।]

क : चले आओ दोस्तो, मैदान खाली है। (बाहर देखता हुआ।) आओ भई, भीतर क्यों नहीं आते ?

एक आवाज : क्या आएँ भीतर ? भाभी जी तो हैं नहीं, और तुम चाय बनाना जानते नहीं।

दूसरा : लेकिन यह भी खूब रही ! उनको बस में ढकेल कर खुद बाहर ही रह गये ।

क : तो मैं क्या करता भाई। वहाँ पहुँचने के पहले ही बस आ गयी थी। वह ठसाठस भरी थी और बाहर लम्बी लाइन लगी थी। श्रीमती जी लाइन से आगे जाकर बस में घुस गयीं ! जब मैं घुसने लगा तो लोगों ने मेरी बाँह पकड़ कर मुझे रोक दिया। इसी बीच बस चल पड़ी।

दूसरी आवाज : चलो तुम्हें तो इसी बहाने छुट्टी मिली।

क : छुट्टी मिली या जान की आफ़त आयी ! मैं तो यही सोचता हुआ वापस आ रहा था कि क्यों न मैं भी दूसरी बस से चला जाऊँ।

पहली आवाज़ : तो वापस क्यों आ गये ? चले जाना चाहिए था।

क : मैं तो बस सोच रहा था, वापस तो मेरे पाँव आ रहे थे।

दूसरी आवाज़ : (लम्बी हंसी के बाद) लेकिन यार, बहाना तुमने अच्छा ढूंढा...पाँव वापस आ रहे थे ! (फिर हँसता है।)

क : सच कहता हूँ, अगर तुम लोग न मिल गये होते तो मैं जरूर दूसरी बस से चला जाता।

दूसरी आवाज़ : तो अब भी क्या बिगड़ा है, चले जाओ ! हम लोग तो अब्र सोनी के यहाँ जा रहे हैं।

क : अच्छी बात है, जाओ। मैं भी दूसरी बस से चला जाऊँगा। (दरवाज़ा भीतर से बन्द करके सिटकनी लगाता है और भीतर आते हुए ज़ोर से हँसता है, इतना हँसता है कि हँसी रुकती ही नहीं। हंसते-हंसते एक कुर्सी पर बैठ कर सुस्ताता और फिर हंसने लगता हैं और फिर जूते सहित पाँवों को मेज़ पर फैला देता है और जूतों को खूब हिलाता है; फिर एक पैर ऊपर करके हिलाने लगता है; वह पैर थक जाता है तो दूसरा पैर ऊपर करके हिलाता है; जब वह भी थक जाता है तो खड़ा होकर बारी-बारी से दोनों हाथों को देर तक हिलाता है; फिर सर को चारों ओर घुमाता, फिर मनमाने ढंग से हाथ-पैर भाँजता और उछल-कूद करता है; एकाएक रुक कर अपने कपड़ों को देखता है; फिर कुर्सी पर बैठ कर जूतों के फीते खोलते हुए गाने लगता है "फेंक दो—फेंक दो—हाँ-हाँ जूतों को फेंक दो।" इसके बाद जूते उतार कर वह बारी-बारी से छत की ओर उछाल देता है; पैंट के बटन खोलने लगता है; ऊपर के दो बटन खोलने पर भीतर का जाँघिया देखने के लिए उसकी डोरी वाला भाग ऊपर खींचता है। इसके बाद पैंट के बटन खोल कर वह उसे

जमीन पर पटक देता है; जाँघिये की डोरी पर हाथ लगाये हुए इधर-उधर देखता है। एकाएक उसकी नज़र सामने के दर्शकों पर जाती है।)

क : (घबरा कर) अरे दीवार दीवार तो है नहीं। (भाग कर पहले बाहर वाले दरवाजे के पास कोने में छिपता है. फिर तेजी से दौड़ कर भीतर वाले दरवाजे से सोने के कमरे में घुसता और आड़ में छिप जाता है। फिर (खिड़की के सामने आकर) अरी कम्बख्त दीवार, तू कहाँ चली गयी है ? अच्छा, आ, आ, ले, यह जाँघिया पहन। (छड़ से बाहर हाथ निकाल कर जाँघियाँ बाहर फेंक देता है। फिर नीचे झुक कर एक मुखौटा उठाता है और उसे उलट-पलट कर देखता है । मुखौटा बन्दर का है। मुखौटे को दोनों हाथों में वह इस तरह लेता है कि मुखौटे का मुँह उसके मुँह के सामने है और दर्शक दोनों का मुँह देख सकते हैं) कहिये हनुमान जी अब, तो पकड़ में आये ? (जोर से हँसता है) भई आओ, हम अपने चेहरे बदल लें। मुखौटा अपने चेहरे के ऊपर लगाकर सिर के पीछे रस्सी में गांठ देता है शीशा लेकर अपना रुप देखता और जोर-जोर से हँसता है । तभी बाहर से दरवाजा खटखटाने की आवाज आती है।)

क · (धीरे से) न जाने कौन खूसट आया। सालों को अपने घर में अच्छा नहीं लगता। (जोर से) खोलता हूँ। कौन साहब हैं ? (धीरे से) अरे मेरा पाजामा, मेरा पाजामा कहाँ हैं ? (इधर उधर खोजता हैं। बाहर से फिर खटखटाने की आवाज आती है) कमबख्त पाज़ामा भी कहीं घूमने चला गया। (धीरे से) घबराइये नहीं, अभी खोलता हूं। (धीरे से) अच्छा यह का, की साड़ी है। (बक्सों पर रखी साड़ी उठा कर दोहरी करके लुंगी की तरह लपेट लेता है और लपक कर बाहर निकलता है। दरवाजे के पास जाकर सिटकनी खोलता है । आगन्तुक सिर नीचे किये उसकी साड़ी की ओर देखता हुआ भीतर प्रवेश करता है। वह वृद्ध व्यक्ति है, हाथ में छड़ी है।)

आगन्तुक : माफ़ कीजिएगा, मैंने आपको तकलीफ दी। वे कहीं बाहर गये हैं क्या ? खैर, मैं तब तक बैठूंगा जब तक वे आ नहीं जाते। (आगे बढ़ता जाता है, क, उसके पीछे पीछे है। आगन्तुक एक कुर्सी पर बैठ जाता हैं। वह सामने की ओर देखता हुआ बोलता जाता है।) आपको मेरी वजह से कोई तकलीफ नहीं होगी। जब आपके पति मेरे दामाद के दोस्त हैं तो आप भी मेरी बेटी के बराबर ही हुई। मेंरी बेटी ने उन्हें बुलाया है कि बीच-बचाव कर दें। उसी ने मकान का पता बता कर भेजा है मुझे।

क : जी—मैं ...

आगन्तुक : मेरे जमाने तो अब लद गये बेटी । हमारे जमाने में पति-पत्नी में लाख झगड़े होते थे पर मजाल क्या कि कोई बाहरी आदमी जान जाए। और अब तो जरा सी खटपट हुई नहीं कि पंचायत, कचहरी मुकदमा....अब यही देखो न, मेरा दामाद ... ...

क : (नाराज होता हुआ) कौन है आपका दामाद ?

आगन्तुक : (उलट कर उसकी ओर देखता और भौंचक्का हो जाता है) आप...आप...(खड़ा होकर पीछे हटने लगता है)

क : बताते क्यों नहीं ? कौन है आपका दामाद ?

आगन्तुक : (क को सिर से पाँव तक देख कर काँपता हुआ) जी, माफ़... कीजिएगा ..मैं गलत जगह आ गया था .. मैं ...

क : अरे आप इस तरह काँप क्यों रहे हैं ? बैठिए, जा कहाँ रहे है ?

आगन्तुक : (पीछे की ओर हटता हुआ) जी...यह आपका...

क : (आगन्तुक की ओर तेजी से बढ़ कर) आखिर आप कहना क्या चाहते थे ?

आगन्तुक : (पीछे हटता हुआ दरवाजे के पास तक पहुंच जाता है) मैं... मैं जी मैं कुछ नहीं...।...माफ़ कीजिएगा...आपका चेहरा ...

क : (एकाएक चेहरे पर लगे मुखौटे का ख्याल आता है । वह उसे जल्दी से उतार कर जोर-जोर से हंसने लगता है । फिर शान्त होकर) यह चेहरा आदमी के पूर्वज आदम का है—पुरानी बुजुर्गवार; यह हम सबकी पुरानी और असली सूरत है। (फिर हंसता है) लीजिए जरा आप भी शौक कीजिए । मैं आइना ला देता हूं । उसमें आपको अपनी असली सूरत साफ़ दिखाई पड़ने लगेगी (आगे बढ़ कर यह आगन्तुक के पास पहुंच जाता और मुखौटा उसके मुँह के पास ले जाता है ।)

आगन्तुक : (दोनों हाथ से रोकता हुआ और क्रोध से) तुम तो बड़े बदतमीज मालूम पड़ते हो जी ? मेरी उम्र का ख्याल नहीं करते ?

क : तो मेरी उम्र क्या आप पांच साल की समझते हैं ? आप साठ साल के हैं तो मैं भी पैंतीस साल का हूं यह चेहरा हम दोनों का असली चेहरा है। लीजिए अपने हाथ में तो लीजिए ।

आगन्तुक : (दरवाजे से बाहर निकलता हुआ) राम राम । मैं भी कहां आ फँसा ?

क : दरवाजे के पास पहुँच कर) अच्छा तो इसे अपने साथ लेते जाइए। घर में कमरा बन्द कर अकेले में इसे अपने चेहरे पर लगाईएगा । (उनके साथ में जबर्दस्ती थमा कर दरवाजा बन्द कर लेता है । फिर गम्भीर होकर लौटता हुआ) बेवकूफ़ बेहूदे चमगादड़ कहीं के ! और तुर्रा यह कि ये लोग अपने को आदमी समझते हैं जब कि असलियत यह है कि (दौड़ कर भीतर जाता बाकी मुखौटे लाकर मेज पर रखता और बारी-बारी से एक-एक को उठाता हुआ) ये सब के सब (भेंड़ का मुखौटा उठा कर) भेंड़ हैं (गीदड़ का मुखौटा उठा कर) गीदड़ हैं (गधे का मुखौटा उठा कर गधे है । (लोमड़ी का मुखौटा उठा कर) लोमड़ी हैं । बदसूरत मक्कार डरपोक कमअक्ल छिप कर वार करने वालें हिंसक ! हुंह । अपना चेहरा कोई नहीं देखता दूसरों का चेहरा सब देखते हैं (सहसा उसकी दृष्टि दर्शकों की ओर जाती है) अरे मेरी बनियान क्या हुई ? कमबख्त यहाँ की दीवार क्या हो गयी ? अजीब बात है ! अपने घर में ही एकान्त नहीं हैं । इतने सारे लोग मेरी ही ओर टकटकी लगाए देख रहे हैं जैसे मैं कोई चोर होऊं । हुंह अब अगर यहाँ बैठना है तो कपड़े पहनो । या खुदा ! (खड़ा होकर इधर उधर देखता फिर बनियान के पास जा कर उसे उठाता और पहनता है । फिर अपनी लुंगी को देख कर) और मेरा पाजामा...? वह किधर है ? (दर्शकों की ओर देख कर फिर भीतर के कमरे में जाता है । पाजामा पहन कर फिर बाहर आता कुर्सी पर बैठता और जम्हाई लेता है । फिर उठ कर तख्त के पास जाकर बिस्तर फैलाता और बैठता हैं ।)

क : पहले सिगरेट पी लूं तब सोऊंगा । मेरा सिगरेट केस ? (उठ कर कमीज के पास जाता और देखता है । सिगरेट का डिब्बा न पाकर कमीज को वहीं पटक देता है । फिर पैण्ट के पास जाता है । जेब से सिगरेट का डिब्बा और दियासलाई निकालता है। तख्त पर जाकर इत्मीनान से सिगरेट सुलगाता और धुएं के छल्ले ऊपर फेंकता है। बाहर से दरवाजा खटखटाने की आवाज ।)

क: नहीं खोलूंगा, मैं सोने जा रहा हूं। (फिर खटखटाहट) कह तो दिया, नहीं खोलूंगा

(बाहर से आवाज) : अरे भाई, खोलते क्यों नहीं ? ताश लेकर आया हूं ।

क: (दौड़कर दरवाजा खोलता हुआ) अरे, खन्ना ! आओ, आओ । मैंने समझा, कोई और हैं ।

खन्ना : लेकिन यार भारी भुलक्कड़ हो । तुमने कल कहा था कि तुम मेरे घर ताश खेलने आओगे । छुट्टी के दिन घर में बैठ कर क्या कर रहे हो ? लेकिन माजरा क्या है ? ये कपड़े क्यों बिखरे हैं ?

क : तो क्या हुआ ? आखिर हैं तो घर में ही ।

खन्ना : (हँसता हुआ) ओ, अब समझा । श्रीमती जी घर में नहीं हैं क्या ?

क : नहीं दिन भर के लिए मैके गयी है ।

खन्ना : तब तो यार बहुत मजे रहेंगे । आओ, हो जाए 'फ्लश' (मेज पर ताश के पत्ते पटकता है । दोनों कुर्सियों पर बैठ जाते हैं ।)

क : हाँ, हो जाए ! (रुककर दर्शकों की ओर देखता और धीरे से बोलता है) लेकिन यार, फ्लश तो जुआ ही है न ?

खन्ना : तो इससे क्या हुआ ? सभ्य समाज में इसे जुआ नहीं कहा जाता ।

क : लेकिन, पुलिस ? पुलिस तो इसे जुआ समझती है न ?

खन्ना : समझती है तो समझा करे । हम अपने घर में हैं । कमरे की इन चार दीवारों के भीतर हम चाहे जो करें ।

क : (खड़ा होकर) बस बस यार, यही तो मैं कहना चाहता हूँ कि हम अपने घर में रहते हुए भी सड़क पर हैं ।

खन्ना : सड़क पर हैं ? (जोर से हँसता है) सड़क पर हैं, या तुम्हारे कमरे में हैं ?

क : अपने कमरे में होते हुए भी सड़क पर हैं । एक चौकोर कमरे में कितनी दीवारें होती हैं ?

खन्ना : क्यों, चार दीवारें होती हैं ।

क : लेकिन दोस्त, मेरे इस कमरे में आज तीन ही दीवारें हैं । एक दीवार सबेरे से ही गायब है और कमरा सड़क पर पूरा का पूरा खुल गया है ।

खन्ना : बकवास कर रहे हो ? चार दीवारें तो है (उँगली से चारों ओर दिखा कर गिनाता हुआ) एक दो तीन (अन्त में दर्शकों की ओर) चार ।

क : इधर चार कैसे कहा ? यहाँ कहाँ दीवार है ?

खन्ना : क्यों, यह दीवार नहीं है ?

क : अब समझ गया, बकवास मैं नहीं, तुम कर रहे हो। मैं साफ देख रहा हूं कि इधर की दीवार नहीं है और हजारों आदमियों की भीड़ हमारी एक-एक हरकत को गौर से देख रही है। इस भीड़ में पुलिस वालें होंगे, खुफिया के लोग होंगे, पुलिस के दलाल होंगे, सरकारी अफसर होंगे। अभी तो ये सब तमाशबीन हैं, मगर कल...नही भाई मैं फ्लश नहीं खेलूँगा !

खन्ना : अगर तुम्हें विश्वास है कि लोग हमें देख रहे हैं तो मत खेलो। लेकिन तुम्हारा दिमाग....

क : मेरा दिमाग खराब ही सही, तुम्हारा दिमाग ठीक है तो मेरे एक प्रश्न का उत्तर दो।

खन्ना : मुस्कुराता हुआ उसकी आँखों में घूरता है।) अच्छा, पूछो।

क : क्या कोई ऐसा रास्ता है कि हम यहाँ जुआ खेंले, शराब पिएँ या चाहे जो करें, मगर इस भीड़ में उपस्थित पुलिस या और कोई हमें पकड़ न सके ?

खन्ना : (कुछ सोचता हुआ) मुझे तो कोई रास्ता नहीं सूझता।

क : अब देखो मेरे दिमाग की करामात। मैं रास्ता बताता हूं ! (उसके कान क पास झुक कर, धीरे से) यार, अब तक ये लोग हमारा रहस्य जानने के लिए भीड़ लगा कर मेरी ओर देख रहे थे। क्यों न इन्हें चकमा दिया जाये ?

खन्ना : कैसे ?

क : (दो मुखौटे उठा कर मेज पर रखते हुए) ये मुखौटे लगा कर हम जो भी करेंगे, ये लोग समझेंगे कि हम नाटक कर रहे हैं। फिर कोई नहीं पूछेगा कि क्या कर रहे हो।

खन्ना : (कुतूहल से कभी मुखौटों की ओर, कभी क की ओर देखता हुआ) क्या बक रहे हो ? हम कोई बच्चे हैं जो मुखौटे लगायें।

क : मेरे भाई, बच्चे मुखौटे लगा कर खेलते हैं, बड़े लोग मुखौटे लगा कर नाटक करते हैं। लो, (गीदड़वाला मुखौटा उठाते हुए) इसे बाँध लो। लाओ, मैं बाँध देता हूं।

खन्ना : अरे-अरे, यह क्या कर रहे हो ?

क : अगर फ्लश खेलना है तो बाँधने दो। (जबर्दस्ती उसके चेहरे पर मुखौटा लगा कर पीछे रस्सी, की गाँठ देता है। दूसरा मुखौटा, जो लोमड़ी का है, अपने चेहरे पर लगाता है) देखो, लोग कैसे खुश हो गये ! लो ये ताश के पत्ते !

खन्ना : लेकिन पहले दरवाजा तो बन्द कर दो।

क : शायद तुम भूल गये हो कि तुम नाटक के पात्र हो और दूसरों को तुम्हें देखने का पूरा हक है चाहे वे दरवाजे से देखें या पूरी दीवार तोड़ कर देखें। खैर, दरवाजा बन्द किये देता हूं। (दरवाजा बन्द करके सीधे भीतर के कमरे में जाता है और शीशा उठा लाता है।) आओ, खेल शुरु होने के पहले हम अपनी सूरतें देख लें। (अपने को देख कर) वाह, बिलकुल लोमड़ी लग रहा हूं और तुम भी यार, एकदम गीदड़ लग रहे हो। (शीशा दिखाता है) तुम्हारा असली चेहरा तो यही है।

खन्ना : (शीशा हटाते हुए) भाई, अब तो मैं तुम्हारे इस खेल से ऊब रहा हूं। मैं जाऊँगा। बाज आया इस फ्लश से ! (मुखौटा उतार कर क को देता है)

क : वाह, जाओगे कैसे ? अब तो मैं मूड में आया हूं। बैठ जाओ प्यारे। जम जाने दो।

खन्ना : (अपने को छुड़ाता हुआ) नहीं भाई, मुझे जाने दो। (उठ कर चलने लगता है)

क : (हँसता हुआ) अरे यार तुम तो भाग रहे हो। सुनो, सुनो। (ताश उठाता हुआ) जा ही रहे हो तो अपना यह ताश लेते जाओ।

खन्ना : लाओ, लाओ। आज जाने सबेरे उठकर किसका मुँह देखा था? (दरवाजे के पास खड़ा हो जाता है।)

क : मुखौटा लिये हुए पास जाकर) अपनी बीबीका देखा होगा। (मुखौटे में रख कर ताश देता है, अपना मुखौटा उतार कर दिखाता हुआ) ठीक ऐसा ही था न ! इसे भी लेते जाओ। बीबी के चेहरे पर लगा देना और दोनो मिल कर फ्लश खेलना। (हाथ में मुखौटा थमा कर) अब जाओ। बाहर ढकेल कर दरवाजा बन्द करता और ठहाके लगाने लगता है साले, अपना असली चेहरा देखते ही भाग खड़े होते हैं। नकली चेहरा उतार कर असली चेहरा लगानेमें शर्म लगती है। 'कुर्सी पर बैठकर, नहीं, ऐसे नहीं, अब ऐसे

बैठूंगा। (पालथी लगा कर कुर्सी पर बैठता है।) देखता हूँ, मेरा कोई क्या कर लेता है ? देखे, जिसे देखना हो। (दोनों मुखौटा को उठा कर मेज पर रखता हुआ) मुखौटा भी लगाये रहूंगा, और कभी नहीं उतारुंगा— चाहे जो हो जाए। (गधेका मुखौटा लगाता है) अब फिर कोई आ रहा होगा। अच्छा, आए। चाहे जो भी आए, इस बार जवर्दस्ती मुखौटा बाँध दूंगा। देखा जाएगा। उल्लूके पट्ठे आकर सीधे कुर्सी पर बैठ जाते हैं। मैं कुर्सियोंके चेहरे भी बदल देता हूँ। (उठकर सभी कुर्सियों को उलटा कर देता है। (अलग हट कर उन्हें देखता हुआ) हां, अब ठीक है–(बारी-बारी से कुर्सियों को दिखाता हुआ) ये हैं कार्यालय अधीक्षक यानी आफिस सुपरिन्टेण्डेण्ट, ये हैं प्रधान लिपिक यानी 'हेड क्लार्क', ये हैं खजांची बाबू और (मेज पर बैठ कर अपने को दिखाता हुआ) और ये हैं किरानी बाबू, मिस्टर क, मिस्टर बुद्धू, मिस्टर गधा ! (जोर-जोर से हंसता हैं। बाहर दरवाज़ा खटखटाने की आवाज।)

क : (धीरे से) हाँ-हां, खटखटाओ, ख़टखटाते रहो। (फिर कुछ सोच कर) कौन है ? अरे जग्गू हो क्या ? मेरी फाइल लाये हो ? यार, अच्छे चपरासी हो। एक दिन बाद फ़ाइल ला रहे हो ? मेंने तो कहा था, रात ही में मेरे यहाँ पहुंच जाना। अब तुम इस वक्त ला रहे हो ? (फिर खट-खटाहट) रहो, खोलता हूं। आओ, तुम भी क्या कहोगे कि कहीं गया था ! (जोर से) अभी खोला। (हाथमें मुखौटा उठा कर दरवाजे के पास जाता है। धीरे से सिटकनी गिरा कर दरवाजा खोलता और किवाड़की ओट में छिपता है। आगन्तुकके घुसते ही झपट्टा मार कर उसे देखे बिना ही उसके चेहरे पर मुखौटा बाँध देता है। आगन्तुक अभी दरवाजेके सामने ही है। वह स्तब्ध रह जाता है।) वाह भाई जग्गू ! अब तुम अपने असली रूप में दिखाई पड़ रहे हो। बिलकुल भेड़।

आगन्तुक : (वह क्रोध से मुखौटे को जमीन पर पटक देता है और पीछें मुड़ कर) बेटी, तुम जल्दी भीतर आ जाओ। राजेश, तुन भी आ जाओ। (दोनों भीतर आ जाते हैं। औरत का और युवक का का भाई है। आगन्तुक का का पिता है। क उन्हें देख कर अत्यन्त चकित होता और जहाँ का तहां खड़ा रह जाता है। उसके मुंह से बोली नहीं निकलती।)

पिता : राजेश बेटा, जल्दी दरवाजा बन्द करो। कहीं यह भागने न पाए। बेटी, तुम ठीक कह रही थी। इसका दिमाग ज़रूर खराब हो गया है।

का : (दुखी स्वर में) पिता जी, अब क्या होगा पिताजी ?

पिता : राजेश, इसके दोनों हाथ पीठके पीछे बाँध दो। कौन जाने, यह फिर कुछ कर बैठे।

[राजेश आगे बढ़ कर क की ओर जाता है क पीछे हटता हुआ कुर्सियों के पास जाता है। का और उसके पिता जी सतर्क होकर आगे बढ़ते हैं]

का : (कुर्सियों को देख कर) यह सब क्या हो गया है ? ये कुर्सियाँ—ये कपड़े ! पिता जी, मैं पहले ही कह रही थी, किसी डाक्टर को लेते चलिए।

पिता : मैं क्या जानता था कि यह सचमुच पागल हो गया है ! मैं तो समझता था कि तुम्हे शक हो गया है।

का : कुछ-कुछ शंका तो मुझे यहाँ से जाने के पहले ही हो गयी थी। लेकिन जब ये मुझे बस में भीतर ढकेल कर खुद बाहर रह गये और मेरे बुलाने पर भी भीतर नहीं घुसे तो मेरा शक मजबूत हो गया। बस खुल जाने से मैं उतर भी नहीं सकी।

राजेश : दीदी, तुम उतर कर भी अकेले क्या कर पाती ?

पिता : गनीमत है कि हम लोग जल्दी ही आ गये। अगर देर होती तो यह दीवाना बन कर सड़क पर निकल गया होता। देखते नहीं, चेहरे पर गधेका मुखौटा बाँध रखा है। (क की ओर देख कर गरजता हुआ) उतारो इसे। (क भयभीत होकर मुखौटा उतार लेता और अपने ससुर की ओर बढ़ाता है।)

पिता : (उसे ले कर जमीन पर पटकता हुआ) राजेश, इसके हाथ बाँधो।

का : पिता जी, पहले इनसे कुछ पूछिए। ये कुछ बोलें तो।

पिता : अभी कुछ पूछना-समझना बाक़ी रह गया है क्या ? मेरे मुंह पर भेड़का मुखौटा लगा दिया, अपने चेंहरेको गधेका चेहरा बनाये था, कुर्सियाँ उलटी पड़ी हैं। कपड़े चारो ओर फिके हैं। पागल के क्या कुछ और लक्षण होते हैं ?

का : (खुद क के पास जाती हुई) क प्लीज, कुछ बोलो, कुछ भी बोलो ! क चुप हो कर उसकी ओर एकटक देखता है) यों मुझे देखते क्या हो ? कुछ बोलते क्यों नहीं ? अरे यही कह दो कि इधर दीवार है।

क : (क्रोधसे उबलता हुआ) मैं झूठ नहीं बोल सकता। सच्चाई यह है कि इस ओर की दीवार नहीं है। दीवार होती तो ये हजारों लोग कैसे दिखते ?

पिता : अब लो ! हम तीन जन देख रहे हैं कि वहाँ दीवार है और यह कहता है कि दीवार नहीं है। पागल और किसको कहते हैं ? जो सामने है उसे नहीं देखना और जो नहीं है उसे देखना, यही तो पागल की पहचान है।

राजेश : पिता जी......

का : लेकिन पिता जी हो सकता है इन्हें भ्रम हो गया हो, इनका भ्रम मिटाने के लिए पहले हम लोग ही कुछ करें। जब हमसे कुछ नतीजा न निकले तब डाक्टर को बुलाया जाये।

पिता : खैर, यही सही। मगर इसका भ्रम मिटाया कैसे जाये ?

राजेश : मैं बताता हूँ पिता जी। (क से) भाई साहब, आपकी आँखें उधर क्या देखती है ?

क : भीड़, भीड़में आदमी, आदमियों के चेहरे, चेहरोंमें आँखें, आँखोंमें भय, पीड़ा, मक्कारी, धोखा, फरेब, हिंसा–

राजेश : बस-बस। लेकिन हम लोग उधर दीवार देखते हैं। आपकी दो आँखों का देखना सही है या हमारी छह आंखोंका ?

क : मेरी दो आंखोंका, क्योंकि ये मेरी आंखें हैं, आप तीनों की या और हजारों लाखों की नहीं।

राजेश : आंखों की तरह आप हाथ से छूने को भी प्रमाण मानेंगे या नहीं ?

क : हां मानूंगा।

राजेश : तो चलिए, आप खुद अपने हाथसे चारों ओर की दीवारों को छू कर देख लीजिए।

क : चलो।

पिता : लेकिन इसकी आंखें ? अगर हाथ कहे भी कि दीवार है तो इसकी आंखें कहेंगी, दीवार नहीं है। मैं जानता हूँ, यह आंखों का ही कहा मानेगा।

का : तो इसका तो सीधा उपाय है। इनकी आँखों पर पट्टी बाँध दी जाए।

राजेश : बिलकुल ठीक ।

पिता : हाँ, ऐसा ही करो ।

राजेश : दीदी, पट्टी बाँधने के लिए कोई कपड़ा लाओ ।

का : (क से प्यार पूर्वक) बोलो, पट्टी बाँध दी जाए न ?

क : (अत्यन्त उदास होकर) हाँ, बांध दो ।

[का जल्दी-जल्दी भीतर जाकर एक तौलिया लाती है]

राजेश : (हाथ में तौलिया लेते हुए) देखिए भाई साहब, (दर्शकों की ओर दिखा कर) इधर पूरब है न ? (जो भी दिशा हो उसी का नाम लिया जाये ।)

क : हाँ ।

राजेश : तो हम उत्तर की दीवार से शुरू करेंगे और अन्त में पूरब की दीवार तक आएँगे । (उत्तर की दीवार के पास ले जाकर आँख पर पट्टी बाँधता है) दीदी, तुम इनका हाथ पकड़ कर आगे-आगे चलो (का क का बायाँ हाथ पकड़ कर आगे-आगे चलती है । राजेश क का दायाँ हाथ दीवार से सटा देता है ।)

राजेश : बोलिए, यह उत्तर की दीवार है न ?

क : हाँ, है ।

[सभी उत्सुकतापूर्वक आगे बढ़ते हैं । आगे-आगे का. उसके पीछे क दीवार को छूते हुए । बगल में राजेश और उसके पीछे पिता ।]

राजेश : (पश्चिम की दीवार के पास मुड़ते हुए) यह पश्चिम की दीवार है । कहिए, दीवार है या नहीं ?

क : हां है ।

[सब वैसे ही उत्सुकतापूर्वक आगे बढ़ते हैं । दक्षिण की दीवार शुरू होने पर मुड़ जाते हैं ।]

राजेश : यह दक्षिण की दीवार है । कहिए दीवार है न ?

क : हाँ, है ।

[सब आगे बढ़ते हैं। ज्यों ही वे पूरब-दक्षिण के कोने पर पहुंचते हैं, परदा बन्द होने के लिए सरक कर कुछ आगे बढ़ जाता है।]

का : हम पूरब की दीवार के पास आ गये हैं।

राजेश : भाई साहब, यह.... ..

क : (परदे को छूकर चिल्लता हुआ) अरे, दीवार तो है ! का, दीवार तो वापस आ गयी। मेरी आँखें खोल दो। मेरी खुशी वापस आ गयी... दीवार वापस आ गयी खुशी वापस आ गयी।

[परदा पूरा बन्द हो जाता है। भीतर से पिता, राजेश और का की जोर की हँसी। उस हंसी के बीच क की डूबती आवाज, "दीवार वापस आ गयी....खुशी वापस आ गयी।]

पहिये

●

जब तक अंधेरा था, गाड़ी किसी बहुत लम्बी और कहीं न खत्म होने वाली गुफा में से गुजरती सी लगती रही, किन्तु एकाएक जोरों से खटाखट्ट की आवाज सुनाई पड़ने लगी और लगा कि गाड़ी रात की गुफा से निकल कर प्रकाश में किसी स्टेशन की सीमा में पहुंच गयी है। गाड़ी की गति मन्द होती गयी और वह प्लेट फार्म पर शान से आकर खड़ी हो गयी। सवेरा होने वाला ही था, बल्कि यों कहे कि हो गया था। लेकिन स्टेशन की जगर मगर करती बिजली की रोशनी में वह गुमा-सा लग रहा था। मैंने खिड़की से बाहर गर्दन करके उधर देखा जिधर से गाड़ी आयी थी। लगा कि कुछ देरी के बाद ही वह गुफा शुरु हुई है, जिससे निकल कर गाड़ी वहाँ आयी थी। दूशरी दिशा में भी रात का गलियारा एक लम्बी अँधेरी गुफाओं के बीच यह स्टेशन काले बालू के रेगिस्तान के बीच एक संगमरमरी नखलिस्तान-सा लग रहा था।

स्टेशन बहुत बड़ा था, इतना बड़ा कि आंखें किसी ओर भी स्टेशन के आखिरी छोर को नही देख सकती थीं। इधर-उधर, आगे-पीछे, नीचे-ऊपर सभी ओर स्टेशन ही स्टेशन था। धुंधलका-भरे आसमान के नीचे वह सर्कस के गोल तम्बू जैसा लग रहा था। इतने बड़े स्टेशन में आदमियों की भीड़ और चहल-पहल नहीं थी, जिससे वक्त का सन्नाटा कई गुना हो गया था, और जिसे रह रहकर इंजनों की चीत्कार बेध देती थी। बिजली और टेलिफ़ोन और सिगनल के तारों से सारा वातावरण बुना हुआ था। मैं जब कहीं से लौटकर फिर अपने भीतर आया तो पहली नजर में यह जगह तारों से घिरा एक विशाल कैम्प जेल लगा। लेकिन तभी मेरा ध्यान खिड़की के बाहर के एक मनोरंजक दृश्य की ओर चला गया।

+ +

ओवरब्रिज के नीचे प्लेटफार्म संख्या चार पर दो खम्भों के बीच एक गठरीनुमा बोरा पड़ा था। मुझे वह धीरे-धीरे हिलता-डुलता दिखाई पड़ा। मैं गौर से उसे देखने लगा। पहले उस बोरे में से एक सिर निकला जिस पर लम्बे-लम्बे कटे बाल थे। निश्चय ही वे किसी फैशनपरस्त महिला के अधकटे बाल नहीं थे बल्कि तेल और धूप से चिपचिपे किसी नाचने वाले लड़के के जैसे बाल थे। फिर बोरा उठा तो एक पीठ बाहर निकली और फटी कमीज के छेद से मेरी ओर झांकने लगी। पीठ का चमड़ा गोरा था। फिर बोरा पूरा हट गया और उसमें से एक अधूरा मगर तन्दुरुस्त जिस्म निकल आया। जिस्म सही सलामत लगा सिवा एक पांव के जो शायद किसी दिन जिस्म को छोड़कर कहीं चला गया था और फिर नहीं लौटा था। जिस्म पर उस फटी कमीज के सिवा एक खाकी हाफ पैंट भी था जो गन्दा तो था पर फटा नहीं था। पहले दोनों हाथ जमीन पर टिके फिर उचक कर टांग सीधी खड़ी हो गयी और उसके साथ एक हाथ में दबी एक बैशाखी भी तनकर खड़ी हो गयी जिसका गोल हत्था झट जिस्मके उस तरफ वाले हाथ के नीचे बगल में दब गया जिधर पैर नहीं था। पिण्डली गोरी थी, जो मैल और कालिख से चितकबरी लग रही थी।

वह एक पांव वाली देह सहसा उछलकर घूमी और अब मेरी ओर उसका अगला हिस्सा था, जिसमें उसके चेहरे के अलावा एक लम्बा पेट भी था। चूंकि कमीज हाफ पैंट के नीचे दबी और पेट में सटी हुई थी, इसलिए पेट की अतिरिक्त लम्बाई बरबस अपने विशिष्ट अस्तित्व का बोध कराती थी। देहने स्थिर होकर सिर को झटका और चेहरे पर बिखरे बालों को पीछे की ओर कर लिया। पर बाल चूंकि फिर भी काबू में नहीं आये, इसलिए दोनों हाथों ने उन्हें दबाकर आगे से पीछे की ओर जमाने की कोशिश की। लेकिन लेकिन कोशिश बेकार ही थी। बालोंमें तेल पड़े कई दिन हो गये थे और धूल और राखसे उनमें काफी रुखापन आ गया था। अतः वे लम्बे बाल बेतरतीब स्वच्छ रूपसे लटक गये या ऊपरकी ओर उठ गये। फिर चेहरा दाहिनेसे बायें और बायेंसे दाहिने घूमा और मूवी कैमरेके लेन्स-सी आंखें सामनेकी चीजोंको यो देखने लगीं, जैसे उन सबका जायज ले रही हों।

यकीनन यह एक ऐसी देह थी, जिसमें एक नौजवान बनता हुआ फुर्तीला लड़का था। लड़का इसलिए कि वह लड़की तो हरगिज नहीं था,

क्योंकि उसके चेहरेपर मसे भिन रही थीं। फिर भी उसका चेहरा इतना मासूम और दुर्बल था कि दूरसे केवल चेहरा देखकर उसे लड़की भी कहा जा सकता था। बैसाखीके सहारे चलकर वह एक ओर गया, फिर उधर कोई आदमी था, इसलिए दूसरी ओर प्लेटफार्मके किनारे गया, जिधर न कोई गाड़ी थी न दूर तक कोई आदमी ही दीखा। अतः उसने हाफपैण्टके बटन खोले और पेशाब करने ही जा रहा था तब तक उसकी आँख ऊपर उठ गयी और उसने झट हाफपैण्टके बटन बन्द कर लिये। पेशाब करनेकी जगह उसने दोनों हाथ जोड़कर सामनेकी दिशामें नमस्कार किया और श्रद्धासे अपना सिर झुका दिया चूंकि उस दिशामें कोई आदमी नहीं था और सामनेवाली दूसरी लाइनपर एक मालगाड़ी शान्त भावसे खड़ी थी, अतः वह निश्चय ही उस सूर्यको नमस्कार कर रहा था, जो लाल लोहेकी एक बड़ी गेंदकी तरह मालगाड़ीके ऊपर उठ आया था और निर्लज्जतापूर्वक उसकी ओर देख रहा था। लड़केका संस्कार जाग गया था, नहीं, वह उगते सूर्यकी ओर मुंह करके पेशाब नहीं करेगा। लेकिन पेशाब तो उसे करना ही था। पर एक पूरी दिशाको सूर्यने घेर लिया था, उत्तर और दक्षिणमें बहुत दूर तक स्टेशनका पक्का चमचमाता प्लेटफार्म था और पश्चिमकी ओर हमारी गाड़ी खड़ी थी, जिसकी खिड़कियोंसे कई जोड़ी आंखें उसकी ओर देख रही थीं।

\+ \+

वह थोड़ी देर ठिठका-सा खड़ा रहा कि अब क्या करे। पर कुछ सोचकर वह पूर्व दिशाकी ओर मुड़ा और प्लेटफार्मके उस स्थानपर पहुचा, जहाँ ओवरब्रिजकी छाया थी। उसी छायामें प्लेटफार्मके किनारे खड़े होकर उसने फिर हाफपैंण्ट के बटन खोले और खड़ा-खड़ा ही लाइनके ऊपर पेशाब करने लगा। शायद उसने रात भर आलस्यवश अपनेको रोक रखा था, इसीसे बड़ी देर तक वह बैसाखीके सहारे खड़ा-खड़ा यह कार्य करता रहा। फिर बटन बन्द करके उसने दक्षिण दिशाकी ओर मुँह फेरा। पूरे प्लेटफार्मकी लम्बाई उसने नजरोंसे नाप डाली। सहसा उसका ध्यान ओवरब्रिजके नीचे अपने बोरों की ओर गया। एक कुत्ता उन बोरों को सूंघ रहा था और अपनी पीछें की एक टाँग उठा ही रहा था कि लड़के ने खटाक की आवाज से अपनी बैसाखी फर्श पर पटकी। कुत्ते ने झट टाँग नीचे कर ली और वहाँ से दुम दबा कर भागा।

लड़के ने अपने बोरों के पास जाकर बैशाखी जमीन पर रख दी और एक टांग पर बैठ गया। पहले उसने ऊपर वाले बोरे को तह किया और उसे बगल में दबा लिया, सिरहाने रखे एक फटे गमछे को गले में लपेटा और फिर नीचे बिछे बोरे को एक हांथ में लेंकर खड़े होकर उसकी धूल झाड़ी। एक पांव पर वह इस तरह जमकर खड़ा था कि उसका सन्तुलन नहीं बिगड़ने पाया। फिर उसने बैठकर बैशाखी उठायी और खड़ा होकर एक साफ जगह की ओर चला। वहाँ बैशाखी रखकर नीचे वाले बोरे को पूरा फैला दिया। फिर उसपर तह किये हुए बोरे को रखकर दूसरे बोरे को लपेट दिया। इसके बाद गले में लिपटे गमछे को उतार कर उस बोरों की गठरी को बीचोबीच बाँधा और फिर गठरी को पीठ पर करके गमछे के एक सिरे को दाहिने कन्धे के ऊपर से और दूसरे सिरे को बायें हाथ के नीचे से लाकर छाती के ऊपर दोनों सिरों को कस कर बाँध दिया। अब उसकी पूरी गृहस्थी उसकी पीठ पर आ गयी थी। उसने बैशाखी उठायी और खड़ा हो गया।

शायद वह सोच रहा था कि अब उसे कहीं जाना चाहिए। उसे लगा कि स्टेशन की वस्तुएं उसे अपनी ओर बुला रही हैं। पुकारे तो वह सबकी सुन रहा था, किन्तु यह निश्चय करने में उसे कुछ समय लगा कि वह किस वस्तु की ओर अपने को खिंच जाने दे। इस समूचे स्थिर जीवन के बीच सहसा उसे एक जंगम जीवन ने जोरों से अपनी ओर खींचा। यह वही ठठरीदार कुत्ता था जो पानी के बम्बे के नीचे बूंद-बूंद टपकते पानी से, अपना मुंह टेंढ़ा करके, अपनी जीभ तर कर रहा था। लड़का वहां पहुंचकर कुछ देर तक वह तमाशा देखता रहा। अब उससे रहा नहीं गया और उसने आगे बढ़कर बम्बे खड़ा हो गया। कुत्ता पानी की गिरती धारा से अलग हटकर नाली में बहता पानी पीने लगा। जब वह तृप्त होकर उधर चला जिधर मेरी गाड़ी खड़ी थी, तो उस समय भी बैशाखी के सहारे खड़े लड़के की आँखें उसका पीछा करती रहीं, किन्तु उसने जब देखा कि कुत्ता एक डिब्बे की खिड़की से मुंह निकाल कर कुछ खाते हुए एक आदमी के आगे पूंछ हिलाता हुआ खड़ा हो गया, तो घृणा से भरकर उसने अपनी आंखें उधर से हटा लीं।

\+ \+

एक बार फिर उसकी दृष्टि पानी के बम्बे की ओर गयी। वह बम्बे के पास गया, बैशाखी एक ओर रख दी और गिरते हुए पानी की धारा में अपने हाथ-मुंह धोये, दाँत साफ किये, कुल्ला कर गमछे के एक छोर से अपना मुंह पोंछा और बैशाखी उठाकर एक ओर चल पड़ा। पर उसे जहाँ नहीं

जाना था, वहीं वह पहुंच गया। प्लेटफार्म सख्या पांच पर टिन शेड के नीचे भार तोलक-मशीन के सामने वह इस तरह खड़ा हो गया था, जैसे उससे कुछ बातें करना चाहता हो या ताल ठोंककर उससे लड़ने की तैयारी कर रहा हो। फिर वह वैशाखी के सहारे उचककर मशीन पर खड़ा हो गया। मशीन के ऊपरी भाग में बिजली का लट्टू जैसे उसे लाल आंखें दिखा रहा था। लड़के ने उसकी विल्कुल परवाह नही की और अपने हाफ पैण्ट की जेब में हाथ डाला। उसमें से तीन सिक्के निकले, एक तीन पैसे वाला, एक दो पैसे वाला और एक एक पैसे वाला। उसने उन सिक्कों को फिर जेब में डाल दिया, उचककर मशीन के नीचें उतर आया और एक पैर पर झुककर अपनी वैशाखी उठा ली।

इस बार उसकी नजर शेड के बाहर ओवरब्रिज के खम्भे से सटा कर रखे बहुत से लोहे के मझोले आकार के पहियों की ओर गयी। दो-दो पहिये लोहे की धुरी में कसे हुए एक साथ मिला कर खड़े किये गये थे, जैसे किसी सैनिक छावनी में जीप गाड़ियाँ और ट्रकें कतार में खड़ी रहती हैं। लड़का उधर ही बढ़ गया। पास जाकर उसने दो धुरियों के बींच अपनी वैशाखी लगा दी और उसे जरा तिरछा करके उस पर बल लगाया। आखिरी छोर वाला पहियों का जोड़ा फर्श र लुढ़क कर जरा अलग आ गया। लड़का मगन हो गया। उसन वैशाखी के हत्थों को पहियों के बीच में लगा कर जोर से ढकेला। पहिये तेजी से लुढ़कने लगे। लड़का वैशाखी बगल में दबाकर एक पाँव पर तेजी से उछलता हुआ उन लुढ़कते पहियों के पास पहुंच गया और फिर एक बार वैशाखी के हत्थे धुरी के बींच में धक्का दिया। पहिये इस बार तेजी से भागने लगे, लड़का और उत्साह के साथ उनके पीछे उछलता हुआ दौड़ने लगा।

आगे-आगे भागते पहिये और उनके पीछे उछलता दौड़ता हुआ वह लडका और उनका पींछा करती हुई मेरीं आँखें। किन्तु सहसा यह अनोखा दृश्य मेरी दृष्टि से ओझल हो गया। उस दौड़ और मेरी स्थिर गाड़ी के बीच प्लेटफार्म संख्या चार और पाँच के बीच वाले स्टेशन के कमरे आ गये थे और तभी सूर्य की किरणें पूरे प्लेटफार्म पर पतझर में पेड़ों के नींचे बिखरी पीली पत्तियों की तरह लोटने लगीं। स्टेशन अब पूरी तरह जाग गया था।

साहित्यमें जीवन-मूल्योंका स्वरूप

●

किसी वस्तुका मूल्य वह गुण है जिसे हम उस वस्तुमें उसी प्रकार देखने लगते हैं जैसे उस वस्तुके बाह्य स्थूल रूपको देखते हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या गुण वस्तुतः उस वस्तुमें है या हम अपनी धारणा, वासना, संस्कार और आकाँक्षाके दबावसे उसे अनजाने ही वस्तुमें आरोपित करते हैं। गुण एक सूक्ष्म तत्व हैं जिसकी परीक्षा स्थूल ढंगसे नहीं की जा सकती। यदि किसी फूलमें गन्ध, रंग या मोहक आकृति है तो यह उसका स्थूल रूप है जिसका ऐन्द्रिय बोध हमें होता है। किन्तु ये तत्व हर हालतमें उस वस्तुके गुण ही हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह देखने वालेपर निर्भर करता हैं कि वह इन तत्वोंको उस वस्तुका गुण माने या दोष माने या गुण-दोष कुछ भी न माने। अतः गुण एक सापेक्ष्य संबन्ध-बोध है। फूलके रुप रंग, गंधमें स्निग्धता और स्वादको मूल्य तभी माना जा सकता है जब कि द्रष्टा उन्हें गुणके रूपमें स्वीकार करता हो अर्थात् वह उन विषयों से सीधा ऐन्द्रिय सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें भोग कर उनके सम्बन्ध में अपनी अच्छी धारणा बना चुका हो। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि मूल्य दो प्रकारका होता है— विधेयात्मक मूल्य (पाजिटीव वैल्यू) और निषेधात्मक मूल्य (निगेटिव वैल्यू) फलके गुणोंकी धारणा उसका विधेयात्मक मूल्य है किन्तु काँटेंमें असुन्दरता और छेदकताकी धारणा उसका निशेधात्मक या अभावात्मक मूल्य है जो फूलके भावात्मक या विधेयात्मक मूल्यकी विवेचनात्मक भूमिका उपस्थित करता है। इस निबंधमें वस्तुके मावात्यक मूल्य के सम्बन्ध में ही किया जा विचार रहा है क्योंकि अभावात्मक मूल्य भावात्मक मूल्यके या अमावके तिरोभाव अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इस तरह किसी वस्तुका गुण या मूल्य एक धारणा मात्र है जो उस वस्तुमें व्यक्ति द्वारा ऐन्द्रिय अनुभवके आधारपर आरोपित किया जाता है अथबा वह ऐसी अनुभूति है जो किसी वस्तुमें आरोपित धारणात्मक मूल्यके फलस्वरूप अनुमान या कल्पनाके धरातलपर घटित होती है। सम्भव है कि एक ही वस्तुका ऐन्द्रिय अनुभव एक व्यक्तिमें अच्छी धारणा या अनुकूल वेदना उत्पन्न करे और दूसरेमें बुरी धारणा या प्रतिकूल वेदना उत्पन्न करे और तीसरेमे अच्छी-बुरी कोई भी धारणा न उत्पन्न करे यानी निर्वेद या तटस्थताकी भावना उत्पन्न करे। ऐसी स्थितिमे वह वस्तु मूल्यवान केवल उसीके लिए मानी जायगी जिसमें उसके अनुकूल वेदना उत्पन्न होती है। इस तरह मूल्यका आधार दुहरा है, वह वस्तु और द्रष्टा, विषय और विषयी दोनोंमें निहित है। वस्तुमें अपना वास्तविक गुण हो या न हो पर यदि वह भ्रम या आरोपित धारणाके कारण ही सही, व्यक्तिमें अनुकूल वेदना-जन्य आनन्द उत्पन्न करती है तो यही गुण उसका मूल्य है। उदाहरण के लिए फूल और करेन्सी नोटको लीजिए। फूलका मूल्य उसमें निहित उस रूप-रस-गंध आदिके कारण है जिसका प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय बोध विषयीको होता है लेकिन करेन्सी नोटमें ऐसा कोई गुण निहित नहीं है, फिर भी उसमें मूल्य हे क्योंकि वह कृत्रिम रूप में उसमें आरोपित है। इसी भाँति मूल्यकी स्थिति विषयीमें भी है क्योंकि यदि उसकी इन्द्रियाँ कुंठित हैं या उसका राग-बोध मृत हो चुका है तो फूल, संगीत, सुगंध आदि उसे प्रभावित नहीं कर सकते। उसके लिए ऐसी सभी मूल्यवान सुन्दर वस्तुएं मूल्य रहित हैं। उसी तरह जो संसारसे विरक्त हो चुका है उसके लिए करेन्सी नोट हो या सोनेका सिक्का, दोनों ही बेकार और मूल्यहीन हैं। विरक्त लोगोंको रुपये-पैसेमें मूल्य इसलिए नहीं दिखाई पड़ता कि वे उनमें आनन्द नहीं पाते। उनके लिए कोई और ही वस्तु आनन्दमयी होती है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि मूल्यका निर्णायक वह आनन्द है जो वस्तुतः विषयीमें ही निहित होता है, विषय तो केवल उसका उद्दीपक या बहाना मात्र होता है; यानी विषयी ही किसी वस्तुमें अपेक्षित मूल्यको आरोपित करता है।

किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विषयीमें मूल्यकी धारणा होनेके कारण विषय बेकार है। वस्तुतः विषय न हो तो मूल्य भी नही होगा। विषय ही वह आधार है जिसमें मूल्यको स्थापित किया जाता है। इस तरह विषय और विषयी, वस्तु और द्रष्टाके सक्रिय समवाय-सम्बन्धसे ही मूल्यकी उत्पत्ति होती है। मूल्य द्रष्टा द्वारा मुक्त तत्व है और जब तक सक्रिय

सम्बन्ध द्वारा उस वस्तुका भोग नहीं होता और उस भोगके फलस्वरूप आनन्दका अनुभव नहीं होता तब तक मूल्यकी स्थिति ही नहीं होती। निष्कर्ष यह कि मूल्यके चार अवयव हैं—वस्तु, भोक्ता, भोग-क्रिया या संवेदना और आनन्द। इन चारों में से किसी एक भी अवयवके अभावमें मूल्यकी स्थापना नहीं हो सकती। यहीं एक दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि मूल्य वैयक्तिक वस्तु है या सामाजिक। ऊपरके विवेचनसे वह वैयक्तिक प्रतीत होता है किन्तु गहराईमें जानेपर पता चलेगा कि व्यक्ति और समाज विरोधी इकाइयाँ नहीं हैं। इसके विपरीत उनमें अंग-अंगी भाव है। जो व्यक्ति-सत्य है वही समष्टि-सत्य भी है। व्यक्तिका अर्थ है वह सहज सामान्य व्यक्ति जो विक्षिप्त या कुण्ठाग्रस्त नहीं है। समाज ऐसे ही व्यक्तियोंका विवेकपूर्ण और सक्रिय सम्बन्धोंके आधारपर संघटित समुच्चय है। समाज भीड़ नहीं है। वह विवेकशील व्यक्तियोंका समझ-बूझ कर निर्मित संघटन है। ऐसी स्थितिमें व्यक्ति ही वह इकाई है जो समाजको समष्टिगत रूप देता है। अतः व्यक्तिकी संवेदना ही सामाजिक मूल्योंका निर्धारण करती है। व्यक्तिका भोग्य समाजका भोग्य है, व्यक्तिकी भोग क्रिया या संवेदना और उपलब्धियाँ समाज की ही हैं। अतः व्यक्ति द्वारा उपलब्ध आनन्द जिस मूल्यकी स्थापना करता है वही सामाजिक मूल्य बन जाता है।

इस प्रकार जीवन-मूल्य वह सामाजिक मान्यता है जिसका आधार व्यक्तिकी स्वानुभूतिसे उत्पन्न आनन्द है। किन्तु वैयक्तिक आनन्द किसी वस्तुको जो मूल्य प्रदान करता है वह उस व्यक्तिके लिए भले ही जीवन मूल्य हो, और व्यक्तियोंके लिए वह तब तक मूल्य नहीं होगा जब तक अन्य व्यक्ति भी उस वस्तुमें निहित आनन्दको स्वानुभूति द्वारा उपलब्ध नहीं कर लेते। जो सामाजिक मान्यता ऊपरसे थोपी हुई है और जिसमें आनन्द प्रदान करनेकी क्षमता नहीं है वह जीवन-मूल्य नहीं हो सकती; रूढ़ि, भय, विवशता या और कुछ भले ही हो। कारण यह है कि ऐसी वाह्यारोपित मान्यता समाजके व्यक्तियों द्वारा भोगी नहीं जाती और यदि विवशताके कारण भोगी भी जाती है तो उसका परिणाम अनुकूल वेदनाका आनन्द नहीं होता। इसके विपरीत उससे दुःखकी उत्पत्ति होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी सभी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक मान्यताएँ तभी तक जीवन मूल्यके रूपमें मान्य होंगी जब जब उनमें व्यक्तियोंको आनन्द प्रदान करनेकी शक्ति न हो, भले ही

वह भ्रमपर आधारित, झूठी और समाज द्वारा वस्तुमें आरोपित ही क्यों न हो। आदिम मानव-समाजमें जादू-टोना एक ऐसा ही जीवन-मूल्य था क्योंकि उसमें आस्था द्वारा आरोपित ऐसी शक्ति थी जो अवैज्ञानिक और भ्रमपर आधारित होते हुए भी समाजके व्यक्तियोंको आनन्द प्रदान करती थी। उसी तरह स्वर्ग, मुक्ति, भौतिक ऐश्वर्य, असाधारण शारीरिक शक्ति, उच्च राजनीतिक पद आदिकी उपलब्धिको मध्यकालमें जीवन-मूल्यकी मान्यता प्राप्त थी किन्तु आजके युगमें इनमेंसे कितनी ही बातें या तो रूढ़िमात्र रह गयी हैं या जीवन-मूल्यके रूपमें अमान्य हो चुकी हैं। आधुनिक युगने स्वतंत्रता, समता, सामाजिक न्याय और मानवताको जीवन-मूल्यके पदपर प्रतिष्ठित किया है क्योंकि आधुनिक समाजके व्यक्तियोंने इनमें निहित आनन्दका अनुभव किया है या करना चाहते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन-मूल्य शाश्वत वस्तु नहीं है। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियोंके परिवर्तनके साथ युग-मानसके क्षितिजोंमें परिवर्तन घटित होता है और तब पूर्ववर्ती जीवन-मूल्योंका परीक्षण या पुनर्मूल्यांकन करके उनका संग्रह, त्याग या नवीनीकरण किया जाता है और साथ ही नवीन जीवनानुभूतियोंके संदर्भमें नवीन जीवन-मूल्योंकी स्थापना भी की जाती है। किन्तु संक्रांति कालमें पुराने जीवन-मूल्य विघटित होकर भी रूढ़ि-रूप में वर्तमान रहते हैं, यद्यपि उनमें आनन्द प्रदान करनेकी क्षमता नहीं रह जाती है। नवीन जीवन-मूल्योंमें भी कई ऐसे होते हैं जो केवल कल्पनाके आधारपर संगठित होनेके कारण अभुक्त होते हैं किन्तु उनकी कल्पनाका आधार भी वास्तविक होता है। इससे वह कल्पना ही आनन्दकारक होती है। उदाहरणके लिए स्वतंत्रता, लोकतंत्र और साम्यवादको ले सकते हैं। इनकी स्थिति आज तक कल्पना ही है। स्वतंत्र देशोंमें भी स्वतंत्रता नहीं है। लोकतंत्रात्मक देशोंमें भी समानता और बंधुत्व नहीं है। साम्यवादी देशोंमें भी सरकारोंके कठोर शासन-यंत्रमें व्यक्ति पिसा जा रहा है। फिर भी ये जीवन-मूल्य हैं, रूढ़ि या विवशता नहीं क्योंकि इन मूल्योंके वास्तविक स्वरुपको उपलब्ध करने और उसकी स्थापना द्वारा चरम आनन्द का अनुभव करनेकी उद्दाम लालसा मनुष्यके मनमें वर्तमान है। यह भविष्य की कल्पना ही वर्तमानमें आनन्दका कारण है। इसीलिए इन जीवन-मूल्योंकी उपलब्धिकी दिशामें मनुष्य बार-बार पराजित होता हुआ भी

आगे बढ़ता जा रहा है और उसके ये प्रयत्न भी आनन्दमय ही है। संक्षेपमें कहा जा सकता है कि आजके जीवन-मूल्य मानवीय हैं जिन्हें मानव मूल्य कहना उपयुक्त होगा। आजके मानवकी आस्था किन्हीं अलौकिक तत्वों और व्यक्तिवादी सिद्धान्तोंमें नहीं रह गयी है। आज मानवका लक्ष्य मानव ही है। अतः पूर्ण मानवत्व और मानवके पूर्ण आनन्द की प्रतिष्ठा जिन मूल्योंके द्वारा होगी वे ही आजके जीवन-मूल्य या मानव-मूल्य हैं। किन्तु यह सोचना भूल है कि मनुष्य के सभी जीवन-मूल्य आध्यात्म, धर्म, राजनीति, अर्थ या नीतिशास्त्र के क्षेत्रों तक ही सीमित हैं। वस्तुतः जीवन का प्रसार जितना व्यापक है, उसके मूल्यों का क्षेत्र भी उतना ही व्यापक है। जीवन की दिशाओं की भाँति उसका उत्कर्षण और सम्बर्धन करने वाले मूल्यों के आयाम भी अनन्त हैं। यदि ऐसा न हो तो जीवन रेल की पटरी हो जाय और सभी व्यक्ति एकही मार्ग पर चलते रहें। प्रकृति के अनन्त रूपों में निहित सौन्दर्य भी एक जीवन मूल्य है, जगत की नाना वस्तुओं में निहित रहस्य मय अनुद्घाटित सत्य भी एक जीवन मूल्य है, व्यक्ति में अन्तनिहित अरूप किन्तु अनन्त शक्ति का साक्षात्कार भी एक जीवन मूल्य है और कुरूप यथार्थ के नग्न सौंदर्य का प्रत्यक्ष दर्शन भी एक जीवन मूल्य है। ये वस्तुएँ जीवन-मूल्य इसलिए हैं कि इनमें जीवन को शक्तिमान और समृद्ध बना कर आनन्द प्राप्त करने की क्षमता है। भूमा में ही सुख है, अल्प में नहीं। जीवनानुभूतियों की समृद्धि पर ही आनन्द की बहुलता निर्भर करती है।

समस्त जीवनानुभूति-जन्य आनन्द तीन कोटियों में विभाजित किया जा सकता है; (१) स्थूल ऐन्द्रिय भोग-जन्य सुख जो बाह्य जगत की भोग्यता और विषयी की भोग-शक्ति के सक्रिय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। (२) वस्तु में निहित सूक्ष्म सत्य के अनुरूप भोग से उत्पन्न मानसिक आनन्द जो स्थूल वस्तु-जगत के भीतर प्रवेश करने वाली चेतना की कार्य-कारण-ज्ञान सम्पन्न सविकल्पक समाधि दशा में उत्पन्न होती है। (३) आत्मोपलब्धि-जन्य आनन्द जो स्थूल वस्तु जगत से निरपेक्ष, चेतना की निर्विकल्प ज्ञान-दशा में स्वतः स्फुरित होता है अर्थात जिसको कार्यकारण सम्बन्ध-ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती।

इन तीनों के द्वारा ही मनुष्य पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। इनमें से प्रथम प्रकार का सुख चेतन प्राणी का स्थूल सुख है। पर स्थूल होते हुए भी वह असत्य और उपेक्षणीय नहीं है क्योंकि स्थूल ऐन्द्रिक बोध ही समस्त

मानसिक और आध्यात्मिक आनन्द की आधारशिला है। इसका साधन वह समस्त नैसर्गिक और मानवीय सृष्टि है जिसमें इन्द्रियों को तुष्ट करने वाली भोग्यता होती है। इसके अन्तर्गत सभी व्यवहारिक जीवन के कार्य आ जाते हैं। दूसरी कोटि अर्थात वस्तु के अरूप सत्य के ज्ञान के अन्तर्गत समस्त दर्शन और सैद्धान्तिक विज्ञान आते हैं जो सृष्टि के रहस्यमय किन्तु सत्य स्वरूप को उद्घाटित करके सत्य के अरूप भोग द्वारा मानसिक आनन्द की सृष्टि करते हैं। सत्य का यह साक्षात्कार वस्तु जगत से निरपेक्ष नहीं होता। इसके विपरीत यह वस्तु जगत में घटित होने वाले कार्यकारण सम्बन्धों की शृंखला के सूक्ष्म अध्ययन, विवेचन, विश्लेषण और संश्लेषण की प्रक्रिया से उपलब्ध होता है। इस तरह सविकल्प ज्ञान दशा में साक्षात्कृत सत्य के अरुप भोग से उत्पन्न आनन्द ऐन्द्रिय भोग-जन्य सुख से उच्चतर कोटि का, अधिक स्थायी और सक्षम होता है। तीसरे प्रकार का आत्मौपलब्धि-जन्य आनन्द सौन्दर्य-बोधात्मक और आध्यात्मिक भूमिका में घटित होता है और यही ऊच्चतम कोटि का आनन्द है। यह असंलक्ष्यक्रम, अपरिभाव्य और स्वयंप्रभ या प्राज्ञ होता है। वस्तुतः यह अ ानन्द विषय सापेक्ष्य होते हुए भी कार्यकारण सम्बन्ध ज्ञान-निरपेक्ष्य, भौतिक प्रतीकों में उद्भाषित किन्तु विषयी में निहित निजी आन्तरिक आनन्द का उद्रेक होता है। काव्य, कला तथा आध्यात्मिक साधना में इसी आनन्द की उपलब्धि होती है।

काव्य का लक्ष्य इसी उच्चतम और अक्षय आनन्द की उपलब्धि है जो स्थूल ऐन्द्रिय सुख और सूक्ष्म सत्य के अरुप भोग जन्य मानसिक आनन्द से भिन्न और उच्चतर कोटि का होता है। इस तरह यह आनन्द ही साहित्य का मूल्य है। साहित्य का यह मूल्य व्यापक जीवन-मूल्यों से किस प्रकार सम्बद्ध है, यही मुख्य विचारणीय प्रश्न है। साहित्य में पूर्वोक्त भिन्न नाम रूपात्मक जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा आदि काल से अब तक होती चली आ रही है किन्तु इन जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा मात्र से ही साहित्य साहित्य नहीं बनता। यदि ऐसा होता तो ज्ञानराशि का समस्त संचित कोष यानी वांग्मय साहित्य की ही संज्ञा पाता। जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा दृष्टि दान के लिए होती है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म, राजनीति, समाज नीति आदि में जीवन मूल्यों की वही प्रतिष्ठा होती हैं, क्योंकि उनका लक्ष्य समाज को दृष्टि देना होता है। लेकिन साहित्य दृष्टि ही नहीं, अन्तर्दृष्टि भी देता है। वस्तुतः साहित्य और कला का जन्म ही अन्तर्दृष्टि (विजन) से होता है। इस अन्तर्दृष्टि द्वारा ही कवि कलाकर कलासृजन करके आत्मोपलब्धि करते हैं

और रसज्ञ कलास्वादन करके। इस तरह काव्य-कला के क्षेत्र में अन्तर्दृष्टि से आत्मोपलब्धि और आत्मोपलब्धि से आनन्दोपलब्धि होती है। इस कारण साहित्य और कला में वे ही जीवन मूल्य गृहीत होते हैं जिन्हें अन्तर्दृष्टि स्वयं उपलब्ध या पुनरुपलब्ध करती है। वाह्य दृष्टि यानी शिक्षा, पाँडित्य धार्मिक या राजनीतिक दबाव, फैशन, यश-लिप्सा, प्रचार आदि तो साहित्य के लिए विजातीय वस्तुएँ हैं। जिस साहित्य में वाह्य दृष्टि द्वारा आरोपित सत्यों की ही स्थापना होती है वह जीवन-मूल्यों से च्युत होते हुए भी मूल्यवान साहित्य नहीं हो सकता।

जीवन-मूल्यों से च्युत होने पर भी साहित्य मूल्यवान न हो, यह कुछ बेतुकी सी वात लगती है। किन्तु पहले कहा जा चुका है कि वस्तु के वे ही गुण मूल्य हो सकते हैं -ो भोगे जा कर आनन्द प्रदान करते हैं। यदि कोई साहित्यकार किसी जीवन-सत्य का स्वयं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भोक्ता नहीं है तो औरों द्वारा निर्दिष्ट, उपदिष्ट या प्रचारित वह जीवन सत्य और किसी के लिए भले ही जीवन मूल्य हो उस रचनाकार के लिए नहीं है। अभुक्त जीवन-मूल्यों की उद्धरणी साहित्य का आभास भले ही हो, साहित्य नहीं है।

यहाँ साहित्य की रचना-प्रक्रिया का प्रश्न स्वभावतः उपस्थित हो जाता है। साहित्य की रचना में रचनाकार का दायित्व दुहरा होता है। एक ओर तो उसकी रचना के उपकरण उसके चेतन मन द्वारा प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्ष अनुभूत होते हैं और दूसरी ओर उसकी अभिव्यक्ति उस अचेतन या अर्धचेतन मन का आकुल स्फोट होतीं है जिसे प्रेरणा कहा जाता है। यह स्फोट या प्रेरणा ही वह अन्तर्दृष्टि है जो चेतन मन के अधिकार क्षेत्र के बाहर की वस्तु है। वस्तुतः मूल सृष्टा वह अर्धचेतन कलाकार मन ही है जो अचेतन मन द्वारा अनुभूत सत्यों को रचना-सामग्री के रूप में संयोजित करता है। अतः कोई भीं जीवन-सत्य साहित्य में तभी अभिव्यक्त हो सकता है जब रचना के क्षणों में उसका स्वतः स्फोट अनिवार्य हो जाय और यह तभी सम्भव है जब रचनाकार को उस सत्य ने गहराई तक स्पर्श किया हो। उस उपलब्ध सत्य की आनन्दमयी वेदना को रचनाकार इस सीमा तक झेलता है कि रचना में उसकी अभिव्यक्ति रचनाकार की अनिवार्यता हो जाती है।

इस तरह जीवन-मूल्यों को रचना प्रक्रिया के सन्दर्भ में रख कर देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि रचनाकार पूर्वनिश्चित जीवन-मूल्यों को ज्यों का त्यों उठाकर अपने साहित्य में नहीं रख देता बल्कि उन्हें जीवन में भोग कर अपना बना लेता है और इस तरह या तो उनको अपने ढंग से रूपा-

यित करके नवीन बना देता है या अपनी संम्पृक्ति के जादू से उनमें नवीन मोहकता उत्पन्न कर देता है। फलस्वरुप साहित्य में जीवन मूल्यों की अभि-व्यक्ति उस तरह सीधी, तर्कपूर्ण और वक्तव्य प्रधान नहीं होती जैसी ज्ञान-विज्ञान और नीति-धर्म के क्षेत्र में होती है। साहित्य और कला में जीवन मूल्यों का रुपायन होता है। वे सूक्ष्म सिद्धान्त न रह कर अपने को अभिव्यक्त करते हैं। एक तरह से समस्त साहित्य प्रतीकात्मक होता है, जिसमें जीवन-मूल्य उपचेतन मन से रुप बदल कर चेतना लोक में आते हैं। यही साहित्य की कलात्मक उपलब्धि है क्योकि सच्चा साहित्यकार आत्मानुभूत जीवन-सत्यों को भी यथावत नग्न रुप में संसार के सामने उपस्थित कर ही नहीं सकता। सत्य को सौन्दर्य में रुपायित करना उसकी रचना-प्रक्रिया की कुशलता नहीं, अनिवार्यता और विवशता है। जो साहित्यकार ऐसा नहीं करता अर्थात् जो अनुभूत, परानुभूत और परोपदिष्ट जीवन-मूल्यों की उद्धरणी उपस्थित करता या अपनी ही अनुभूतियों को सम्पृक्ति के ताप से गलाने और सौन्दर्य के सांचेमें ढालने के पूर्व ही उगल देता है, वह वास्तविक साहित्यकार नहीं, अनुकर्ता है, शुक है। ऐसे साहित्य में न तो जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा हो पाती है और न सौन्दर्य की ही। आत्मोपलब्धि या आनन्दोपलब्धि का तो प्रश्न ही अलग है।

इस विवेचन के बाद यह कहना पुनरुक्ति मात्र होगा कि साहित्यमें जीवन-मूल्योंका प्रचार या कथन नहीं होता, उनका विम्बात्मक पुर्ननिमःण या जीवत और सुन्दर नवनिर्माण होता है। साहित्य न तो अनुकरण है, न अनुकरण का अनुकरण। वह सर्वथा नवीन रचना है। ऐसी स्थिति में समस्त प्रचारात्मक, सुधारवादी, उपदेशात्मक और वक्तव्य प्रधान साहित्य, चाहे वह कबीर और तुलसी का हो, चाहे द्विवेदी-युगीन कवियों और छायावादियों का, प्रेमचन्द का हो या गोर्की का, प्रगतिवादियों का हो या प्रयोगवादियों का, शुद्ध साहित्य या वास्तविक साहित्य नहीं है। तुलसी, प्रेमचन्द और गोर्की अपने प्रचारात्मक और सुधारवादी तत्वों के कारण महान् नहीं हैं बल्कि इसलिए महान् हैं कि उनके साहित्य में प्रचारात्मक और सुधारवादी तत्वों को निकाल देने के बाद भी ऐसा बहुत कुछ बच रहता है जिसमें उन्होंने स्वानुभूत जीवन-मूल्यों को रुपायित और सौन्दर्यविष्ठित किया है। उनकी आत्मोपलब्धि और नव-निर्माण का दर्शन उनके साहित्य के इन्हीं अंशों में होता है।

पहले कहा जा चुका है कि साहित्यकार की आत्मोपलब्धि ही उसकी साहित्यिक उपलब्धि है। इसका अर्थ यह है कि आत्मोपलब्धि की प्रक्रिया में ही वह पूर्व निर्मित जीवन-मूल्यों को पुनः नये सिरे से उपलब्ध करता या उनका

पुनर्निर्माण करता है अथवा सर्वथा नवीन जीवन-मूल्यों की उपलब्धि और प्रतिष्ठा करता है और उनको मोहक चित्रों के सांचे में ढाल कर रुपायित करता है। उसका व्यक्तित्व सामान्य और विशिष्ट दोनों ही होता है। एक ओर तो वह व्यक्ति रुप में इकाई होने के नाते सामान्य है और दूसरी ओर वह अपनी गहरी संवेदना, तीव्र रंगबोध और नवनिर्माण की अन्तर्निहित क्षमता के कारण सामान्य व्यक्तियों से विशिष्ट भी होता है। अतः सच्चा साहित्यकार भीड़ के व्यक्तियों जैसा आचरण नहीं करता, पूर्वस्थापित जीवन-मूल्यों और प्रचलित निर्दिष्ट शब्दावली का नारा नहीं लगाता, न ही वह अधकचरी सम्वेदनाओं और अभुक्त या अर्धमुक्त सत्य का, 'असम्पृक्त अद्वितीय क्षण की अनुभूति' के नाम पर लेखा-जोखा उपस्थित करता है। और न प्रत्येक क्षण के स्थूल शारीरिक अनुभवों और मानसिक प्रतिक्रियाओं का भावुकतापूर्ण ढंग से टेम्परेचर चार्ट या टेपरेकर्डर की तरह रेकर्ड ही उपस्थित करता है। इसके विपरीत वह अपनी अन्तर्दृष्टि के साक्षात्कार से उपलब्ध ऐसे अनुभूत सत्यों को उद्घाटित करता है जो उसके निजी बिल्कुल अपने होते हैं। फिर भी उनमे इतनीं क्षमता होती है कि वे उसके वैयक्तिक सत्य न रह कर समष्टि-सत्य बन जाते हैं। महान साहित्यकार और कलाकार प्रायः इसी कारण प्रारम्भ में अविख्यात और निरादृत होते हैं क्योंकि वे अनुकर्ता और सामान्य व्यक्तित्व वाले नहीं होते; नये मार्गोंके निर्माता, नवीन जीवन-मूल्यों के प्रतिष्ठाता और विशिष्ट व्यक्तित्व वाले होते हैं। समाज को उन्हें समझने तथा उनकी उपलब्धियोंको आत्मसात करनेमें कुछ समय लगता है। किन्तु अन्तमें एक समय आता है जब उनके उपलब्ध जीवन-मूल्यों और अभिव्यक्ति-प्रणालियोंकी समाजमें प्रतिष्ठा हो जाती है। इस तरह एक व्यक्ति द्वारा उपलब्ध जीवन-मूल्य ही सामाजिक जीवन - मूल्य बन जाते हैं। मुख्य बात यह नहीं है कि कोई जीवन-मूल्य वैयक्तिक या सामाजिक है। मुख्य बात यह है कि बिलकुल वैयक्तिक होते हुए भी कोई नवोपलब्ध जीवन-मूल्य किसी सीमा तक समाजको प्रभावित करता है। यदि समाज उस वैयक्तिक जीवन-सत्यको अपने जीवनमें भी अनुभूत करके आत्मोलपब्ध करने लगता है तो वही सामाजिक जीवन-मूल्य बन जाता है। इस तरह शुद्ध साहित्यके क्षेत्रमें वैयक्तिकता और सामाजिकता का भेद नहीं रह जाता। वहाँ व्यक्ति ही समाजका प्रतीक होता है और समाज व्यक्तिका महत्तम रुप। इसलिए साहित्य व्यक्तिका ही आश्रयी होता है, समूहका नहीं। साहित्यकार न तो समाजका आश्रित और पिछलगा होता है न उसका विरोधी। इसके विपरीत अपनी वैयक्तिक

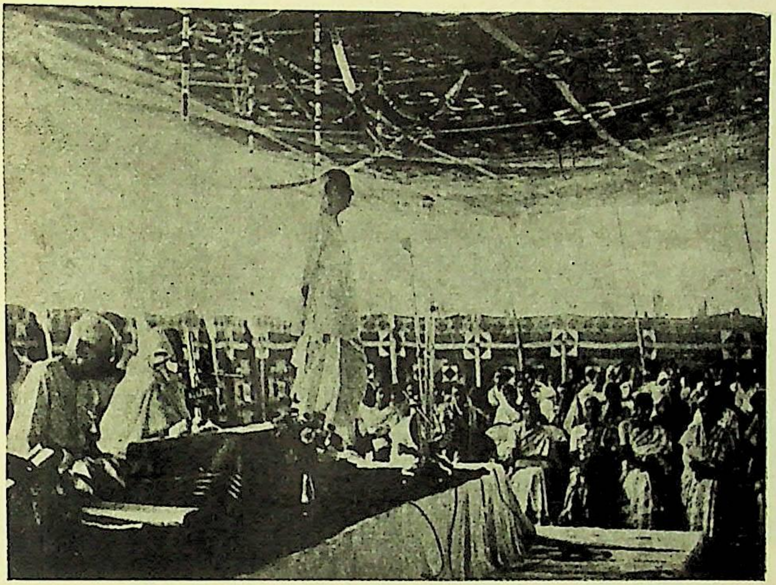
ऊपलब्धियोंके आधारपर ही वह सामाजिक जीवन-मूल्योंका निर्माता, अतः समाजका नियामक होता है।

इस तरह साहित्यकार का सत्य ही समाज द्वारा उपलब्ध होने पर सामाजिक जीवन-मूल्य बन जाता है और पूर्व स्थापित सामाजिक जीवन-मूल्य भी साहित्यकार द्वारा भुक्त और पुनरुपलब्ध होकर व्यक्ति सत्य बन जाते हैं। अतः साहित्यमें जीवन-मूल्योंके नामपर वैयक्तिकता और सामाजिकताके बीच कृत्रिम दीवार खड़ी करना संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचायक है।

किन्तु इस प्रसंगमें यह बात भी भूलनेकी नहीं है कि साहित्य महत्, उदात्त और सुन्दरका संश्लिष्ट रुप होता है। यदि उसमें यह संश्लेषण नहीं है तो यह वैयक्तिक होनेपर इतना तुच्छ हो जायगा कि उसकी ओर किसीका ध्यान ही नहीं जायगा और सामाजिक तथा पूर्वस्थापित जीवन-मूल्योंसे युक्त होनेपर भी इतना घिसा-पिटा होगा कि पाठकको संवेदना-शिराओंका स्पर्श ही नहीं करेगा। इन दोनों दशाओंमें वह अशक्त और मूल्यहीन होगा और साहित्यके उच्चपदसे च्युत माना जायगा। उदाहरणके लिए हम वैयक्तिकता की दृष्टिसे अज्ञेय और बच्चन तथा सामाजिक जीवन मूल्योंकी दृष्टिसे पन्त और निरालाको ले सकते हैं। अज्ञेय और बच्चन दोनोंने ही बड़ी ईमानदारीसे अपनी वैयक्तिक अनुभूतियोंकी अभिव्यक्ति की है। लेकिन अज्ञेयकी अनुभूतियां इतनी गहरी, प्रखर तापयुक्त, प्रकाशमान और उदात्त है कि प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति उन्हें सत्यके रुपमें भोगकर अपने भीतर ही उनकी उपलब्धि कर सकता है। इसके विपरीत बच्चनकी जीवनानुभूतियाँ हलका स्पर्श करके भावुकताकी एक लहर भर उत्पन्न कर देती हैं, क्योंकि उनमें उदात्त और महत् तत्वका अभाव है। उसी तरह निरालाकी 'भिक्षुक और 'वह तोड़ती पत्थर' आदि कविताओं और पन्तकी ग्राम्या और युगवाणीकी कविताओंमें काव्य भूमि तो सामाजिक ही है और दोनों ही कवि मानवतावादी जीवन-मल्योंसे प्रेरित हैं, लेकिन निराला अपनी कविताओंमें अपने आलम्बनमें इस कदर डूब जाते है कि वे स्वयं पत्थर तोड़नेवाली मजदूरनी, भिक्षुक तथा विधवाका दर्द भोगते प्रतीत होते हैं जिससे उन कविताओंमें महत्ता और उदात्तता स्वयं नन्निविष्ठ हो जाती है। इसके विपरीत पन्तकी प्रगतिवादी कविताओंमें कोरी सहानुभूति या

दूरसे देखनेवाली दार्शनिक की आंखों की चिन्तन-मुद्रा के दर्शन होते हैं, ग्राम्य-जीवन और शोषितोंके द्रारिद्रयका दुःख उनका अपना भींगा हुआ नहीं है, न ही उस वर्गसे उनकी तादात्म्य ही हो सका है। इस कारण उनके सभी प्रगतिवादी जीवन-मूल्य बाह्यारोपित और कुत्रिम हैं जिससे उनके काव्यमें उदात्तता और महत्ता नहीं आ पायी है। यही बात उनकी अरविन्दवादी कविताओंपर भी लागू होती है।

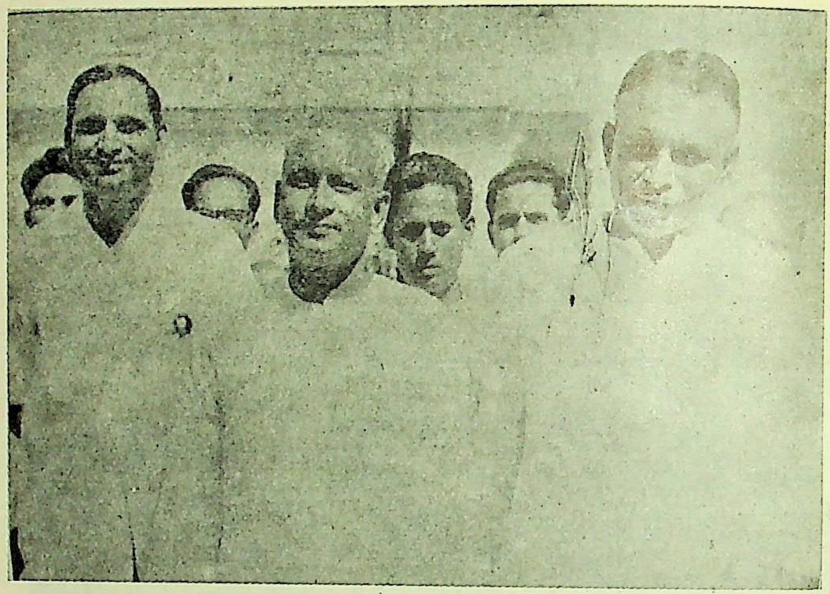
इस प्रकार हम इस निष्कर्षपर पहुंचते हैं कि साहित्यमें जीवव-मूल्य ऊपरसे आरोपित नहीं होते बल्कि वे साहित्यकारके अनुभूत सत्य होते हैं जो उसकी आत्मोपलब्धिकी प्रक्रियामें रुपायित होकर अपनी सुन्दरता, उदात्तता और महत्ताके कारण समाज द्वारा जीवन-मूल्योंके रुपमें स्वीकृत किये जाते हैं।



स्वर्ण-जयन्ती-समारोह में आभार प्रदर्शन करते हुए डॉ० शम्भुनाथ सिंह



कविवर केदार नाथ मिश्र प्रभात, नर्मदा प्रसाद खरे, श्रीकान्त जोशी
और मलय के साथ डॉ० शम्भुनाथ सिंह



श्री सागर सिंह, प्रो० रमाशंकर पाण्डेय और विजय बलियाटिक
के साथ, पाण्डाल के द्वार पर



स्वर्ण-जयन्ती-समारोह का उद्घाटन करती हुई श्रीमती महादेवी वर्मा

परिशिष्ट

- उद्घाटन-भाषण
- अध्यक्षीय भाषण
- प्रतिवेदन

আশীষ

[illegible]

[illegible]

[illegible]

श्रीमती महादेवी वर्मा का भाषण

•

[डा० शम्भुनाथ सिंह—स्वर्णजयन्ती-समारोह के अवसर पर उद्घाटन भाषण]

अध्यक्ष महोदय, भाई शम्भुनाथ जी, समस्त भाइयो और बहनो ?

मुझे प्रसन्नता है कि आप मेरे अनुज श्री शंम्भुनाथ सिंह जी की स्वर्णजयन्ती मना रहे हैं अर्थात् वह ५० वर्ष के हुए। अपने से जो अग्रज हैं वह तो अभिनन्दनीय हैं हीं और उनके अभिनन्दन के अवसर पर हमें कभी-कभी लघुता का बोध होता है। यह शंका भी होती है कि क्या जाने उनके उपयुक्त उत्तराधिकारी हो सकेंगे या नहीं ? परन्तु जब अपने से छोटों का अभिनन्दन होता है तब निश्चित रूप से हमको अधिक सन्तोष होता है। लगता है नयी पीढ़ी प्रस्तुत हो गयी और कभी-कभी उस प्रतिफलित आम को देखकर जैसे वृक्ष के लगाने वाले माली को आत्मतोष होता है वैसा ही आत्मतोष मुझे हो रहा है। सम्भवतः उस पीढ़ी के सब व्यक्तियों को हो रहा है और हमारे अनुज इस योग्य बने, ऐसी शक्ति आप सदैव दें और यह कहें किवाणी के मन्दिर में उनका स्वर खो नहीं गया। निश्चित रूप से रागिनी में उनका अपना स्थान है, उन्होंने कुछ जोड़ा है। शम्भुनाथ जी ऐसे युग से लिखते आ रहे हैं जब स्वतन्त्रता का संघर्ष चल रहा था। जीवन की सारी विषमताओं की घटाओं के बीच से हमारा मार्ग ढूंढ़ रहे थे और वह आज तक लिखते आ रहे हैं। आज जब देश स्वतन्त्र है तब भी हम मार्ग खोज रहे हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि मार्ग पर चलनेंवाला चलता तो है पर लक्ष्य नहीं जानता। हमारा समाज आज ऐसी ही गति से चल रहा है। इसलिए किसी भी लेखक का, कलाकार का कार्य कठिन हो जाता है, दुहरा हो जाता है। जीवन का मूल्य जब निश्चित होता है, दिशा जब निश्चित होती है तब साहित्यकार अपने आत्मबोध को सहज ही युगपथ बना लेता है परन्तु जब ऐसा नहीं होता

तो अपने आत्मबोध को बनाने के लिए खोज करनी पड़ती है, विकास के उन तथ्यों की खोज करनी पड़ती है जिनके आधार पर आगे चल सकें। अपने लक्ष्य को निर्धारित कर सकें। आज का युग ऐसा ही है जिसमें लक्ष्य की खोज भी कवि को करनी है और चलने वालों के पैरों की शक्ति की बात भी बतलानी है। यह भी कहना है कि अभी लक्ष्य दूर है, सिर्फ आपका सहयोग वहाँ पहुँचने के लिए अक्षुण्य है। शम्भुनाथ जी ने यह कार्य किया है। वह उस युग से गाते आ रहे हैं जब अंगारे बरस रहे थे, कण्टक भी फूल हो जाते थे, एक उच्च लक्ष्य को लेकर हम संघर्ष के पथ पर चल रहे थे। उस समय और सब कुछ गौण हो जाता था। भीतर से जब आत्मा के छन्द नहीं उठते हैं, जीवन के संघर्ष गीत बन जाते हैं। आज का युग गाने का नहीं है। आप देखेंगे कि कवि अपने आपको अकवि कहता है। कविता का शीर्षक अकविता कहा जाता है अर्थात् जीवन के भीतर के छन्द इतने टूट गये हैं, इतने भंग हो गये हैं कि हमे उस छन्द को बनाने के लिए मानव के हृदय में जो लय है, जिसमें वह सुनता है, उसे जगा देना है। यह कार्य कठिन है और मैं विश्वास करती हूँ कि मेरे बन्धु इसे कर सकेंगे। इन अभिनन्दनों का एक ही उपयोग है कि हम परस्पर बैठकर खोज की कठिनाइयाँ जान लें, एक दूसरे के मार्ग के शूलों को दूर न कर सकें तो कसक को पहिचान सकें। इससे बड़ा बल मिलता है, बड़ा सँबल मिलता है। किसी युग में यह होता था कि एक सुन्दर काव्य पर कुछ मुद्राओं का पुरस्कार मिल गया। अब वह युग नहीं है। हमारा लोकतन्त्र पुरस्कार देता है लेकिन साहित्यकार के निकट पुरस्कार का कोई मूल्य नहीं हुआ करता। साहित्यकारों के निकट उसका मूल्य है जिसे स्पन्दन कहते हैं। वास्तव में मानव में ही उसके कर्तृत्त्व का सर्जन है और ऐसा आयोजन परस्पर विश्वास का आदान-प्रदान करता है, स्नेह का, सद्भाव का सम्बल लाता है और फिर अपने लक्ष्य तक चलता है। बीच में अनन्त सम्भावनायें होती हैं परन्तु उसे देख करके तो आप यह अनुमान नहीं लगा पाते हैं कि वृक्ष का क्रम भी है, शाखाओं की विविधता भी है, फूलों की रसमयता भी है। इसे वास्तव में माली ही जानता है जिसने बीज को बोया है। कवि का सत्य भी उसी प्रकार का सत्य है जो उसके हृदय में रहता है और उसी प्रकार का सत्य उसकी कृति में आता है। जब वह सत्य एक रूपरेखा पाता है, एक आकार पाता है तब आप देखते हैं कि जीवन का सत्य कितना मोहक है, कितना विविध है। हमारा देश जितना विविध है, हमारी प्रकृति जितनी समृद्ध है, हमारा जीवन इतना ही समन्वयात्मक है। जब आप विचार करेंगे तो आपको ज्ञात होगा कि यदि इतनी विविधता लेकर भी हम मार्ग न खोज पायें, अपने देश

को दिशा न दे सकें तो वास्तव में हमने अपने युगपथ को नहीं पहिचाना और अपनी आत्मा के सत्य से उसकी रक्षा नहीं की। उसकी संगति नहीं बिठायी है, यह संगति बिठाना नयी पीढ़ी का काम है और मेरे अनुजों का काम है। आप प्रश्न कर सकते हैं कि हम लोगों का कार्य क्यों नहीं है। एक पथिक एक सीमा पर आकर रुक सकता है परन्तु ऐसा नहीं होता कि यात्रा समाप्त हो जाय। इसलिए मैं समझती हूँ कि उन्हें सम्बल देकर हम उन्हें प्रोत्साहित करते हैं।

आज समग्र मानवता वैज्ञानिक युग में चल रही है। वैज्ञानिक युग का सत्य उस सत्य से भिन्न है जो हमारी आत्मा का सत्य है जिसको खोजने का हमारे दर्शन ने प्रयत्न किया, जिसको खोजने का हमारे साहित्य ने प्रयत्न किया और बहुत सीमा तक किया। उस सत्य को वैज्ञानिक ने पार्थिव जगत् में खोजा और पार्थिव जगत् में पाया। यदि वैज्ञानिक सत्य उसे आध्यात्मिक सत्य को महत्व नहीं देगा तो वास्तव में जीवन एकांगी हो जायगा। पश्चिम केवल विज्ञान की ही समृद्धि जानता है, उसी का मूल्य आँकता है। यदि हम उसी प्रकार उसका अनुकरण करते हैं, जो जीवन का पार्थिव सत्य है उसी का मूल्यांकन करते हैं, तो मनुष्यता को हम विशेष कुछ न दे सकेंगे। हमें उस समृद्धि का, जिसके हम उत्तराधिकारी हैं, पुनः संरक्षण करना चाहिए, परीक्षण करना चाहिए। उसमें जो जीवन को विकास देनेवाली हों उन्हें हम सौन्दर्य के माध्यम से प्रत्येक मनुष्य के पास तक पहुँचा दें। यदि हम पहुँचा सके तो हम अपने युग के महत्वपूर्ण कर्तव्य का निर्वाह कर सकेंगे। यदि नहीं कर सकेंगे तो आनेवाली पीढ़ी करेगी। साहित्य से पहले मनुष्य के जीवन की कल्पना सत्य है। उसे और कुछ नहीं कहा जा सकता। उसे केवल नये-नये रूप देने पड़ते हैं। ऐसा भी एक वर्ग है जो यह विश्वास करता है कि परम्परा वास्तव में हमारे पैरों की शृंखला हो गयी है। वस्तुतः परम्परा हमारा बोध है, हमारा विचार है, सृजन धारणा है। यह जो विकास की परम्परा है, वास्तव में शृंखला नहीं बनती। सत्य तो वही है, लेकिन हम उसका हर युग में नये प्रयोग करते हैं, परिस्थितियों के अनुसार करते हैं। फिर इस प्रकार एक नया रूप मिलता है लेकिन हम यह नहीं कह सकते कि वह सत्य नहीं है। आज के युग में भी महात्मा जी ने सत्य को एक नया रूप दिया। एक शस्त्र का रूप दिया। उस सत्य को हमने ऐसा प्रयोगात्मक रूप दिया जो हमारी रक्षा भी कर सके और हमारी सारी समृद्धियों की, हमारे सार्वजनिक उत्तराधिकार की रक्षा भी कर सके। यह केवल उदाहरण के लिए कहती हूँ। साहित्यकारों ने भी इसमें योग दिया है। कवि किसी विचार का, किसी भावना का, किसी अनुभूति का निरोध नहीं

करता। समुद्र किसी नदी की धारा को अस्वीकार नहीं करता परन्तु किसी को भी तट नहीं तोड़ने देता, मर्यादा भंग नहीं होने देता; चाहे उसमें कितनी भी धारायें समाहित हों। साहित्य भी युग युगान्तर के बोध को लेकर उसको अपने में आत्मसात कर लेता है। वह सब लोगों का हो जाता है। आज के पवित्र अवसर पर जब मेरे कृती अनुज ५० वर्ष के हो गये हैं, मैं कामना करूँगी कि उन्होंने जो कुछ दान किया है, आगे आनेवाली शती उसका सम्मान करे। इसके बाद मैं आप सब लोगों को पुनः धन्यवाद देती हूँ कि आपने मुझे कुछ कहने का अवसर दिया।

●

श्रीकृष्णदेव प्रसाद गौड़ का भाषण

•

[डा० शम्भुनाथ जी की स्वर्ण जयन्ती समारोह के अवसर पर अध्यक्षीय भाषण]

महादेवी जी, शम्भुनाथ जी, देवियो और बन्धुओ,

आज के अधिवेशन की अध्यक्षता श्री बालकृष्णराव करनेवाले थे किन्तु बालकृष्ण की जगह वृद्ध कृष्ण आ गये और वह आपके सम्मुख उपस्थित हैं और आज के अधिवेशन की कार्यवाही उन्हीं के समक्ष हुई। शम्भुनाथ जी के सम्बन्ध में हमारे अनेक मित्रों ने और साहित्यकारों ने संस्मरण आदि सुनाये हैं। मुझे बड़ा संकोच होता है, मुझसे शम्भुनाथ जी कितने दिनों से परिचित हैं? मैं गणित में कमजोर हूँ। इसलिए गिनना भूल गया हूँ। यही कह सकता हूं कि बहुत दिन हुए। इनकी कवितायें कवि-सम्मेलनों में, कालेजों में, स्कूलों में, अपने घर में बहुत-सी सुनी है और पसन्द भी बहुत आयीं, नहीं तो मैं नहीं सुनता। काशी को हमारे एक मित्र ने कहा कि पण्डितों की विद्वत्ता की भाँति साहित्य के मर्मज्ञों का पर्याय होना चाहिए। साहित्य का भले ही न हो परन्तु हिन्दी साहित्य का तो है ही। मैं समझता हूं कि यहाँ की गंगा के जल में वह गुण है जिससे उसका आचमन करके यहाँ के लोग कवि बनते चले आये हैं और बने हैं। यहाँ एक साहित्य की शृंखला है, एक कड़ी है, अनेक जंजीरे हैं, कुछ सोने की, कुछ चांदी की, कुछ ताम्बे की और कुछ पीतल की। मैं समझता हूं शम्भुनाथ उसमें सोने की एक लड़ी हैं। सोने का एक छल्ला। छल्ला उस रूप में नहीं जिसको आजकल डाक्टर लोग कहते हैं। अनेक साहित्यकार हैं, उनमें से कुछ तो लोहा और पीतल के हैं ही, मगर शम्भुनाथ जी सोने की लड़ी हैं। उनकी रचनाओं की कितनी मांग रहती है? कौन-सा ऐसा कवि सम्मेलन है जहां से इनके पास पत्र नहीं आता। अगर वह पत्र फेंक न देते तो

वह कई रुपये में रद्दी कागज के भाव बिक जाते। वह कवि सम्मेलनों में जाते हैं, और कविता सुनाते हैं। इन्होंने अपनी कविता की कई दिशायें बदलीं। पहले गीतकार हुए, फिर रहस्यमयी कविता करने लगे, अकविता भी करने लगे। जो भी विधायें हों, इनकी रचनाओं को लोगों ने हर जगह पसन्द किया। इनका स्वर भी मधुर है। इनके कहने का ढंग भी मधुर है, अच्छा है। यह जो कहते हैं, चाहे वह मनोवैज्ञानिक हो चाहे रहस्यवादी हो, चाहे वह आजकल की कुण्ठा और संत्रासयुक्त हो, मुझे मालूम नहीं है, कुछ भी हों, उनकी रचनाओं को साहित्य की कोटि में रख सकते हैं। यों तो वह आलोचक भी हैं। छायावाद पर पुस्तक भी लिखी है और भी कई निबन्ध आदि लिखे हैं। वे शिक्षक भी हैं। शिक्षक के लिए चिन्तक होने की आवश्यकता है। वे हमारे नगर के ही नहीं, हमारे देश के बहुत बड़े साहित्यकार हैं। युवक भी उनकी रचना पसन्द करते हैं और वृद्ध भी पसन्द करते हैं और उसका रस लेते हैं। इसलिए आज जब हम उनकी ५०वीं वर्षगांठ मना रहे हैं तो हम लोगों को, खासकर हमारे जैसे लोगों को, जिनको साहित्य में रस मिलता है, बड़ी प्रसन्नता होती है। हमारे नगर के एक व्यक्ति को प्रतिष्ठा प्राप्त हो इससे हार्दिक प्रसन्नता होती है, हमारे बहुत से मित्रों ने कहा और शायद सभी ने कहा कि वह शतायु हों। मुझे पता नहीं जब गेहूं का भाव बढ़ गया, वेतन बढ़ गया तो आयु वहीं जो वेदों मे लिखी है, क्यों हो ? अब आयु भी बढ़नी चाहिए। अब 'शरदम् शतम' में संशोधन हो जाना चाहिए। हमारा मतलब है हम लोग सामाजिक रूप से भगवान से प्रार्थना कर सकते हैं, एक सौ वर्ष से अधिक सवा सौ वर्ष शम्भुनाथ जी जीवें। हम यह भी कहेंगे कि दो सौवीं वर्षगांठ हो और हमीं को अध्यक्षता करने के लिए बुलावें तो मैं समझूँगा कि हिन्दी की बड़ी उन्नति हुई। एक बात मैं जरूर कहूँगा इनसे कि वह न सोचें कि मैं ५० वर्ष का हो गया। अब तो हमारी अवस्था इतनी हो गयी, यह भाव नहीं होना चाहिए। यह आ गया कि आदमी बुढ़ा हो गया। यदि हमेशा अपने को जवान समझें, कम-से-कम १६ वर्ष का नहीं तो २५ वर्ष का तो समझें और उसी तन्मयता से रचना करते रहें। हमारे देश में साहित्यकारों का विचार और ऊँचा उठे, आगे बढ़े। इन शब्दों के साथ मैं कामना करता हूँ कि वह दीर्घजीवी हों और ईश्वर यह शक्ति उन्हे दे कि वह निरन्तर रचना करते रहें।

•

डा० शम्भुनाथ सिंह स्वर्ण जयन्ती समारोह

प्रतिवेदन

प्रस्तुत कर्ता—वीरबहादुर सिंह

डा० शम्भुनाथ सिंह ने विगत जून मास में अपने जीवन के पचास वर्ष पूरे करके इक्यावनवें में प्रवेश किया। उनके मित्रों, प्रशंसकों और शिष्यों ने उस अवसर पर उनकी स्वर्ण-जयन्ती का द्विदिवसीय समारोह आयोजित करने का निश्चय किया। इस उद्देश्य से १४ मई, १९६७ को काशी के प्रमुख नागरिक एवं वकील श्री सागर सिंह के जगतगंज स्थित निवास-स्थान पर कुछ चुने हुए साहित्यकारों की एक बैठक हुई जिसमें निश्चय हुआ कि जून मास में जयन्ती-समारोह आयोजित किया जाय और पं० नन्ददुलारे वाजपेयी से उसका उद्‌घाटन करने की प्रार्थना की जाय। इस कार्य के लिए इक्यावन व्यक्तियों की एक समारोह-समिति तथा पन्द्रह व्यक्तियों की एक कार्य-समिति निर्मिति की गयी। श्री राजाराम शास्त्री और श्री सागर सिंह क्रमशः अध्यक्ष और मन्त्री चुने गए। १६ मई को डा० ब्रजविलास श्रीवास्तव के निवास-स्थान पर श्री सागर सिंह की अध्यक्षता में कार्य-समिति की बैठक हुई जिसमें निश्चय हुआ कि समारोह १६ तथा १७ जुलाई को सम्पन्न किया जाय। कार्य को सुचारु रूप से सम्पादित करने के लिए तीन समितियों—सम्पादन-समिति, अर्थ-समिति और आयोजन-समिति का गठन किया गया। सम्पादन-समिति के निम्नलिखित सदस्य चुने गए—

पं० करुणापति त्रिपाठी, डा० विजय शंकर मल्ल, डा० शिवप्रसाद सिंह, डा० बच्चन सिंह, डा० व्रजविलास और डा० वासुदेव सिंह।

यह भी निश्चय हुआ कि समारोह के अवसर पर एक स्मारिका तथा एक मूल्यांकन ग्रन्थ प्रकाशित किये जाँय। २५ मई १९६७ को टूरिस्ट बँगले में श्री कैलाश चन्द्र मिश्र के कक्ष में डा० विजय शंकर मल्ल की अध्यक्षता में

आयोजन-समिति की बैठक हुई जिसमें निश्चय किया गया कि समारोह की अध्यक्षता पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, उद्‌घाटन डा० सम्पूर्णानन्द और अभिभावन भाषण श्रीमती महादेवी वर्मा से कराया जाय। यह भी निश्चय हुआ कि १६ मई को प्रातःकाल मुख्य समारोह, सायंकाल परिचर्या-गोष्ठी और रात्रि में कवि-सम्मेलन आयोजित किया जाय। १७ को प्रातः और अपराह्न दो परिचर्या-गोष्ठियाँ हों और रात में डा० शम्भुनाथ सिंह द्वारा लिखित नाटक अभिनीत किया जाय।

समिति के मन्त्री श्री सागर सिंग ने इस सम्बन्ध में पं० नन्ददुलारे वाजपेयी से पत्र-व्यवहार किया। वाजपेयी जी ने १६–१७ जुलाई को आयोजन रखने की अनुमति दी, किन्तु कुछ दिनों बाद ही उनका दूसरा पत्र आया, आयोजन कीं तिथि बढ़ाकर १६ तथा १७ सितम्बर कर दी गयी। आयोजन को शानदार ढंग से मनाने के लिए धूमधाम से प्रयास चल ही रहा था कि २० अगस्त की अशुभ घड़ी आ धमकी और समाचार-पत्रों में देखने को मिला कि आचार्य नन्ददुलारे जी अब हम लोगों के बीच नहीं रहे। सारा उत्साह शोक में बदल गया और समारोह को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया। डा० शम्भुनाथ सिंह ने भी आयोजन में सम्मिलित होना अस्वीकार कर दिया और कहा कि यह आयोजन न मनाया जाय। किन्तु समय की गति बड़ी विचित्र होती है। समय चोट देना और चोट भरना दोनों ही जानता है, यही सोचकर कार्य-कारिणी के सदस्यों ने तथा डा० शम्भुनाथ सिंह के हितैषियों ने आयोजन को पूर्व निश्चित तिथि से लगभग डेढ़ महीने पश्चात् २९,३० अक्टूबर को सम्पन्न करने का निर्णय लिया। डा० शम्भुनाथ सिंह को भी कह-सुनकर आयोजन के लिए तैयार कर लिया गया।

आयोजन को सफल बनाने के लिए पुनः जोर-शोर से प्रयास चलने लगा। विज्ञापन-दाताओं ने जहाँ अपने विज्ञापन देकर इस महायज्ञ को सफल बनाने में योग-दान दिया, वहीं साहित्य एवं समाज प्रेमियों ने इस स्वस्थ परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए हाथ बढ़ाकर उत्साह दिखाया। कुल मिलाकर हर क्षेत्र से कुछ ऐसा सक्रिय सहयोग मिला कि लगभग सभी आवश्यक साधन समय से पूर्व ही जुटा लिए गए। २८ अक्टूबर को काशी विद्यापीठ के प्रांगण में श्री विजय बटियाटिक के नेतृत्व में विद्यापीठ के विद्यार्थियों ने बड़े ही उत्साह से रात तक जगकर पाण्डाल को सजा दिया।

२६ अक्तूबर को ६ बजे प्रातः काल तक पण्डाल भर गया, हिन्दी प्रेमियों तथा हिन्दी सेवियों से। करीव दो तीन हजार दर्शकों की भीड़ पण्डाल में मुख्य समारोह की कार्यवाही शुरू होने की प्रतीक्षा में बैटी थी। मंच पर समारोह की शोभा बढ़ा रहे थे, काशी के गौरव स्तम्भ हास्यरसावतार श्री वेढव वनारसी, हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ कवियित्री श्रीमती महादेवी वर्मा, संचालन कला के आचार्य श्री ठाकुर प्रसाद सिंह, स्वर्ण जयन्ती समारोह समिति के मंत्री श्री सागर सिंह और इस समारोह के संयोजक डा० वासुसेव सिंह। समारोह १० वजे से प्रारम्भ होनेवाला था और १० बजे से पूर्व से ही यह सारी व्यवस्था हो चुकी थी। समारोह को प्रारम्भ करने के लिए वस डा० शम्भुनाथ सिंह के सभा-मंच पर आने की प्रतीक्षा थी। इसी बीच डा० शम्भुनाथ सिंह को लेकर गाड़ी विद्यापीठ के प्रांगण में पण्डाल के मुख्य द्वार के सामने रुकी। विद्वन्मण्डली पण्डाल के मुख्य द्वार पर उनको लेने गयी और उनको लेकर उनके साथ-साथ सभा-मंच तक गयी। डा० शम्भुनाथ सिंह को मुख्य अतिथि के आसन पर बैठाया गया। तदनन्तर इस समारोह के अध्यक्ष श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़—वेढव वनारसी ने समारोह की कार्यवाही प्रारम्भ करने की अनुमति दी। श्री ठाकुर प्रसाद सिंह ने समारोह की कार्यवाही के संचालन का भार सँभाला।

वेदमंत्रों के पाठ तथा संस्कृत मंगलाचरण के साथ समारोह का शुभारम्भ हुआ। मंगलाचरण के वाद काशी तथा वाहर की लगभग एक दर्जन साहित्यिक संस्थाओं की ओर से डा० शम्भुनाथ सिंह को माल्यार्पण किया गया। तत् पश्चात् श्री ठाकुर प्रसाद सिंह ने महान् कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा से उद्घाटन भाषण करने की प्रार्थना की। श्रीमती महादेवी वर्मा ने, जिन्हें देखने और सुनने के लिए कितने ही साहित्य-प्रेमी उत्कण्ठित वैठे थे, अपनी ललित एवं कवित्वपूर्ण शैली में उद्घाटन भाषण (अलग लिखा जा रहा है) प्रारम्भ किया। अपना सारगर्भित भाषण समाप्त करते हुए उन्होंने अन्त में डा० शम्भुनाथ सिंह के प्रति अपना स्नेह प्रदर्शित किया और यह आशा व्यक्त की कि साहित्य एवं समाज को युगानुरूप नयी दिशा प्रदान करने में वे नयी पीढ़ी का नेतृत्व करेंगे और अपनी रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि करते रहेंगे। भाषण के पश्चात् वाणी के वरद्पुत्र, हिन्दी के महान कवि, आलोचक एवं नाटककार डा० शम्भुनाथ सिंह को श्रीमती महादेवी वर्मा ने अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया! सारा पण्डाल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा। फिर समारोह समिति के मन्त्री श्री सागर

सिंह ने उन साहित्यकारों एवं सम्मानित व्यक्तियों का सन्देश पढ़कर सुनाया जो किन्हीं विवशताओं से समारोह में सम्मिलित न हो सके। इनमें डा० सम्पूर्णानन्द, श्री बालकृष्ण राव, डा० राजबली पाण्डेय, डा० लक्ष्मी नारायण सुधांशु और श्री कल्याण मल लोढ़ा के नाम प्रमुख है। सन्देश-पाठ के बाद समारोह में भाग लेने के लिए उपस्थित हिन्दी के जाने-माने साहित्यकारों, डा० शम्भुनाथ सिंह के आत्मीय साहित्यिक मित्रों और सहयोगियों ने अपने उद्‌गार व्यक्त किये। उन्होंने शम्भुनाथ जी की साहित्यिक सेवाओं की चर्चा करते हुए उनके मंगलमय भविष्य की कामना की, तथा भविष्य मे भी इसी लगन से साहित्य-सेवा करते रहने के लिए उनसे आत्मीय अनुरोध व्यक्त किया। वक्ताओं के भाषणों के सारांश नीचे दिये जा रहे हैं :—

डा० जयदेव सिंह

भारत प्रसिद्ध संगीतज्ञ एवं दार्शनिक डा० जयदेव सिंह ने कहा :—"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पश्चात् हमारा साहित्य-भावना कुछ सूख-सा रहा था। श्री जयशंकर प्रसाद इस भावना में वसंत के समान अवतरित हुए। वसंत हरी-भरी लताओं और पुष्पों का शृङ्गार लेकर आया। इस भावना में श्रीमती महादेवी वर्मा रस भरी मृदुल मञ्जरी के समान मुकुलित हुई। सुमित्रानन्दन पंत सबके नन्दनकारी पुष्प के समान विकसित हुए। एक अनुपम पुष्प निराला के रूप में हमको मिला। उसी साहित्य-भावना में शम्भुनाथ सिंह भी अपना पूर्ण सौरभ लेकर खिल उठे। हमारा मुर्झाया हुआ भावना-पुष्प फिर से पल्लवित और पुष्पित हो उठा।

आपको मैं लगभग २५ वर्षों से जानता हूँ। आपने अपनी कविता में लिखा है—'समय की शिला पर मधुर चित्र कितने, किसी ने बनाए, किसी ने मिटाए। मैं आपको विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि मेरे हृदय पर आपके जो मधुर चित्र अङ्कित हुए हैं, वे किसी भी प्रकार मिटाए नहीं मिट सकते। मेरी ईश्वर से यही प्राथना है कि आप चिरायु हों, जिससे आप साहित्य की और अधिक सेवा कर सकें।"

डा० रामअवध द्विवेदी

हिन्दी और अंग्रेजी के विद्वान् आलोचक डा० रामअवध द्विवेदी ने कहा :

डा० शम्भुनाथ सिंह को पचासवीं वर्षगाँठ के शुभ अवसर पर मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ तथा अपनी मंगल-कामना अर्पित करता हूँ। डा० सिंह दीर्घजीवी हों तथा यशस्वी हों, उनके सभी मित्रों की यह आकांक्षा है। डा० शम्भुनाथ

से मेरा सम्बन्ध दीर्घकालीन है और यह सम्बन्ध अत्यन्त स्नेहपूर्ण और मधुर भी है। अतएव उनके दीर्घजीवन, उनके यश विस्तार, उनकी सफलता से हर्षित होना, मेरे लिए स्वाभाविक है। प्रसन्नता के इस निजी कारण के अतिरिक्त डा० सिंह जी की साहित्यिक उपलब्धियों के कारण उनके प्रति मेरे मन में बड़ा सम्मान है। उनकी प्रतिभा अत्यन्त जीवन्त और सशक्त है। उसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि समय के साथ उनकी काव्य-कला निरन्तर विकसित होती आयी है। उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ किसी अंश में पम्परागत हैं, किन्तु हिन्दी काव्य के क्षेत्र में जैसे नवीन प्रभाव परिलक्षित हुए उनको डा० शम्भुनाथ सिंह ने सदैव ग्रहण किया और फलतः उनके काव्य का स्वरूप बदलता गया तथा अधिकाधिक प्रौढ़ और परिष्कृत होता गया। उनकी कविता की सबसे बड़ी विशेषता को लरीक्ष के एक वाक्यांश से अभिव्यक्त होती है। उस महान आलोचक और कवि ने बताया है कि उत्तम काव्य में वह गुण होता है जिसे अंग्रेजी में A sense of mueicataulest कहते हैं। डा० शम्भुनाथ सिंह की रचनाओं में लय एवं माधुर्य्य का समावेश अत्यन्त चमत्कारपूर्ण रीति से हुआ है। इसी भाँति बिम्बों के सफल समावेश से उनकी कुछ कविताएँ अत्यन्त चित्रात्मक हो गयी है। यह आलोचना का अवसर नहीं है, आज तो हम लोग डा० शम्भुनाथ सिंह का अभिनन्दन कर रहे हैं, हम प्रसन्न हैं और हमारा मन इस आशा से भरा हुआ है कि डा० शम्भुनाथ सिंह की कविता अधिकाधिक विकसित और प्रस्फुटित होगी।"

पं० करुणापति त्रिपाठी

हिन्दी के विद्वान आलोचक पं० करुणापति त्रिपाठी ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा :

"भाई शम्भुनाथ सिंह जी से मेरी व्यक्तिगत घनिष्ठता इतनी अधिक रही है कि इनके गुणों की चर्चा करना आत्म प्रशंसा हो जाती है। पर उसी कारण मैं इनकी योग्यता, व्यक्तित्व और कृतित्व को निकट से और गहराई के साथ जानने का दावा रखता हूँ। श्री शम्भुनाथ जी का स्वभाव और मित्रों के साथ सम्बन्ध इतना सौजन्यपूर्ण और स्नेहमय रहा है कि कोई इनका शत्रु नहीं बन पाता। सभी परिचित सदैव इनके मित्र बने रहते हैं। इसके साथ ही काव्य-रचना के क्षेत्र में ये सदैव युगबोध से पूर्णतः परिचित ही नहीं रहे हैं अपितु इनके काव्य में समसामयिकता और आधुनिकता की समर्थ अभिव्यक्ति भी हुई है। जन्मजात कविप्रतिभा से सम्पन्न होने के साथ इनमें उच्चकोटि की शोधक्षमता

एवं आलेचनप्रज्ञा भी है। कहानी, नाटक आदि की रचना में ये समर्थ हैं। हमारी कामना है कि इसी प्रकार इनके द्वारा बहुत वर्षों तक हिन्दी साहित्य की सेवा होती रहे।''

डा० जगदीश गुप्त

प्रयाग से समारोह में भाग लेने के लिए आये डा० जगदीश गुप्त ने कहा कि मेरा शम्भुनाथ सिंह से उस समय से परिचय है जब मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में बी० ए० का छात्र था। डा० बच्चन के बाद हिन्दी गीत काव्य के विकास में जितना योग शम्भुनाथ जी का रहा है उतना शायद और किसी का नहीं था। एक समय था जब प्रयाग में धर्मवीर भारती, महेन्द्र, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, गिरिधर गोपाल, विजयदेव नारायण साही तथा अन्य कई साथी शम्भुनाथ जी के गीत समवेत रूप में गाते थे। उनके गीतों की पैरोडी बनी थी—'उपेन्द्रनाथ अश्क और धर्मवीर भारती, तुम्हें लहर पुकारती'। शम्भुनाथ सिंह की विशेषता यह रही है कि वे युग के साथ अपने के परिवर्तित करते रहे हैं। गीत काव्य के बाद नयी कविता में भी उन्होंने उतनी ही सफलता प्राप्त की है। उन्होंने नये भावबोध वाले नाटकों की भी रचना की है। वे हमारे साथी और अग्रज हैं और उनके अभिनन्दन के इस शुभ अवसर पर मैं उनसे यही कहूँगा कि इस स्वर्ण-जयन्ती-समारोह को वे गम्भीरता से न लें क्योंकि स्वर्ण जयन्ती उनकी मनायी जाती है जो लिखना बन्द कर चुके होते हैं। शम्भुनाथ सिंह से हम अभी बहुत कुछ प्राप्त करने की आशा रखते हैं।

श्री कृष्णानन्द

डी० ए० बी० डिग्री कालेज के प्राचार्य श्री कृष्णानन्द जी ने डा० शम्भुनाथ सिंह को भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित कवि बताते हुए कहा कि डा० शम्भुनाथ सिंह से मेरा परिचय दीर्घकालीन है। उनका कृतित्व एवं व्यक्तित्व दोनों ही अनुकरणीय एवं श्लाघ्य है। डा० शम्भुनाथ सिंह ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से सरस्वती की जो सेवा की है, उससे हिन्दी जगत् तो गर्वित है ही, हम काशीवासी विशेष रूप से गर्व का अनुभव करते हैं। इस समारोह के अवसर पर हम उनके दीर्घायु होने की मंगल-कामना करते हैं तथा यह आशा करते हैं कि वे इसी लगन एवं निष्ठा से साहित्य-सेवा करते रहेंगे।

डा० राजनाथ सिंह

उदय प्रताप डिग्री कालेज के प्राचार्य डा० राजनाथ सिंह ने कहा कि

शम्भुनाथ जी को मैं उस समय से जानता हूँ, जब वे उदयप्रताप कालेज में सातवीं कक्षा में पढ़ते थे। उस समय उन्होंने जो कविताएँ लिखी थीं, उन्हें देखकर उसी समय यह आशा बँध गयी थी कि वे आगे चलकर सफल साहित्यकार सिद्ध होंगे। उनके सम्बन्ध में 'होनहार बिरवान के होत चिकने पात' वाली कहावत पूर्णत: चरितार्थ होती है। जब वे दसवीं कक्षा में पढ़ते थे, तो उनकी 'त्रिधारा' नामक एक छोटी पुस्तक प्रकाशित हुई थी, उनकी एक कविता 'हरिजनबाला' की पहली पंक्ति थी :

"पिता, पिता जी आज मुझे मुन्नू ने मारा,
हट अछूत बालिके मुझे कह यों दुत्कारा।"

उन्होंने हरिजनों की सामाजिक स्थिति पर जो संवेदना व्यक्त की है, उससे उनके व्यक्तित्व में निहित उस लोकहित की भावना का पता चल जाता है, जो बाद में चलकर उनके साहित्य में व्यापक रूप में अभिव्यक्त हुई है। वे मेरे अनुज तथा उस विद्यालय के प्राचीन छात्र हैं, जहाँ मैं सम्प्रति प्राचार्य हूं। इसलिए अपनी ओर से तथा विद्यालय की ओर से मैं उनका अभिनन्दन करता हूं।

काशी विद्यापीठ के श्री दूधनाथ चतुर्वेदी ने डा० शम्भुनाथ सिंह का अभिनन्दन करते हुए कहा कि उनकी कविता गंगा की धारा-सी पवित्र एवं सतत् प्रवहमान है। उसमें अवगाहन करनेवाला सद्यः आनन्द-मुक्ति का अनुभव करता है।

डा० मोती सिंह

गाजीपुर डिग्री कालेज के प्राचार्य तथा हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान डा० मोती सिंह ने अपनी शुभकामना इस प्रकार व्यक्त की—

"मैं डा० शम्भुनाथ सिंह को उस समय से जानता हूं, जब मैं उदयप्रताप कालेज में पढ़ता था। वे मुझसे कुछ वर्ष आगे थे। छात्रावस्था में ही उन्होंने काव्य-रचना में पर्याप्त प्रगति कर ली थी। तबसे वे निरन्तर साहित्य के क्षेत्र में आगे बढ़ते हुए ख्याति अर्जित करते आ रहे हैं। काव्य के साथ इन्होंने नाटक, आलोचना और कहानी के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। वे मेरे अग्रज और सहयोगी हैं। इस नाते उनके इस अभिनन्दन समारोह में सम्मिलित होकर तथा अपनी शुभकामना व्यक्त करके मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।"

श्री सुधाकर पाण्डेय

प्रसिद्ध साहित्यकार तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा के मंत्री सुधाकर पाण्डेय ने कहा :—

जब कोई वर्ग या व्यक्ति किसी साहित्यकार या अध्यापक का अभिनन्दन करता है तो वह उसका कोई उपकार नहीं करता, अपितु इसके माध्यम से अपना उत्तरदायित्व पूरा करने का यत्न ही करता है। साहित्य केवल सत्य की अभिव्यक्ति ही नहीं, अपितु वह एक सत्य एवं संकल्प भी है। आज जब देश में निरर्थक साहित्य की बाढ़ आ गयी है, वैसी स्थिति में शम्भुनाथ जी का अभिनन्दन इस बात का प्रमाण है कि सार्थकता के प्रति आस्था समाज में अभी शेष है। हमारी मंगल कामना है कि शम्भुनाथ जी तुलसी, प्रसाद और भारतेन्दु के सच्चे अर्थों में उत्तराधिकारी बनें।

प्रो० दूधनाथ चतुर्वेदी

गान्धीवादी अर्थशास्त्री एवं काशी विद्यापीठ के अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष श्री दूधनाथ चतुर्वेदी ने भावात्मक शैली में भाषण करते हुए कहा :—

डा० शम्भुनाथ सिंह को मैंने बहुत निकट से देखा और जाना है। उनके व्यक्तित्व में गंगा के समान विशालता और उदारता है। जिस तरह अनेकानेक छोटी-बड़ी नदियाँ विभिन्न प्रकार का जल लेकर गंगा में मिलती हैं और गंगा उस समस्त जल को अपना बनाकर अपने गुणों से परिपूर्ण कर देती है, उसी तरह विभिन्न प्रकार के व्यक्ति चाहे वे कवि हों या शिष्य या मित्र, डा० शम्भु नाथ जी के पास जाते और वे उन्हें अपनाकर अपने जैसा बना देते हैं। उनकी इस विशेषता के कारण ही इस समारोह में इतने लोग अपनी सद्भावना व्यक्त करने के लिए एकत्र हुए हैं।

श्री चन्द्रदेव सिंह

कलकत्ते के साहित्यकार प्रो० चन्द्रदेव सिंह ने कलकत्ते के साहित्यकारों की ओर से शम्भुनाथ जी का अभिनन्दन करते हुए कहा कि वे उस पीढी के कवि हैं जो एकदम नयी पीढी से काफी पीछे रह गयी है। किन्तु अपनी पीढी के कवियों में वे इस अर्थ में विशिष्ट हैं कि नयी पीढी के साथ भी वे कदम से कदम मिलाकर चल रहे हैं। उनमें कोई ऐसा तत्त्व है जो उन्हें कभी बूढ़ा और बासी नहीं होने दे सकता।

श्री विजय बलियाटिक

हास्यरस के नवयुवक कवि, काशी विद्यापीठ छात्र संघ के अध्यक्ष तथा समारोह समिति के सदस्य श्री विजय बलियाटिक ने नयी पीढ़ी के साहित्यकारों और छात्रों का प्रतिनिधित्व करते हुए कहा :—

"आज के युग में जब नयी पीढ़ी के साहित्यकारों पर हर तरफ से रोड़े-पत्थर ही फेंके जा रहे हैं, उस समय डा० साहब ने इस नयी पीढ़ी को दुलारा है तथा उसे हाथ पकड़कर चलना सिखाया है। मैं डा० साहब को अपनी पीढ़ी का प्रतिनिधि साहित्यकार मानता हूँ और उनके सम्मार को मैं नयी पीढ़ी के साहित्यिकों का सम्मान मानता हूँ। उसी रूप में डा० साहब का मैं अभिनन्दन करता हूँ।"

ठाकुर प्रसाद सिंह

समारोह के संचालक तथा उत्तर प्रदेश सूचना विभाग के उपनिदेशक श्री ठाकुर प्रसाद सिंह ने समारोह के बिखराव को समेटते हुए कहा "शम्भुनाथजी मेरे अग्रज और साथी हैं। काशी में नयी पीढ़ी के कवि उनके पीछे-पीछे चलते आये हैं। उन्होंने प्रसाद जी के बाद काशी की टूटी हुई काव्य-परम्परा को पुनः जीवित किया है। मैं उन्हें तबसे जानता हूँ, जब मैं छात्र था। मैंने उन्हें बहुत निकट से विविध रूपों में देखा है। उन्हें देखकर मुझे काशी के उस बुनकर की याद आती है, जो करघे पर झुका हुआ इधर से ऊधर ढरकी चलाता और धीरे-धीरे एक बूटी निकालता है। जब पूरा वस्त्र तैयार हो जाता है, तब उसकी कला का सौन्दर्य और महत्व समझ में आता है। शम्भुनाथ जी के व्यक्तित्व में भी ऐसा सी श्रम-साध्य बुनावट है जिसके फलस्वरूप उनके साहित्य का समग्र प्रभाव परिलक्षित होता है। वे ऐसे साहित्यकार हैं जो किसी एक पीढ़ी या वर्ग के नहीं हैं। उनके साथ सभी वर्गों, विचारों और उम्र वालों की एक कतार जुड़ी हुई है। सभी वर्ग के लोग उन्हें और सभी वर्गों को वे अपना मानते हैं। उन्होंने साहित्य की अद्युतातन प्रवृत्तियों को पकड़ कर हमेशा युग का साथ दिया है, किन्तु अपने साहित्य में उन्होंने अपनी निजता भी रखी है। अभी हाल में मैं बम्बई गया था तो वर्षा-काल में पर्वतों और वनों की हरियाली को देख कर सहसा सोचने लगा कि प्रकृति की यह सौन्दर्य-धारा आधुनिकतावादी कविता और अकविता के इस युग में व्यर्थ हो बही चली जा रही है। सन्तोष की बात इतनी ही है कि अब भी शम्भुनाथ जी जैसे दो एक कवि प्रकृति की हरियाली

और जीवन्तता को ग्रहण कर अपने साहित्य को रसमय तथा वैविध्यपूर्ण बनाये हुए हैं। उनके पचास वर्ष पूरे हो जाने पर उनके शिष्यों और मित्रों ने इस समारोह का जो यज्ञ आयोजित किया है उसमें काशी के सभी वर्गों के नागरिकों का हार्दिक सहयोग सम्मिलित है। हम इस समारोह के माध्यम से उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि हमलोग हमेशा उनके साथ हैं, वे निरन्तर इसी प्रकार साहित्य-साधना में लगे रहें।'

संचालक के बाद समारोह के अध्यक्ष श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ बेढव बनारसी ने अपने हास्य और व्यंग्य से भरे भाषण द्वारा उपस्थित लोगों को आनन्द मग्न कर दिया। उनका भाषण अलग से शब्दशः दिया जा रहा है।

डा० शम्भुनाथ सिंह

अध्यक्षीय भाषण के उपरान्त आयोजकों और वक्ताओं के प्रति आभार व्यक्त करते हुए डा० शम्भुनाथ सिंह ने भावाभिभूत होकर कहा —

"देवियों और सज्जनों! आपने मेरे अभिनन्दन के लिए आज जिस भव्य समारोह का आयोजन किया है उसके लिए मैं आप सब लोगों का हृदय से आभारी हूँ। किन्तु इस अवसर पर मैं एक घोषणा कर देना चाहता हूँ। यदि इस अभिनन्दन समारोह का आयोजन यह बताने के लिए किया गया हो कि पचास वर्ष का हो जाने के कारण अब मैं बूढ़ा हो गया हूँ और मुझे लिखना बन्दकर देना चाहिए तो मैं इस समारोह को अस्वीकार करता हूँ। यदि इस समारोह का उद्देश्य मुझे और अधिक लिखने के लिए प्रोत्साहित करना हो तो मैं उसे सिर-माथे लेता हूँ। उम्र मेरे मार्ग में बाधा नहीं है। मैंने आज ही अपने एक नाटक में एक पात्र द्वारा समय को पैरों से रौंदवाया है। मैं समझता हूँ कि युग के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने वाले लेखक के सामने उम्र कोई बाधा नहीं है। साहित्य के क्षेत्र में पीढ़ियों का प्रश्न उठाना मेरे विचार से एकदम गलत है। विचारों और आधुनिकता-बोध के आधार पर ही कृतियों और कृतकारों का विभाजन और विश्लेषण होना चाहिए, पीढ़ियों के आधार पर नहीं। मेरे भीतर पूर्ण आत्मविश्वास है कि मैं जीवन के अन्तिम क्षण तक लिखता रहूंगा और कभी भी अपने को पुराना, बासी और बूढ़ा नहीं होने दूँगा।"

अपने विषय में वक्ताओं द्वारा कही हुई बातों का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा—"मैं अपने को एक सामान्य व्यक्ति मानता हूं कि मुझ में कोई विशिष्टता नहीं है। इसीलिए मैं विशिष्टताओं को ऊपर से ओढ़ता नहीं। ग्रामीण क्षेत्र में

जन्म होने के कारण मेरी वृत्तियाँ भी वैसी ही हैं। इसीलिए साइकिल की सवारी, सड़क की पटरी पर किसी मामूली दूकान में बैठकर चाय पीने, दूसरों के साथ रिक्से में बैठने और छात्रों तथा सामान्य लोगों के साथ हिल-मिल कर बातें करने में मुझे कोई बुराई नहीं मालूम देती। मैं बनावटी और आरोपित शिष्टता और विशिष्टता नहीं सीख सका। किन्तु इसके लिए मुझे कोई पश्चात्ताप नहीं है। पहले मैं सोचता था कि मैं तो सब का हूँ किन्तु मेरा कोई नहीं है। किन्तु आज के इस समारोह में इतने लोगों को एकत्र देखकर मुझे लगता है कि मैं अकेला नहीं हूं, इतने लोग तथा और भी बहुत से लोग जो यहाँ उपस्थित नहीं हैं, मेरे साथ हैं। मैं ऐसे सभी लोगों का हृदय से आभारी हूं जिन्होंने मन, वचन वा कर्म से मेरे प्रति अपनी सद्भावनाएं व्यक्त की हैं। मैं महादेवी जी का विशेष रूप से आभारी हूँ। जब मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में बी० ए० का विद्यार्थी था उसी समय उन्होंने मेरी एक कविता देखकर मेरे उज्ज्वल भविष्य की मंगल-कामना व्यक्त की थी। आज इस अभिनन्दन समारोह में भाग लेने के लिए वे इतनी दूर से कष्ट उठा कर आयीं—यह उनके हृदय की उदारता और मेरे प्रति उनके प्रगाढ़ स्नेह का परिचायक है। अतः मैं उनके प्रति अपनी भावनाओं को शब्दों में व्यक्त करने में असमर्थ हूँ। काशी के बाहर विभिन्न नगरों से जो लोग इस समारोह में उपस्थित हैं उनके हृदय में मेरे प्रति निश्चय ही सच्चा स्नेह है और मैं उस स्नेह को अपने हृदय में आजीवन संचित रखूँगा। मेरे मित्रों और शिष्यों ने मेरे बार-बार विरोध करने पर भी यह सारा आयोजन किया अतः उनके प्रति मैं कृतज्ञता से अवनत हूँ। मैं सब लोगों को पुनः-पुनः धन्यवाददेता हूँ।"

अन्त में डा० शम्भुनाथ सिंह स्वर्ण-जयन्ती-समारोह-समिति के मन्त्री श्री सागर सिंह ने आयोजन की सफलता के लिए कार्य-कर्त्ताओं, अतिथियों एवं आगत विद्वानों के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की। उन्होने श्रीमती महादेवी वर्मा के प्रति विशेष आभार व्यक्त किया, जो प्रयाग से इतना कष्ट उठाकर इस समारोह में ठीक समय से उपस्थित होने की कृपा की थीं। उन्होंने यह भी घोषणा की कि डा० शम्भुनाथ सिंह के इस स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर निर्धन, रुग्ण एवं अक्षम साहित्यकारों की सहायता के लिए एक न्यास स्थापित करने की योजना बनायी गयी है जो शीघ्र ही कार्यान्वित की जायगी।

यह अभूतपूर्व समारोह बड़े ही शानदार ढंग से लगातार तीन घण्टे तक चलता रहा। समारोह का समापन लगभग एक बजे डा० शम्भुनाथ सिंह स्वर्ण-जयन्ती-समारोह के अवसर पर प्रकाशित स्मारिका के वितरण के साथ हुआ।

●

प्रथम विचार-गोष्ठी

नयी कविता में संत्रास तथा एकाकीपन का बोध

मुख्य समारोह के समाप्त होने के लगभग एक घण्टे बाद अपराह्न तीन बजे उसी पण्डाल में "नयी कविता में एकाकीपन और संत्रास का बोध, वास्तविकता का आरोपण" विषय पर एक विचारगोष्ठी हुई। गोष्ठी की अध्यक्षता काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष तथा हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक डा० देवराज ने की।

गोष्ठी का विषय प्रवर्तन काशी विद्यापीठ के हिन्दी विभाग के व्याख्याता डा० ब्रजविलास ने किया। उन्होंने विषय को स्पष्ट करते हुए कहा कि गोष्ठी के प्रवर्तन का कार्य श्री विजयदेव नारायण साही करने वाले थे, किन्तु किन्हीं कारणों से वे न आ सके। अतः आकस्मिक रूप से यह भार मेरे ऊपर गोष्ठी के संयोजक होने के नाते आ पड़ा है। वस्तुतः मैं विषय प्रवर्तन नहीं कर रहा हूँ, बल्कि यह किस उद्देश्य से रखा गया, उसका स्पष्टीकरण कर रहा हूँ। इस समय हिन्दी में जो साहित्य लिखा जा रहा है उसमें आधुनिकताबोध के नाम पर संत्रास तथा एकाकीपन की बात बहुत की जाती है। वस्तुतः ये अंग्रेजी के 'हरर' और 'एलिनेशन' शब्दों के अनुवाद हैं। पाश्चात्य साहित्य में इन प्रवृत्तियों का जोर बहुत कुछ वहाँ की परिस्थितियों के कारण बढ़ता जा रहा है। हमें देखना यह है कि क्या वे परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी हैं, जिनके कारण संत्रास और एकाकीपन का उद्भव होता है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि हमारे जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ नहीं उत्पन्न हुई हैं और पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण हिन्दी साहित्य में इन प्रवृत्तियों को ग्रहण कर लिया गया है। हमें यह भी देखना होगा कि विकसित देशों और विकासमान देशों की सामाजिक परिस्थितियों में वैसम्य रहते हुए भी दोनों साहित्यिक प्रवृत्तियाँ एक जैसी हो सकती हैं या नहीं। यदि साहित्य में केवल भोगी हुई अनुभूतियों का ही चित्रण उचित माना जाय तो निश्चय ही उस प्रकार की परिस्थितियों के अभाव में ये प्रवृत्तियाँ कृत्रिम और आरोपित मानी जायेगी। आज की गोष्ठी में नये साहित्य के जो अध्येता, सर्जक और आलोचक विद्यमान हैं उनके सम्मुख मैं यह विषय विचारार्थ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

डा० व्रजविलास के बाद हिन्दी के समर्थ आलोचक डा० वच्चन सिंह को विचार व्यक्त करने के लिए आमन्त्रित किया गया। डा० बच्चन सिंह के विचारों को सुनने से ऐसा मालूम पड़ा कि उन्हें नयी कविता में एकाकीपन एवं संत्रास का बोध आरोपित लगा। उन्होंने 'आखिता' के लगातार चार-पाँच अंकों में अल्वेयर कात्रू का उपन्यास 'स्ट्रेन्जर' की चर्चा का उल्लेख करते हुए नयी कविता में एकाकीपन के बोध पर यह व्यंग्य किया कि अकेले होकर जो कुछ लिख दिया जाता है, वह प्रामाणिक अनुभूति बन जाती है। उन्होंने यह भी कहा कि सड़ी-गली अमेरिकन चीजों को यथावत् उतार देने से यहाँ साहित्य में संत्रास एवं एकाकीपन का वास्तविक होना सम्भव नहीं है, बल्कि कवि या लेखक का स्वयं उस संत्रास को भोगना तथा उस एकाकीपन को समझना चाहिए।

श्री ओम प्रभाकर ने डा० वच्चल सिंह की इस बात से कि "उन्हें काशी में रहकर संत्रास या एकाकीपन का अनुभव नहीं होता है, भले ही बम्बई, कलकत्ता और दिल्ली आदि नगरों में होता हो", सहमति व्यक्त करते हुए यह स्वीकार किया कि उन्हें कलकत्ते में इस प्रकार की अनुभूति हुई थी। उन्होंने कहा कि बम्बई, कलकत्ता, तथा दिल्ली जैसे स्थानों में रहकर अकेले पड़ जाने की संवेदना की अनुभूति हो सकती है, और ऐसी स्थिति में अमेरिका आदि विदेशी साहित्य से कुछ उतार लेने का आरोप ठीक नहीं जँचता। जहां रस्म-रिवाज एवं परम्पराएं जीवित हैं, वहां इस प्रकार का संत्रासबोध नहीं हो सकता है। अन्त में उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि दरअसल आज आदमी न तो अपने को समाज से जुड़ा हुआ महसूस कर पा रहे हैं और न तो सभी से टूटा हुआ। यह कहा कि बड़े नगरों के मति के दबाव के कारण राजकमल चौधरी, जगदीश चतुर्वेदी जैसे लोग पैदा हो सकते हैं और जहां ऐसा दबाव नहीं है वहां नहीं हो सकते हैं।

प्रश्न को पेचीदा बताते हुए कृष्णनाथ शर्मा ने संत्रास एवं एकाकीपन के बोध को स्थितिजन्य बताया। उन्होंने कहा कि ये स्थितियां केवल महानगरों में ही नहीं अपितु छोटे गांवों व नगरों में भी हो सकती हैं। वस्तुतः यह संत्रास-बोध आस्तिकतावादी दर्शन का एक प्रमुख तत्व है। अज्ञेय के "शेखर एक जीवनी" में मृत्यु के खतरे के जिक्र को उन्होंने प्रामाणिक बताया और कहा कि पाठक की निजी अनुभूति ही उसकी माप हो सकती है। नयी कविता में संत्रास एवं एकाकीपन की स्थितियों के सिलसिले में उन्होंने 'नदी के द्वीप' (अज्ञेय) की "यह हमारी नियति है" तथा 'मछली घर' (विजयदेव नारायण साही) की "आबें हयात

की तलाश में जाता है" की व्यक्त स्थितिओं की चर्चा करते हुए कहा कि ये सब स्थितियाँ संत्रास एवं एकाकीपन को आरोपित कर रही है।

श्री ठाकुर प्रसाद सिंह को संत्रास (Horror) जैसे विषय पर विचार करने के लिए आमन्त्रित किये जाने पर अपनी बड़ी प्रसन्नता व्यक्त की और बड़े ही विनोदपूर्ण ढंग से कहते हुए अपनी बात प्रारम्भ की, जैसे लड़कों को—उस कोने मत जाना, भूत है, कहकर डरवा दिया जाता है, और वह वहीं रुक जाता है। कुछ वैसी यह भी बात लगती है कि ओंमप्रभाकर या चन्द्रदेव सिंह कलकत्ते में रहते हैं, तो वहां संत्रास या Horror दिखाई पड़ता है। Horror यह संत्रास पन्नों के कोने के हस्ताक्षर में भी है जिसे वे लखनऊ में रहकर भी महसूस करते हैं। 'संत्रासबोध' आज की पीढ़ी का है, वह जैसे सफलता का है, टूटन का है। यह सफलता का बोझ ही संत्रास है या Horror है। यह कोई दर्शन नहीं है। शंकराचार्य या गान्धी का दर्शन ही मौलिक है, ऐसा लोग कहते हैं। उस मरीज की तरह जो भावप्रकाश खोलता है तो उसे तमाम रोगों के लक्षण दिखलाई पड़ता है। यही स्थिति संत्रास की भी है। हिन्दी में ऐसा कोई लेखक नहीं है, जो पिछले डेढ़ सौ वर्षों में विदेशी साहित्य से कुछ-न-कुछ न लिया हो। स्वाधीनता के पहले क्या आशायें बांधी गयी थीं और आज क्या दशा है। पिछले पाँच-सात वर्षों में कुछ कविताएँ आयीं हैं, उनमें क्या है यह समझना जरूरी है। जगदीश चतुर्वेदी या ऐसे ही कुछ अन्यों ने क्या लिखा है या लिखा रहे हैं भली-बुरी।

डा० जगदीश गुप्त ने मूल "प्रश्न की उपेक्षा करते हुए नयी कविता में संत्रास एवं एकाकीपन है कि नहीं", को चिरवा कर प्रश्न बताया। उन्होंने कहा कि अगर रचनाकार अपनी रचना में ईमानदार है, तो वह सही है, क्योंकि उसके भीतर कोई Vaccum नहीं है, एक देश है, एक जीवन है और उसके भीतर संस्कृति की प्रतिक्रिया होती है। यदि उसके भीतर कोई विश्वास है तो अंकुर उपजाने की क्षमता है कि नहीं ? वास्तविक एवं कृत्रिम अनुभूति पहचानी जा सकती है। दिशा-हीनता को उन्होंने मुश्किल बताया और कहा कि उसकी कई स्थितियाँ हैं, जिन्हें समझना कठिन है। इस सन्दर्भ में उन्होंने यह दृढ़ मत व्यक्त किया कि नयी कविता में ऐसा कोई कवि नहीं है, जो इस दार्शनिक स्तर पर सोच कर कुछ लिखे।

संत्रास में जीवित रहने वाले व्यक्तियों और निराधारता आदि की नयी कविता क्यों जोरदार चल रही है, के प्रति उन्होंने विचार व्यक्त किया कि इन सब में अनुभूति की पहचान अपरिपक्वावस्था में है। अभी यह सब करने का

अवसर नहीं है। अभी अपने को पहचानने की आवश्यकता है, बुद्धि से भी और समय से भी।

एकाकीपन की बात पर उन्होंने कहा कि भारतवर्ष किस युग में विश्वास कर रहा है, उससे मालूम होता है कि वह एक महान् निर्माण की ओर अग्रसर है। अगर इससे कोई उदासीन है तो वह इस देश का नहीं है, क्योंकि यहाँ सभी एक ऐतिहासिक सन्दर्भ से जुड़े हुए हैं। अपनी बात समाप्त करते हुए उन्होंने कहा कि नयी कविता में एकाकीपन होना एक बात है और संत्रास का होना दूसरी बात। किन्तु नयी कविता पराजय की कविता नहीं है।

माधव मधुकर ने नयी कविता को भविष्य के प्रति आस्थावान् बताया तथा कहा कि संत्रास का बोध नयी कविता में है, लेकिन वह उसका मुख्य स्वर नहीं है।

संत्रास तथा एकाकीपन शब्दों पर कटाक्ष करते हुए डा० युगेश्वर पाण्डेय ने उन्हें आलोचना की शब्दावली मात्र बताया। उन्होंने कहा कि आलोचना की शब्दावली छायावाद से शुरू होती है। छायावाद के बाद आलोचना क्षेत्र में घुटन, कुण्ठा शब्द प्रचलित हुए और आज संत्रास एवं एकाकीपन चल रहे हैं। डा० युगेश्वर ने भावावेश में यह कहते हुए "एनकाउन्टर के दो पन्ने दबाये हुए घर में जाते हैं, उलट-पुलट कर कहते हैं कि संत्रास है" अपनी यह तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की। यह सब अनुवाद की भाषा है, अनुवाद की शब्दाबली है। दरअसल हम सब आज अनुवाद की जिन्दगी जी रहे हैं। अन्त में पूर्व के कुछ वक्ताओं पर कटाक्ष करते हुए उन्होंने बड़े ही रोचक ढंग से अपनी बात समाप्त करते हुए कहा—सबसे बड़ा संत्रास यही है कि हम अनुवादों में जी रहे हैं।

श्री श्रीपाल सिंह क्षेम ने कहा कि अद्वैतवादी दर्शन के बाद पुनर्मूल्यांकन की बात उठी है। छायावाद में व्यक्तिवाद और मानववाद दोनों चला। किन्तु दोनों में साधारणीकरण की स्थिति थी। संत्रास के साथ क्या कोई दर्शन है? व्यक्तिगत जीवन में संत्रास बोध है और उसे ही अंकित किया जा रहा है।

श्री जितेन्द्रनाथ पाठक ने संत्रास को आज के युग की वास्तविकता की संज्ञा दी। उन्होंने कहा कि संत्रास की स्थितियाँ अपने देश ही में मौजूद हैं। महानगरों में जीवन की सघनता और भीड़ में अकेलापन यथार्थ है। भ्रष्टाचार की स्थितियों एवं सीमावर्ती आक्रमण की आशंका को भी उन्होंने संत्रासबोध देनेवाला बताया।

अन्त में गोष्ठी के अध्यक्ष डा० देवराज ने बड़े ही दार्शनिक ढंग से यह कहते

हुए 'संत्रास या एकाकीपन का प्रश्न क्यों उठाया जाता है ? शायद लेखक को यह आभास होता है कि वह अच्छा नहीं लिख रहा है" विषय को उठाया। उन्होंने कहा कि दर्शन की आवश्यकता साहित्य को बराबर होनी चाहिए। ऐसा न होने पर साहित्यकार की स्थिति डगमग रहती है। बाहर के देशों में हमारी या हमारे साहित्य की चर्चा नहीं होती, उनमें हमारे साहित्य को देखकर कुछ उत्तेजना जन्म नहीं लेती, आखिर क्यों ? इसलिए कि हमारे भीतर राष्ट्रीयता नहीं है। समानता में से सनातन फूटता है—सत्य और यह ज्यादा सत्य है कि जबतक हम इससे ऊपर नहीं उठते तबक हम विश्वजनीन साहित्य का निर्माण नहीं कर सकते हैं।

यूरोपीय साहित्यकार परम्परा को जानता है। हमारे यहाँ का साहित्यकार नहीं जानता। अपने जीवन या संस्कृति के प्रतीकों से कही हुई बात ज्यादा गहरी होती है।

विभिन्न स्तरों पर संत्रास का बोध महानगरों और छोटे नगरों में होता जरूर है, क्योंकि अभिव्यक्ति के साधन वहाँ बार-बार मिलते हैं, लेकिन इसे उपकरणों की सुविधा अधिक मिलने पर बात है। अक्सर जो कवि उपकरण बहुत पाते हैं, उनका चिन्तन कुछ हल्का हो जाता है। आधुनिकता की कोई एक परिभाषा नहीं दी जा सकती। जगदीश गुप्त के स्वीकृत मूल्य आज उसी अर्थ में ग्राह्य नहीं है। वैसे संत्रास की स्थिति को Perpect erpsession देना ही आज की अनिवार्यता है। आधुनिकता, एकाकीपन या संत्रास को हमारे यहाँ आइडियलाइज किया जाता है। यह ज्यादा खतरे की चीज है। संत्रास का अनुभव माडर्निटी नहीं है—जिन्दा रहने का सन्देश माडर्निटी हो सकती है। हमारे यहाँ आधुनिकता को बराबर संकीर्ण दृष्टि से देखा गया है।

कवि सम्मेलन

समारोह के प्रथम दिन का अन्तिम कार्यक्रम था, कवि-सम्मेलन। कवि-सम्मेलन उसी विशाल पण्डाल में सम्पन्न हुआ जिसमें दिन में मुख्य समारोह हुआ था। कवि सम्मेलन ८ बजे रात्रि से प्रारम्भ होने वाला था लेकिन ७ बजे तक ही पूरा पण्डाल श्रोताओं से भर गया। लगभग १० हजार श्रोताओं की भीड़ कवि-सम्मेलन के प्रारम्भ होने की प्रतीक्षा में बैठी थी। कवि-सम्मेलन के विधिवत ८ बजे से प्रारम्भ होने के पूर्व कवि-सम्मेलन के संयोजक श्री विजय बलियाटिक ने नवोदित कवियों का कविता-पाठ करने के लिए मंच पर आमन्त्रित किया। इन कवियों में श्री बच्चन सिंह, श्री सहस्त्रबुद्धे 'अरस' और श्री अजय नारायण सिंह का नाम इसलिए उल्लेखनीय है कि इन कवियों ने अपनी सरस एवं सुन्दर रचनाओं द्वारा जहाँ श्रोताओं का मनोरंजन किया, वहीं कवि-सम्मेलन के लिए अभीप्सित वातावरण बनाने में योग दिया।

कवि-सम्मेलन की विधिवत कार्यवाही ८ बजे रात्रि से प्रारम्भ हुई। कवि सम्मेलन की अध्यक्षता हिन्दी के प्रसिद्ध गीतकार श्री श्रीपाल सिंह 'क्षेम' ने की। संचालन का भार आजमगढ़ के सुप्रसिद्ध हास्य कवि श्री दानबहादुर सिंह 'सूड़' ने संभाला और उद्‌घाटन हास्यरसावतार श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब' बनारसी ने किया।

कवि-सम्मेलन में वाराणसी के श्रीकृष्णदेव प्रसाद गौड़, श्री ठाकुरप्रसाद सिंह, श्री विजय बलियाटिक, श्री गणेशप्रसाद सिंह 'मानव' तथा श्रीकृष्ण तिवारी, मिर्जापुर के बनारसी लाल पंकज, आजमगढ़ के श्री दानबहादुर सिंह 'सूड़' तथा उमाशंकर तिवारी, देवरिया के श्री परमहंस शुक्ल, डा० राजकुमार पाण्डेय, श्री गिरिधर 'करुण', श्री सन्तशरण 'करुणेश', आर्यभूषण तथा रघुबंशमणि त्रिपाठी, गोरखपुर के श्री रामविनायक सिंह, श्री देवेन्द्रकुमार, श्री माधव मधुकर तथा श्री जगदीश नारायण श्रीवास्तव, बस्ती के श्री महेश्वर शलभ, इलाहाबाद के श्री उमाकान्त मालवीय तथा श्री गोपेश जी, जौनपुर के श्री श्रीपाल सिंह 'क्षेम', डुमराँव के श्री अम्बिकादत्त, गया के श्री गुलाब जी तथा सीतापुर के श्री रामजी दास कपूर तथा चतुर्भुज शर्मा और कानपुर के श्री हरिनन्दन वाजपेयी 'श्री हर्ष' ने कविताएँ सुनायीं।

कवि-सम्मेलन २ बजे तक चलता रहा। रस विभोर हो श्रोता जम कर कविताओं का आनन्द लेते रहे। गीतकारों ने अपने मधुर गीतों से जहाँ श्रोताओं के हृदय-कानन को रस से सींचा, वहीं हास्यरस के सिद्ध कवियों ने उनके हृदय को अपनी हास्य-व्यंग्य रचनाओं से गुदगुदाया और हँसाया। वीर रस के कवियों ने अपनी ओजपूर्ण रचनाओं से श्रोताओं का मनोबल ऊँचा किया।

कवि-सम्मेलन की इस विशेषता से सभी प्रभावित दिखे। कवि सम्मेलन बड़े ही शान्तपूर्ण वातावरण में सम्पन्न हुआ। काशी के कवि सम्मेलनों में अक्सर कवियों को हुटिंग का सामना करना पड़ता है। किन्तु इस कवि सम्मेलन में सभी कवि अपनी रचनाएँ निर्विघ्न पढ़ सके। श्रोताओं ने बड़ी सहृदयता का परिचय दिया। संयोजन एवं संचालन की सतर्कता ने भी इस दिशा में प्रशंसनीय योगदान किया।

अन्त में कवि सम्मेलन के संयोजक श्री विजय बलियाटिक ने कवि सम्मेलन की सफलता के लिए श्रोताओं तथा कार्यकर्ताओं को बधाई दी। उन्होंने बाहर के तथा स्थानीय कवियों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता व्यक्त की तथा उनके सहयोग के लिए बधाई दी!

●

द्वितीय विचार-गोष्ठी

नवगीत—दिशा और संभावना

समारोह के दूसरे दिन का शुभारम्भ संस्कृत विश्वविद्यालय के बौद्ध कक्ष में प्रातः नवगीत-विचार-गोष्ठी से हुआ। विषय था—'हिन्दी नवगीत : दिशा और सम्भावना'। गोष्ठी की अध्यक्षता श्री ठाकुर प्रसाद सिंह ने की तथा संयोजन किया श्री उमाशंकर तिवारी ने।

उमाकान्त मालवीय

सर्वप्रथम हिन्दी के सुपरिचित नवगीतकार श्री उमाकान्त मालवीय ने विषय प्रस्तुत करते हुए नवगीत को नयी कविता से अलग एक स्वतन्त्र विधा के रूप में स्वीकार किया। उन्होंने गीत तथा नयी कविता का तात्त्विक विवेचन करते हुए नवगीत को दोनों के बीच की विकास-कड़ी बताया। जहाँ गीत कमल के फूल के समान जीवन के केवल रूप, रस, गन्ध से सम्बद्ध है, वहीं ठीक उसके विपरीत दूसरे छोर पर नयी कविता कमल-मूल के समान जीवन की घुटन, संत्रास तथा कुण्ठा आदि के कीचड़ में फँसी है। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जीवन में दोनों ही प्रकार सम्वेदना होती है। अतः रचनाकार का दायित्व उन सभी सम्वेदनाओं को व्यक्त करना है, जिन्हें वह सहज रूप से अनुभव करता है। नवगीत की सम्भावना के सम्बन्ध में श्री मालवीय ने कहा कि अभी तक तो नवगीत अपनी स्वस्थ भूमिका का निर्वाह कर रहा है और वह आगे भी इसका निर्वाह करता रहेगा। नवगीत में भी विषयगत और भावगत रूढ़ियाँ कालान्तर में बन सकती हैं किन्तु अभी निकट भविष्य में ऐसी कोई आशंका नहीं प्रतिभासित होती।

चन्द्रदेव सिंह

श्री उमाकान्त मालवीय के पश्चात् कलकत्ता महानगरी से पधारे श्री चन्द्रदेव सिंह की बारी आयी। श्री चन्द्रदेव सिंह ने किसी एक विधा में बद्ध होकर लिखने को रचना के प्रति अन्याय बताया। उन्होंने यह भी आशंका व्यक्त की कि आज के जीवन-बोध का गीत के माध्यम से व्यक्त हो पाना असम्भव है। अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा कि जिस प्रकार प्रयोगवाद चलाने के लिये अज्ञेय एवं उनके सहयोगियों ने कठिन श्रम किया था उसी प्रकार गीत-रचयिताओं ने

भी, जिन्होंने अपने को किनारे के वृक्ष के रूप में अनुभव किया और कुछ नये लोगों को उकसाकर नवगीत का आन्दोलन चलाया। जो नये लोग इन आन्दोलनों से जुड़ गये उन्हें सस्ती ख्याति प्राप्त करने में इसका लाभ भी मिला। लेकिन सही रूप में देखा जाय तो नवगीत के उस मसीहों में भी फार्म की थोड़ी नवीनता के सिवा और कोई नयी चीज नहीं दिखाई देती। ऐसा लगता है कि नयी कविता से अपने अस्तित्व को अलग करने के लिए ही नवगीत का प्रारम्भ हुआ है। नवगीत और कविता के बीच किसी आग्रह का प्रश्न भी निरर्थक है। अन्त में उन्होंने इन विचारों के साथ अपना वक्तव्य समाप्त किया कि अब तक नवगीत के क्षेत्र में जो कुछ हुआ है या हो रहा है उसकी उपलब्धि को लेकर यह कहा जा सकता है कि सन् ६७ का नवगीत सन् ६५ के नवगीत से बहुत आगे नहीं बढ़ा है। सन् ६० तक के गीतों में प्रयत्न-साध्यता नहीं थी, जो कुछ था वह सम्भाव्य था। किन्तु उसके बाद स्वाभाविकता की कमी होती गई। नवगीत की स्थापना हो चुकी है, इसका आन्दोलन प्रखर रूप में हो चुका है। इस मनःस्थिति में लोग नवगीत न लिखकर कहानी, उपन्यास, नाटक आदि अन्य विधाओं में काम करें तो अच्छा है। नवगीत को नारे का रूप न देकर नये गीत का मूल्यांकन करना उचित होगा।

डा० केदारनाथ सिंह

चन्द्रदेव सिंह के स्वर को उस समय और बल मिला जब हिन्दी नयी कविता के सुपरिचित कवि डा० केदारनाथ सिंह ने इस गोष्ठी को विडम्बना मात्र बताया और कहा कि विश्व की किसी भाषा में गीत कविता से अलग नहीं है। हिन्दी में ही गीत को कविता से अलग करके विचार करने की परम्परा है। कविता के व्यापक सन्दर्भ में ही नवगीत का विचार होना चाहिए।

उन्होंने पुनः गीत का तात्त्विक विवेचन करते हुए बताया कि गीत का सम्बन्ध बहुत कुछ मनुष्य के प्रागैतिहासिक आदिम संस्कारों से है। गीतों में टेक का प्रश्न बड़ा जटिल है। वह सारे गीत को यान्त्रिक बना देता है और सम्पूर्ण कविता की नियति बन जाता है। इसलिये गीत का सर्वोत्तम आदर्श उसके एक चरण में ही व्यक्त हो जाने में है। गीत स्वतः प्रेरित होता है। अतएव उसकी भाषा जितनी ही सहज, स्वाभाविक तथा अनलंकृत होगी उतनी ही उसकी महत्ता बढ़ जायगी। अन्त में इन शब्दों के साथ उन्होंने अपनी बात समाप्त की कि गीत को वे स्वतन्त्र विधा के रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।

डा० शम्भुनाथ सिंह

लगातार जब दो परवर्ती वक्ताओं ने नवगीत के अस्तित्व को नकार दिया और उसे स्वतन्त्र विधा के रूप में मान्यता नहीं दी तो संयोजक महोदय को इस बात की चिन्ता होने लगी कि इस गोष्ठी को दूसरा मोड़ कैसे दिया जाय ? किन्तु अध्यक्ष महोदय से कानाफूसी करने के बाद वे आश्वस्त दिखाई पड़े और बड़े इतमिनान से उन्होंने डा० शम्भुनाथ सिंह का आह्वान किया। डा० शम्भुनाथ सिंह ने अपनी बात इन शब्दों के साथ प्रारम्भ की कि नवगीत का कोई नयी कविता की तरह आन्दोलन नहीं है और न ही नवगीत कविता से भिन्न कोई विधा। मुक्त छन्द में यदि कविता लिखी जा सकती है तो नवगीत में भी भावाभिव्यक्ति हो सकती है। जब गीत हल्के, सस्ते और रोमानी होते गये और सिने गीतों का भी इन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा तो गीत विधा का सामर्थ्य चुक-सा गया और इसीलिये नवगीत सामने आया।

वस्तुतः कोई भी समझदार व्यक्ति मुक्त छन्द में ही कविता को बन्द करना नहीं चाहेगा। नवगीत में भी उसका स्फुरण हो सकता है। अनुभूतियों के स्वरूप में अन्तर होने के कारण उनमें से कुछ की मुक्त छन्द में तो कुछ की गीत विधा में अभिव्यक्ति होती है। नवगीत में "नव" के औचित्य को साबित करते हुए उन्होंने कहा कि यदि नयी कविता का "नयी" यथार्थ है तो नवगीत का "नव" भी यथार्थ है। कविता के रूढ़ अर्थ से बचने के लिये यदि कविता के साथ "नयी" जोड़ने की सार्थकता सिद्ध होती है तो गीत के रूढ़ अर्थ से बचने के लिये 'नव' शब्द का जोड़ा जाना भी उचित एवं न्याय संगत है। रूढ़ियों का बनना बड़ा ही स्वाभाविक होता है और आज के युग में प्रकाशन की अत्यधिक सुविधा के कारण रूढ़ियाँ बहुत शीघ्र बन जाती हैं। किन्तु अनुभूतियों के स्वरूप भी परिवर्तित होते रहते हैं और यह नहीं कहा जा सकता कि कल इन विधाओं का क्या रूप होगा। आगे आने वाले गीतों में टेक एवं छन्द की प्रवृत्ति भी टूटती जायगी। अन्त में उन्होंने कहा कि आधुनिक गीतों में भले ही रागात्मकता न मिले, अर्थ की लय तो उनमें मिल ही जाती है। उन्होंने पूर्ववर्ती वक्ताओं की इस बात का कि "आधुनिक जीवन-बोध को गीतों में व्यक्त करने की क्षमता नहीं है," प्रतिवाद करते हुए अपना यह दृढ़ मत व्यक्त किया कि नवगीत आधुनिक जीवन-बोध को व्यक्त करने में पूर्णतः सक्षम है।

ओम प्रभाकर

डा० शम्भुनाथ सिंह के विचारों से गोष्ठी में नवगीत के प्रति पुनः आस्था जग गई। इस आस्था को और अधिक बल प्रदान करने के लिये फिर एक दूसरे सिद्ध नवगीतकार श्री ओम प्रभाकर को पक्ष पर आमन्त्रित किया गया।

श्री ओम प्रभाकर ने बड़े नाटकीय ढंग से बोलना प्रारम्भ किया। "मैं आज तक यह अनुभव नहीं कर पाया हूँ कि डा० केदारनाथ सिंह और डा० परमानन्द श्रीवास्तव में क्या अन्तर है। "मेरे हाथ हाथ और आपके हाथ कर, क्यों भइया कमलाकर", यहाँ यही उक्ति चरितार्थ हो रही है। इन शब्दों के साथ ओम प्रभाकर ने यह बिचार व्यक्त किया कि आज की कविता अब नयी कविता नहीं रह गयी है, जबकि नवगीत परम्परागत टेक, छन्द और फार्म को छोड़कर सही अर्थों में नवगीत बना हुआ है। इस विचार का कि "नवगीत यान्त्रिक होते जा रहे हैं", खण्डन करते हुए श्री ओम प्रभाकर ने यह भी कहा कि नयी कविता जहाँ अपने आपको दुहराना शुरू कर देती है वहीं से नवगीत की सृजन-प्रक्रिया शुरू होती है। आज जीवन में टूटन है, निराशा है, उद्वेलन है; किन्तु नवगीत उस प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है जो 'राम की शक्ति पूजा' में हमें निराश राम की सीता सम्बन्धिनी स्मृति में प्राप्त होती है और वस्तुतः आज के नवगीत को इसी स्थिति में हमें देखना चाहिए।

माधव मधुकर

डा० शम्भुनाथ सिंह और ओम प्रभाकर के बाद गोरखपुर से पधारे श्री माधव मधुकर को विचार व्यक्त करने के लिए कहा गया।

श्री माधव मधुकर ने नवगीत को आज के युग की अनिवार्य माँग बतायी और उन्होंने यह भी विचार व्यक्त किया कि नवगीत की मनःस्थिति नयी कविता की मनःस्थिति से भिन्न होती है। गीतों की संरचना संघर्ष की स्थिति में होती है। उन्होंने अपना यह अनुभव व्यक्त किया कि जब वे नवगीत लिखते हैं तो नयी कविता नहीं लिख पाते हैं। अन्त में उन्होंने नवगीत को आधुनिक जीवन-बोध को व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम बताते हुए उसके उज्वल भविष्य के प्रति अपनी आस्था दिखलाई।

देवेन्द्र कुमार

श्री माधव मधुकर के बाद गोरखपुर से ही पधारे नवगीत तथा नयी कविता के परिचित कवि श्री देवेन्द्र कुमार बङ्गाली ने बड़े ही सूक्ष्म एवं सरल शब्दों में

नवगीत तथा नयी कविता का अन्तर बताते हुए यह मत व्यक्त किया कि नयी कविता एक व्यापक संघर्ष की कविता है। इस लम्बे संघर्ष के दौरान वे आत्मीय क्षण जो छूट जाते हैं और जिन्हें व्यक्त करने में नयी कविता अक्षम है, नवगीतों में आते हैं। नवगीत ने उखड़ते हुए क्षणों और टूटती हुई साँसों को जोड़ने का कार्य किया है। नवगीत ही वह विधा है जहाँ कभी-कभी आदमी खुलता है।

रामविनायक सिंह

श्री देवेन्द्र कुमार जी ने जब इतने कम समय में अपनी सारी बात कह ली तो गोरखपुर के हो जाने-माने साहित्यकार श्री रामविनायक सिंह ने भी अपनी शिष्ट एवं विशिष्ट शैली में बहुत कम समय में हीं यह विचार व्यक्त करते हुए अपनी बात समाप्त कर दी कि समस्यामूलक और रागात्मक दो स्थितियाँ होती हैं। गीत और कविता की स्थिति भी अलग-अलग होती है। यदि नयी कविता से ही सारी समस्याओं का समाधान हो जाता तो नवगीत का आन्दोलन छिड़ता ही क्यों ? नवगीत का भविष्य निश्चय ही उज्वल है।

माहेश्वर शलभ

श्री रामविनायक सिंह के बाद मधुर गीतकार श्री माहेश्वर शलभ ने रीत काल के बाद कविता की अलग-अलग धाराओं को अलग-अलग प्रतिक्रिया के कोष की संज्ञा दी और उन्होंने नवगीत के उज्वल भविष्य के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की।

श्री गिरधर करुण

देवरिया के प्रसिद्ध गीतकार श्री गिरधर करुण ने गीत विधा को साहित्य की सबसे सशक्त विधा बताते हुए कहा कि नवगीत, गीत की विकास-कड़ी है। नवगीतों की एक यह भी विशेषता उन्होंने स्वीकार की कि नवगीत आधुनिकता बोध को व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम है।

रामनरेश पाठक

पटने के श्री रामनरेश पाठक ने कहा कि नवगीत की अलग इकाई है। जो गांधारी की तरह आँखों पर पट्टी बाँधे खड़े हैं, उनकी बात मैं नहीं करता। नवगीत उज्वल सम्भावनाओं वाली शोभा-यात्रा है।

महेन्द्र शङ्कर, श्री गुलाब

वाराणसी के श्री महेन्द्र शङ्कर और गया के श्री गुलाब ने नवगीत तथा नयी कविता को अलग-अलग इकाइयों के रूप में स्वीकारा और दोनों में स्पष्ट अन्तर करते हुए उन्होंने बताया कि नवगीत सहजता की ओर उन्मुख है, नयी कविता मस्तिष्क से जुड़ी हुई लगती है। नयी कविता तथ्य प्रधान है, नवगीत अनुभूति प्रधान। वाराणसी के श्री धूमिल विषय-वस्तु को छोड़कर अकविता पर भाषण करने लगे।

राजेन्द्र प्रसाद

नवगीत-गोष्ठी में जहाँ नयी कविता और नवगीत तक चर्चाएँ सीमित रहीं, वहाँ श्री धूमिल के सहसा अकविता तक पहुँच जाने से गोष्ठी के विषय-केन्द्र से हट जाने की आशंका संयोजक महोदय को हो उठी और उन्होंने स्थिति पर नियन्त्रण रख सकने मे समर्थ श्री राजेन्द्र प्रसाद से निवेदन किया कि वे अपने विचार व्यक्त करें।

मुजफ्फरपुर से आये श्री राजेन्द्र प्रसाद ने नवगीत का तात्त्विक विवेचन करते हुए कहा कि तथ्य का वह अंश जो कथ्य नहीं बन सका उसके पूर्व की मनःस्थिति यानी तनाव की स्थिति को व्यक्त करने के लिये नवगीत का जन्म हुआ। वह काम नयी कविता नहीं कर सकी। शून्य का बोध संत्रास का बोध केवल इसलिये है कि मैं हूँ, मैं रहा हूँ, मैं रहूँगा। केवल उसके न होने के कारण यह बात कही जाती है, इसके अतिरिक्त इसका कोई दूसरा अर्थ मैं मानने को तैयार नहीं हूँ। उन्होंने अन्त में नवगीत की सम्भावना के सम्बन्ध में कहा कि सम्भावना तो आस्था की बात होती है।

जितेन्द्रनाथ पाठक

श्री जितेन्द्रनाथ पाठक ने कहा कि रागात्मकता कविता से एकदम तिरोहित नहीं हो सकती है और जबतक जीवन में रागात्मक तत्व वर्त्तमान है तबतक नवगीत या गीत की सम्भावना है। जीवन की आपा-धापी से बचने के लिये रागात्मक तत्त्वों का कविता में सन्निवेश आवश्यक है।

ठाकुर प्रसाद सिंह

गोष्ठी देर से चल रही थी और पक्ष-विपक्ष में कई तरह के मत व्यक्त किये जा चुके थे। अब सबकी नजरें गोष्ठी के अध्यक्ष के ऊपर टिकी हुई थीं। अतः

श्री ठाकुर प्रसाद सिंह ने आज के संक्रमण काल की चर्चा करते हुए संक्षेप में कहा कि यह संकट की स्थिति नवगीत पर ही नहीं है अपितु सारे जीवन पर भी है।

गोष्ठी में उपर्युक्त वक्ताओं के अतिरिक्त सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़ (बेढब बनारसी) एवं विद्वान आलोचक श्री करुणापति त्रिपाठी एवं हिन्दी के सुप्रसिद्ध गीतकार श्री श्रीपालसिंह क्षेम भी उपस्थित थे। रूस से हिन्दी पढ़ने के लिए आए हुये छात्र सेरेइयानी ने कहा कि रूस में भी गीत लिखे जाते हैं, किन्तु गीतकार उन्हें स्वयं गाता नहीं है। इधर कुछ वर्षों से मास्को में कुछ नये गीतकारों का उदय हुआ है, जो स्वयं गीत गाकर सुनाते हैं।

नवगीत-गोष्ठी

नवगीत विचार-गोष्ठी के पश्चात् लगभग ४ बजे सायं संस्कृत विश्वविद्यालय के बौद्ध कक्ष में ही डा० केदारनाथ सिंह की अध्यक्षता में एक नयी कविता एवं नवगीत-गोष्ठी में सर्वश्री शम्भुनाथ सिंह, केदारनाथ सिंह, ओमप्रभाकर, उमाकान्त मालवीय, माहेश्वर तिवारी, पद्यधर त्रिपाठी, श्रीकृष्ण तिवारी, देवेन्द्रकुमार बंगोली, उमाशंकर तिवारी, माधव मधुकर, गिरिधर करुण, जगदीश नारायण श्रीवास्तव तथा वीरबहादुर सिंह ने अपनी कविताएँ एवं नवगीत सुनाए। डा० शम्भुनाथ सिंह, श्री उमाकान्त मालवीय तथा श्री ओमप्रभाकर के नवगीत तथा केदारनाथ सिंह और देवेन्द्र कुमार बंगाली की नयी कविताएँ विशेष रूप से पसन्द की गयीं। नवगीतकारों तथा नये कवियों के अतिरिक्त श्रीपाल सिंह 'क्षेम', श्री चन्द्रशेखर मिश्र तथा आर्यभूषण ने भी कविताएँ पढ़ीं।

●

नाट्याभिनय

समारोह का अन्तिम कार्य-क्रम डा॰ शम्भुनाथ सिंह द्वारा लिखित 'दीवार की वापसी' शीर्षक एकांकी नाटक का प्रस्तुतीकरण था। यह कार्य-क्रम ३० अक्तूबर को सन्ध्या समय ८ से ९ बजे तक संस्कृत विश्वविद्यालय के रंग-मंच पर सम्पन्न हुआ। नाटक को काशी की नवोदित सांस्कृतिक संस्था-नव संस्कृति संगम ने अभिनीत किया। यह नाट्याभिनय पूर्ण सफल रहा और इसका सारा श्रेय नाटक के निर्देशक श्री कुँवर जी अग्रवाल को है। उन्होंने केवल एक सप्ताह की तैयारी में इस आधुनिकतावादी नाटक को अभिनीत करके उतनी ही सफलता प्राप्त की जितनी प्रयाग रंग-मंच ने इसी नाटक को दो महीने की तैयारी के बाद अभिनीत करके प्राप्त की थी। हिन्दू विश्वविद्यालय के व्याख्याता एवं प्रसिद्ध चित्रकार श्री रामचन्द्र शुक्ल ने कला-निर्देशन किया। अन्य भूमिकाएँ इस प्रकार थीं :—

क	श्री कुँवरजी अग्रवाल
का	कुमारी सुतपा चटर्जी
पिता	श्री राम उग्रह सिंह
वृद्ध	श्री पन्नालाल यादव
खन्ना	श्री शम्भुनाथ सिंह
राजेश	श्री ललित कुमार सर्गन
मित्र १	श्री विश्वनाथ बोस
मित्र २	श्री सुदीप्त चटर्जी
संयोजक	श्री कृपाशंकर पाण्डेय
मंच-व्यवस्था	श्री उमाशंकर सिंह,
	श्रीमती सुरमा देवी,
	श्री ओम प्रकाश श्रीवास्तव,
	श्री ज्वाला प्रसाद गुप्त।

नाट्यारम्भ के पूर्व 'संस्कृति संगम' की ओर से रंचमंच पर ही नाटक के लेखक डा० शम्भुनाथ सिंह का अभिनन्दन किया गया। तदुपरान्त संयोजक ने प्रसिद्ध साहित्यकार श्री ठाकुर प्रसाद सिंह से नाट्याभिनय का उद्घाटन करने की प्रार्थना की। श्री ठाकुर प्रसाद सिंह ने उद्घाटन भाषण करते हुए कहा कि काशी की हिन्दी रंगमंच को बहुत बड़ी देन है। काशी की रंगमंच-परम्परा अटूट रही है। हर्ष की बात है कि भारतेन्दु युगीन नाटकों की अभिनय-कला से आगे बढ़ते-बढ़ते काशी का रंगमंच आधुनिक प्रभाववादी और प्रतीकवादी अभिनय-कला तक पहुंच रहा है। परन्तु नाटक पाश्चात्य उल-जलूल नाटकों के निकट पहुँचा है यद्यपि यह मूलतः प्रतीकात्मक नाटक है। ऐसे नाटकों का प्रस्तुतीकरण बहुत ही कठिन होता है। मैं आशा करता हूँ कि संस्कृति संगम के अभिनेता इस नाटक के कथ्य को अपनी कला द्वारा सही ढंग से अभिव्यक्त कर सकेंगे।

उद्घाटन-भाषण के उपरान्त नाटक का अभिनय प्रारम्भ हुआ। पर्दा खुलते ही नाटक का नायक 'क' प्रेक्षकों की ओर पीठ किये अखबार पढ़ता दिखाई पड़ा। दर्शकों की उत्सुकता बढ़ गयी। ज्यों-ज्यों नाटक आगे बढ़ता गया, उनकी उत्सुकता और भी बढ़ती गयी। अभिनेताओं और नाटक की नायिका 'का' ने अपने कुशल अभिनय द्वारा दर्शकों के मन को इस तरह वशीभूत कर लिया कि नाटक समाप्त होने पर वे उठ नहीं रहे थे। बीच-बीच में कई बार प्रशंसात्मक तालियां भी बजीं और संवादों तथा अभिनय की विचित्रताओं पर हँसी के ठहाके भी लगे। इस तरह नाटक का मंचन उच्च कलात्मक स्तर पर हुआ। उपस्थित विशिष्ट अतिथियों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इसके प्रस्तुतीकरण में अनेक विशेषताएं स्पष्टता से उभर कर सामने आईं।

नाटक उपस्थित प्रेक्षक समुदाय के सभी वर्गों के सदस्यों—बुद्धिशील, सामान्य, प्रौढ़, युवक, बालक सभी को किसी-न-किसी स्तर पर निश्चित रूप से मनोरंजन प्रदान कर सका और वे सब अन्त में तुष्ट हो कर उठे।

प्रस्तुतीकरण पूर्णरूप से अभि व्यंजनात्मक और संकेतशील था और उससे अनुभूति के अनेक आयामों के द्वार कुल मिलाकर नाटक का निर्देशन सृजनात्मकता और निर्देशक मौलिकता की छाप लिये था। चेतन स्तर पर रंग क्रियाओं की अर्थहीनता और तुच्छता ने प्रेक्षकों के अचेतन स्तर को तरंगित किया।

नाटक के निहितार्थ को स्थूल चित्रात्मक रूप से भी उजागर करने का प्रयत्न किया गया। उसके दृश्यपीठ में कुछ अमूर्त रूपाकारों की व्यवस्था की

गई, प्रकाशक को अभिव्यंजनाशील बनाया गया और सादी यवनिका को कलाकार की तूलिका ने ईंट की दीवार का रूप दे दिया। पात्रों के वेश और रूप-विन्यास में भी सांकेतिकता थी।

अभिनय सहज था और वाह्य यथार्थ तथा निहित सांकेतिकता, दोनों का स्पर्श करता था। मुख्य अभिनेता के अभिनय में आशु-सृजन के भी पर्याप्त उदाहरण थे। अभिनेताओं की स्थिति-संरचनाओं द्वारा भी अर्थ संकेतित करने की कोशिश की गई थी।

●

समापन

नाटक की समाप्ति के साथ दो दिन का यह भव्य समारोह समाप्त हुआ। समापन की विधिवत घोषणा करते हुए श्री विजय बलियाटिक ने समारोह समिति की ओर से उन सब लोगों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट किया जिन्होंने इस नाटक को सफल बनाने में कुछ भी योगदान दिया। उन्होंने काशी विद्यापीठ और संस्कृत विश्वविद्यालय के अधिकारियों को विशेष रूप से धन्यवाद दिया, जिनके सहयोग के बिना यह द्विदिवसीय समारोह इतना भव्य न हो पाता।

इस पूरे समारोह को सफल बनाने के लिए जिन लोगों ने लगातार कई दिनों तक, दिन रात एक करके, कठिन श्रम किया उनकी नामावली बहुत बड़ी है। समारोह का अधिकांश श्रेय समिति के मन्त्री श्री सागर सिंह, कवि सम्मेलन समिति के संयोजक श्री विजय बलियाटिक, मुख्य समारोह के संयोजक डा० वासुदेव सिंह, समायोजन समिति के सदस्य श्री रामजी दास कपूर, द्वितीय विचार गोष्ठी के आयोजक श्री उमाशंकर तिवारी और आतिथ्य समिति के संयोजक डा० स्वामीनाथ सिंह को है जिन्होंने अपना कार्य पूर्ण निष्ठा से सम्पन्न करके सनारोह को अभूत पूर्व बना दिया। स्मारिका के मुद्रण में श्री जगदीशचन्द्र मिश्र तथा श्री वच्चन सिंह तथा विज्ञापन एवं धन संग्रह तथा कार्यालय व्यवस्था में श्री रामकृष्ण शास्त्री और श्री सुरेशचन्द्र आर्य ने अथक परिश्रम किया।

●

सन्देश

कुछ मित्र श्री शम्भुनाथ सिंह की ५०वीं वर्षगांठ के अवसर पर उनको सार्वजनिक रूप से अभिनन्दन करने जा रहे हैं। अपने स्वास्थ्य के कारण मैं एतद् सम्बन्धी उत्सव में मानस योगदान ही कर सकता हूँ। कविता एक ऐसा विषय है जिसको मैं बहुत कम समझता हूं। इसीलिए किसी पद्यमय कृति की प्रशंसा करते भी डरता हूं। मुझे ऐसे अवसर पर किसी कवि की यह उक्ति याद आ जाती है :

सरस कविन के हृदय को बेधत द्वै वै कौन।
असमुझवार सराहिवो समुझवार को मौन ।।

डर यह लगा रहता है कि मैं तो प्रशंसा करने चलूँ उलटे किसी कवि के हृदय को वेध डालूँ। फिर भी समय-समय पर मैंने श्री शम्भुनाथ सिंह की रचनाओं की प्रशंसा की है। उनसे उनके सम्बन्ध में बात भी की है। मैं नहीं कह सकता, मेरी बातें शम्भुनाथ सिंह जी को कहां तक पसन्द आयीं परन्तु कभी-कभी ऐसा लगा कि उन्होंने मेरी बातों को कुछ पसन्द किया। मेरे जैसे शुष्क विषयानुरागी के लिए यही बहुत है। मुझे ऐसी आशा है कि अभी वह हिन्दी वाङ्मय को बहुत कुछ दान कर सकते हैं और करेंगे। इसी से ऐसा भी लगता है कि यह अभिनन्दन समारोह समय से कुछ पहिले हो रहा है। प्रायः दस्तूर यही है कि जब कलाकार अपनी प्रौढ़ प्रतिभा से वाङ्यय और कला के भण्डार को कुछ और सम्पन्न कर लेता है तब लोग उसके समादर में अभिनन्दन ग्रन्थ आदि की बात सोचना आरम्भ करते हैं। स्यात् इसीलिए दक्षिण में षष्टाब्दि पूर्ति मनाने का चलन है। परन्तु अपने देश में "शुभस्य शीघ्रम्" की भी परिपाटी है। उसका अनुसरण करना भी भारतीय संस्कृति के अनुरूप है। मैं इस अवसर पर श्री शम्भुनाथ सिंह को बधाई देता हूं।

सम्पूर्णानन्द

बन्धुवर शम्भुनाथ सिंह के सम्मान में आयोजित अभिनन्दनोत्सव में सम्मिलित न हो पाने का मुझे बहुत दुःख है। सर्वथा विवश हूँ, इस समय घर छोड़कर जा नहीं सकता नहीं तो अपनी शुभकामनाएँ स्वयम् उपस्थित होकर निवेदित करने के

सुख से तो वंचित न रह जाता। पर केवल मेरे अनुपस्थित होने मात्र से ही मेरी शुभाशंसाओं की हार्दिकता संदिग्ध न हो जायगी, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है।

शम्भुनाथ सिंह जी ने छायावाद युग से चली आ रही गीति-परम्परा को जिस तरह अपना कर आगे बढ़ाया; उसके सहज तारल्य को बनाये रखते हुए, उसकी लाक्षणिकता और व्यंजकता की रक्षा करते हुए, जिस प्रकार उसे अपने व्यक्तित्व के संस्पर्श से समृद्ध और जीवित बनाया और जिस प्रकार उसे नयी कविता के ही एक स्वाभाविक और सुन्दर विकास के रूप में सार्थक और युगीन बनाया, वह उनके कवित्व का उज्ज्वल प्रमाण है।

मैं इस अवसर पर उन्हें हार्दिक बधाई देता हुआ उनके दीर्घायुष्य और वर्धमान यश के लिए अपनी शुभकामनाएं अर्पित करता हूँ।

बालकृष्ण राव
सम्पादक
'माध्यम'

डॉ० शम्भुनाथ सिंह स्वर्ण-जयन्ती समारोह का निमन्त्रण मिला। मैं एक आवश्यक कार्य से काशी आया था। २९ अक्तूबर के प्रातः ही वापस चला जाना अनिवार्य है। वैसे भी अस्वस्थ और बोलने में असमर्थ हूं। क्षमा करेंगे।

स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर डॉ० शम्भुनाथ के दीर्घायुष्य, स्वास्थ्य तथा सुयश की हार्दिक कामना करता हूँ। इन्होंने अपनी प्रतिभा और कृतियों से आधुनिक हिन्दी साहित्य को समृद्ध और सरस बनाया है। इनका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ेगा, ऐसी प्रबल आशा है। परमात्मा करें उनकी अनेक जयन्तियाँ मनाने का जनता को अवसर मिले।

सस्नेह,
राजबली पाण्डेय

प्रिय महोदय,

मुझे शम्भुनाथ सिंह स्वर्ण-जयन्ती का पत्र आज कलकत्ता लौटने पर मिला, इसी से पत्रोत्तर में बिलम्ब हुआ, जिसके लिए क्षमा करें। भाई शम्भुनाथ सिंह जी हिन्दी की एक संस्था हैं, उनका व्यक्तित्व जितना बहुमुखी है, उतना ही गौरवमयी भी। उनका जीवन साहित्य की निस्पृह साधना और सेवा-संकल्प का जीवन रहा है; वे मेरे निकट मित्रों में हैं और इसी से मैं साक्षी और प्रमाण से यह बात कह रहा हूँ। मेरी बड़ी इच्छा थी कि मैं इस समारोह में सम्मिलित

होऊँ और वन्दना के अनेक स्वरों में एक स्वर अपना भी मिलाऊँ। स्वर तो अब भी मिला रहा हूँ, पर वह मुखर न होकर मौन है। बैखरी से कम महत्व मध्यमा और पश्यन्तिका नहीं, यह जानकर और भी हर्ष हुआ कि आप इस अवसर पर ५००० रु० की एक निधि भी स्थापित कर रहे हैं, जिससे रुग्न साहित्यकार की सहायता की जाय। क्षमा करें, मैं साहित्यकार को निर्धन कहना नहीं चाहूँगा। सरस्वती सम्पन्न साहित्यकार निर्धन क्यों? धनी केवल लक्ष्मी-पुत्र ही नहीं होते—साहित्यकार की अर्थवत्ता और अर्थसिद्धि का महत्व कम नहीं—वह तो उसकी जन्मजात शक्ति है, उसकी प्रतिभा का मूलमन्त्र उसके सम्यक् चरित्र की दृढ़ भूमिका। भर्तृहरि का प्रसिद्ध कथन याद आ रहा है, "त्वं राजा वयमम्युपासित गुरु..."

भाई शम्भुनाथ सिंह जी को मेरा अभिवादन कहें। ईश्वर उन्हें शतायु करे, यही मनोकामना है।

आपका,

कल्याणमल लोढ़ा

वितरक

लोक भारती प्रकाशन

१५ ए, महात्मा गांधी मार्ग

इलाहाबाद

•

सम कालीन प्रकाशन

सत्याग्रह मार्ग - वाराणसी